सत्यके प्रयोग अथवा

आत्मकथा

लेखक
मोहनदास करमचंद गांधी

•

अनुवादक
हरिभाऊ उपाध्याय

•

१९४८
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तंड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

नवीं बार : १९४८
सजिल्द
मूल्य साढ़े चार रुपये

मु
दिल्ली
नई दि

सातवें संस्करणके बारेमें

आजसे कोई अठारह साल पहले मैंने 'आत्मकथा' का हिन्दी अनुवाद किया था। उसके बाद यह पहला मौका है जब कि मैं उसे दुहरानेका समय निकाल पाया हूं। हिंदीमें अबतक इसके छः संस्करण निकल चुके हैं। कुछ मित्रोंने इस बातकी ओर ध्यान भी दिलाया कि मैं एक बार फिर मूल गुजरातीसे मिलाकर अनुवादको देख जाऊं तो अच्छा रहे। मेरे पास इस समय गुजराती 'आत्मकथा'की छठी आवृत्ति है, जो १९४० में प्रकाशित हुई थी। उससे मिलाकर, इसमें जहां कहीं कसर या त्रुटि मालूम हुई है मैंने उसे ठीक करनेका प्रयास किया है। अपना ही लिखा हम जब-जब देखते हैं तब-तब कुछ-न-कुछ सुधार करनेकी इच्छा हो जाती है, तो फिर १८ साल पहलेका अनुवाद देखनेसे मुझे यों भी शब्दों व भाषा-संबंधी कई सुधार सूझना स्वाभाविक था। मैंने इसमें कंजूसीसे काम नहीं लिया है।

पूज्य बापूकी इस पवित्र कथा और अनमोल प्रयोगोंको फिरसे एक बार अच्छी तरह पढ़नेका जो सुअवसर मिला उससे मेरी आत्माको भी अच्छी खुराक मिली; कई पुरानी भावनाएं नये सिरेसे जाग उठीं, उनके प्रकाशमें अपनी कमियों व कमजोरियोंको भी देखने व परखनेका मौका मिला; यह अमिट छाप फिरसे हृदय पर पड़ी कि बापूकी यह 'आत्मकथा' उसके प्रतिक्षण विकासशील दिव्य जीवनकी तरह, पाठकोंको वास्तवमें नित नई सत्यकी प्रेरणा व प्रकाश देने वाली है और सत्यकी शोधके इतिहासमें इसका अमर स्थान है। क्या अच्छा हो कि बापू अपने अब तकके सत्यके और भी महान् प्रयोग व अनुभवोंकी कथा और लिख डालें। मुझे विश्वास है कि सत्यके इस निडर उपासकके अगले अनुभव अधिक दिव्य व अद्‌भुत होंगे और उनसे संसारको एक नई रोशनी मिलेगी।

गांधी-आश्रम, हटूंडी (अजमेर)
शीतला सप्तमी, २००२ वि०

—हरिभाऊ उपाध्याय

अनुवादककी ओरसे

(प्रथम संस्करण)

यह मेरा अहोभाग्य है कि महात्माजीकी 'आत्मकथा'के हिन्दी अनुवादका अवसर मुझे मिला। 'नवजीवन'में आत्म-कथाके प्रकाशित होनेके पहले ही मैं 'हिन्दी-नवजीवन'को छोड़कर, महात्माजीकी आज्ञासे, राजस्थानमें काम करनेके लिए आ चुका था। मेरे बाद कई भाइयोंके हाथोंमें 'हिन्दी-नवजीवन'का काम रहा और आत्म-कथाका अनुवाद भी उसमें कई मित्रों द्वारा हुआ। अतएव उसमें भाषा-शैलीका एक-सा न रहना स्वाभाविक था। परन्तु उसे पुस्तक-रूपमें प्रकाशित करनेके लिए यह आवश्यक समझा गया कि अनुवाद किसी एक व्यक्तिसे कराया जाय। यह निर्णय होते ही मैंने भूखे भिखारीकी तरह, झपट कर, अनुवाद-का भार अपने सिरपर ले लिया। सचमुच, वह दिन मेरे बड़े सद्भाग्यका दिन था।

अनुवाद मैंने गुजरातीसे किया। मूल कथा महात्माजी गुजरातीमें ही लिख रहे हैं। अंग्रेजी अनुवादमें बहुत स्वतंत्रता ली गई है। अतएव अंग्रेजीसे हिंदी उल्था करनेमें हिंदी अनुवाद मूल गुजरातीसे बहुत दूर जा पड़ता। महात्मा-जी गुजरातीमें बड़े थोड़ेमें, और बहुत खूबीसे, अपने हृदयके गूढ़ भावोंको व्यक्त कर देते हैं। उनका अनुवाद करना, कई बार बड़ा कठिन हो जाता है। भावको विशद करने जाते हैं तो भाषा-सौंदर्य नहीं निभ पाता और भाषा-सौंदर्यपर ध्यान देने लगते हैं तो भावमें गड़बड़ी पड़ने लगती है। मैंने कहीं-कहीं भाषाके किंचित् अटपटेपनको स्वीकार करके भी महात्माजीकी मार्मिक वाक्य-रचनाको कायम रखनेकी कोशिश की है। पाठक महात्माजीके ऐसे वाक्योंको 'आर्ष' वाक्य ही समझ लें। दूसरे हिंदीभाषा ज्यों-ज्यों राष्ट्र भाषाकी योग्यता और श्रेष्टताको पहुंचती जायगी त्यों-त्यों उसका 'परदेकी बीबी' बनी रहना असंभव होता जायगा। उसे गुजराती, मराठी, बंगाली आदि के सुंदर और मार्मिक शब्द-प्रयोगोंको अपना-कर अपना भंडार भरे बिना गुजर नहीं। इस दृष्टिसे तो इस अनुवादके ऐसे शब्द-प्रयोग मेरी रायमें केवल क्षम्य ही नहीं, स्वागत-योग्य भी हैं।

रहा अनुवाद । सो इसकी अच्छाई-बुराईके बारेमें मुझे कुछ भी कहनेका अधिकार नहीं । मूल वस्तुकी अद्वितीयतासे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता । अनुवादमें यदि मूलकी उत्तमतासे पाठकको वंचित रहना पड़े तो अपनी इस असमर्थताका दोष-भागी मैं अवश्य हूं ।

जबसे मैंने अनुवादको हाथमें लिया है, मैं मुश्किलसे एक जगह ठहरने पाया हूं—जहां ठहरने भी पाया हूं, तहां अन्यान्य कामोंमें भी लगा रहना पड़ा है । अतएव जितना जल्दी मैं चाहता था, इस अनुवादको पूरा न कर सका । इसका मुझे बड़ा दुःख है । पाठकोंकी बढ़ी हुई उत्सुकताको यदि यह अनुवाद पसंद हुआ तो मेरा दुःख कम हो जायगा । अभी तो यह भाव कि मैं महात्माजीके इस प्रसादको हिंदी पाठकोंके सामने पुस्तक-स्वरूपमें रखनेका निमित्त-भागी बना हूं, उस दुःखको कम कर रहा है । और जब मेरी दृष्टि इस अनुवादके भावी कार्यकी ओर जाती है, तब तो मुझे इस सौभाग्यपर गर्व होने लगता है । मुझे विश्वास है कि महात्माजीकी यह उज्ज्वल 'आत्म-कथा' भूमण्डलके आत्मार्थियोंके लिए एक दिव्य प्रकाश-पथका काम देगी और उन्हें आशा तथा आत्माका अमर संदेश सुनावेगी ।

उज्जैन,
फाल्गुन शुक्ल ८,
संवत् १९८४.

—हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

चार-पांच साल पहले, अपने नजदीक साथियोंके आग्रहसे, मैंने 'आत्म-कथा' लिखना मंजूर किया था और शुरूआत भी कर दी थी। परंतु एक पृष्ठ भी न लिख सका था कि बंबईमें दंगा हो गया, और आगेका काम जहां-का-तहां रह गया। उसके बाद तो मै इतने कामोंमें उलझता गया, कि अंतको मुझे यरवडामें जाकर शांति मिली। यहां श्री जयरामदास भी थे। उन्होंने चाहा कि मैं, अपने दूसरे तमाम कामोंको एक ओर रखकर, सबसे पहले 'आत्म-कथा' लिख डालूं। मैंने उन्हें कहलाया कि मेरे अध्ययनका क्रम बन चुका है, और उसके पूरा होनेके पहले मैं 'आत्म-कथा' शुरू न कर सकूंगा। यदि मुझे पूरे छ: साल यरवडामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ होता, तो मैं अवश्य वहीं 'आत्म-कथा' लिख डालता। पर अध्ययन-क्रमको पूरा होनेमे अभी एक साल बाकी था और उसके पहले मैं किसी तरह लिखना शुरू न कर सकता था। इस कारण वहां भी वह रह गई। अब स्वामी आनंदने फिर वही बात उठाई है। इधर मैं भी द० अ०के सत्याग्रहका इतिहास पूरा कर चुका हूं, इसलिए, 'आत्म-कथा' लिखनेको मन हो रहा है। स्वामी तो यह चाहते थे कि पहले मै सारी कथा लिख डालूं और फिर वह पुस्तकाकार प्रकाशित हो। पर मेरे पास एक साथ इतना समय नहीं। हां 'नवजीवन' के लिए तो रफ्ता-रफ्ता लिख सकता हूं। इधर 'नवजीवन'के लिए भी हर हफ्ता मुझे कुछ-न-कुछ लिखना पड़ता है, तो फिर 'आत्म-कथा' ही क्यों न लिखूं? स्वामीने इस निर्णयको स्वीकार किया, और अब जाकर 'आत्म-कथा' लिखनेकी बारी आई।

पर मैं यह निर्णय कर ही रहा था—वह सोमवारका मेरा मौन दिन था—कि एक निर्मल हृदय साथीने आकर कहा—

"आप 'आत्म-कथा' लिखकर क्या करेंगे ? यह तो पश्चिमकी प्रथा है। हमारे पूर्वमें तो शायद ही किसीने 'आत्म-कथा' लिखी हो। और फिर आप लिखेंगे भी क्या ? आज जिस बातको सिद्धांतके तौरपर मानते हैं, कल उसे न मानने लगें तो ? अथवा उस सिद्धांतके अनुसार जो काम आप आज करते हैं उनमें बादको परिवर्तन करना पड़े तो ? आपके लेखोंको बहुत लोग प्रमाण मानकर अपना जीवन बनाते हैं। उन्हें यदि गलत रास्ता मिला तो ? इसलिए अभी 'आत्म-कथा'के रूपमें कुछ लिखनेकी जल्दी न करें तो ठीक होगा।'

इस दलीलका थोड़ा-बहुत असर मुझपर हुआ। पर मैं 'आत्म-कथा' कहां लिख रहा हूं ? मैं तो 'आत्म-कथा'के बहाने अपने उन प्रयोगोंकी कथा लिखना चाहता हूं, जो मैंने सत्यके लिए समय-समय पर किये हैं। हां, यह बात सही है, कि मेरा सारा जीवन ऐसे ही प्रयोगों से भरा हुआ है। इसलिए यह कथा एक जीवन-वृत्तान्तका रूप धारण कर लेगी। पर यदि इसका एक-एक पृष्ठ मेरे प्रयोगोंके वर्णनसे ही भरा हो तो इस कथाको मैं स्वयं निर्दोष मानूंगा। यह मानता हूं—अथवा यों कहिये, मुझे ऐसा मोह है—कि मेरे तमाम प्रयोग यदि लोगोंके सामने आ जायं, तो इससे उन्हें लाभ ही होगा। राजनैतिक क्षेत्रके मेरे प्रयोगोंको तो भारतवर्ष जानता है— यही नहीं उन्नत मानी जानेवाली दुनिया भी, थोड़ा बहुत जानती है। पर मेरी दृष्टिमें उसका मूल्य बहुत कम है और चूंकि इन्हीं प्रयोगोंके कारण मुझे 'महात्मा' पद मिला है, इसलिए मेरे नजदीक तो उसका मूल्य बहुत ही कम है। अपने जीवनमें बहुत बार इस विशेषणसे मुझे बड़ा दुःख पहुंचा है। मुझे एक भी ऐसा क्षण याद नहीं पड़ता, जब इस विशेषणसे मैं मनमें फूल उठा होऊं। पर, हां, अपने उन आध्यात्मिक प्रयोगोंका वर्णन अवश्य मुझे प्रिय होगा, जिन्हें कि अकेला मैं ही जान सकता हूं और जिनकी बदौलत मेरी राजनैतिक-क्षेत्र संबंधी शक्ति उत्पन्न हुई है। और यदि ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हों, तो फिर उनमें फूलनेके लिए जगह ही कहां है ? उनके वर्णनका फल तो नम्रताकी वृद्धि ही हो सकती है। ज्यों-ज्यों मैं विचार करता जाता हूं, अपने भूतकालके जीवनपर दृष्टि डालता जाता हूं त्यों-त्यों मुझे अपनी अल्पता साफ-साफ दिखाई देती है। जो बात मुझे करनी है, आज ३० सालसे जिसके लिए मैं उद्योग कर रहा हूं, वह तो है—आत्म-दर्शन, ईश्वरका साक्षात्कार, मोक्ष।

मेरे जीवनकी प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टिसे होती है। मैं जो कुछ लिखता हूं, वह भी सब इसी उद्देशसे; और राजनैतिक क्षेत्रमें जो मैं कूदा सो भी इसी बातको सामने रखकर।

परंतु शुरू हीसे मेरी यह राय रही है कि जिस बातको एक आदमी कर सकता है उसे सब लोग कर सकते हैं। इसलिए मेरे प्रयोग खानगी तौर पर नहीं हुए और न वैसे रहे ही। इस बातसे कि सब लोग उन्हें देख सकते हैं, उनकी आध्यात्मिकता कम होती होगी, यह मै नहीं मानता। हां, कितनी ही बातें ऐसी जरूर होती है जिन्हें हमारी आत्मा ही जानती है, जो हमारी आत्मामें ही समाई रहती हैं। परंतु ऐसी बात तो मेरी पहुंचके बाहरकी बात हुई। मेरे प्रयोगमें तो आध्यात्मिक शब्दका अर्थ है नैतिक, धर्मका अर्थ है नीति, और जिस नीतिका पालन आत्मिक दृष्टिसे किया हो वही धर्म है; इसलिए इस कथामें उन्हीं बातोंका समावेश रहेगा, जिनका निर्णय बालक युवा, वृद्ध करते है और कर सकते हैं। ऐसी कथाको यदि मैं तटस्थ भावसे, निरभिमान रहकर, लिख सका, तो उससे अन्य प्रयोग करने वालोंको अपनी सहायताके लिए कुछ मसाला अवश्य मिलेगा।

मैं यह नहीं कहता कि मेरे ये प्रयोग सब तरह सम्पूर्ण है। मै तो इतना ही कहता हूं कि जिस प्रकार एक विज्ञानशास्त्री अपने प्रयोगकी अतिशय नियम और विचार-पूर्वक सूक्ष्मताके साथ करते हुए भी उत्पन्न परिणामोंको अंतिम नहीं बताता, अथवा जिस प्रकार उनकी सत्यताके विषयमें यदि सशंक नहीं तो तटस्थ रहता है, उसी प्रकार मेरे प्रयोगोंको समझना चाहिए। मैंने भरसक खूब आत्म-निरीक्षण किया है, अपने मनके एक-एक भाव की छानबीन की है, उनका विश्लेषण किया है। फिर भी मैं यह दावा हरगिज नहीं करना चाहता कि उनके परिणाम सबके लिए अंतिम हैं, वे सत्य ही हैं, अथवा वही सत्य हैं। हां, एक दावा अवश्य करता हूं कि वे मेरी दृष्टिसे सच्चे हैं और इस समय तक तो मुझे अंतिम जैसे मालूम होते हैं। यदि ये ऐसे न मालूम होते हों तो फिर इनके आधार पर मुझे कोई काम उठा लेनेका अधिकार नहीं। पर मैं तो जितनी चीजें सामने आती हैं उनके, कदम-कदम पर दो भाग करता जाता हूं—ग्राह्य और त्याज्य; और जिस बातको ग्राह्य समझता हूं उसके अनुसार अपने आचरणको बनाता हूं, एवं जबतक ऐसा आचरण मुझे—अर्थात् मेरी बुद्धिको और आत्माको—

संतोष देता है तब तक उसके शुभ परिणाम पर मुझे अवश्य अटल विश्वास रहता है।

यदि मैं केवल सिद्धांतोंका अर्थात् तत्त्वोंका ही वर्णन करना चाहता होता तो मैं 'आत्म-कथा' न लिखता। परंतु मैं तो उनके आधारपर उठाये गए कार्योंका इतिहास देना चाहता हूं, और इसलिए मैंने इस प्रयत्नका पहला नाम रक्खा है 'सत्यके प्रयोग'। इसमें यद्यपि अहिंसा, ब्रह्मचर्य आ तो जायंगे; परंतु मेरे निकट तो सत्य ही सर्वोपरि है, और उसमें अगणित वस्तुओंका समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल अर्थात् वाचिक सत्य नहीं है। यह तो वाचा की तरह विचारका भी सत्य है। यह सत्य केवल हमारा कल्पनागत सत्य ही नहीं, बल्कि स्वतंत्र चिरस्थायी सत्य, अर्थात् स्वयं परमेश्वर ही है।

परमेश्वरकी व्याख्याएं अगणित हैं; क्योंकि उसकी विभूतियां भी अगणित हैं। विभूतियां मुझे आश्चर्य-चकित तो करती हैं, मुझे क्षण भरके लिए मुग्ध भी करती हैं; पर मैं तो पुजारी हूं सत्य-रूपी परमेश्वरका ही। मेरी दृष्टिमें यह एकमात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है। पर यह सत्य अब तक मेरे हाथ नहीं लगा है, अभी तक मैं तो उसका शोधक-मात्र हूं। हां, उसकी शोधके लिए मैं अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुको भी छोड़ देनेके लिए तैयार हूं; और इस शोध-रूपी यज्ञमें अपने शरीरको भी होम देनेकी तैयारी करली है। मुझे विश्वास है कि इतनी शक्ति मुझमें है। परंतु जब तक इस सत्यका साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है उसी काल्पनिक सत्यको अपना, आधार मानकर, दीप-स्तम्भ समझकर, उसके सहारे मैं अपना जीवन व्यतीत करता हूं।

यह मार्ग यद्यपि तलवारकी धारपर चलने जैसा दुर्गम है, तथापि मुझे तो अनुभवसे अत्यंत सरल मालूम हुआ है। इस रास्ते जाते हुए अपनी भयंकर भूलें भी मेरे लिए मामूली हो गई हैं। क्योंकि इन भूलोंको करते हुए भी मैं खाइयों और खंदकोंसे बच गया हूं और अपनी समझके अनुसार तो आगे भी बढ़ा हूं। पर यहीं तक बस नहीं; हां, दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी—ईश्वरकी—झलक भी देख रहा हूं। मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जाता है कि सृष्टिमें एक-मात्र सत्यकी ही सत्ता है और उसके सिवा दूसरा कोई नहीं है। यह विश्वास किस तरह

बढ़ता गया है, यह बात मेरे जगत् अर्थात् 'नवजीन' इत्यादिके पाठक चाहें तो शौकसे मेरे प्रयोगोंमें हिस्सेदार बनें तथा उस सत्य परमात्माकी झलक भी मेरे साथ-साथ देखें। फिर मैं यह बात अधिकाधिक मानता जाता हूं कि जितनी बातें मैं कर सकता हूं, उतनी एक बालक भी कर सकता है। और इसके लिए मेरे पास सबल कारण हैं। सत्यकी शोधके कारण जितने कठिन दिखाई देते हैं, उतने ही सरल हैं। अभिमानको जो बात अशक्य मालूम होती है वही एक भोले-भाले शिशुको बिलकुल सरल मालूम होती है। सत्यके शोधकको एक रज-कणसे भी नीचे रहना पड़ता है। सारी दुनिया रज-कणको पैरों तले रौंदती है; पर सत्यका पुजारी तो जबतक इतना छोटा नहीं बन जाता कि रज-कण भी उसे कुचल सके, तबतक स्वतंत्र सत्यकी झलक भी होना दुर्लभ है। यह बात वसिष्ठ-विश्वामित्रके आख्यानमें अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है। ईसाई धर्म और इस्लाम भी इसी बातको साबित करते हैं।

आगे जो प्रकरण क्रमशः लिखे जायंगे उनमें यदि पाठकको मेरे अभिमान-का भास हो तो अवश्य समझना चाहिए कि मेरी शोधमें कमी है और मेरी वे झलकें मृग-जलके सदृश हैं। मैं तो चाहता हूं कि चाहे मुझ जैसे अनेकोंका क्षय हो जाय, पर सत्यकी सदा जय हो। अल्पात्माको नापने के लिए सत्यका गज कभी छोटा न बने।

मैं चाहता हूं, मेरी विनय है, कि मेरे लेखोंको कोई प्रमाणभूत न माने। उनमें प्रदर्शित प्रयोगोंको उदाहरण-रूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथा-शक्ति और यथामति करें, इतनी ही मेरी इच्छा है। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्रमें, आत्मा-संबंधी मेरे लेखोंसे बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी। क्योंकि एक भी ऐसी बात जो कहने लायक है, छिपाऊंगा नहीं। पाठकोंको अपने दोषोंका परिचय मैं पूरा-पूरा करानेकी आशा रखता हूं। क्योंकि मुझे तो सत्यके आध्यात्मिक प्रयोगोंका वर्णन करना है। यह दिखानेकी कि मैं कैसा अच्छा हूं मुझे रत्तल-मात्र इच्छा नहीं है। जिस नापसे मैं अपनेको नापना चाहता हूं और जो माप हम सबको अपने लिए रखना चाहिए, उसे देखते हुए तो मैं अवश्य कहूंगा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो निमकहरामी॥

क्योंकि जिसे मैं सोलहों आने विश्वासके साथ अपने श्वासोच्छ्वासका स्वामी मानता हूं, जिसे मैं अपने नमकका देने वाला मानता हूं, उससे मैं अभी तक दूर हूं और यह बात मुझे प्रतिक्षण कांटेकी तरह चुभ रही है। इसके कारण-रूप अपने विकारोंको मैं देख तो सकता हूं; पर अब भी उन्हें निर्मूल नहीं कर पाया हूं।

पर अब इसे समाप्त करता हूं। प्रस्तावनासे हटकर यहां प्रयोगोंकी कथामें प्रवेश नहीं कर सकता। यह तो कथा-प्रकरणोंमें ही पाठकको मिलेगी।

सत्याग्रहाश्रम, साबरमती,
मार्गशीर्ष शुक्ला ११, १९८२.

—मोहनदास करमचन्द गांधी

विषय-सूची

आत्मकथा

पहला भाग

१

जन्म

गांधी-परिवार, कहते हैं, पहले पंसारीका[१] काम करता था। परंतु मेरे दादासे लेकर तीन पुश्ततक उसने दीवानगिरी की है। जान पड़ता है, उत्तमचंद गांधी, उर्फ ओता गांधी, बड़े टेकवाले थे। उन्हें राज-दरबारी साजिशोंके कारण, पोरबंदर छोड़कर जूनागढ राज्यमें जाकर रहना पड़ा था। वहां गये तो उन्होंने बायें हाथसे नवाब साहबको सलाम किया। जब किसीने इस स्पष्ट गुस्ताखी का कारण पूछा, तो उत्तर मिला— 'दाहिना हाथ तो पोरबंदरके सुपुर्द हो चुका है।'

ओता गांधीने एक-एक करके अपने दो विवाह किये थे। पहली पत्नीसे चार लड़के हुए थे और दूसरीसे दो। लेकिन अपना बचपन याद करते हुए मुझे यह खयाल तक नहीं आता कि ये भाई सौतेले लगते थे। उनमें पांचवें करमचंद गांधी, उर्फ कबा गांधी और अंतिम तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाई बारी-बारीसे पोरबंदरमें दीवान रहे थे। कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबंदरकी दीवानगिरी छोड़नेके बाद वह 'राजस्थानिक कोर्ट'के सभासद रहे थे। इसके पश्चात् राजकोटमें और फिर कुछ समय वांकानेरमें दीवान रहे। मृत्युके समय राजकोट-दरबारके पेंशनर थे।

कबा गांधीके भी एक-एक करके चार विवाह हुए थे। पहली दो पत्नियोंसे दो लड़कियां थीं; अंतिम, पुतलीबाईसे एक कन्या और तीन पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटा मैं हूं।

---

[१] गुजरात-काठियावाड़में पंसारीको गांधी कहते हैं।—अनु०

मेरे पिताजी कुटुंब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परंतु साथ ही क्रोधी थे। मेरा खयाल है, कुछ विषयासक्त भी रहे होंगे। उनका अंतिम विवाह चालीस वर्षकी अवस्थाके बाद हुआ था। वह रिश्वतसे सदा दूर रहते थे, और इसी कारण अच्छा न्याय करते थे, ऐसी प्रसिद्धि उनकी हमारे कुटुंबमें तथा बाहर भी थी। वह राज्यके बड़े वफादार थे। एक बार असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंटने राजकोटके ठाकुरसाहबसे अपमानजनक शब्द कहे तो उन्होंने उसका सामना किया। साहब बिगड़े और कबा गांधीसे कहा, माफी मांगो। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। इससे कुछ घंटेके लिए उन्हें हवालातमें भी रहना पड़ा। पर वह टस-से-मस न हुए। तब साहबको उन्हें छोड़ देनेका हुक्म देना पड़ा।

पिताजीको धन जोड़नेका लोभ न था। इससे हम भाइयोंके लिए वह बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजीने शिक्षा केवल अनुभव-द्वारा प्राप्त की थी। आजकी अपर प्राइमरीके बराबर उनकी पढ़ाई हुई थी। इतिहास, भूगोल बिलकुल नहीं पढ़े थे। फिर भी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे दरजेका था कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्नोंको हल करनेमें अथवा हजार आदमियोंसे काम लेनेमें उन्हें कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नहीं-के बराबर हुई थी। परंतु मंदिरोंमें जानेसे, कथा-पुराण सुननेसे, जो धर्मज्ञान असंख्य हिंदुओंको सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें था। अपने अंतिम दिनोंमें एक विद्वान् ब्राह्मणकी सलाहसे, जोकि हमारे कुटुंबके मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजाके समय ऊंचे स्वरसे पाठ किया करते थे।

माताजी साध्वी स्त्री थीं, ऐसी छाप मेरे दिलपर पड़ी है। वह बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव मंदिर—जाया करतीं। जबसे मैंने होश सम्हाला, मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वह लिया करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जानेपर भी वह व्रत न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है, जब उन्होंने चांद्रायणव्रत किया था। बीचमें बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मासमें एक बार भोजन करना तो उनके लिए मामूली बात थी। इतनेसे संतोष न मानकर एक बार चातुर्मासमें उन्होंने हर

तीसरे दिन उपवास किया। एक साथ दो-तीन उपवास तो उनके लिए एक मामूली बात थी। एक चातुर्मासमें उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायणके दर्शन होनेपर ही भोजन किया जाय। इस चौमासेमें हम लड़केलोग आसमानकी तरफ देखा करते कि कब सूरज दिखाई पड़े और कब मां खाना खाय। सब लोग जानते हैं कि चौमासेमें बहुत बार सूर्य-दर्शन मुश्किलसे होते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं, जबकि हमने सूर्यको निकला हुआ देखकर पुकारा है— 'मां-मां, वह सूरज निकला,' और जबतक मां जल्दी-जल्दी दौड़कर आती है, सूरज छिप जाता था। मां यह कहती हुई वापस जाती कि 'खैर, कोई बात नहीं, ईश्वर नहीं चाहता कि आज खाना मिले' और अपने कामोंमें मशगूल हो जाती।

माताजी व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबारकी सब बातें जानती थीं। रनवासमें उनकी बुद्धिमत्ता ठीक-ठीक आंकी जाती थी। जब मैं बच्चा था, मुझे दरबारगढ़में कभी-कभी वह साथ ले जातीं और 'बामां—साहब' (ठाकुर साहबकी विधवा माता) के साथ उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी याद हैं।

इन माता-पिताके यहां आश्विन बदी १२ संवत् १९२५ अर्थात् २ अक्तूबर १८६९ ईसवीको पोरबंदर अथवा सुदामापुरीमें मेरा जन्म हुआ।

मेरा बचपन पोरबंदरमें ही बीता। ऐसा याद पड़ता है कि किसी पाठशाला में मैं पढने बैठाया गया था। मुश्किलसे कुछ पहाड़े पढ़ा होऊंगा। उस समय मैंने और लड़कोंके साथ मेहताजी—मास्टर साहब—को सिर्फ गाली देना सीखा था; इतना याद पड़ता है। और कोई बात याद नहीं आती। इससे यह अनुमान करता हूं कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी और स्मरणशक्ति उन पंक्तियोंके कच्चे पापड़की तरह रही होगी जोकि हम लड़के गाया करते थे—

एकड़े एक, पापड़ शेक,
पापड़ कच्चो . . . मारो . . .

पहली खाली जगह मास्टर साहबका नाम रहता था। उन्हें मैं अमर करना नहीं चाहता। दूसरी खाली जगहमें एक गाली रहती, जिसे यहां देनेकी आवश्यकता नहीं।

२

बचपन

पोरबंदरसे पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट'के सभ्य होकर जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई ७ सालकी होगी। राजकोटकी देहाती पाठशालामें मैं भरती कराया गया। इस पाठशालाके दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। मास्टरोंके नाम-ठाम भी याद हैं। पोरबंदरकी तरह वहांकी पढ़ाईके संबंधमें भी कोई खास बात जानने लायक नहीं। मामूली विद्यार्थी भी मुश्किलसे माना जाता होऊंगा। पाठशालासे फिर ऊपरके स्कूलमें--और वहांसे हाईस्कूलमें गया। यहांतक पहुंचते हुए मेरा बारहवां साल पूरा हो गया। मुझे न तो यही याद है कि अबतक मैंने किसी भी शिक्षकसे झूठ बोला हो, न यही कि किसीसे मित्रता जोड़ी हो। बात यह थी कि मैं बहुत झेंपू लड़का था, मदरसेमें अपने कामसे काम रखता। घंटी लगते समय पहुंच जाता, फिर स्कूल बंद होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्दका प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि मुझे किसीके साथ बातें करना न सुहाता था—मुझे यह डर भी बना रहता कि 'कहीं कोई मेरी दिल्लगी न उड़ाए?'

हाईस्कूलके पहले ही सालके परीक्षाके समयकी एक घटना लिखने योग्य है। शिक्षा-विभागके इन्स्पैक्टर, जाइल्स साहब, निरीक्षण करने आये। उन्होंने पहली कक्षाके विद्यार्थियोंको पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था 'केटल' (Kettle)। उसे मैंने गलत लिखा। मास्टर साहबने मुझे अपने बूटसे टल्ला देकर चेताया। पर मैं क्यों चेतने लगा? मेरे दिमाग़में यह बात न आई कि मास्टर साहब मुझे आगेके लड़केकी स्लेट देखकर सही लिखनेका इशारा कर रहे हैं। मैं यह मान रहा था कि मास्टर साहब यह देख रहे हैं कि हम दूसरेसे नकल तो नहीं कर रहे हैं। सब लड़कोंके पांचों शब्द सही निकले, एक मैं ही बुद्धू साबित हुआ। मास्टर साहबने बादमें मेरी यह 'मूर्खता' मुझे समझाई; परन्तु उसका मेरे दिलपर कुछ असर न हुआ। दूसरोंकी नकल करना मुझे कभी न आया।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहबका अदब रखनेमें मैंने कभी गलती न की।

बड़े-बूढ़ोंके ऐब न देखनेका गुण मेरे स्वभावमें ही था। बादको तो इन मास्टर साहबके दूसरे ऐब भी मेरी नजरमें आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर-भाव कायम ही रहा। मैं इतना जान गया था कि हमें बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा माननी चाहिए, जैसा वे कहें करना चाहिए; पर वे जो-कुछ करें उसके काजी हम न बनें।

इसी समय और दो घटनाएं हुई, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूली तौर पर मुझे कोर्सकी पुस्तकोंके अलावा कुछ भी पढ़नेका शौक न था। इस खयालसे कि अपना पाठ याद करना उचित है, नहीं तो उलाहना सहन न होगा और मास्टर साहबसे झूठ बोलना ठीक नहीं, मैं पाठ याद करता; पर मन न लगा करता। इससे सबक कई बार कच्चा रह जाता। तो फिर दूसरी पुस्तकें पढ़नेकी तो बात ही क्या? परन्तु पिताजी एक 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नामक नाटक खरीद लाये थे, उसपर मेरी नजर पड़ी। उसे पढ़नेको दिल चाहा। बड़े चावसे मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों शीशेमें तसवीर दिखानेवाले लोग भी आया करते। उनमें मैंने यह चित्र भी देखा कि श्रवण अपने माता-पिताको कांवरमें बैठाकर तीर्थयात्राके लिए ले जा रहा है। ये दोनों चीजें मेरे अंतस्तल पर अंकित हो गईं। मेरे मनमें यह बात उठा करती कि मैं भी श्रवणकी तरह बनूं। श्रवण जब मरने लगा तो उस समयका उसके माता-पिताका विलाप अब भी याद है। उस ललित छंदको मैं बाजेपर भी बजाया करता। बाजा सीखनेका मुझे शौक था और पिताजी ने एक बाजा खरीद भी दिया था।

इसी अरसेमें एक नाटक कंपनी आई और मुझे उसका नाटक देखनेकी छुट्टी मिली। हरिश्चंद्रका खेल था। इसको देखते मैं अघाता न था, बार-बार उसे देखनेको मन हुआ करता। पर यों बार-बार जाने कौन देने लगा? लेकिन अपने मनमें मैंने इस नाटकको सैकड़ों बार खेला होगा। हरिश्चंद्रके सपने आते। यही धुन समाई कि 'हरिश्चंद्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों न हों?' यही धारणा जमी कि हरिश्चंद्रके जैसी विपत्तियां भोगना, पर सत्यको न छोड़ना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान लिया था कि नाटकमें जैसी विपत्तियां हरिश्चंद्रपर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तवमें उसपर पड़ी होंगी। हरिश्चंद्रके दुःखोंको देखकर, उन्हें याद कर-कर, मैं खूब रोया हूं। आज मेरी बुद्धि कहती है कि संभव है, हरिश्चंद्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हों। पर मेरे हृदयमें तो हरिश्चंद्र और श्रवण आज भी

जीवित हैं। आज भी यदि मैं उन नाटकोंको पढ पाऊं तो आंसू आये बिना न रहें।

३

बाल-विवाह

जी चाहता है कि यह प्रकरण मुझे न लिखना पड़े तो अच्छा; परंतु इस कथामें मुझे ऐसी कितनी ही कड़ुवी घूंटें पीनी पड़ेंगी। सत्यके पुजारी होनेका दावा करके मैं इससे कैसे बच सकता हूं?

यह लिखते हुए मेरे हृदयको बड़ी व्यथा होती है कि १३ वर्षकी उम्रमें मेरा विवाह हुआ। आज मैं जब १२-१३ वर्षके बच्चोंको देखता हूं और अपने विवाहका स्मरण हो आता है, तब मुझे अपनेपर तरस आने लगती है; और उन बच्चोंको इस बातके लिए बधाई देनेकी इच्छा होती है कि वे मेरी दुर्गतसे अब तक बचे हुए हैं। तेरह सालकी उम्रमें हुए मेरे इस विवाहके समर्थनमें एक भी नैतिक दलील मेरे दिमागमें नहीं आ सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाईकी बात लिख रहा हूं। सगाईका तो अर्थ होता है मां-बापके द्वारा किया हुआ दो लड़के-लड़कियोंके विवाहका ठहराव—वाग्दान। सगाई टूट भी सकती है। सगाई हो जानेपर यदि लड़का मर जाय तो उससे कन्या विधवा नहीं होती। सगाईके मामलेमें वर-कन्याकी कोई पूछ नहीं होती। दोनोंको खबर हुए बिना भी सगाई हो सकती है। मेरी एक-एक करके तीन सगाइयां हुईं। किंतु मुझे कुछ पता नहीं कि ये कब हो गईं। मुझसे कहा गया कि एक-एक करके दो कन्याएं मर गईं, तब मैं जान पाया कि मेरी तीन सगाइयां हुईं। कुछ ऐसा याद पड़ता है कि तीसरी सगाई सातेक सालकी उम्रमें हुई होगी। पर मुझे कुछ याद नहीं आता कि सगाईके समय मुझे उसकी खबर की गई हो। लेकिन विवाहमें तो वर-कन्याकी उपस्थिति आवश्यक होती है, उसमें धार्मिक विधि-विधान होते हैं। अतः यहां मैं सगाईकी नहीं, अपने विवाहकी ही बात कर रहा हूं। विवाहका स्मरण तो मुझे अच्छी तरह है।

पाठक जान ही गये हैं कि हम तीन भाई थे। सबसे बड़ेकी शादी हो

चुकी था। मंझले भाई मुझसे दो-तीन वर्ष बड़े थे। मेरे पिताजीने तीन विवाह एक साथ करनेका निश्चय किया—एक तो मंझले भाईका, दूसरे मेरे चचेरे भाई का, जिनकी उम्र मुझसे शायद एकाध साल ज्यादा होगी, और तीसरा मेरा। इसमें हमारे कल्याणका कोई विचार न था, हमारी इच्छाकी तो बात ही क्या? बस, केवल माता-पिताकी इच्छा और खर्च-वर्चकी सुविधा ही देखी गई थी।

हिंदू-संसारमें विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं। वर-कन्याके मां-बाप विवाहके पीछे बरबाद हो जाते हैं। धन भी लुटाते हैं और समय भी बरबाद करते हैं। महीनों पहलेसे तैयारियां होने लगती हैं, तरह-तरहके कपड़े तैयार होते हैं, जेवर बनते हैं, जाति-भोजोंका तखमीना बनाया जाता है, खानेकी चीजोंकी होड़-सी लगती है। स्त्रियां, सुर हो या बे-सुर, गीत गा-गाकर अपना गला बैठा लेती हैं, बीमार भी पड़ जाती हैं, और पड़ोसियोंकी शांति भंग करती हैं सो अलग। पड़ोसी भी तो जब उनके यहां अवसर आता है तब ऐसा ही करते हैं, इसलिए इस सारे शोरगुलको तथा भोजोंकी जूठन व दूसरी गंदगीको चुपचाप सहन कर लेते हैं।

यह इतना झंझट तीन बार अलग-अलग करने के बजाय एक ही बार कर डालना क्या अच्छा नहीं? 'कम खर्च बाला नशीन।' क्योंकि तीन विवाह एक-साथ होनेसे खर्च भी खुले हाथ किया जा सकता था। पिताजी और चाचाजी वृद्ध थे। हम लोग थे उनके सबसे छोटे लड़के। इसलिए हमारे विवाह-संबंधी अपनी उमंगको पूरा करनेका भाव भी उनके मनमें था ही। इन कारणोंसे तीन विवाह एकसाथ करनेका निश्चय हुआ और उसके लिए, जैसा कि मैं लिख चुका हूं, महीनों पहलेसे तैयारियां होती रहीं और सामग्रियां जुटती रहीं।

हम भाइयोंने तो सिर्फ उन तैयारियोंसे ही जाना कि हमारे विवाह होनेवाले हैं। मुझे तो इस समय इन मनसूबोंके अलावा कि अच्छे-अच्छे कपड़े पहनेंगे, बाजे बजते देखेंगे, तरह-तरहका भोजन, मिठाई मिलेगी, एक नई लड़कीके साथ हंसी-खेल करेंगे, और किसी विशेष भावका रहना याद नहीं आता। विषय-भोग करनेका भाव तो पीछेसे उत्पन्न हुआ। यह किस प्रकार हुआ, सो मैं बता तो सकता हूं, परन्तु इसकी जिज्ञासा पाठक न रक्खें। अपनी इस शर्मपर मैं परदा डाले रखना चाहता हूं। किंतु जो बातें उनके जानने योग्य हैं, वे सब आगे

आजायेंगी—वे भी इसलिए कि जो मध्य बिंदु मैंने अपनी दृष्टि के सामने रखा है, उसका कुछ संबंध उनके ब्योरेके साथ है ।

हम दोनों भाइयोंको राजकोटसे पोरबंदर ले गये । वहां हलदी लगाने इत्यादिकी जो विधियां हुईं वे रोचक तो हैं, पर उनका वर्णन छोड़ देने ही लायक है ।

पिताजी दीवान थे तो क्या हुआ, थे तो आखिर नौकर ही । फिर राजप्रिय थे, इसलिए और भी पराधीन । ठाकुर साहबने आखिरी वक्ततक उन्हें जाने न दिया । फिर जब इजाजत दी भी तो दो दिन पहले, जबकि सवारीका जगह-जगह इंतिजाम करना पड़ा । पर दैवने कुछ और ही सोच रक्खा था । राजकोटसे पोरबंदर ६० कोस है । बैलगाड़ीसे ५ दिनका रास्ता था । पिताजी तीन दिनमें आये । आखिरी मंजिलपर तांगा उलट गया । पिताजीको सख्त चोट आई । हाथ-पांव और बदनमें पट्टियां बांधे घर आये । हमारे लिए और उनके लिए भी विवाहका आनंद आधा रह गया । परंतु इससे विवाह थोड़े ही रुक सकते थे ? लिखा मुहूर्त्त कहीं टल सकता था ? और मैं तो विवाहके बाल-उल्लासमें पिता-जीकी चोटको भूल ही गया ।

मैं जितना पितृ-भक्त था उतना ही विषय-भक्त भी । यहां विषयसे मतलब किसी एक इंद्रियके विषयसे नहीं, बल्कि भोग-मात्रसे है । यह होश तो अभी आना बाकी था कि माता-पिताकी भक्तिके लिए पुत्रको अपने सब सुख छोड़ देने चाहिएं । ऐसा होते हुए भी, मानो इस भोगेच्छाकी सजा मुझे मिलनी हो, मेरी जिंदगीमें एक ऐसी दुर्घटना हुई, जो मुझे आज भी कांटेकी तरह चुभती है । जब-जब निष्कुलानंदकी यह पंक्ति—

'त्याग न टके रे बैराग बिना, करिये कोटि उपाय जी'

गाता अथवा सुनता हूं, तब-तब यह दुर्घटना और कटु-प्रसंग मुझे याद आता है और शर्मिन्दा करता रहता है ।

पिताजीने खुद मानो थप्पड़ मारकर अपना मुंह लाल रक्खा । शरीरमें चोट और पीड़ाके रहते हुए भी विवाह-कार्यमें पूरा-पूरा योग दिया । पिताजी किस अवसरपर कहां-कहां बैठे थे, यह सब मुझे ज्यों-का-त्यों याद है । बाल-विवाह पर विचार करते हुए पिताजीके कार्यपर जो टीका-टिप्पणी आज मैं कर रहा हूं, उसका स्वप्न भी उस समय न आया था । उस समय तो मुझे वे सब बातें रुचिकर

और उचित ही मालूम होती थीं। क्योंकि एक तो विवाहकी उत्सुकता थी और दूसरे पिताजी जो-कुछ करते थे वह सब उस समय ठीक ही जान पड़ता था। अतः उस समयकी स्मृति आज भी मेरे मनमें ताजा है।

हमारा पाणि-ग्रहण हुआ, सप्तपदीमें वर-वधू साथ बैठे, दोनोंने एक-दूसरेको कसार खिलाया, और तभीसे हम दोनों एक साथ रहने लगे। ओह, वह पहली रात! दो अबोध बालक बिना जाने, बिना समझे, संसार-सागरमें कूद पड़े! भाभीने सिखाया कि पहली रातको मुझे क्या-क्या करना चाहिए। यह याद नहीं पड़ता कि मैंने धर्म-पत्नीसे यह पूछा हो कि उन्हें किसने सिखाया था। अब भी पूछा जा सकता है; पर अब तो इसकी इच्छातक नहीं होती। पाठक इतना ही जान लें कि कुछ ऐसा याद पड़ता है कि हम दोनों एक-दूसरेसे डरते और शरमाते थे। मैं क्या जानता कि बातें कैसे व क्या-क्या करें? सिखाई बातें भी कहांतक मदद कर सकती हैं? पर क्या ये बातें सिखानी पड़ती हैं? जहां संस्कार प्रबल हैं, वहां सिखाना फिजूल हो जाता है। धीरे-धीरे हमारा परिचय बढ़ता गया। आजादीके साथ एक-दूसरेसे बोलने-बतलाने लगे। हम दोनों हम-उम्र थे, फिर भी मैं पतिदेव बन बैठा!

४

पतिदेव

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, छोटेछोटे निबंध—पैसेपैसे या पाईपाईके सो याद नहीं पड़ता—छपा करते। इनमें दाम्पत्य प्रेम, मितव्ययता, बाल-विवाह इत्यादि विषयोंकी चर्चा रहा करती। इनमेंसे कोई-कोई निबंध मेरे हाथ पड़ता और उसे मैं पढ़ जाता। शुरूसे यह मेरी आदत रही कि जो बात पढ़नेमें अच्छी नहीं लगती उसे भूल जाता और जो अच्छी लगती उसके अनुसार आचरण करता। यह पढ़ा कि एक-पत्नी-व्रतका पालन करना पतिका धर्म है। बस, यह मेरे हृदयमें अंकित हो गया। सत्यकी लगन तो थी ही। इसलिए पत्नीको धोखा या भुलावा देनेका तो अवसर ही न था। और यह भी समझ चुका था कि दूसरी स्त्रीसे संबंध

जोड़ना पाप है। फिर कोमल वयमें एक-पत्नी-व्रतके भंग होनेकी संभावना भी कम ही रहती है।

परंतु इन सद्विचारोंका एक बुरा परिणाम निकला। 'यदि मैं एक-पत्नी-व्रतका पालन करता हूं, तो मेरी पत्नीको भी एक-पति-व्रतका पालन करना चाहिए।' इस विचारसे मैं असहिष्णु—ईर्ष्यालु पति बन गया। फिर 'पालन करना चाहिए' मेंसे 'पालन करवाना चाहिए' इस विचारतक जा पहुंचा। और यदि पालन करवाना हो तो फिर मुझे पत्नीकी चौकीदारी करनी चाहिए। पत्नीकी पवित्रतापर तो संदेह करनेका कोई कारण न था; परंतु ईर्ष्या कहीं कारण देखने जाती है? मैंने कहा—'पत्नी हमेशा कहां-कहां जाती है, यह जानना मेरे लिए जरूरी है, मेरी इजाजत लिये बिना वह कहीं नहीं जा सकती।' मेरा यह भाव मेरे और उनके बीच दुःखद झगड़ेका मूल बन बैठा। बिना इजाजत के कहीं न जा पाना तो एक तरहकी कैद ही हो गई! परंतु कस्तूरबाई ऐसी मिट्टीकी न बनी थीं, जो ऐसी कैदको बरदाश्त करतीं। जहां जी चाहे, मुझसे बिना पूछे जरूर चली जातीं। ज्यों-ज्यों मैं उन्हें दबाता त्यों-त्यों वह अधिक आजादी लेतीं, और त्यों-ही-त्यों मैं और बिगड़ता। इस कारण हम बाल-दंपतीमें अबोला रहना एक मामूली बात हो गई। कस्तूरबाई जो आजादी लिया करतीं उसे मैं बिलकुल निर्दोष मानता हूं। एक बालिका जिसके मनमें कोई पाप नहीं है, देव-दर्शनको जानेके लिए अथवा किसीसे मिलने जानेके लिए क्यों ऐसा दबाव सहन करने लगी? 'यदि मैं उसपर दबाव रक्खूं तो फिर वह मुझपर क्यों न रक्खे?' पर यह बात तो अब समझ में आती है। उस समय तो मुझे पतिदेवकी सत्ता सिद्ध करनी थी।

पर इससे पाठक यह न समझें कि हमारे इस गार्हस्थ्य-जीवनमें कहीं मिठास थी ही नहीं। मेरी इस वक्रताका मूल था प्रेम! मैं अपनी पत्नीको आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरे मनमें एकमात्र यही भाव रहता था कि मेरी पत्नी स्वच्छ हो, स्वच्छ रहे, मैं सीखूं सो सीखे, मैं पढ़ूं सो पढ़े और हम दोनों एक-मन दो-तन बनकर रहें।

मुझे खयाल नहीं पड़ता कि कस्तूरबाईके भी मनमें ऐसा भाव रहा हो। वह निरक्षर थीं। स्वभाव उनका सरल और स्वतंत्र था। वह परिश्रमी भी थीं, पर मेरे साथ कम बोला करतीं। अपने अज्ञानपर उन्हें असंतोष न था। अपने

बचपनमें मैंने कभी उनकी ऐसी इच्छा नहीं देखी कि 'वह पढ़ते हैं तो मैं भी पढ़ूं।' इससे मैं मानता हूं कि मेरी भावना इकतरफा थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्रीपर अवलंबित था और मैं उस सुखकी प्रतिध्वनिकी आशा लगाये रहता था। अस्तु। प्रेम यदि एक पक्षीय भी हो तो वहां सर्वांशमें दुःख नहीं हो सकता।

मुझे कहना चाहिए कि मैं अपनी पत्नीसे जहांतक संबंध है, विषयासक्त था। स्कूलमें भी उसका ध्यान आता, और यह विचार मनमें चला ही करता कि कब रात हो और कब हम मिलें। वियोग असह्य हो जाता था। कितनी ही ऊट-पटांग बातें कह-कहकर मैं कस्तूरबाईको देरतक सोने न देता। इस आसक्ति के साथ ही यदि मुझमें कर्त्तव्यपरायणता न होती, तो मैं समझता हूं, या तो किसी बुरी बीमारीमें फंसकर अकाल ही कालकवलित हो जाता अथवा अपने और दुनिया के लिए भारभूत होकर वृथा जीवन व्यतीत करता होता। 'सुबह होते ही नित्यकर्म तो हर हालत में करने चाहिएं, झूठ तो बोल ही नहीं सकते' आदि अपने इन विचारों की बदौलत मैं अपने जीवनमें कई संकटोंसे बच गया हूं।

मैं ऊपर कह आया हूं कि कस्तूरबाई निरक्षर थीं। उन्हें पढ़ानेकी मुझे बड़ी चाह थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे कैसे पढ़ाने देती? एक तो मुझे उनकी मर्जीके खिलाफ पढ़ाना था, फिर रातमें ही ऐसा मौका मिल सकता था। बुजुर्गोंके सामने तो पत्नीकी तरफ़ देखतक नहीं सकते—बात करना तो दूर रहा! उस समय काठियावाड़में घूंघट निकालनेका निरर्थक और जंगली रिवाज था, आज भी थोड़ा-बहुत बाकी है। इस कारण पढ़ानेके अवसर भी मेरे प्रतिकूल थे। इसलिए मुझे कहना होगा कि युवावस्थामें पढ़ानेकी जितनी कोशिशें मैंने कीं वे सब प्रायः बेकार गईं; और जब मैं विषय-निद्रासे जगा तो तब सार्वजनिक जीवनमें पड़ चुका था। इस कारण अधिक समय देने योग्य मेरी स्थिति नहीं रह गई थी। शिक्षक रखकर पढ़ानेके मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप आज कस्तूर-बाई मामूली चिट्ठी-पत्री व गुजराती लिखने-पढ़नेसे अधिक साक्षर न होने पाईं। यदि मेरा प्रेम विषयसे दूषित न हुआ होता, तो मैं मानता हूं आज वह विदुषी हो गई होतीं। उनके पढ़नेके आलस्यपर मैं विजय प्राप्त कर पाता। क्योंकि मैं जानता हूं कि शुद्ध प्रेमके लिए दुनियामें कोई बात असंभव नहीं।

इस तरह अपनी पत्नीके साथ विषय-रत रहते हुए भी मैं कैसे बहुत-

कुछ बच गया, इसका एक कारण मैंने ऊपर बताया। इस सिलसिले में एक और बात कहने जैसी है। सैकड़ों अनुभवोंसे मैंने यह निचोड़ निकाला है कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे खुद परमेश्वर ही बचा लेता है। हिंदू-संसारमें जहां बाल-विवाहकी घातक प्रथा है, वहां उसके साथ ही उसमेंसे कुछ मुक्ति दिलानेवाला भी एक रिवाज है। बालक वर-वधूको मां-बाप बहुत समयतक एकसाथ नहीं रहने देते। बाल-पत्नीका आधेसे ज्यादा समय पीहरमें जाता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। अर्थात् हम १३ और १८ सालकी उमरके दरमियान थोड़ा-थोड़ा करके तीन सालसे अधिक साथ न रह सके होंगे। छ:-आठ महीने रहना हुआ नहीं कि पत्नीके मां-बापका बुलावा आया नहीं। उस समय तो वे बुलावे बड़े नागवार मालूम होते। परंतु सच पूछिए तो उन्हींके बदौलत हम दोनों बहुत बच गये। फिर १८ सालकी अवस्थामें मैं विलायत गया—लंबे और सुन्दर वियोगका अवसर आया। विलायतसे लौटनेपर भी हम एकसाथ तो छ: महीने मुश्किलसे रहे होंगे, क्योंकि मुझे राजकोट-बंबई बार-बार आना-जाना पड़ता था। फिर इतनेमें ही दक्षिण अफ्रीका का निमंत्रण आ पहुंचा—और इस बीच तो मेरी आंखें बहुत-कुछ खुल भी चुकी थीं।

५

हाई स्कूलमें

मैं पहले लिख चुका हूं कि जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाई स्कूलमें पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूलमें पढ़ते थे। बड़े भाई बहुत ऊपरके दरजेमें थे और जिन भाईका विवाह मेरे साथ हुआ वह मुझसे एक दरजा आगे थे। विवाहका परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयोंका एक साल बेकार गया। मेरे भाईको तो और भी बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाहके पश्चात् वह विद्यालयमें रह ही न सके। परमात्मा जाने, विवाहके कारण कितने नवयुवकोंको ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं। विद्याध्ययन और विवाह ये दोनों बातें हिंदू-समाजमें ही एक साथ हो सकती हैं।

मेरा अध्ययन चलता रहा। हाईस्कूलमें मैं बुद्धू नहीं माना जाता था। शिक्षकोंका प्रेम हमेशा संपादन करता रहा। हर साल मां-बाप को विद्यार्थीकी पढ़ाई तथा चाल-चलनके संबंधमें स्कूलसे प्रमाण-पत्र भेजे जाते। उनमें किसी बार मेरी पढ़ाई या चाल-चलनकी शिकायत नहीं की गई। दूसरे दरजेके बाद तो इनाम भी पाये और पांचवें तथा छठे दरजेमें तो क्रमशः ४) और १०) मासिककी छात्रवृत्तियां भी मिली थीं। छात्र-वृत्ति मिलनेमें मेरी योग्यताकी अपेक्षा तकदीरने ज्यादा मदद की। छात्रवृत्तियां सब लड़कोंके लिए नहीं थीं, सिर्फ सोरठ प्रांतके विद्यार्थियोंके लिए ही थीं और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियोंकी कक्षामें सोरठ-प्रांतके विद्यार्थी बहुत नहीं हो सकते थे।

अपनी तरफसे तो मुझे याद पड़ता है कि मैं अपनेको बहुत योग्य नहीं समझता था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परंतु हां, अपने आचरणका मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचारमें यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझसे कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिए शिक्षकको उलाहना देना पड़े, अथवा उनका ऐसा खयाल भी हो जाय, तो यह मेरे लिए असह्य हो जाता। मुझे याद है कि एक बार मैं पिटा भी था। मुझे इस बातपर तो दुःख न हुआ कि पिटा; परंतु इस बातका महा दुःख हुआ कि मैं दंडका पात्र समझा गया। मैं फूट-फूटकर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षाकी है। दूसरी घटना सातवें दरजेकी है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेड-मास्टर थे। वह विद्यार्थी-प्रिय थे। क्योंकि वह सबसे नियमोंका पालन करवाते, विधिपूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढ़ाई अच्छी करते। उन्होंने ऊंचे दरजेके विद्यार्थियोंके लिए कसरत-क्रिकेट लाजिमी कर दी थी। लेकिन मुझे उनसे अरुचि थी। लाजिमी होनेके पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटबॉलमें कभी न जाता था। न जानेमें मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। किंतु अब मैं देखता हूं कि कसरतकी वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरतका शिक्षाके साथ कोई संबंध नहीं। पीछे जाकर मैंने समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षाके लिए भी विद्याध्ययनमें उतना ही स्थान होना चाहिए जितना मानसिक शिक्षाको है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरतमें न जानेसे मुझे कोई नुकसान

न हुआ। इसका कारण है। पुस्तकोंमें मैंने पढ़ा था कि खुली हवामें घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसंद आया और तभीसे— हाईस्कूलके दिनोंसे— घूमने जानेकी आदत मुझे पड़ गई थी, जो अबतक है। घूमना भी एक प्रकारका व्यायाम ही है। और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत गठीला हो गया।

अरुचिका दूसरा कारण था पिताजीकी सेवा-शुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बंद होते ही तुरंत घर पहुंचकर उनकी सेवामें जुट जाता। लेकिन जब कसरत लाजिमी कर दी गई तब इस सेवामें विघ्न आने लगा। मैंने गीमी साहबसे अनुरोध किया कि पिताजीकी सेवा करनेके लिए मुझे कसरतसे माफी मिलनी चाहिए, परंतु वे क्यों माफी देने लगे? एक शनिवारको सुबहका स्कूल था। शामको ४ बजे कसरतमें जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाशमें बादल छा रहे थे, इस कारण समयका पता न चला। बादलोंसे मुझे धोखा हुआ। जबतक कसरतके लिए पहुंचता हूं तबतक तो सब लोग चले गये थे। दूसरे दिन गीमी साहबने हाजिरी देखी तो मुझे गैरहाजिर पाया। मुझसे कारण पूछा। कारण तो जो था, सो ही मैंने बताया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझपर एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हो गया। मुझे इस बातसे अत्यंत दुःख हुआ कि मैं झूठा समझा गया। मैं यह कैसे साबित करता कि मैं झूठ नहीं बोला। पर कोई उपाय न रहा था। मन मसोसकर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलनेवाले और सत्त करनेवालेको गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाईके दरमियान मुझसे ऐसी गफलत वह पहली और आखिरी थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि अंतको मैं वह जुर्माना माफ करा पाया था।

अंतको कसरतसे छुट्टी मिल ही गई। पिताजीकी चिट्ठी जब हेडमास्टर-को मिली कि मैं अपनी सेवा-सुश्रूषाके लिए स्कूलके बाद इसे अपने पास चाहता हूं, तब उससे छुटकारा मिल गया।

व्यायामकी जगह मैंने घूमना जारी रक्खा। इस कारण शरीरको मेहनत न लेनेकी भूलके लिए शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो; परंतु एक दूसरी भूलकी सजा मैं आजतक पा रहा हूं। पढ़ाईमें खुशखत होनेकी जरूरत नहीं, यह गलत खयाल मेरे मनमें जाने कहांसे आ घुसा था, जो ठेठ विलायत जानेतक रहा। फिर, और खासकर दक्षिण अफ्रीकामें, जहां वकीलोंके और दक्षिण अफ्रीकामें

जन्मे और पढ़े नवयुवकोंके मोतीकी तरह अक्षर देखे, तब तो बहुत लजाया और पछताया। मैंने देखा कि बेडौल अक्षर होना अधूरी शिक्षाकी निशानी है। अतः मैंने पीछेसे अपना खत सुधारनेकी कोशिश भी की, परंतु पक्के घड़ेपर कहीं मिट्टी चढ़ सकती है? जवानीमें जिस बातकी अवहेलना मैंने की उसे मैं फिर आजतक न सुधार सका। अतः हरेक नवयुवक और युवती मेरे इस उदाहरणको देखकर चेते और समझे कि सुलेख शिक्षाका एक आवश्यक अंग है। सुलेखके लिए चित्रकला आवश्यक है। मेरी तो यह राय बनी है कि बालकोंको आलेखन कला पहले सिखानी चाहिए। जिस प्रकार पक्षियों और वस्तुओं आदिको देखकर बालक उन्हें याद रखता और आसानीसे पहचान लेता है उसी प्रकार अक्षरोंको भी पहचानने लगता है और जब आलेखन या चित्रकला सीखकर चित्र इत्यादि निकालना सीख जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापेकी तरह हो जावें।

इस समयके मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें लिखने जैसी हैं। विवाहके बदौलत जो मेरा एक साल टूट गया था उसकी कसर दूसरी कक्षामें पूरी करानेकी प्रेरणा मास्टर साहबने की। परिश्रमी विद्यार्थियों को ऐसा करनेकी इजाजत उन दिनों तो मिलती थी। अतएव मैं छः महीने तीसरे दरजे में रहा और गर्मियोंकी छुट्टी के पहलेवाली परीक्षाके बाद चौथे दरजेमें चढ़ा दिया गया। इस कक्षा से कुछ विषयोंकी शिक्षा अंग्रेजीमें दी जाती है, पर अंग्रेजी में कुछ न समझ पाता। भूमिति—रेखागणित भी चौथे दरजेसे शुरू होता है। एक तो मैं उसमें कमजोर था, और फिर समझमें भी कुछ न आता था। भूमिति-शिक्षक पढ़ानेमें तो अच्छे थे, पर मेरी कुछ समझ हीमें न आता था। इससे मैं बहुत बार निराश हो जाता। कभी-कभी यह भी दिलमें आता कि दो दरजोंकी पढ़ाई एक सालमें करनेसे तो अच्छा हो कि मैं तीसरी कक्षामें ही फिर चला जाऊं। पर ऐसा करनेसे मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षकने मेरी मेहनतपर विश्वास रखकर दरजा चढ़ानेकी सिफारिश की थी उनकी भी बात बिगड़ती! इस भयसे नीचे उतरनेका विचार तो बंद ही रखना पड़ा। आखिर परिश्रम करते-करते जब 'युक्लिड' के तेरहवें प्रमेयतक पहुंचा तब मुझे एकाएक लगा कि भूमिति तो सबसे सहज विषय है। जिस बातमें केवल बुद्धिका सीधा और सरल उपयोग ही करना है उसमें मुश्किल क्या है? उसके बादसे भूमिति मेरे लिए बड़ा सहज और रोचक विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणितसे भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणितमें तो रटने की कोई बात न थी, परंतु संस्कृतमें, मेरी समझसे, सब रटना ही रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षासे शुरू होता था। आखिर छठी कक्षामें जाकर मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त आदमी थे। विद्यार्थियोंको बहुतेरा पढ़ा देनेका लोभ उन्हें रहा करता। संस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती। फारसीके मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थी लोग आपसमें बातें करते कि फारसी बड़ी सरल है, और मौलवी साहब भी भले आदमी हैं। विद्यार्थी जितना याद करता है, उतनेही पर वह निभा लेते हैं। सहज होनेकी बातसे मैं भी ललचाया और एक दिन फारसीके दरजेमें जाकर बैठा। संस्कृत शिक्षकको इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया—"यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो? अपने धर्मकी भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते? तुमको जो कठिनाई हो सो मुझे बताओ। मैं तो सारे विद्यार्थियोंको अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूं। आगे चलकर तो उसमें तुम्हें रसकी घूंटें मिलेंगी। अतः तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरी कक्षामें आकर बैठो।" मैं शरमिंदा हुआ। उन शिक्षक के इस प्रेमकी अवहेलना न कर सका। आज मेरी अंतरात्मा कृष्णशंकर मास्टरका उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रोंका जो आनंद ले रहा हूं वह न ले पाता। बल्कि मुझे तो इस बातका पछतावा रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका। क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू-बालकको संस्कृतका अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूं कि भारतवर्षके उच्च शिक्षण-क्रममें मातृभाषा के उपरांत राष्ट्रभाषा हिंदी,[1] संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजीके लिए भी स्थान होना चाहिए। इतनी भाषाओंकी गिनतीसे किसीको डर जानेकी जरूरत नहीं; यदि भाषाएं विधिपूर्वक पढ़ाई जायं और सब विषयोंका अध्ययन अंग्रेजी के द्वारा करनेका बोझ हमपर न हो तो पूर्वोक्त भाषाएं भाररूप न मालूम हों, बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगे। फिर जो एक भाषाको विधि-पूर्वक सीख लेता

[1] अब इसे गांधीजी 'हिंदुस्तानी' कहते हैं।—अनु.

है उसे दूसरी भाषाओं का ज्ञान सुगम हो जाता है। सच पूछिए तो हिंदी, गुजराती, संस्कृत ये एक भाषा मानी जा सकती हैं। यही फारसी और अरबी के लिए कह सकते हैं। फारसी यद्यपि संस्कृतसे मिलती-जुलती है, और अरबी हिब्रूसे; तथापि दोनों भाषाएं इस्लामके प्रादुर्भावके पश्चात् फली-फूली हैं, इसलिए दोनोंमें निकट संबंध है। उर्दू को मैंने पृथक् भाषा नहीं माना, क्योंकि उसके व्याकरणका समावेश हिंदीमें होता है। अलबत्ता उसके शब्द फारसी और अरबी ही हैं। ऊंचे दरजेकी उर्दू जाननेके लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसा कि उच्च कोटिकी गुजराती, हिंदी, बंगला, मराठी जाननेवालेके लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

६

दुःखद प्रसंग–१

मैं पहले कह आया हूं कि हाई स्कूलमें मेरी बहुत कम लोगोंसे निजी मित्रता थी। यों जिन्हें घनिष्ट कह सकते हैं ऐसे मित्र तो मेरे कुल दो ही थे, सो भी जुदा-जुदा समयपर। उनमें एककी मित्रता अधिक समयतक न निभी, हालांकि मैंने अपनी तरफसे उसे नहीं तोड़ा। दूसरेसे मित्रता करनेके कारण पहले मित्रने मेरा साथ छोड़ दिया। पर वह दूसरी मित्रता मेरे जीवनका एक दुःखद प्रकरण है। यह संग बहुत दिनोंतक चला। एक सुधारककी दृष्टि रखकर मैंने यह मित्रता की थी। उस व्यक्तिकी मित्रता पहले मेरे मंझले भाईके साथ थी। वह उनका सहपाठी था। मैं उसके कई ऐबोंको जान पाया था, परंतु मैंने उसे अपना वफादार साथी मान लिया था। मेरी माताजी, बड़े भाई और धर्मपत्नी तीनोंको उसकी सोहबत बुरी मालूम पड़ती थी। पत्नीकी चेतावनीपर तो मैं—अभिमानी पति—क्यों ध्यान देने लगा? हां, माताकी बातको तो मैं टाल ही नहीं सकता था। बड़े भाईकी भी माननी पड़ती। परंतु मैंने उन्हें यों समझा दिया—"आप उसकी जो बुराइयां बताते हैं, उन्हें तो मैं जानता हूं। पर उसके गुणोंको आप नहीं जानते। मुझे वह खराब रास्ते नहीं लेजा सकता; क्योंकि मैंने उसके साथ संबंध केवल उसे सुधारनेके लिए बांधा है। मुझे विश्वास है कि यदि वह सुधर

गया तो बड़ा अच्छा आदमी साबित होगा। मैं चाहता हूं कि आप मेरी तरफसे बिलकुल निःशंक रहें।" मैं नहीं समझता कि मेरे इन वचनोंसे उन्हें संतोष हुआ हो; पर इतना जरूर हुआ कि उन्होंने मुझपर विश्वास रक्खा और मुझे अपने रास्ते जाने दिया।

पीछे जाकर मैंने देखा कि मेरा अनुमान ठीक न था। सुधार करनेके लिए भी मनुष्यको गहरे पानीमें न पैठना चाहिए। जिनका सुधार हमें करना हो उनके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रतामें अद्वैत-भाव होता है। ऐसी मित्रता संसारमें बहुत कम देखी जाती है। समान गुण और शीलवालोंमें ही मित्रता शोभती और निभती है। मित्र एक-दूसरेपर अपना असर छोड़े बिना नहीं रह सकते। इस कारण, मित्रतामें सुधारके लिए बहुत कम गुंजाइश होती है। मेरा मत यह है कि निजी या अभिन्न मित्रता अनिष्ट है; क्योंकि मनुष्य दोषको झट ग्रहण कर लेता है। किंतु गुण ग्रहण करनेके लिए प्रयासकी जरूरत है। जो आत्माकी—ईश्वरकी—मित्रता चाहता है उसे एकाकी रहना उचित है, या फिर सारे जगत्के साथ मित्रता करनी उचित है। ये विचार सही हों या गलत, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरा निजी मित्रता जोड़ने और बढ़ानेका यह प्रयत्न विफल साबित हुआ।

जिन दिनों इन महाशयसे मेरा संपर्क हुआ, राजकोटमें 'सुधारक-पंथ'का जोरशोर था। इन मित्रने बताया कि बहुतेरे हिंदू-शिक्षक छिपे-छिपे मांसाहार और मद्यपान करते हैं! राजकोटके दूसरे प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम भी लिये। हाईस्कूलके कितने ही विद्यार्थियोंके नाम भी मेरे पास आये। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही दुःख भी। जब मैंने इसका कारण पूछा तो यह बताया गया—"हम मांस नहीं खाते, इसीलिए कमजोर हो गये हैं। अंग्रेज जो हमपर हुकूमत कर रहे हैं इसका कारण है उनका मांसाहार। तुम जानते ही हो कि मैं कितना हट्टा-कट्टा और मजबूत हूं और कितना दौड़ सकता हूं। इसका कारण भी—मेरा मांसाहार ही है। मांसाहारीको फोड़े-फुंसी नहीं होते, हों भी तो जल्दी अच्छे हो जाते हैं। देखो, हमारे शिक्षक लोग मांस खाते हैं, इतने भले-भले आदमी खाते हैं, सो क्या बिना सोचे-समझे ही? तुमको भी खाना चाहिए। खाकर तो देखो कि तुम्हारे बदनमें कितनी ताकत आ जाती है।"

ये दलील एक ही दिनमें नहीं पेश हुईं। अनेक उदाहरणोंसे सजाकर कई बार पेश की गई। मेरे मंझले भाई तो मांस खाकर भ्रष्ट हो ही चुके थे। उन्होंने भी इस दलीलका समर्थन किया। इन मित्रके और अपने भाईके मुकाबलेमें मैं दुबला-पतला और कमजोर था। उनके शरीर ज़्यादा सुगठित थे। उनका शरीर-बल मुझसे बहुत ज्यादा था। वह निर्भय थे। इन मित्रके पराक्रम मुझे मुग्ध कर लेते। वह जितना चाहें दौड़ सकते। गति भी बहुत तेज थी। बहुत लंबा और ऊंचा कूद सकते थे। मार सहनेकी शक्ति भी वैसी ही थी। इस शक्तिका प्रदर्शन भी वह समय-समय पर करते। अपने अंदर जो सामर्थ्य नहीं होता उसे दूसरेमें देखकर मनुष्य को अवश्य आश्चर्य होता है। वैसा ही मुझे भी हुआ। आश्चर्यसे मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़ने-कूदने की शक्ति नहीके बराबर थी। मेरे मनने कहा—"इन मित्रके समान बलवान मैं भी बन जाऊं तो क्या बहार हो?"

फिर मैं डरपोक भी बड़ा था। चोर, भूत, सांप आदिके भयसे सदा घिरा रहता। इन भयोंसे मैं घबराता भी बहुत। रातमें कहीं अकेले जानेकी हिम्मत न होती। अंधेरेमें तो कहीं न जाता। बिना चिरागके सोना प्रायः असंभव था। कहीं यहांसे भूत-पिशाच निकलकर न आ जायं, वहांसे चोर और उधरसे सांप न आ घुसे—यह डर बना रहता, इसलिए रोशनी जरूर रखता। इधर अपनी पत्नी के सामने भी, जो कि पास ही सोती और अब कुछ-कुछ युवती हो चली थी, ये भयकी बातें करते हुए संकोच होता था। क्योंकि मैं इतना जान चुका था कि वह मुझसे अधिक हिम्मतवाली है, इस कारण मैं शरमाता था। उसे सांप वगैरहका भय तो कहीं छूतक नहीं गया था, अंधेरेमें अकेली चली जाती। मेरी इन कमजोरियोंका हाल उन मित्रको मालूम था। वह तो मुझसे कहा करता कि मैं जीते सांपको हाथसे पकड़ लेता हूं। चोरसे तो वह डरता ही न था, न भूत-प्रेतोंको ही मानता था। मतलब यह कि उसने यह बात मेरे मनमें जमा दी कि यह सब मांसाहारका प्रताप है।

इन दिनों नर्मद कविकी यह कविता स्कूलमें गाई जाती—

अंग्रेजो राज करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जोने बेना शरीर भाई,

पेलो पांच हाथ पूरो, पूरो पांचसे ने।[1]

इन सबका मेरे दिलपर बड़ा असर हुआ। मैं राजी हो गया। मैं मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज है। उससे मैं बलवान् और निर्भय बनूंगा। सारा देश यदि मांस खाने लगे, तो हम अंग्रेजोंको हरा सकते हैं।

मांसाहारकी शुरूआतका दिन तय हुआ।

इस निश्चय---इस प्रारंभ---का अर्थ सब पाठक न समझ सकेंगे? गांधी-परिवार वैष्णव-संप्रदायका अनुयायी था। माता-पिता कट्टर वैष्णव माने जाते थे। हमेशा वैष्णव मंदिर जाते। कितने ही मंदिर तो हमारे कुटुंबके ही गिने जाते। फिर गुजरातमें जैनसंप्रदायका भी बहुत जोर था। उसका असर हर जगह और हर काममें पाया जाता था। इसलिए मांसाहारके प्रति जो विरोध---तिरस्कार गुजरातमें और श्रावकों तथा वैष्णवोंमें दिखाई पड़ता है, वह हिंदुस्तानमें या सारी दुनियामें कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ये थे मेरे संस्कार।

फिर माता-पिताका मैं परम भक्त ठहरा। मैं मानता ही था कि यदि उन्हें मेरे मांसाहारका पता लग जायगा तो वे तो बे-मौत ही प्राण छोड़ देंगे। जान-अनजानमें सत्यका भी सेवक तो मैं था ही। पर यह नहीं कह सकता कि यह ज्ञान मुझे नहीं था कि यदि मांस खाने लगा तो माता-पिताके सामने झूठ बोलना पड़ेगा।

ऐसी स्थितिमें मेरा मांस खानेका निश्चय, मेरे लिए बड़ी गंभीर और भयंकर बात थी।

परंतु मैं तो सुधार करना चाहता था। मांस शौकके लिए नहीं खाना चाहता था। न स्वादके लिए मांसाहारका श्रीगणेश करना था। मैं तो बलवान, निर्भय, साहसी होना चाहता था। दूसरोंको ऐसा बननेकी प्रेरणा करना चाहता था और फिर अंग्रेजोंको हराकर भारतवर्ष को स्वतंत्र करना चाहता था। 'स्वराज्य' शब्द उस समय नहीं सुन पड़ता था। कहना चाहिए, इस सुधारकी उमंगमें उस

---

[1] भाव यह है कि अंग्रेज इसी कारण हट्टे-कट्टे हैं और हमपर राज्य करते हैं कि वे मांस खाते हैं, और हिंदुस्तानी इसीलिए मुर्दा बने हुए हैं कि वे मांसाहार नहीं करते।—अनु.

समय तो मेरी अक्ल बौरिया गई थी ।

७

दुःखद प्रसंग—२

नियत दिन आया । उस समयकी मेरी दशाका हूबहू वर्णन करना कठिन है । एक ओर सुधारका उत्साह, जीवनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करनेका कुतूहल और दूसरी ओर चोरकी तरह लुक-छिपकर काम करनेकी शरम ! नहीं कह सकता इनमें किस भाव की प्रधानता थी । हम एकांत जगहकी तलाशमें नदीकी तरफ चले । दूर जाकर एक ऐसी जगह मिली जहां कोई सहसा न देख सके और जहां मैंने देखा मांस, जिसे जीवनमें पहले कभी न देखा था; साथमें भटियारेके यहांकी डबल रोटी भी थी । दोनोंमेंसे एक भी चीज न भाई । मांस चमड़ेकी तरह लगा । खाना असंभव हो गया । मुझे कै-सी होने लगी । खाना यों ही छोड़ना पड़ा ।

मेरे लिए यह रात बहुत कठिन साबित हुई । नींद किसी तरह न आती थी। ऐसा मालूम होता मानो बकरा मेरे शरीरके अंदर जीवित है और सपनेमें मानो वह बें-बें चिल्लाता है । मैं चौंक उठता, पछताता, पर फिर सोचता कि मांसाहारके बिना तो गति ही नहीं; यों हिम्मत न हारनी चाहिए । मित्र भी पिंड छोड़नेवाले न थे । उन्होंने अब मांसको तरह-तरहसे पकाना और सुस्वादु बनाना तथा ढककर रखना शुरू किया । नदी किनारे ले जानेके बजाय राज्यके एक भवनमें वहांके बावर्चीसे इंतजाम करके छिपे-छिपे जानेकी तजवीज की; और वहां मेज कुर्सी इत्यादि सामग्रियोंके ठाट-बाटसे मुझे लुभाया । इसका अभीष्ट असर मेरे दिलपर हुआ । डबलरोटीसे नफरत हटी, बकरेकी दया-माया छूटी और मांसका तो नहीं कह सकता, पर मांसवाले पदार्थोंका स्वाद लग गया । इस तरह एक साल गया होगा और इस बीच कुल पांच-छः बार मांस खानेको मिला होगा । क्योंकि एक तो बार-बार राज्यका भवन न मिलता, और दूसरे मांसके सुस्वादु पदार्थ हमेशा तैयार न हो पाते । फिर ऐसे भोजनोंके लिए खर्च भी करना पड़ता । इधर मेरे पास कानी कौड़ी भी न थी । मैं देता क्या ? खर्चका इंतजाम सोचना

उस मित्रके जिम्मे रहा था। मुझे आजतक खबर नहीं कि उसने कहांसे इंतजाम किया था। उसका इरादा तो था मुझे मांसकी चाट लगा देना, मुझे भ्रष्ट कर देना। इसलिए खर्चका भार वह खुद ही उठाता था। पर उसके पास भी अटूट खजाना तो था नहीं, इस कारण ऐसे भोजनोंके अवसर कभी-कभी ही आते।

जब-जब ऐसे भोजनोंमें शरीक होता तब-तब घर खाना न खाया जाता। जब मां खानेको बुलाती तो बहाना करना पड़ता, आज भूख नहीं, खाना पचा नहीं। जब-जब ये बहाने बनाने पड़ते तब-तब मेरे दिलको सख्त चोट पहुंचती। इतनी झूठ बात, फिर मांके सामने! फिर यदि मां-बाप जान जाएं कि लड़के मांस खाने लग गये हैं, तब तो उनपर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये विचार मेरे हृदयको हरदम नोचते रहते। इस कारण मैंने निश्चय किया कि मांस खाना तो आवश्यक है, उसका प्रचार करके हिंदुस्तानको सुधारना भी आवश्यक है, पर माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना मांस न खानेसे भी ज्यादा बुरा है। इसलिए माता-पिताके जीतेजी मांस न खाना चाहिए। उनकी मृत्युके बाद, स्वतंत्र हो जानेपर खुल्लम-खुल्ला खाना चाहिए; और जबतक वह समय न आवे मांसके रास्ते न जाना चाहिए। यह निश्चय मैंने अपने मित्रपर प्रकट कर दिया। उस दिनसे जो मांसाहार छूटा सो छूटा ही। हमारे माता-पिताने कभी न जाना कि उनके दो पुत्र मांस खा चुके हैं।

माता-पिताको धोखा न देनेके शुभ विचारसे मैंने मांसाहार तो छोड़ा, परंतु उस मित्रकी मित्रता न छोड़ी। मैं जो दूसरोंको सुधारनेके लिए आगे बढ़ा था सो खुद ही बिगड़ गया और सो भी ऐसा कि बिगड़ जानेका भानतक न रहा।

उसीकी मित्रताके कारण मैं व्यभिचारमें भी फंस जाता। एक बार यही महाशय मुझे चकलेमें ले गये। वहां एक बाईके मकानमें जरूरी बातें समझाकर भेजा। पैसे देना-दिवाना मुझे कुछ न था। वह सब पहले ही हो चुका था। मेरे लिए तो सिर्फ एकांत लीला करनी बाकी थी।

मैं मकानमें दाखिल तो हुआ, पर ईश्वर जिसे बचाना चाहता है वह गिरनेकी इच्छा करते हुए भी बच सकता है। उस कमरेमें जाकर मैं तो मानो अंधा बन गया। कुछ बोलनेका ही औसान न रहा। मारे शरमके चुपचाप उस बाईकी खटियापर बैठ गया। एक लफ्जतक जबानसे न निकला। बाई

झल्लाई और मुझे दो-चार बुरी-भली सुनाकर सीधा दरवाजे का रास्ता दिखलाया।

उस समय तो मुझे लगा, मानो मेरी मर्दानगी को लांछन लग गया, और धरती फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊं। परंतु बादको, इससे मुझे उबार लेनेपर, मैंने ईश्वरका सदा उपकार माना है। मेरे जीवनमें ऐसे ही चार प्रसंग और आये हैं। बहुतोंमें मैं बिना प्रयत्नके, दैवयोगसे, बच गया हूं। विशुद्ध दृष्टि से तो इन अवसरोंपर मैं गिरा ही समझा जा सकता हूं; क्योंकि विषयकी इच्छा करते ही मैं उसका भोग तो कर चुका। फिर भी लौकिक दृष्टिसे हम उस आदमीको बचा हुआ ही मानते हैं जो इच्छा करते हुए भी प्रत्यक्ष कर्मसे बच जाता है। और मैं इन अवसरोंपर इसी तरह, इतने ही अंशतक, बचा हुआ समझा जा सकता हूं। फिर कितने ही काम ऐसे होते है, जिनके करनेसे बचना व्यक्तिके तथा उसके संपर्कमें आनेवालोंके लिए बहुत लाभदायक साबित होता है। और जब विचार-शुद्धि हो जाती है तब उस कर्मसे बच जानेको वह ईश्वरका अनुग्रह मानता है। जिस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि न गिरनेका यत्न करते हुए भी मनुष्य गिर जाता है उसी प्रकार पतनकी इच्छा हो जानेपर भी अनेक कारणोंसे मनुष्य बच जाता है। यह भी अनुभव सिद्ध है। इसमें कहां पुरुषार्थके लिए स्थान है, कहां दैवके लिए, अथवा किन नियमोंके वशवर्ती होकर मनुष्य अंतमें गिरता है, या बचता है, ये प्रश्न गूढ़ हैं। ये आजतक हल नहीं हो सके हैं; और यह कहना कठिन है कि इनका अंतिम निर्णय हो सकेगा या नहीं।

पर हम आगे चलें।

मुझे अब भी इस बातका भान न हुआ था कि इस मित्रकी मित्रता अनिष्ट है। अभी और कडुए अनुभव होने बाकी थे। यह तो मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने उनके ऐसे दोषोंका प्रत्यक्ष अनुभव किया, जिसकी मुझे कभी कल्पनातक न हुई थी। पर मैं जहांतक हो, समयानुक्रमसे अपने अनुभव लिख रहा हूं, इसलिए वे बातें आगे समयपर आ जावेंगी।

एक बात तो इसी समयकी है, जो यहीं कह दूं। हम दंपतिमें जो कितनी ही बार मतभेद और मनमुटाव हो जाया करता, उसका कारण यह मित्रता भी थी। मैं पहले कह चुका हूं कि मैं जैसा प्रेमी था वैसा ही वहमी पति भी था।

यह मित्रता मेरे वहम को बढ़ाती रहती थी, क्योंकि मित्रकी सच्चाईपर मुझे अविश्वास बिलकुल न था। इस मित्रकी बातें मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नीको कई बार दुःख दिया है। इस हिंसाके लिए मैंने कभी अपनेको माफ नहीं किया। हिंदू स्त्री ही ऐसे दुःखोंको सहन कर सकती होगी। और इसलिए मैंने स्त्रीको हमेशा सहनशीलताकी मूर्त्ति माना है। नौकर-चाकर पर यदि झूठा वहम आने लगे तो वे नौकरी छोड़कर चले जाते हैं, पुत्रपर ऐसी बीते तो बापका घर छोड़कर चला जाता है, मित्रोंमें संदेह पड़ जाय तो मित्रता टूट जाती है, पत्नीको यदि पतिपर शक हो तो बेचारी मन मसोसकर रह जाती है; पर यदि पतिके मनमें पत्नीके लिए शक पड़ जाय तो बेचारीकी मौत ही समझिए। वह कहां जाय ? उच्च-वर्णकी हिंदू स्त्री अदालतमें जाकर तलाक भी नहीं दे सकती। ऐसा एक-पक्षी न्याय उसके लिए रक्खा गया है। यही न्याय मैंने उसके साथ बरता, इस दुःखको मैं कभी नहीं भूल सकता। इस वहमका सर्वथा नाश तो तभी हुआ, जब मुझे अहिंसाका सूक्ष्म ज्ञान हुआ। अर्थात् जब मैं ब्रह्मचर्यकी महिमाको समझा और समझा कि पत्नी पतिकी दासी नहीं वरन् सहचारिणी है, सहधर्मिणी है। दोनों एक-दूसरेके सुख-दुःखके समान-भागी हैं और पतिको अच्छा-बुरा करनेकी जितनी स्वतंत्रता है उतनी ही पत्नीको भी है। इस वहमके समयकी जब मुझे याद आती है तब मुझे अपनी मूर्खता और विषयांध निर्दयतापर क्रोध और मित्रता-विषयक अपनी इस मूर्च्छा—मूढ़तापर तरस आता है।

८

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहारके समयके और उसके पहलेके अपने कुछ दूषणोंका वर्णन करना अभी बाकी है। ये या तो विवाहके पहलेके हैं या तुरंत बादके।

अपने एक रिश्तेदारके साथ मुझे सिगरेट पीनेका चस्का लग गया। पैसे तो हमारे पास थे ही नहीं। दोनोंमेंसे किसीको भी यह तो नहीं मालूम होता था कि सिगरेट पीनेमें कुछ फायदा है या उसकी गंधमें कुछ स्वाद है; पर इतना

जरूर मालूम हुआ कि केवल धुआं फूंकनेमें ही कुछ आनंद है। मेरे चाचाजीको सिगरेट पीनेकी आदत थी। और उनको तथा औरोंको धुंआ उड़ाते देखकर हमें भी फूंक लगानेकी इच्छा हुआ करती। पैसे थे ही नहीं, इसलिए चाचाजीके पीकर फेंके हुए सिगरेटके टुकड़े चुरा-चुराकर हम लोग पीने लगे।

परंतु ये टुकड़े भी हर वक्त नहीं मिल सकते थे और उनसे बहुत धुआं भी नहीं निकलता था। इसलिए हम नौकरके पैसोंमेंसे एक-एक दो-दो पैसे चुराने और बीड़ी खरीदने लगे। पर यह दिक्कत थी कि उन्हें रक्खें कहां? यह तो जानते थे ही कि बड़े-बूढ़ोंके सामने बीड़ी-सिगरेट पी नहीं सकते। ज्यों-त्यों करके दो-चार पैसे चुराकर कुछ सप्ताह काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक किस्मके पौधे (उसका नाम भूल गया) के डंठल बीड़ीकी तरह सुलगते हैं, और पी सकते हैं। हम उन्हें ला-लाकर पीने लगे।

पर हमें संतोष न हुआ। यह पराधीनता हमें खलने लगी। बड़े-बूढ़ों-की आज्ञाके बिना कुछ भी नहीं कर सकते, यह दिन-दिन नागवार होने लगा। अंतको उकताकर हमने आत्म-हत्या करनेका निश्चय किया।

परंतु आत्म-हत्या करें किस तरह? जहर लावें कहांसे? हमने सुना था कि धतूरेके बीज खानेसे आदमी मर जाता है। जंगलमें घूम-फिरकर बीज लाये। शामका समय ठीक किया। केदारजीके मंदिरमें जाकर दीपकमें घी डाला, दर्शन किया, और एकांत ढूंढा, पर जहर खानेकी हिम्मत न होती थी। 'तुरंत ही प्राण न निकलें तो? मरनेसे आखिर क्या लाभ? पराधीनतामेंही क्यों न पड़े रहें?' ये विचार मनमें आने लगे। फिर दो-चार बीज खा ही डाले। ज्यादा खानेकी हिम्मत न चली। दोनों मौतसे डर गये; और यह तय किया कि रामजीके मंदिर में जाकर दर्शन करके खामोश हो रहें और आत्म-हत्याके ख़याल को दिलसे निकाल डालें।

तब मैं समझा कि आत्म-हत्याका विचार करना तो सहल है; पर आत्म-हत्या करना सहल नहीं। अतएव जब कोई आत्म-हत्या करनेकी धमकी देता है तब मुझपर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहूं कि बिलकुल ही नहीं होता तो हर्ज नहीं।

आत्म-हत्याके विचारका एक परिणाम यह निकला कि हमारी जूठी

सिगरेट चुराकर पीनेकी, नौकरके पैसे चुरानेकी और उसकी बीड़ी लाकर पीनेकी टेव छुट गई। बड़ा होनेपर भी मुझे कभी बीड़ी पीनेकी इच्छातक न हुई। और मैंने सदा इस टेबको जंगली, हानिकारक और गंदी माना है। पर अबतक मैं यह नहीं समझ पाया कि बीड़ी-सिगरेट पीनेका इतना जबर्दस्त शौक दुनियाको आखिर क्यों है ? रेलके जिस डिब्बेमें बहुतेरी बीड़ियां फूंकी जाती हों, वहां बैठना मेरे लिए मुश्किल हो पड़ता है और उसके धुएंसे मेरा दम घुटने लगता है।

सिगरेटके टुकड़े चुराने तथा उसके लिए नौकरके पैसे चुरानेसे बढ़कर चोरीका एक दोष मुझसे हुआ है, और उसे मैं इससे ज़्यादा गंभीर समझता हूं। बीड़ीका चस्का तब लगा जब मेरी उम्र १२-१३ सालकी होगी। शायद इससे भी कम हो। दूसरी चोरीके समय १५ वर्षकी रही होगी। यह चोरी थी मेरे मांसाहारी भाईके सोनेके कड़ेके टुकड़ेकी। उन्होंने २५) के लगभग कर्जा कर रक्खा था। हम दोनों भाई इस सोचमें पड़े कि यह चुकावें किस तरह। मेरे भाईके हाथमें सोनेका एक ठोस कड़ा था। उसमेंसे एक तोला सोना काटना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज चुका, पर मेरे लिए यह घटना असह्य हो गई। आगेसे कदापि चोरी न करने का मैंने निश्चय किया। मनमें आया कि पिताजीके सामने जाकर चोरी कबूल करलूं। पर उनके सामने मुंह खुलना मुश्किल था। यह डर तो न था कि पिताजी खुद मुझे पीटने लगेंगे, क्योंकि मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने हम भाइयोंमेंसे कभी किसीको पीटा हो। पर यह खटका जरूर था कि वह खुद बड़ा संताप करेंगे, शायद अपना सिर भी पीट लें। तथापि मैंने मनमें कहा--"यह जोखिम उठाकर भी अपनी बुराई कबूल कर लेनी चाहिए, इसके बिना शुद्धि नहीं हो सकती।"

अंतमें यह निश्चय किया कि चिट्ठी लिखकर अपना दोष स्वीकार कर लूं। मैंने चिट्ठी लिखकर खुद ही उन्हें दी। चिट्ठीमें सारा दोष कबूल किया था और उसके लिए सजा चाही थी। आजिजीके साथ यह प्रार्थना की थी कि आप किसी तरह अपनेको दुःखी न बनावें और प्रतिज्ञा की थी कि आगे मैं कभी ऐसा न करूंगा।

पिताजीको चिट्ठी देते हुए मेरे हाथ कांप रहे थे। उस समय वह भगंदरकी बीमारीसे पीड़ित थे। अतः खटियाके बजाय लकड़ीके तख्तोंपर उनका बिछौना

रहता था। उनके सामने जाकर बैठ गया।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आंखोंसे मोतीके बूंद टपकने लगे। चिट्ठी भीग गई। थोड़ी देरके लिए उन्होंने आंखें मूंद लीं। चिट्ठी फाड़ डाली। चिट्ठी पढ़नेको जो वह उठ बैठे थे सो फिर लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजीके दुःखको अनुभव किया। यदि मैं चितेरा होता तो आज भी उस चित्रको हूबहू खींच सकता। मेरी आंखोंके सामने आज भी वह दृश्य ज्यों-का-त्यों दिखाई दे रहा है।

इस मोती-बिंदुके प्रेमबाणने मुझे बींध डाला। मैं शुद्ध हो गया। इस प्रेमको तो वही जान सकता है, जिसे उसका अनुभव हुआ है--

रामबाण वाग्यांरे होय ते जाणे[1]

मेरे लिए यह अहिंसाका पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मुझे इसमें पितृ-वात्सल्यसे अधिक कुछ न दिखाई दिया, पर आज मैं इसे शुद्ध अहिंसाके नामसे पहचान सका हूं। ऐसी अहिंसा जब व्यापक रूप ग्रहण करती है तब उसके स्पर्शसे कौन अलिप्त रह सकता है ? ऐसी व्यापक अहिंसाके बलको नापना असंभव है।

ऐसी शांतिमय क्षमा पिताजीके स्वभावके प्रतिकूल थी। मैंने तो यह अंदाज किया था कि वह गुस्सा होंगे, सख्त-सुस्त कहेंगे शायद अपना सिर भी पीट लें। पर उन्होंने तो असीम शांतिका परिचय दिया। मैं मानता हूं कि यह अपने दोषको शुद्ध हृदयसे मंजूर कर लेने का परिणाम था।

जो मनुष्य अधिकारी व्यक्तिके सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदयसे कह देता है और फिर कभी न करनेकी प्रतिज्ञा करता है, वह मानो शुद्धतम प्रायश्चित करता है। मैं जानता हूं कि मेरी इस दोष-स्वीकृतिसे पिताजी मेरे संबंधमें निःशंक हो गये और उनका महाप्रेम मेरे प्रति और भी बढ़ गया।

---

[1] प्रेम-बाणसे जो बिंधा हो वही उसके प्रभावको जानता है।—अनु०

६

पिताजीकी मृत्यु और मेरी शर्म

यह ज़िक्र मेरे सोलहवें सालका है। पाठक जानते हैं कि पिताजी भगंदर की बीमारीसे बिलकुल बिछौनेपर ही लेटे रहते थे। उनकी सेवा-शुश्रूषा अधिकांशमें माताजी, एक पुराने नौकर और मेरे जिम्मे थी। मैं 'नर्स'—परिचारकका काम करता था। घावको धोना, उसमें दवा डालना, जरूरत हो तब मरहम लगाना, दवा पिलाना, और जरूरत हो तब घर पर दवा तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रातको हमेशा उनके पैर दबाना और जब वह कहें तब, अथवा उनके सो जानेके बाद, जाकर सोना मेरा नियम था। वह सेवा मुझे अतिशय प्रिय थी। मुझे याद नहीं पड़ता कि किसी दिन मैंने इसमें गफलत की हो। ये दिन मेरे हाईस्कूलके थे। इस कारण भोजन-पानसे जो समय बचता वह या तो स्कूलमें या पिताजीकी सेवा-शुश्रूषामें जाता। जब वह कहते, अथवा उनकी तबीयतके अनुकूल होता, तब शामको घूमने चला जाता।

इसी वर्ष पत्नी गर्भवती हुई। आज मुझे इसमें दोहरी शर्म मालूम होती है। एक तो यह कि विद्यार्थी-जीवन होते हुए मैं संयम न रख सका, और दूसरे यह कि यद्यपि मैं स्कूलकी पढ़ाई पढ़नेका और इससे भी बढ़कर माता-पिताकी भक्तिको धर्म मानता था—यहांतक कि इस संबंधमें बाल्यावस्थासे ही श्रवण मेरा आदर्श रहा था—तथापि विषय-लालसा मुझपर हावी हो सकी थी। यद्यपि मैं रातको पिताजी के पांव दबाया करता, तथापि मन शयन-गृहकी तरफ़ दौड़ा करता और वह भी ऐसे समय कि जब स्त्री-संग धर्म-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र तीनोंके अनुसार त्याज्य था। जब उनकी सेवा-शुश्रूषामे मुझे छुट्टी मिलती तब मुझे खुशी होती और पिताजीके पैर छूकर मैं सीधा शयन-गृह में चला जाता।

पिताजीकी बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्योंने अपने-अपने लेप आजमाये, हकीमोंने मरहम-पट्टियां आजमाईं, मामूली नाई-हंजामों आदिकी घरेलू दवाएं कीं, अंग्रेज डाक्टरने भी अपनी अक्ल लड़ा देखी। अंग्रेज डॉक्टरने कहा, नश्तर लगानेके सिवा दूसरा रास्ता नहीं। हमारे कुटुंबके मित्र वैद्यने आपत्ति की और

ढलती उम्रमें ऐसा नश्तर लगवानेकी सलाह उन्होंने न दी। दवाओंकी बीसों बोतलें खपीं, पर व्यर्थ गईं और नश्तर भी नहीं लगाया गया। वैद्यराज थे तो काबिल और नामांकित; पर मेरा खयाल है कि यदि उन्होंने नश्तर लगाने दिया होता तो घावके अच्छा होनेमें कोई दिक्कत न आती। आपरेशन बंबईके तत्कालीन प्रसिद्ध सर्जनके द्वारा होनेवाला था। पर अंत नजदीक आ गया था, इसलिए ठीक बात उस समय कैसे सूझ सकती थी? पिताजी बंबईसे बिना नश्तर लगायें वापस लौटे और नश्तर-संबंधी खरीदा हुआ सामान उनके साथ आया। अब उन्होंने अधिक जीनेकी आशा छोड़ दी थी। कमजोरी बढ़ती गई और हर क्रिया बिछौनेमें ही करने की नौबत आ गई। परंतु उन्होंने अंततक उसे स्वीकार न किया और उठने-बैठने का कष्ट उठाना मंजूर किया। वैष्णव-धर्मका यह कठिन शासन है। उसमें बाह्य-शुद्धि अति आवश्यक है। परंतु पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र हमें सिखाता है कि मल-त्याग तथा स्नान आदिकी समस्त क्रियायें पूरी-पूरी स्वच्छताके साथ बिछौने में हो सकती हैं और फिर भी रोगी को कष्ट नहीं उठाना पड़ता। जब देखिए तब बिछौना स्वच्छ ही रहता है। ऐसी स्वच्छताको मैं तो वैष्णव-धर्म के अनुकूल ही मानता हूं। परंतु इस समय पिताजी का स्नानादिके लिए बिछौनेको छोड़नेका आग्रह देखकर मैं तो आश्चर्य-चकित रहता और मनमें उनकी स्तुति किया करता।

अवसानकी घोर रात्रि नजदीक आई। इस समय मेरे चाचाजी राजकोटमें थे। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि पिताजीकी बीमारी बढ़नेका समाचार सुनकर वह आ गये थे। दोनों भाइयोंमें प्रगाढ़ प्रेम-भाव था। चाचाजी दिन-भर पिताजीके बिछौनेके पास ही बैठे रहते और हम सबको सोनेके लिए रवाना करके खुद पिताजीके बिछौने के पास सोते। किसीको यह खयालतक न था कि यह रात आखिरी साबित होगी। भय तो सदा रहा ही करता था। रातके साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजीने मुझसे कहा—"अब तुम जाकर सोओ, मैं बैठूंगा।" मैं खुश हुआ और सीधा शयन-गृहमें चला गया। पत्नी बेचारी भर-नींदमें थी। पर मैं उसे क्यों सोने देने लगा? जगाया। पांच-सात ही मिनिट हुए होंगे कि नौकरने दरवाजा खटकाया।

मैं चौंका! उसने कहा—"उठो, पिताजीकी हालत बहुत खराब है।"

बहुत खराब है, यह तो मैं जानता ही था, इसलिए 'बहुत खराब'का विशेष अर्थ समझ गया। एक-बारगी बिछौनेसे हटकर पूछा—

"कहो तो, बात क्या है ?"

"पिताजी गुजर गये !"—उत्तर मिला।

अब पश्चात्ताप किस कामका ? मैं बहुत शर्मिन्दा हुआ, बड़ा खेद हुआ। पिताजीके कमरेमें दौड़ा गया। मैं समझा कि यदि मैं विषयांध न होता, तो अंत समयका यह वियोग मेरे भाग्यमें न होता, मैं अंतिम घड़ियोंतक पिताजीके पैर दबाता रहता। अब तो चाचाजीके मुंहसे ही सुना, "बापू[1] तो हमें छोड़कर चले गये !" अपने जेठे भाईके परम भक्त चाचाजी उनकी अंतिम सेवाके सौभाग्यके भागी हुए। पिताजीको अपने अवसानका खयाल पहलेसे हो चुका था। उन्होंने इशारेसे लिखनेकी सामग्री मांगी। कागजपर उन्होंने लिखा, "तैयारी करो।" इतना लिखकर अपने हाथपर बंधा ताबीज तोड़ फेंका। सोनेकी कंठी पहने हुए थे, उसे भी तोड़ फेंका और एक क्षण में प्राण-पखेरू उड़ गए।

पिछले प्रकरणमें मैंने अपनी जिस शर्मकी ओर संकेत किया था, वह यही शर्म थी। सेवाके समयमें भी विषयेच्छा ! इस काले धब्बेको मैं आजतक न पोंछ सका, न भूल सका। और मैंने हमेशा माना है कि यद्यपि माता-पिता के प्रति मेरी भक्ति अपार थी, उनके लिए मैं सब-कुछ छोड़ सकता था, परंतु उस सेवाके समयमें भी मेरा मन विषयभोगको न छोड़ सका, यह उस सेवामें अक्षम्य कमी थी। इसीलिए मैंने अपनेको एक-पत्नी-व्रतका पालन करनेवाला मानते हुए भी विषयांध माना है। इससे छूटने में मुझे बहुत समय लगा है और छूटनेके पहलेतक बड़े धर्म-संकट सहने पड़े हैं।

अपनी इस दुहेरी शर्मका प्रकरण पूरा करनेके पहले यह भी कह देना है कि पत्नीने जिस बालकको जन्म दिया वह दो या चार दिन ही सांस लेकर चलता हुआ। दूसरा क्या परिणाम हो सकता था ? इस उदाहरणको देखकर जो मां-बाप अथवा दंपती चेतना चाहें वे चेतें।

[1] काठियावाड़में पिताको बापू कहते हैं।—अनु०

१०

धर्मकी झलक

छः-सात सालकी उम्रसे लेकर १६ वर्षतक विद्याध्ययन किया; परंतु स्कूलमें कहीं धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज शिक्षकोंके पाससे सहज ही मिलनी चाहिए, वह न मिली। फिर भी वायुमंडलमेंसे तो कुछ-न-कुछ धर्म-प्रेरणा मिला ही करती थी। यहां धर्मका व्यापक अर्थ करना चाहिए। धर्मसे मेरा अभिप्राय है आत्मभानसे, आत्मज्ञानसे।

वैष्णव-संप्रदायमें जन्म होनेके कारण बार-बार 'वैष्णव-मंदिर' जाना होता था। परंतु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। मंदिरका वैभव मुझे पसंद न आया। मंदिरोंमें होनेवाले अनाचारोंकी बातें सुन-सुनकर मेरा मन उनके संबंधमें उदासीन हो गया। वहांसे मुझे कोई लाभ न मिला।

परंतु जो चीज मुझे इस मंदिरसे न मिली, वह अपनी दाईके पाससे मिल गई। वह हमारे कुटुंबमें एक पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मैं पहले कह चुका हूं कि मैं भूत-प्रेत आदिसे डरा करता था। इस रंभाने मुझे बताया कि इसकी दवा 'राम-नाम' है। किंतु राम-नामकी अपेक्षा रंभापर मेरी अधिक श्रद्धा थी। इसलिए बचपनमें मैंने भूत-प्रेतादिसे बचनेके लिए राम-नामका जप शुरू किया। यह सिलसिला यों बहुत दिनतक जारी न रहा; परंतु जो बीजारोपण बचपनमें हुआ वह व्यर्थ न गया। राम-नाम जो आज मेरे लिए एक अमोघ शक्ति हो गया है, उसका कारण यह रंभाबाई का बोया हुआ बीज ही है।

मेरे चचेरे भाई रामायणके भक्त थे। इसी अर्सेमें उन्होंने हम दो भाइयोंको 'राम-रक्षा'का पाठ सिखानेका प्रबंध किया। हमने उसे मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नानके बाद पाठ करनेका नियम बनाया। जबतक पोरबंदरमें रहे, तबतक तो यह निभता रहा। परंतु राजकोटके वातावरणमें उसमें शिथिलता आ गई।

इस क्रियापर भी कोई खास श्रद्धा न थी। दो कारणोंसे 'राम-रक्षा'का पाठ करता था। एक तो मैं बड़े भाईको आदरकी दृष्टिसे देखता था, दूसरे मुझे गर्व था कि मैं 'राम-रक्षा'का पाठ शुद्ध उच्चारण-सहित करता हूं।

परंतु जिस चीजने मेरे दिलपर गहरा असर डाला, वह तो थी रामायण-का पारायण। पिताजीकी बीमारीका बहुतेरा समय पोरबंदरमें गया। वहां वह रामजीके मंदिरमें रोज रातको रामायण सुनते। कथा कहनेवाले थे रामचंद्रजी-के परम-भक्त बीलेश्वरके लाधा महाराज। उनके संबंधमें यह आख्यायिका प्रसिद्ध थी कि उन्हें कोढ़ हो गया था। उन्होंने कुछ दवा न की—सिर्फ बीलेश्वर महादेवपर चढ़े हुए बिल्व पत्रोंको कोढ़वाले अंगोंपर बांधते रहे और राम-नामका जप करते रहे; अंतमें उनका कोढ़ समूल नष्ट हो गया। यह बात चाहे सच हो या झूठ, हम सुननेवालोंने तो सच ही मानी। हां, यह जरूर सच है कि लाधा महाराजने जब कथा आरंभ की थी, तब उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराजका स्वर मधुर था। वह दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसके रसमें लीन हो जाते और श्रोताओंको भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई १३ सालकी होगी; पर मुझे याद है कि उनकी कथामें मेरा बड़ा मन लगता था। रामायणपर जो मेरा अत्यंत प्रेम है, उसका पाया यही रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसीदासकी रामायणको भक्ति-मार्गका सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहां ऐसी कथा न होती थी। हां, एकादशीको भागवत अलबत्ता पढ़ी जाती थी। कभी-कभी मैं वहां जाकर बैठता; परंतु कथा-पंडित उसे रोचक न बना पाते थे। आज मैं समझता हूं कि भागवत ऐसा ग्रंथ है कि जिसे पढ़कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने उसका गुजराती अनुवाद बड़े चाव-भावसे पढ़ा है। परंतु मेरे इक्कीस दिनके उपवासमें जब भारत-भूषण पंडित मदनमोहन मालवीयजीके श्रीमुखसे मूल संस्कृतके कितने ही अंश सुने तब मुझे ऐसा लगा कि बचपनमें यदि उनके सदृश भगवद्भक्तके मुंहसे भागवत सुनी होती, तो बचपनमें ही मेरी गाढ़-प्रीति उसपर जम जाती। मैं अच्छी तरह इस बातको अनुभव कर रहा हूं कि बचपनमें पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं और इसीलिए यह बात अब मुझे बहुत

खल रही है कि लड़कपनमें कितने ही अच्छे ग्रंथोंका श्रवण-पठन न हो पाया ।

राजकोटमें मुझे सब संप्रदायोंके प्रति समानभाव रखनेकी शिक्षा अनायास मिली। हिंदू-धर्मके प्रत्येक संप्रदायके प्रति आदर-भाव रखना सीखा; क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मंदिर भी जाते थे, शिवालय भी जाते व राम-मंदिर भी जाते थे और हम भाइयोंको भी ले जाते अथवा भेज देते थे ।

फिर पिताजीके पास एक-न-एक जैन धर्माचार्य अवश्य आया करते। पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार भी करते। वे पिताजीके साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते। इसके सिवा पिताजीके मुसलमान तथा पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्मकी बातें सुनाया करते और पिताजी बहुत बार आदर और अनुरागके साथ उनकी बातें सुनते। मैं पिताजीका 'नर्स' था, इसलिए ऐसी चर्चाके समय मैं भी प्रायः उपस्थित रहा करता। इस सारे वायुमंडलका यह असर हुआ कि मेरे मनमें सब धर्मोंके प्रति समानभाव पैदा हुआ।

हां, ईसाई-धर्म इसमें अपवाद था। उसके प्रति तो जरा अरुचि ही उत्पन्न हो गई। इसका कारण था। उस समय हाईस्कूलके एक कोनेमें एक ईसाई व्याख्यान दिया करते थे। वह हिंदू-नेताओं और हिंदू-धर्मवालोंकी निंदा किया करते। यह मुझे सहन न होता। मैं एकाध ही बार इन व्याख्यानोंको सुननेके लिए खड़ा रहा होऊंगा, पर फिर वहां खड़ा होनेको जी न चाहा। इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिंदू ईसाई हो गये हैं। गांवमें यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हें जब ईसाई बनाया गया तब गो-मांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उनका लिबास भी बदल दिया गया। और ईसाई होनेके बाद वह सज्जन कोट-पतलून और हैट लगाने लगे। यह देखकर मुझे व्यथा पहुंची। 'जिस धर्ममें जानेके लिए गो-मांस खाना पड़ता हो, शराब पीनी पड़ती हो और अपना पहनावा बदलना पड़ता हो, उसे क्या धर्म कहना चाहिए?' मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई हो जानेपर यह महाशय अपने पूर्वजोंके धर्मकी, रीति-रिवाजकी, और देशकी भर-पेट निंदा करते फिरते हैं। इन सब बातोंसे मेरे मनमें ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नहीं कह सकते कि ईश्वरके प्रति मेरे मनमें श्रद्धा थी। इस समय पिताजीके

पुस्तक-संग्रहमेंसे मनुस्मृतिका भाषांतर मेरे हाथ पड़ा। उसमें सृष्टिकी उत्पत्ति आदिका वर्णन पढ़ा। उसपर श्रद्धा न जमी। उलटे कुछ नास्तिकता आ गई। मेरे दूसरे चचेरे भाई जो अभी मौजूद हैं, उनकी बुद्धिपर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शंकायें रक्खीं। परंतु वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—"बड़े होनेपर इन प्रश्नोंका उत्तर तुम्हारी बुद्धि अपने-आप देने लगेगी। ऐसे-ऐसे सवाल बच्चोंको न पूछने चाहिएं।" मैं चुप हो रहा, पर मनको शांति न मिली। मनुस्मृतिके खाद्याखाद्य-प्रकरणमें तथा दूसरे प्रकरणोंमें भी प्रचलित प्रथाका विरोध दिखाई दिया। इस शंकाका उत्तर भी मुझे प्रायः ऊपर लिखे अनुसार ही मिला। तब यह सोचकर मनको समझा लिया कि एक-न-एक दिन बुद्धिका विकास होगा, तब अधिक पठन और मनन करूंगा; और तब सब कुछ समझमें आने लगेगा।

मनुस्मृतिको पढ़कर मैं उस समय तो उससे अहिंसाकी प्रेरणा न पा सका। मांसाहारकी बात ऊपर आ ही चुकी है। उसे तो मनुस्मृतिका भी सहारा मिल गया। यह भी जंचा था कि सांप-खटमल आदिको मारना नीति-विहित है। इस समय, मुझे याद है, मैंने धर्म समझकर खटमल इत्यादिको मारा है।

पर एक बातने मेरे दिलपर अच्छी जड़ जमा ली। यह सृष्टि नीतिके पायेपर खड़ी है, नीति-मात्रका समावेश सत्यमें होता है। पर सत्यकी खोज तो अभी बाकी है। दिन-दिन सत्यकी महिमा मेरी दृष्टिमें बढ़ती गई, सत्यकी व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

फिर एक नीति-विषयक छप्पय हृदयमें अंकित हो गया। अपकारका बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार हो सकता है, यह बात मेरा जीवन-सूत्र बन बैठी। उसने मुझपर अपनी सत्ता जमानी शुरू की। अपकार करनेवालेका भला चाहना और करना मेरे अनुरागका विषय हो चला। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए;
आप उगारे प्राण ते तणा दुःख मां मरीए।

गुण केडे तो गुण दशगणो; मन वाचा कर्मे करी;
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही ।'

११

विलायतकी तैयारी

१८८७ ईसवीमें मैट्रिककी परीक्षा पास की। बंबई और अहमदाबाद दो परीक्षा केंद्र थे। देशकी दरिद्रता और कुटुंबकी आर्थिक अवस्थाके बहुत मामूली होनेके कारण, मेरी स्थितिके काठियावाड़-निवासीके लिए नजदीकी और सस्ते अहमदाबादको पसंद करना स्वाभाविक था। राजकोटसे अहमदाबादकी मैंने यह पहली बार अकेले यात्रा की।

घरके बड़े-बूढ़ोंकी यह इच्छा थी कि पास हो जानेपर अब आगे कालेजमें पढ़ूं। कालेज तो बंबईमें भी था और भावनगरमें भी। भावनगरमें खर्च कम पड़ता था, इसलिए शामलदास कालेजमें पढ़नेका निश्चय हुआ। वहां सब-कुछ मुझे मुश्किल दिखने लगा। अध्यापकोंके व्याख्यानोंमें मन न लगता, न समझ ही पड़ती। उसमें अध्यापकोंका दोष न था। मेरी पढ़ाई ही कच्ची थी। उस समयके शामलदास कालेजके अध्यापक तो प्रथम पंक्तिके माने जाते थे। पहला सत्र पूरा करके घर आया।

हमारे कुटुंबके पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान् व्यवहारकुशल ब्राह्मण—मावजी दवे थे। पिताजीके स्वर्गवासके बाद भी उन्होंने हमारे कुटुंबके साथ संबंध कायम रक्खा था। छुट्टियोंके दिनोंमें वह घर आये। माताजी और

' जल-फलका उपहार, पेट भर भोजन दीजे।
समुद नमनके लिए दंडवत् प्यारे कीजे॥
कौडी पाकर मित्र, मुहर बदलेमें देना।
होवे कष्ट-सहाय, प्राण उसके हित देना॥
गुणके बदले दस गुना, गुण करना यह धर्म है।
अवगुण बदले गुण करे, सत्य-धर्मका मर्म है॥

बड़े भाईके साथ बातें करते हुए मेरी पढ़ाईके विषयमें पूछताछ की। यह सुनकर कि मैं शामलदास कालेजमें पढ़ता हूं, उन्होंने कहा— "अब जमाना बदल गया है। तुम भाइयोंमेंसे यदि कोई कबा गांधीकी गद्दी कायम रखना चाहो तो यह बिना पढ़ाईके नहीं हो सकता। यह अभी पढ़ रहा है। इसलिए उस गद्दीको कायम रखनेका भार इसपर डालना चाहिए। इसे अभी ४ साल बी. ए. होनेमें लगेंगे। इसके बाद भी ५०)–६०)की नौकरी भले ही मिले, दीवान-पद नहीं मिल सकता। फिर अगर उसके बाद मेरे लड़केकी तरह वकील बनाओगे तो कुछ और साल लगेंगे, और तबतक तो दीवानगिरीके लिए कितने ही वकील तैयार हो जायंगे। आपको चाहिए कि इसे विलायत पढ़ने भेजें। केवलराम (मावजी दवेका पुत्र) कहता है कि वहां पढ़ाई आसान है। तीन सालमें पढ़कर लौट आवेगा। खर्च भी ४–५ हजारसे ज्यादा न लगेगा। देखो न, वह नया बैरिस्टर आया है। कैसे ठाट-बाट से रहता है। वह यदि चाहे तो आज दीवान बन सकता है। मेरी सलाह तो यह है कि मोहनदासको आप इसी साल विलायत भेज दें। विलायतमें केवलरामके बहुतेरे मित्र हैं। वह परिचय-पत्र दे देगा तो इसे वहां कोई कठिनाई न होगी।"

जोशीजीने (मावजी दवेको हम इसी नामसे पुकारा करते थे), मानो उन्हें अपनी सलाहके मंजूर हो जानेमें कुछ भी संदेह न हो, मेरी ओर मुखातिब होकर पूछा—

"क्यों, तुम्हें विलायत जाना पसंद है या यहीं पढ़ना ?"

मेरे लिए यह 'नेकी और पूछ-पूछ'वाली मसल हो गई। मैं कालेजकी कठिनाइयोंसे तंग तो आ ही गया था। मैंने कहा—"विलायत भेजें तो बहुत ही अच्छा। कालेजमें जल्दी-जल्दी पास हो जानेकी आशा नहीं मालूम होती। पर मुझे डॉक्टरीके लिए क्यों नहीं भेजते ?"

बड़े भाई बीच में बोले— "बापूको यह पसंद न था। तुम्हारी बात जब निकलती तो कहते हम तो वैष्णव हैं। हाड़-मांस नोचनेका काम हम कैसे करें ? बापू तो तुमको वकील बनाना चाहते थे।"

जोशीजीने बीचमें ही हां-में-हां मिलाई— "मुझे गांधीजीकी तरह डाक्टरी से नफरत नहीं। हमारे शास्त्रोंने इसका तिरस्कार नहीं किया है। परंतु डाक्टरी पास करके तुम दीवान नहीं बन सकते। मैं तुमको दीवान और इससे भी बढ़कर

देखना चाहता हूं। तभी तुम्हारे विशाल कुटुंबका काम चल सकता है। जमाना दिन-दिन बदलता जाता है और मुश्किल होता जाता है, इसलिए बैरिस्टर बनाना ही बुद्धिमानी है।"

माताजीकी ओर देखकर कहा— "आज तो मै जाता हूं। मेरी बातपर विचार कीजिएगा। वापस आनेपर मैं विलायत जानेकी तैयारीके समाचार सुननेकी आशा रक्खूंगा। कोई दिक्कत हो तो मुझे खबर कीजिएगा।"

जोशीजी गये। इधर मैंने हवाई किले बांधना शुरू किये।

बड़े भाई शशोपंजमें पड़ गये। रुपयेका क्या इंतजाम करें? फिर मुझ जैसे नौजवानको इतनी दूर कैसे भेज दें?

माताजी भी बड़ी दुबिधामें पड़ गईं। दूर भेजने की बात तो उन्हें अच्छी न लगी। परंतु शुरूमें तो उन्होंने यही कहा— "हमारे कुटुंबमें तो अब चाचाजी ही बड़े-बूढ़े हैं। इसलिए पहले तो उन्हींकी सलाह लेनी चाहिए। यदि वह इजाजत दे दें तो फिर सोचेंगे।"

बड़े भाईको एक और विचार सूझा— "पोरबंदर राज्यपर हमारा हक है। लेली साहब एडमिनिस्ट्रेटर हैं। हमारे परिवारके संबंधमें उनका अच्छा मत है। चाचाजीपर उनकी खास मेहरबानी है। शायद वह राज्यकी ओरसे तुम्हारी थोड़ी-बहुत मदद भी करदें।"

मुझे यह सब पसंद आया। मैं पोरबंदर जानेके लिए तैयार हुआ। उस समय रेल न थी। बैल-गाड़ियां चलती थीं। ५ दिनका रास्ता था। मैं स्वभावसे डरपोक था, यह तो ऊपर कह चुका हूं। पर इस समय मेरा डर न जाने कहां चला गया। विलायत जानेकी धुन सवार हुई। मैंने धाराजी तककी गाड़ी की। धोराजीसे एक दिन पहले पहुंचनेके इरादेसे ऊंट किया। ऊंटकी सवारीका यह पहला अनुभव था।

पोरबंदर पहुंचा। चाचाजीको साष्टांग प्रणाम किया। सारा किस्सा उनसे कहा। उन्होंने विचार करके उत्तर दिया—

"विलायत जाकर अपना धर्म कायम रख सकोगे कि नहीं, यह मैं नहीं जानता। सारी बातें सुनकर तो मुझे संदेह ही होता है। देखो न, बड़े-बड़े बैरिस्टरोंसे मिलनेका मुझे मौका मिलता है। मैं देखता हूं कि उनकी और साहब

लोगोंकी रहन-सहनमें कोई फर्क नहीं । उन्हें खानपानका कोई परहेज नहीं होता । सिगार तो मुंहसे अलग ही नहीं होती । पहनाव भी देखो तो नंगा । यह सब अपने कुटुंबको शोभा नहीं देगा । पर मैं तुम्हारे साहसमें विघ्न डालना नहीं चाहता । मैं थोड़े ही दिनोंमें तीर्थयात्राको जानेवाला हूं । मेरी जिंदगीके अब थोड़े ही दिन बाकी हैं । सो मैं, जोकि जिंदगीके किनारेतक पहुंच गया हूं, तुमको विलायत जानेकी, समुद्र यात्रा करनेकी इजाजत कैसे दूं ? पर मैं तुम्हारा रास्ता न रोकूंगा । असली इजाजत तो तुम्हारी माताजीकी है । अगर वह तुम्हें इजाजत दे दें तो तुम शौकसे जाओ । उनसे कहना कि मैं तुम्हें न रोकूंगा । मेरी आशीष तो तुम्हें हुई है ।"

"इससे ज्यादाकी आशा मैं आपसे नहीं कर सकता । अब मुझे माताजीको राजी कर लेना है । परंतु लेली साहबके नाम आप चिट्ठी तो देंगे न ?" मैंने कहा ।

चाचाजी बोले, "यह तो मुझसे कैसे हो सकता है ? पर साहब भले आदमी हैं । तुम चिट्ठी लिखो । अपने कुटुंबकी याद दिलाना तो वह जरूर मिलनेका समय देंगे; और उन्हें जंचा तो मदद भी कर देंगे ।"

मुझे खयाल नहीं आता कि चाचाजीने साहबके नाम चिट्ठी क्यों न दी ? पर कुछ-कुछ ऐसा अनुमान होता है कि विलायत जानेके धर्म-विरुद्ध कार्यमें इतनी सीधी मदद देते हुए उन्हें संकोच हुआ होगा ।

मैंने लेली साहबको चिट्ठी लिखी । उन्होंने अपने रहनेके बंगलेपर मुझे बुलाया । बंगलेके जीनेपर चढ़ते-चढ़ते साहब मुझसे मिले और यह कहते हुए ऊपर चढ़ गये कि— "पहले बी. ए. हो लो, फिर मुझसे मिलो; अभी कुछ मदद नहीं हो सकती ।" मैं बहुत तैयारी करके, बहुतेरे वाक्योंको रटकर, गया था । बहुत झुककर दोनों हाथोंसे सलाम किया था, पर मेरी सारी मिहनत फिजूल गई ।

अब मेरी नजर अपनी पत्नीके गहनोंपर गई । बड़े भाईपर मेरी अपार श्रद्धा थी । उनकी उदारताकी सीमा न थी । उनका प्रेम पिताजीकी तरह था ।

मैं पोरबंदरसे बिदा हुआ और राजकोट आकर सब बातें सुनाईं । जोशीजीसे सलाह-मशवरा किया । उन्होंने कर्ज करके भी विलायत भेजनेकी सलाह दी । मैंने सुझाया कि पत्नीके गहने बेच डाले जायं । गहनोंसे दो-तीन हजारसे ज्यादा रकम मिलनेकी आशा न थी । किंतु भाई साहबने जिस तरह हो, रुपयेका इंतजाम

करनेका बीड़ा उठाया ।

पर माताजी क्योंकर मानतीं ? उन्होंने विलायतके जीवनके संबंधमें पूछ-ताछ शुरू की । किसीने कहा, नवयुवक विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं । कोई कहता था, वे मांस खाने लग जाते हैं । किसीने कहा, वहां शराब पिये बिना नहीं चलता । माताजीने यह सब मुझसे कहा । मैंने समझाया कि तुम मुझपर विश्वास रक्खो, मैं विश्वासघात न करूंगा । मैं कसम खाकर कहता हूं कि मैं इनमें तीनों बातोंसे बचूंगा । और अगर ऐसी जोखिमकी ही बात होती तो जोशीजी क्यों जानेकी सलाह देते ?

माताजी बोलीं— "मुझे तेरा विश्वास है । पर दूर देशमें तेरा कैसे क्या होगा ? मेरी तो अकल काम नहीं करती । मैं बेचरजी स्वामीसे पूछूंगी ।" बेचरजी स्वामी मोढ़ बनियेसे जैन साधु हुए थे । जोशीजी की तरह हमारे सलाहकार भी थे । उन्होंने मेरी मदद की । उन्होंने कहा कि मैं इससे तीनों बातोंकी प्रतिज्ञा लिवा लूंगा । फिर जाने देनेमें कोई हर्ज नहीं । तदनुसार मैने मांस, मदिरा और स्त्री-संगसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा ली । तब माताजीने इजाजत दे दी ।

मेरे विलायत जानेके उपलक्ष्यमें हाईस्कूलमें विद्यार्थियोंका सम्मेलन हुआ । राजकोटका एक युवक विलायत जा रहा है, इसपर सबको आश्चर्य ही हो रहा था । अपनी बिदाईके जवाबमें मैं कुछ लिखकर ले गया था । पर मै उसे मुश्किलसे पढ़ सका । सिर घूम रहा था, बदन कांप रहा था, इतना मुझे याद है ।

बड़े-बूढ़ोंके आशीर्वाद प्राप्तकर मै बंबई रवाना हुआ । बंबईकी मेरी यह पहली यात्रा थी, इसलिए बड़े भाई साथ आये ।

परंतु अच्छे काममें सैकड़ों विघ्न आते है । बंबईका बंदर छूटना आसान न था ।

१२

जाति-बहिष्कार

माताजीकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर, कुछ महीनेका बच्चा पत्नीके साथ छोड़कर, मैं उमंग और उत्कंठाके साथ बंबई पहुंचा । पहुंच तो गया, पर

वहां मित्रोंने भाईसे कहा कि जून-जुलाई में हिंद महासागरमें तूफान रहता है। यह पहली बार समुद्र-यात्रा कर रहा है, इसलिए दिवालीके बाद अर्थात् नवंबर में इसको भेजना चाहिए। इतनेमें ही किसीने तूफानमें किसी जहाजके डूब जानेकी बात भी कह डाली। इससे बड़े भाई चिंतित हो गये। उन्होंने मुझे ऐसी जोखिम उठाकर उसी समय भेजनेसे इन्कार कर दिया, और वहीं अपने एक मित्रके यहां मुझे छोड़कर खुद अपनी नौकरीपर राजकोट चले गये। अपने एक बहनोईके पास रुपये-पैसे रख गये और कुछ मित्रोंसे मेरी मदद करनेको भी कहते गये।

बंबईमें मेरा पड़ाव लंबा हो गया। वहां मुझे दिन-रात विलायतके ही सपने आते।

इसी बीच हमारी जातिमें खलबली मची। पंचायत इकट्ठी हुई। मोढ़ बनियोंमें अबतक कोई विलायत नहीं गया था और उन लोगोंका कहना था कि यदि मैं ऐसा साहस करता हूं तो मुझसे जवाब तलब होना चाहिए। मुझे जातिकी पंचायतमें हाजिर होनेका हुक्म हुआ। मैं गया। ईश्वर जाने मुझे एकाएक यह हिम्मत कहांसे आई। वहां जाते हुए न संकोच हुआ, न डर। जातिके मुखियाके साथ दूरका कुछ रिश्ता भी था, पिताजीके साथ उनका अच्छा संबंध था। उन्होंने मुझसे कहा—

"पंचोंका यह मत है कि तुम्हारा विलायत जानेका विचार ठीक नहीं है। अपने धर्ममें समुद्र-यात्रा मना है। फिर हमने सुना है कि विलायतमें धर्मका पालन नहीं हो सकता। वहां अंग्रेजोंके साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने उत्तर दिया, "मैं तो समझता हूं, विलायत जाना किसी तरह अधर्म नहीं। मुझे तो वहां जाकर सिर्फ विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन बातोंका भय आपको है उनसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा मैंने माताजीके सामने ले ली है और मैं उनसे दूर रह सकूंगा।"

"पर हम तुमसे कहते हैं कि वहां धर्म कायम नहीं रह सकता। तुम जानते हो कि तुम्हारे पिताजीके साथ मेरा कैसा संबंध था, तुम्हें मेरा कहना मान लेना चाहिए," मुखिया बोले।

"जी, आपका संबंध मुझे याद है। आप मेरे लिए पिताके समान हैं। परंतु इस बातमें मैं लाचार हूं। विलायत जानेका निश्चय मैं नहीं पलट सकता।

मेरे पिताजीके मित्र और सलाहकार, जो कि एक विद्वान् ब्राह्मण हैं, मानते हैं कि मेरे विलायत जानेमें कोई बुराई नहीं। माताजी और भाई साहबने भी इजाजत दे दी है।" मैंने उत्तर दिया।

"पर पंचोंका हुक्म तुम नहीं मानोगे ?"

"मैं तो लाचार हूं, मैं समझता हूं पंचोंको इस मामलेमें न पड़ना चाहिए।"

इस जवाबसे उन मुखियाको गुस्सा आ गया। मुझे दो-चार भली-बुरी सुनाई। मैं चुप बैठ रहा। उन्होंने हुक्म दिया--

"यह लड़का आजसे जात बाहर समझा जाय। जो इसकी मदद करेगा अथवा पहुंचाने जायगा वह जातिका गुनहगार होगा और उससे सवा रुपया जुर्माना लिया जावेगा।"

इस प्रस्तावका मेरे दिलपर कुछ असर न हुआ। मैंने मुखियासे विदा मांगी। अब मुझे यह सोचना था कि इस प्रस्तावका असर भाई साहबपर क्या होगा। वह कहीं डर गये तो ? पर सौभाग्यसे वह दृढ़ रहे और मुझे उत्तरमें लिखा कि जातिके इस प्रस्तावके होते हुए भी मैं तुमको विलायत जानेसे नहीं रोकूंगा।

इस घटनाके बाद मै अधिक चिंतातुर हुआ। भाई साहबपर दबाव डाला गया तो ? अथवा कोई और विघ्न खड़ा हो गया तो ? इस तरह चिंतासे मैं दिन बिता रहा था कि इतनेमें खबर मिली कि ४ सितंबरको छूटनेवाले जहाजमें जूनागढ़के एक वकील बैरिस्टर बननेके लिए विलायत जा रहे हैं। मैं भाई साहबके उन मित्रोंसे मिला, जिनसे वह मेरे लिए कह गये थे। उन्होंने सलाह दी कि इस साथको नहीं छोड़ना चाहिए। समय बहुत थोड़ा था। भाई साहबसे तार द्वारा आज्ञा मांगी। उन्होंने दे दी। मैंने बहनोई साहबसे रुपये मांगे। उन्होंने पंचोंकी आज्ञाका जिक्र किया। जाति-बाहर रहना उन्हें मंजूर न हो सकता था। तब अपने कुटुंबके एक मित्रके पास मैं पहुंचा, और किराये वगैराके लिए आवश्यक रकम मुझे देने और फिर भाई साहबसे वसूल कर लेनेका अनुरोध मैंने किया। उन्होंने न केवल इस बातको स्वीकार ही किया, बल्कि मुझे हिम्मत भी बंधाई। मैंने उनका अहसान मानकर रुपये लिये और टिकिट खरीदा।

विलायत-यात्राका सारा सामान तैयार करना था। एक दूसरे अनुभवी

मित्रने साज-सामान तैयार करवाया। मुझे वह सब बड़ा विचित्र मालूम हुआ। कुछ बातें अच्छी लगीं, कुछ बिलकुल नहीं। नेकटाई तो बिलकुल अच्छी न लगी— हालांकि आगे जाकर मैं उसे बड़े शौकसे पहनने लगा था। छोटा-सा जाकेट नंगा पहनावा मालूम हुआ। परंतु विलायत जानेकी धुनमें इस नापसंदीके लिए जगह नहीं थी। साथमें खानेका सामान भी काफी बांध लिया था।

मेरे लिए स्थान भी मित्रोंने त्रंबकराय मजूमदार (जूनागढ़वाले वकील) की केबिनमें रिजर्व कराया। उनसे मेरे लिए उन्होंने कह भी दिया। वह तो थे अधेड़, अनुभवी आदमी। मैं ठहरा अठारह बरसका नौजवान, दुनियाके अनुभवोंसे बेखबर। मजूमदारने मित्रोंको मेरी तरफसे निश्चिंत रहनेका आश्वासन दिया।

इस तरह ४ सितंबर १८८८ ई० को मैंने बंबई बंदर छोड़ा।

१२

आखिर विलायतमें

जहाजमें समुद्रसे मुझे कोई तकलीफ न हुई। पर ज्यों-ज्यों दिन जाते, मैं असमंजसमें पड़ता चला। स्टुअर्टके साथ बोलते हुए झेपता। अंग्रेजीमें बातचीत करनेकी आदत न थी। मजूमदारको छोड़कर बाकी सब यात्री अंग्रेज थे। उनके सामने बोलते न बनता था। वे मुझसे बोलनेकी चेष्टा करते तो उनकी बातें मेरी समझमें न आतीं और यदि समझ भी लेता तो यह औसान नहीं रहता कि जवाब क्या दूं। हर वाक्य बोलनेसे पहले मनमें जमाना पड़ता था। छुरी-कांटेसे खाना जानता न था। और वह पूछनेकी भी जुर्रत न होती कि इसमें बिना मांसकी चीजें क्या-क्या हैं? इस कारण मैं भोजनकी मेजपर तो कभी गया ही नहीं; केबिन— कमरे— में ही खा लेता। अपने साथ मिठाइयां वगैरा ले रक्खी थीं— प्रधानतः उन्हींपर गुजर करता रहा। मजूमदारको तो किसी प्रकारका संकोच न था। वह सबके साथ हिलमिल गये। डेकपर भी जहां जी चाहा घूमते फिरते। मैं सारा दिन केबिनमें घुसा रहता। डेकपर जब लोगोंकी भीड़ कम देखता, तब कहीं जाकर वहां बैठ जाता। मजूमदार मुझे समझाते कि सबके साथ मिला-जुला करो और कहते— वकील जबांदराज होना चाहिए। वकीलकी

हँसियतसे अपना अनुभव भी सुनाते। कहते—"अंग्रेजी हमारी मातृ-भाषा नहीं, इसलिए बोलनेमें भूलें होना स्वाभाविक है। फिर भी बोलनेका रफ्त तो करना ही चाहिए, आदि।" परन्तु मेरे लिए अपना दब्बूपन छोड़ना भारी पड़ता था।

मुझपर तरस खाकर एक भले अंग्रेजने मुझसे बातचीत करना शुरू कर दिया; वह मुझसे बड़े थे। मैं क्या खाता हूं, कौन हूं, कहां जा रहा हूं, क्यों किसीके साथ बातचीत नहीं करता, इत्यादि सवाल पूछते। मुझे खानेके लिए मेजपर जानेकी प्रेरणा करते। मांस न खानेके मेरे आग्रहकी बात सुनकर एक रोज हंसे और मुझपर दया प्रदर्शित करते हुए बोले— "यहां तो (पोर्टसईद पहुंचेतक) सब ठीक-ठाक है, परंतु बिस्केके उपसागरमें पहुंचनेपर तुम्हें अपने विचार बदलने पड़ेंगे। इंग्लैंडमें तो इतना जाड़ा पड़ता है कि मांसके बिना काम चल ही नहीं सकता।"

मैंने कहा— "मैंने तो सुना है कि वहां लोग बिना मांसाहार किये रह सकते हैं।"

उन्होंने कहा— "यह झूठ है। मेरी जान-पहचानवालोंमें कोई आदमी ऐसा नहीं है, जो मांस न खाता हो। मैं शराब पीनेके लिए तुमसे नहीं कहता; पर मैं समझता हूं, मांस तो तुम्हें अवश्य खाना चाहिए।"

मैंने कहा— "आपकी सलाह के लिए मैं आपका आभारी हूं। पर मैंने अपनी माताजीको वचन दिया है कि मैं मांस न खाऊंगा। अतः मैं मांस नहीं खा सकता। यदि उसके बिना न रह सकते हों तो मैं फिर हिंदुस्तानको लौट जाऊंगा, पर मांस हरगिज न खाऊंगा।"

बिस्केका उपसागर आया। वहां भी मुझे न तो मांसकी आवश्यकता मालूम हुई, न मदिराकी ही। घरपर मुझसे कहा गया था कि मांस न खानेके प्रमाणपत्र संग्रह करते रहना। सो मैंने इन अंग्रेज मित्रसे प्रमाणपत्र मांगा। उन्होंने खुशीसे दे दिया। बहुत समय तक मैंने उसे धनकी तरह संभालकर रक्खा। पीछे जाकर मुझे पता चला कि प्रमाणपत्र तो मांस खाकर भी प्राप्त किये जा सकते हैं। तब उससे मेरा दिल हट गया। मैंने कहा—यदि मेरी बातपर किसीको विश्वास न हो तो ऐसे मामलोंमें प्रमाणपत्र दिखानेसे भी मुझे क्या लाभ हो सकता है?

किसी तरह दुःख-सुख उठा, हमारी यात्रा पूरी हुई और साउदेम्प्टन बंदरपर हमारे जहाजने लंगर डाला। मुझे याद पड़ता है, उस दिन शनिवार था। मैं जहाजपर काले कपड़े पहनता था। मित्रोंने मेरे लिए सफेद फलालैनके कोट-पतलून भी बना दिये थे। मैंने सोचा था कि विलायतमें उतरते समय मैं उन्हें पहनूं। यह समझकर कि सफेद कपड़े ज्यादा अच्छे मालूम होते हैं, इस लिबासमें मैं जहाजसे उतरा। सितंबरके अंतिम दिन थे। ऐसे लिबासमें मैंने सिर्फ अपनेको ही वहां पाया। मेरे संदूक और उनकी तालियां ग्रिंडले कंपनीके गुमाश्ते लोग ले गये थे। जैसा और लोग करते हैं, ऐसा ही मुझे भी करना चाहिए, यह समझकर मैंने अपनी तालियां भी उन्हें दे दी थीं !

मेरे पास चार परिचय-पत्र थे— एक डाक्टर प्राणजीवन मेहताके नाम, दूसरा दलपतराम शुक्लके नाम, तीसरा प्रिंस रणजीतसिंहके नाम, और चौथा दादाभाई नौरोजीके नाम। मैंने साउदेम्प्टनसे डाक्टर मेहताको तार कर दिया था। जहाजमें किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटलमें ठहरना ठीक होगा, इसलिए मजूमदार और मैं वहां गये। मै तो अपने सफेद कपड़ोंकी शर्ममें ही बुरी तरह झेंप रहा था। फिर होटलमें जाकर खबर लगी कि कल रविवार होनेके कारण सोमवारतक ग्रिंडलेके यहांसे सामान न आ पावेगा। इससे मैं बड़ी दुविधामें पड़ गया।

सात-आठ बजे डाक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेम-भावसे मेरा खूब मजाक उड़ाया। मैंने अनजानमें उनकी रेशमी रोएंवाली टोपी देखनेके लिए उठाई और उसपर उलटी तरफ हाथ फेरने लगा। टोपीके रोएं उठ खड़े हुए। यह डाक्टर मेहताने देखा। मुझे तुरंत रोक दिया, पर कुसूर तो हो चुका था। उनकी रोकका फल इतना ही हो पाया कि मैं समझ गया— आगे फिर ऐसी हरकत न होनी चाहिए।

यहांसे मैंने यूरोपियन रस्म-रिवाजका पहला पाठ पढ़ना शुरू किया। डाक्टर मेहता हंसते जाते और बहुतेरी बातें समझाते जाते। 'किसीकी चीजको यहां छूना न चाहिए। हिंदुस्तानमें परिचय होते ही जो बातें सहज पूछी जा सकती हैं, वे यहां न पूछनी चाहिए। बातें जोर-जोरसे न करनी चाहिए। हिंदुस्तानमें साहबोंके साथ बातें करते हुए 'सर' कहनेका जो रिवाज है वह यहां अनावश्यक

है। 'सर' तो नौकर अपने मालिकको अथवा अपने अफसरको कहता है।' फिर उन्होंने यह भी कहा कि 'होटलमें तो खर्चा ज्यादा पड़ेगा, इसलिए किसी कुटुंबके साथ रहना ठीक होगा।' इस संबंधमें विचार सोमवारतक मुल्तवी रहा। और भी कितनी ही हिदायतें देकर डाक्टर मेहता बिदा हुए।

होटलमें तो हम दोनों को ऐसा मालूम हुआ मानो कहींसे आ घुसे हों। खर्च भी बहुत पड़ता था। माल्टासे एक सिंधी यात्री सवार हुए थे। मजूमदारकी उनके साथ अच्छी जान-पहचान हो गई थी। वह सिंधी यात्री लंदनके जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे ले लेनेका जिम्मा लिया। हम दोनों रजामंद हुए और सोमवारको ज्यों ही सामान मिला, होटलका बिल चुकाकर उन कमरोंमें दाखिल हुए। मुझे याद है कि होटलका खर्चा लगभग तीन पौंड मेरे हिस्से में आया था। मैं तो भौंचक रह गया। तीन पौंड देकर भी भूखा ही रहा। वहांकी कोई चीज अच्छी नहीं लगी। एक चीज उठाई, वह न भाई। तब दूसरी ली। पर दाम तो दोनोंका देना पड़ता था। मैं अभीतक प्रायः बंबईसे लाये खाद्य-पदार्थोंपर ही गुजारा करता रहा।

उस कमरेमें तो मैं बड़ा दुःखी हुआ। देश खूब याद आने लगा। माताका प्रेम साक्षात् सामने दिखाई पड़ता। रात होते ही रुलाई शुरू होती। घरकी तरह-तरहकी बातें याद आतीं। उस तूफानमें नींद भला क्यों आने लगी? फिर उस दुःखकी बात किसीसे कह भी नहीं सकता था। कहनेसे लाभ ही क्या था? मैं खुद न जानता था कि मुझे किस इलाजसे तसल्ली मिलेगी। लोग निराले, रहन-सहन निराली, मकान भी निराले और घरोंमें रहनेका तौर-तरीका भी निराला। फिर यह भी अच्छी तरह नहीं मालूम कि किस बातके बोल देनेसे अथवा क्या करनेसे यहांके शिष्टाचारका अथवा नियमका भंग होता है। इसके अलावा खान-पानका परहेज अलग; और जिन चीजोंको मैं खा सकता था, वे रूखी-सूखी मालूम होती थीं। इस कारण मेरी हालत सांप-छछूंदर जैसी हो गई। विलायतमें अच्छा नहीं लगता था और देशको भी वापस नहीं लौट सकता था। फिर विलायत आ जानेके बाद तो तीन साल पूरा करके ही लौटने का निश्चय था।

१४

मेरी पसंदगी

डाक्टर मेहता सोमवारको विक्टोरिया होटलमें मुझसे मिलने गये। वहां उन्हें हमारे नये मकानका पता लगा। वह वहां आये। मेरी बेवकूफीसे जहाजमें मुझे दाद हो गई थी। जहाजमें खारे पानीसे नहाना पड़ता। उसमें साबुन घुलता नहीं। इधर मैं साबुनसे नहानेमें सभ्यता समझता था। इसलिए शरीर साफ होनेके बदले उलटा चिकटा हो गया और मुझे दाद पैदा हो गई। डाक्टरने तेजाब-सा एसिटिक-एसिड दिया, जिसने मुझे रुलाकर छोड़ा। डाक्टर मेहताने हमारे कमरे आदिको देखकर सिर हिलाया व कहा—"यह मकान कामका नहीं। इस देशमें आकर महज पुस्तकें पढ़नेकी अपेक्षा यहांका अनुभव प्राप्त करना ज्यादा जरूरी है। इसके लिए किसी कुटुम्बमें रहनेकी जरूरत है। पर फिलहाल कुछ बातें सीखनेके लिए . . . के यहां रहना ठीक होगा। मै तुमको उनके यहां ले चलूंगा।"

मैंने सधन्यवाद उनकी बात मान ली। उन मित्रके यहां गया। उन्होंने मेरी खातिर-तवाजोमें किसी बातकी कसर न रक्खी। मुझे अपने सगे भाईकी तरह रक्खा, अंग्रेजी रस्म-रिवाज सिखाये। अंग्रेजीमें कुछ बातचीत करनेकी टेव भी उन्होंने मुझे डाली।

पर मेरे भोजनका सवाल बड़ा विकट हो पड़ा। बिना नमक, मिर्च, मसालेका साग भाता नहीं था। मालकिन बेचारी मेरे लिए पकाती भी क्या? सुबह ओट-मीलकी एक किस्मकी लपसी बनती, उससे कुछ पेट भर जाता, पर दोपहरको और शामको हमेशा भूखा रहता। यह मित्र मांसाहार करनेके लिए रोज समझाते। पर मैं अपनी प्रतिज्ञाका नाम लेकर चुप हो रहता। उनकी दलीलोंका मुकाबला न कर सकता था। दोपहरको सिर्फ रोटी और चौलाईके साग तथा मुरब्बेपर गुजर करता। यही खाना शामको भी। मैं देखता था कि रोटीके तो दो ही तीन टुकड़े ले सकते हैं, अतः ज्यादा मांगते हुए झेंप लगती। फिर मेरा आहार भी काफी था। जठराग्नि तेज थी, और काफी आहार भी

चाहती थी। दोपहरको या शामको दूध बिलकुल नहीं मिलता था। मेरी यह हालत देखकर वह मित्र एक दिन झल्लाये और बोले— "देखो, यदि तुम मेरे सगे भाई होते तो मैं तुमको जरूर देश लौटा देता। निरक्षर मांको यहांकी हालत जाने बगैर दिये गये वचनका क्या मूल्य? इसे कौन प्रतिज्ञा कहेगा? मैं तुमसे कहता हूं कि कानूनके अनुसार भी इसे प्रतिज्ञा नहीं कह सकते। ऐसी प्रतिज्ञा लिये बैठे रहना अंध-विश्वासके सिवा कुछ नहीं। और ऐसे अंध-विश्वासोंका शिकार बने रहकर तुम इस देशसे कोई बात अपने देशको नहीं ले जा सकते। तुम तो कहते हो कि मैंने मांस खाया है। तुम्हें तो वह भाया भी था। अब जहां खानेकी कोई जरूरत न थी वहां तो खा लिया, और जहां खास तौरपर उसकी जरूरत है वहां उसका त्याग! कितने ताज्जुबकी बात है!"

पर मैं टससे मस न हुआ।

ऐसी दलीलें रोज हुआ करतीं। छत्तीस रोगोंकी दवा 'नन्ना' ही मेरे पास थी। वह मित्र ज्यों-ज्यों मुझे समझाते त्यों-त्यों मेरी दृढ़ता बढ़ती जाती। रोज मैं ईश्वरसे अपनी रक्षाकी याचना करता और रोज वह पूरी होती। मैं यह तो नहीं जानता था कि ईश्वर क्या चीज है, पर उस रंभाकी दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्रने मेरे सामने बेंथमकी पुस्तक पढ़नी शुरू की। उपयोगिता-वादका विषय पढ़ा। मैं चौंका। भाषा क्लिष्ट। मैं थोड़ा-बहुत समझता। तब उन्होंने उसका विवेचन करके समझाया। मैंने उत्तर दिया, "मुझे इससे माफी दीजिए। मैं इतनी सूक्ष्म बातें नहीं समझ सकता। मैं मानता हूं कि मांस खाना चाहिए, परंतु प्रतिज्ञाके बंधनको मैं नहीं तोड़ सकता। इसके संबंधमें मैं वाद-विवाद भी नहीं कर सकता। मैं जानता हूं कि बहसमें मैं आपसे नहीं जीत सकता। अतः मुझे मूर्ख समझकर, अथवा जिद्दी ही समझकर, इस बातमें मेरा नाम छोड़ दीजिए। आपके प्रेमको मैं पहचानता हूं। आपका उद्देश्य भी समझता हूं। आपको अपना परम हितेच्छु मानता हूं। मैं यह भी देखता हूं कि आप इसीलिए आग्रह करते हैं कि आपको मेरी हालतपर दुःख होता है। पर मैं लाचार हूं। प्रतिज्ञा किसी तरह नहीं टूट सकती।"

मित्र बेचारे देखते रह गये। उन्होंने पुस्तक बंद करदी। "बस, अब

एक दिन मैं फेरिंग्टन स्ट्रीट पहुंचा, और 'वेजिटेरियन रेस्तरां' (निरामिष भोजनालय) नाम पढ़ा। बच्चेको मनचाही चीज मिलनेसे जो आनंद होता है, वही मुझे हुआ। हर्षोन्मत्त होकर मैं अंदर पहुंचा ही नहीं कि दरवाजेके पास कांचकी खिड़कीमें विक्रयार्थ पुस्तकें देखीं। उनमें मैंने सॉल्टकी 'अन्नाहारकी हिमायत' नामक पुस्तक देखी। एक शिलिंग देकर खरीदी और फिर भोजन करने बैठा। विलायतमें आनेके बाद यही पहला दिन था, जब मैंने पेट-भर खाना खाया। उस दिन ईश्वरने मेरी भूख बुझाई।

सॉल्टकी पुस्तक पढ़ी। मेरे दिलपर उसकी अच्छी छाप पड़ी। यह पुस्तक पढ़नेके दिनसे मैं अपनी इच्छासे, अर्थात् सोच-समझकर, अन्नाहारका कायल हुआ। माताजीके सामने की हुई प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनंददायक हो गई। अब तक जो मैं यह मान रहा था कि सब लोग मांसाहारी हो जायं तो अच्छा और पहले केवल सत्यकी रक्षाके लिए और पीछेसे प्रतिज्ञा-पालनके लिए मांसाहारसे परहेज करता रहा और भविष्यमें किसी दिन आजादीसे खुलेआम मांस खाकर दूसरोंको मांस-भोजियोंकी टोलीमें शामिल करनेका हौसला रखता था, सो अबसे, उसके बजाय खुद अन्नाहारी रहकर औरोंको भी ऐसा बनानेकी धुन मेरे सिरपर सवार हुई।

१५

'सभ्य' वेशमें

अन्नाहारपर मेरी श्रद्धा दिन-दिन बढ़ती गई। सॉल्टकी पुस्तकने आहार-विषयपर अधिक पुस्तकें पढ़नेकी उत्सुकता तीव्र कर दी। ऐसी जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं उतनी खरीदीं और पढ़ीं। हावर्ड विलियम्सकी 'आहार-नीति' नामक पुस्तकमें भिन्न-भिन्न युगके ज्ञानियों, अवतारों, पैगंबरोंके आहारका और उससे संबंध रखनेवाले उनके विचारोंका वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसामसीह इत्यादिको उसने महज अन्नाहारी साबित करनेकी कोशिश की है। डाक्टर मिसेज एना किंग्सफर्डकी 'उत्तम आहारकी रीति' नामक पुस्तक भी चित्ताकर्षक थी। फिर आरोग्य-संबंधी डा. एलिन्सनके लेख भी ठीक मददगार

साबित हुए। उनमें इस पद्धतिका समर्थन किया गया था कि दवा देनेके बजाय केवल भोजनमें फेरफार करनेसे रोगी कैसे अच्छे हो जाते हैं। डाक्टर एलिन्सन खुद अन्नाहारी थे और रोगियोंको केवल अन्नाहार ही बताते। इन तमाम पुस्तकोंके पठनका यह परिणाम हुआ कि मेरी जिंदगीमें भोजनके प्रयोगोंने महत्त्वका स्थान प्राप्त कर लिया। शुरूमें इन प्रयोगोंमें आरोग्यकी दृष्टिकी प्रधानता थी। पीछे चलकर धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि हो गई।

अबतक मेरे उन मित्रकी चिंता मेरी तरफसे दूर न हुई थी। प्रेमके वशवर्ती होकर वह यह मान बैठे थे कि यदि मैं मांसाहार न करूंगा तो कमजोर हो जाऊंगा, यही नहीं बल्कि बुद्धू बना रह जाऊंगा; क्योंकि अंग्रेज-समाजमें मैं मिल-जुल न सकूंगा। उन्हें मेरे अन्नाहार-संबंधी पुस्तकोंके पढ़नेकी खबर थी। उन्हें यह भय हुआ कि ऐसी पुस्तकोंको पढ़नेसे मेरा दिमाग खराब हो जायगा, प्रयोगोंमें मेरी जिन्दगी यों ही बरबाद हो जायगी, जो मुझे करना है वह एक तरफ रह जायगा और मैं सनकी बनकर बैठ जाऊंगा। इस कारण उन्होंने मुझे सुधारनेका आखिरी प्रयत्न किया। मुझे एक नाटकमें चलने को बुलाया। वहां जानेके पहले उनके साथ हॉबर्न भोजनालयमें भोजन करना था। वह भोजनालय क्या, मेरे लिए खासा एक महल था। विक्टोरिया होटलको छोड़नेके बाद ऐसे भोजनालयमें जानेका यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटलका अनुभव तो यों ही था, क्योंकि उस समय तो मैं कर्तव्य-मूढ़ था। अस्तु, सैकड़ों लोगोंके बीच हम दो मित्रोंने एक मेजपर आसन जमाया। मित्रने पहला खाना मंगाया। वह 'सूप' या शोरवा होता है। मैं दुविधामें पड़ा। मित्रसे क्या पूछता? मैंने परोसनेवालेको नजदीक बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर बोले—"क्या मामला है?"

मैंने धीमेसे संकोचके साथ कहा—"मैं जानना चाहता हूं कि इसमें मांस है या नहीं?"

"ऐसा जंगलीपन इस भोजनालयमें नहीं चल सकता। यदि तुमको अब भी यह चख-चख करनी हो तो बाहर जाकर किसी ऐरे-गैरे भोजनालयमें खालो और वहीं बाहर मेरी राह देखो।"

मुझे उस प्रस्तावसे बड़ी खुशी हुई; और मैं तुरंत दूसरे भोजनालयकी

खोजमें चला। पास ही एक अन्नाहारवाला भोजनालय था तो, पर वह बंद हो गया था। तब क्या करना चाहिए ? कुछ न सूझ पड़ा। अंतको भूखा ही रहा। हम लोग नाटक देखने गये। पर मित्रने उस घटनाके बारेमें एक शब्दतक न कहा। मुझे तो कुछ कहना ही क्या था ?

परंतु हमारे दरमियान यह आखिरी मित्र-युद्ध था। इससे हमारा संबंध न तो टूटा, न उसमें कटुता ही आई। मैं उनके तमाम प्रयत्नोंके मूलमें उनके प्रेमको देख रहा था, इससे विचार और आचारकी भिन्नता रहते हुए भी मेरा आदर उनके प्रति बढ़ा, घटा रत्तीभर नहीं।

पर अब मेरे मनमें यह आया कि मुझे उनकी भीति दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं अपनेको जंगली न कहलाने दूंगा, सभ्योंके लक्षण प्राप्त करूंगा और दूसरे उपायोंसे समाजमें सम्मिलित होनेके योग्य बनकर अपनी अन्ना-हार की विचित्रताको ढक लूंगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखनेका रास्ता इख्तियार तो किया; पर वह था मेरी पहुंचके परे और बहुत संकड़ा। अस्तु।

मेरे कपड़े थे तो विलायती; परंतु बंबईकी काट के थे। अतएव वे अच्छे अंग्रेजी समाजमें न फबेंगे, इस विचारसे 'आर्मी और नेवी स्टोर' में दूसरे कपड़े बनवाये। उन्नीस शिलिंगकी (यह दाम उस जमानेमें बहुत था) 'चिम्नी' टोपी लाया। इससे भी संतोष न हुआ। बांड स्ट्रीटमें शौकीन लोगोंके कपड़े सिये जाते थे। यहां शामके कपड़े दस पौंडपर बत्ती रखकर, बनवाये। अपने भोले और दरियादिल बड़े भाईसे खास तौरपर सोनेकी चेन बनवाकर मंगवाई, जो दोनों जेबोंमें लटकाई जा सकती थी। बंधी-बंधाई तैयार टाई पहननेका रिवाज न था। इसलिए टाई बांधनेकी कला सीखी। देशमें तो आइना सिर्फ बाल बनवानेके दिन देखते हैं, पर यहां तो बड़े आइनेके सामने खड़े रहकर टाई ठीक-ठीक बांधनेमें और बालकी पट्टियां पाड़ने और ठीक-ठीक मांग निकालनेमें रोज दसेक मिनट बरबाद होते। फिर बाल मुलायम न थे। उन्हें ठीक-ठीक संवारे रखनेके लिए ब्रुश (यानी झाड़ू ही न ?) के साथ रोज लड़ाई होती। और टोपी देते और उतारते हाथ तो मानो मांग-संवारेके लिए सिरपर चढ़े रहते और बीच-बीचमें जब कभी समाजमें बैठे हों तब मांगपर हाथ फेरकर बालोंको संवारते

रहनेकी एक और सभ्य क्रिया होती रहती थी, सो अलग।

परंतु इतनी तड़क-भड़क काफी न थी। अकेले सभ्य लिबास पहन लेनेसे थोड़े ही कोई सभ्य हो जाता है ? इसलिए सभ्यताके और भी कितने ही ऊपरी लक्षण जान लिये थे। अब उनके अनुसार करना बाकी था। सभ्य पुरुषको नाचना आना चाहिए; फिर फ्रेंच भाषा ठीक-ठीक जानना चाहिए। क्योंकि फ्रेंच एक तो इंग्लैंडके पड़ोसी फ्रांसकी भाषा थी, और दूसरे सारे यूरोपको राष्ट्र-भाषा भी थी। मुझे यूरोप-भ्रमण करनेकी इच्छा थी। फिर सभ्य पुरुषको लच्छेदार व्याख्यान देनेकी कलामें भी निपुण होना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेनेका निश्चय किया। नाचनेके एक विद्यालयमें भरती हुआ। एक सत्रकी फीस कोई तीनेक पौंड दी होगी। कोई तीन सप्ताहमें पांच-छः पाठ पढ़े होंगे। पर ठीक-ठीक तालपर पांव नहीं पड़ता था। पियानो तो बजता था, पर यह न जान पड़ता था कि यह क्या कह रहा है, 'एक, दो, तीन' का क्रम चलता, पर इनके बीचका अंतर तो वह बाजा ही दिखाता था, सो कुछ समझ न पड़ता। तो अब ? अब तो बाबाजीकी लंगोटीवाला किस्सा हुआ। लंगोटीको चूहोंसे बचानेके लिए बिल्ली, और बिल्लीके लिए बकरी——इस तरह बाबाजीका परिवार बढ़ा। सोचा, वायोलिन बजाना सीखलूं तो सुर और तालका ज्ञान हो जावेगा। तीन पौंड वायोलिन खरीदनेमें बिगड़े और उसे सीखनेके लिए भी कुछ दक्षिणा दी। व्याख्यान-कला सीखनेके लिए एक और शिक्षकका घर खोजा। उसे भी एक गिन्नी भेंट की। उसकी प्रेरणासे 'स्टैंडर्ड एलोक्युशनिस्ट' खरीदा। पिटके भाषणसे श्रीगणेश हुआ।

पर, इन बेल साहबने मेरे कानमें 'बेल' (घंटा) बजाया। मैं जगा, सचेत हुआ।

मैंने कहा, "मुझे सारी जिंदगी तो इंग्लैंडमें बिताना है नहीं; लच्छेदार व्याख्यान देना सीखकर भी क्या करूंगा ? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूंगा ? वायोलिन तो देशमें भी सीख सकता हूं। फिर मैं तो ठहरा विद्यार्थी। मुझे तो विद्या-धन बढ़ाना चाहिए; मुझे अपने पेशेके लिए आवश्यक तैयारी करनी चाहिए; अपने सद्व्यवहारके द्वारा यदि मैं सभ्य समझा जाऊं तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।"

इस विचारकी धुनमें पूर्वोक्त आशयका पत्र मैंने व्याख्यान-शिक्षकको भेज दिया। उससे मैंने दो या तीन पाठ पढ़े थे। नाच-शिक्षिकाको भी ऐसा ही पत्र लिख दिया। वायोलिन-शिक्षिकाके यहां वायोलिन लेकर पहुंचा और उसे कह आया कि जो दाम मिले लेकर बेच दो। उससे कुछ मित्रता-सी हो गई थी, इसलिए उससे मैंने अपनी बेवकूफीका जिक्र भी कर दिया। नाच इत्यादिके जंजालसे छूट जानेकी बात उसे भी पसंद हुई। खैर।

सभ्य बननेकी मेरी यह सनक तो कोई तीन महीने चली होगी, किंतु कपड़ों-की तड़क-भड़क बरसोंतक चलती रही। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया था।

१६

परिवर्त्तन

कोई यह न समझे कि नाच आदिके मेरे प्रयोग मेरी उच्छृंखलताके युगको सूचित करते है। पाठकोंने देखा ही होगा कि उसमें कुछ विचारका अंश था। इस मूर्च्छाके समयमें भी कुछ अंशतक मैं सावधान था। एक-एक पाईका हिसाब रखता। खर्चका अंदाजा था। यह निश्चय कर लिया था कि १५ पौंड प्रति माससे अधिक खर्च न हो। बस (मोटर) किराया और डाकखर्च भी हमेशा लिखता और सोनेके पहले हमेशा हिसाबका मेल मिला लेता। यह टेव अंततक कायम रही; और मैंने देखा कि उसके बदौलत सार्वजनिक कार्योंमें मेरे हाथसे जो लाखों रुपये खर्च हुए उनमें मैं किफायतसे काम ले सकता हूं, और जितनी हलचलें मेरी देख-रेखमें चली हैं उनमें मुझे कर्ज नहीं करना पड़ा। उलटा हरेकमें कुछ-न-कुछ बचत ही रही है। यदि हरेक नवयुवक अपने थोड़े रुपयोंका भी हिसाब चिंताके साथ रक्खेगा, तो उसका लाभ उसे अवश्य मिलेगा, जैसा कि मेरी इस आदतके कारण आगे चलकर मुझे और समाज दोनोंको मिला।

अपनी रहन-सहनपर मेरी कड़ी नजर थी। इसलिए मैं देख सकता था कि मुझे कितना खर्च करना चाहिए। अब मैंने खर्च आधा कर डालनेका विचार किया। हिसाबको गौरसे देखा तो मालूम हुआ कि गाड़ी-भाड़ेका खर्च काफी बैठता था। फिर एक कुटुंबके साथ रहनेके कारण कुछ-न-कुछ खर्च प्रति सप्ताह लग

ही जाता। कुटुंबके लोगोंको एक-न-एक दिन भोजनके लिए बाहर ले जानेके शिष्टाचारका पालन करना जरूरी था। फिर उनके साथ कई बार दावतोंमें जाना पड़ता और उसमें गाड़ी-भाड़ा लगता ही। मालकिन की लड़की यदि साथ हो, तो उसको अपना खर्च न देने देकर खुद ही देना उचित था। और दावतमें बाहर जानेपर घर खाना न होता; उसके भी पैसे देने पड़ते और बाहर भी खर्च करना पड़ता। मैंने देखा कि यह खर्च बचाया जा सकता है; और यह भी ध्यानमें आया कि लोक-लाजसे जो कितना ही खर्च करना पड़ता है वह भी बच सकता है।

अब कुटुंबके साथ रहना छोड़कर अलग कमरा लेकर रहनेका निश्चय किया, और यह भी तय किया कि कामके अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करनेके लिए अलग-अलग मुहल्लोंमें घर लेने चाहिए। घर ऐसी जगह पसंद किया कि जहांसे कामके स्थानपर पैदल जा सकें और गाड़ी-भाड़ा बच जाय। इससे पहले जानेके लिए एक तो गाड़ी-भाड़ा खरचना पड़ता और, दूसरे, घूमने जानेके लिए अलग वक्त निकालना पड़ता। अब ऐसी तजवीज की गई कि जिससे कामपर जानेके साथ ही घूमना भी हो जाया करता। आठ-दस मील तो मैं सहज घूम-फिर डालता। प्रधानतः इसी एक आदतके कारण मैं विलायतमें शायद ही बीमार पड़ा होऊं। शरीर ठीक-ठीक सुगठित हुआ। कुटुंबके साथ रहना छोड़ कर दो कमरे किरायेपर लिये, एक सोनेके लिए और एक बैठनेके लिए। इस परिवर्त्तनको दूसरा युग कह सकते हैं। तीसरा परिवर्त्तन अभी आगे आने वाला था।

इस तरह आधा खर्च बचा। पर समय? मैं जानता था कि बैरिस्टरी-परीक्षाके लिए बहुत पढ़नेकी जरूरत नहीं है। इसलिए मैं बेफिकर था। मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे खला करती थी। लेली साहबके शब्द बी० ए० होकर मेरे पास आना, मुझे चुभा करते थे। इसलिए मैंने सोचा, बैरिस्टर होनेके अतिरिक्त मुझे कुछ और अध्ययन भी करना चाहिए। आक्सफर्ड, केंब्रिजमें पता लगाया। कितने ही मित्रोंसे मिला। देखा कि वहां जानेसे खर्च बहुत पड़ेगा और पाठ्य-क्रम भी लंबा है। मैं तीन वर्षसे ज्यादा वहां रह नहीं सकता था। किसी मित्रने कहा, "यदि तुम कोई कठिन परीक्षा ही देना चाहते हो तो लंदनकी प्रवेश-परीक्षा पास कर लो। उसमें परिश्रम काफी करना पड़ेगा और सामान्य ज्ञान भी बढ़ जायगा।

साथ ही खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा।" यह बात मुझे पसंद हुई। पर परीक्षाके विषय देखकर मेरे कान खड़े हुए। लैटिन और एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। अब लैटिनकी तैयारी कैसे हो? पर मित्रने सुझाया, "वकीलको लैटिनका बड़ा काम पड़ता है। लैटिन जाननेवालेको कानूनकी पुस्तकें समझने में सहूलियत होती है। फिर रोमन लॉकी परीक्षामें एक प्रश्न-पत्र तो केवल लैटिन भाषाका ही होता है, और लैटिन जान लेनेसे अंग्रेजी भाषापर ज्यादा अधिकार हो जाता है।" इन बातोंका असर मेरे दिलपर हुआ। चाहे मुश्किल भले ही हो, पर लैटिन जरूर सीखना चाहिए। फ्रेंच जो शुरू की थी उसे भी पूरा करना चाहिए। अतः दूसरी भाषा फ्रेंच लेनेका निश्चय किया। एक खानगी मैट्रिक्युलेशन क्लास खुला था, उसमें भरती हुआ। परीक्षा हर छठे महीने होती। मुश्किलसे पांच महीनेका समय मिला था। यह काम मेरे बूतेके बाहर था, किंतु परिणाम यह हुआ कि सभ्य बननेकी धुनमें मैं अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। टाइम-टेबल बनाया। एक-एक मिनट बचाया। परंतु मेरी बुद्धि और स्मरण-शक्ति ऐसी न थी कि दूसरे विषयोंके उपरांत लैटिन और फ्रेंचको भी सम्हाल सकता। परीक्षा दी, पर लैटिनमें फेल हुआ, इससे दुःख तो हुआ, पर हिम्मत न हारा। इधर लैटिनका स्वाद लग गया था। सोचा कि फ्रेंच ज्यादा अच्छी हो जायगी और विज्ञानमें नया विषय ले लूंगा। रसायनशास्त्र, जिसमें मैं अब देखता हूं कि खूब मन लगना चाहिए, प्रयोगोंके अभावमें, मुझे अच्छा ही न लगा। देशमें यह विषय मेरे पाठ्यक्रममें रहा ही था। इसलिए लंदन-मैट्रिकके लिए भी पहली बार इसीको पसंद किया था। इस बार 'प्रकाश और उष्णता' (Light & Heat) को लिया। यह विषय आसान समझा जाता था और मुझे भी आसान ही मालूम हुआ।

फिर परीक्षा देनेकी तैयारीके साथ ही रहन-सहनमें और भी सादगी दाखिल करनेकी कोशिश की। मुझे लगा कि अभी मेरे जीवनमें इतनी सादगी नहीं आ गई है, जो मेरे खानदानकी गरीबीको शोभा दे। भाई साहबकी तंगदस्ती और उदारताका खयाल आते ही मुझे बड़ा दुःख होता। जो १५ पौंड और ८ पौंड प्रति मास खरचते थे उन्हें तो छात्रवृत्ति मिलती थी। मुझसे अधिक सादगीसे रहनेवालोंको भी मैं देखता था। ऐसे गरीब विद्यार्थी काफी तादादमें मेरे संपर्क में आते थे। एक विद्यार्थी लंदनके गरीब मुहल्लेमें प्रति सप्ताह दो शिलिंग देकर

एक कोठरीमें रहता था, और लोकार्टकी सस्ती कोकोकी दूकानमें दो पेनीका कोको और रोटी खाकर गुजारा करता था। उसकी प्रतिस्पर्द्धा करनेकी तो मेरी हिम्मत न हुई; पर इतना जरूर समझा कि मैं दोकी जगह एक ही कमरेसे काम चला सकता हूं और आधी रसोई हाथसे भी पका सकता हूं। ऐसा करनेपर ४ या ५ पौंड मासिकपर रह सकता था। सादी रहन-सहन संबंधी पुस्तकें भी पढ़ी थीं। दो कमरे छोड़कर ८ शिलिंग प्रति सप्ताहका एक कमरा किरायेपर लिया। एक स्टोव खरीदा और सुबह हाथसे पकाने लगा। २० मिनटसे अधिक पकानेमें नहीं लगता था। ओट-मीलकी लपसी और कोकोके लिए पानी उबालने में कितना समय जा सकता था? दोपहरको बाहर कहीं खा लिया करता और शामको फिर कोको तैयार करके रोटीके साथ खा लिया करता। इस तरह मैं रोज एकसे सवा शिलिंगमें भोजन करने लगा। मेरा यह समय अधिक-से-अधिक पढ़ाईका था। जीवन सादा हो जानेसे समय ज्यादा बचने लगा। दुबारा परीक्षा दी और उत्तीर्ण हुआ।

पाठक यह न समझें कि सादगीसे जीवन नीरस हो गया हो। उलटा इन परिवर्त्तनोंसे मेरी आंतरिक और बाह्य स्थितिमें एकता पैदा हुई। कौटुंबिक स्थितिके साथ मेरी रहन-सहनका मेल मिला। जीवन अधिक सारमय बना। मेरे आत्मानंदका पार न रहा।

१७

भोजनके प्रयोग

जैसे-जैसे मैं जीवनके विषयमें गहरा विचार करता गया तैसे-तैसे बाहरी और भीतरी आचारमें परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता मालूम होती गई। जिस गतिसे रहन-सहनमें अथवा खर्च-वर्चमें परिवर्त्तन आरंभ हुआ, उसी गतिसे अथवा उससे भी अधिक वेगसे भोजनमें परिवर्त्तन प्रारंभ हुआ। अन्नाहार-विषयकी अंग्रेजी पुस्तकोंमें मैंने देखा कि लेखकोंने बड़ी छान-बीनके साथ विचार किया है। अन्नाहारपर उन्होंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यककी दृष्टिसे विचार किया था। नैतिक दृष्टिसे उन्होंने यह दिखाया कि मनुष्यको जो सत्ता पशु-पक्षीपर प्राप्त हुई है वह उनको मार खानेके लिए नहीं, बल्कि उनकी रक्षाके

लिए है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरेका उपयोग करता है परंतु एक-दूसरेको खाता नहीं, उसी प्रकार पशु-पक्षी भी ऐसे उपयोगके लिए हैं, खा डालनेके लिए नहीं। फिर उन्होंने यह भी दिखाया कि खाना भी भोगके लिए नहीं, बल्कि जीनेके लिए ही है। इसपरसे कुछ लोगोंने भोजनमे मांस ही नहीं, अंडे और दूधतकको निषिद्ध बताया और खुद भी परहेज किया। विज्ञानकी तथा मनुष्यकी शरीर-रचनाकी दृष्टिसे कुछ लोगोंने यह अनुमान निकाला कि मनुष्यको खाना पकानेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं। उसकी सृष्टि तो सिर्फ डाल-पके फलोंको ही खानेके लिए हुई है। दूध पिये भी तो वह सिर्फ माताका ही। दांत निकलनेके बाद उसे ऐसा ही खाना खाना चाहिए, जो चबाया जा सके। वैद्यकी दृष्टिसे उन्होंने मिर्च-मसालेको त्याज्य ठहराया और व्यावहारिक तथा आर्थिक दृष्टिसे बताया कि सस्ते-से-सस्ता भोजन अन्न ही है। इन चारों दृष्टि-बिंदुओंका असर मुझपर हुआ और अन्नाहारवाले भोजनालयोंमें चारों दृष्टि-बिंदु रखनेवाले लोगोंसे मेल-मुलाकात बढ़ाने लगा। विलायतमे ऐसे विचार रखनेवालोंकी एक संस्था थी। उसकी ओरसे एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। मैं उसका ग्राहक बना और संस्थाका भी सभासद हुआ। थोड़े ही समयमें मैं उसकी कमेटीमें ले लिया गया। यहां मेरा उन लोगोंसे परिचय हुआ, जो अन्नाहारियोंके स्तंभ माने जाते हैं। अब मैं अपने भोजन-संबंधी प्रयोगोंमें निमग्न होता गया।

घरसे जो मिठाई, मसाले आदि मंगाये थे उन्हें मना कर दिया और अब मन दूसरी ही तरफ दौड़ने लगा। इससे मिर्च-मसालेका शौक मंद पड़ता गया और जो साग रिचमंडमें मसाले बिना फीका मालूम होता था वह अब केवल उबाला हुआ होनेपर भी स्वादिष्ट लगने लगा। ऐसे अनेक अनुभवोंसे मैंने जाना कि स्वादका सच्चा स्थान जीभ नहीं, बल्कि मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उस समय एक ऐसा दल भी था, जो चाय-कॉफीको हानिकारक मानता और कोकोका समर्थन करता। केवल शरीर-व्यापारके लिए जो चीज जरूरी है उसीको खाना चाहिए यह मैं समझ चुका था। इसीलिए चाय-कॉफी मुख्यतः छोड़ दी और कोकोको उनका स्थान दिया।

भोजनालयमें दो विभाग थे। एकमें जितनी चीज खाते उतने ही दाम

देने पड़ते। इसमें एक बारमें एक-दो शिलिंग भी खर्च हो जाते। इसमें अच्छी स्थितिके लोग आते। दूसरे विभागमें छः पेनीमें तीन चीजें और डबल रोटीका एक टुकड़ा मिलता। जब मैंने खूब किफायतशारी इख्तियार की तब ज्यादातर मैं छः पेनीवाले विभागमें भोजन करता।

इन प्रयोगोंमें उप-प्रयोग तो बहुतेरे हो गये। कभी स्टार्चवाली चीजें छोड़ देता। कभी सिर्फ रोटी और फलपर ही रहता। कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेता।

यह आखिरी प्रयोग लिखने लायक है। यह पंद्रह दिन भी न चला। जो बिना स्टार्चकी चीजें खानेका समर्थन करते थे, उन्होंने अंडोंकी तारीफके खूब पुल बांधे थे और यह साबित किया था कि अंडे मांस नहीं हैं। हां, इतनी बात तो थी कि अंडे खानेसे किसी जीवित प्राणीको कष्ट नही होता था। सो इस दलीलके चक्करमें आकर अपनी प्रतिज्ञाके रहते हुए भी मैंने अंडे खाये। पर मेरी यह मूर्च्छा थोड़ी ही देर ठहरी। प्रतिज्ञाका नया अर्थ करनेका मुझे अधिकार न था। अर्थ तो वही ठीक है, जो प्रतिज्ञा दिलानेवाला करे। मैं जानता था कि जिस समय मांने मांस न खानेकी प्रतिज्ञा दिलाई थी, उस समय उसे यह खयाल नहीं हो सकता था कि अंडा मांससे अलग समझा जा सकेगा। इसलिए ज्योंही प्रतिज्ञाका यह रहस्य मेरे ध्यानमें आया मैंने अंडे छोड़ दिये और यह प्रयोग बंद कर दिया।

यह रहस्य सूक्ष्म और ध्यानमें रखने योग्य है। विलायतमें मैंने मांसकी तीन व्याख्यायें पढ़ी थीं। एकमें मांसका अर्थ था पशु-पक्षीका मांस। इसलिए इस व्याख्याके कायल लोग उसको तो न छूते, परंतु मछली खाते और अंडे तो खाते ही। दूसरी व्याख्याके अनुसार जिन्हें आमतौरपर प्राणी या जीव कहते थे उनका मांस वर्जित था। इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, परंतु अंडे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्यामें आमतौरपर प्राणीमात्र और उनमेंसे बननेवाली चीजें निषिद्ध मानी गई थीं। इस व्याख्याके अनुसार अंडे और दूध भी छोड़ देना लाजिमी था। इसमें यदि पहली व्याख्याको मैं मानता तो मैं मछली भी खा सकता था। परंतु मैंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मेरे लिए तो माताजीकी व्याख्या ही ठीक थी। इसलिए यदि मुझे उनके सामने की गई प्रतिज्ञाका पालन करना हो तो मैं अंडे नहीं ले सकता था। इसलिए अंडे छोड़ दिये, पर इससे कठिनाईमें पड़ गया, क्योंकि

बारीकीसे जब मैंने खोज की तो पता लगा कि अन्नाहारवाले भोजनालयोंमें भी बहुत-सी चीजें ऐसी बना करती थीं, जिनमें अंडे पड़ा करते थे। फलतः यहां भी परोसने-वालेसे पूछ-ताछ करना मेरे नसीबमें बदा रहा, जबतक कि मैं खूब वाकिफ न हो गया था; क्योंकि बहुतेरे पुडिंग और केकमें अंडे जरूर ही रहते हैं। इस कारण एक तरहसे तो मैं जंजालसे छूट गया; क्योंकि फिर तो मैं बिलकुल सादी और मामूली चीजें ही ले सकता था। हां, दूसरी तरफ दिलको कुछ धक्का अलबत्ता लगा, क्योंकि ऐसी कितनी ही वस्तुएं छोड़नी पड़ीं, जिनका स्वाद जीभको लग गया था। पर यह धक्का क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालनका स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वादसे अधिक प्रिय मालूम हुआ।

परंतु सच्ची परीक्षा तो अभी आगे आनेवाली थी, उसका संबंध था दूसरे व्रतसे। परंतु--

'जाको राखे साइयां मार सके ना कोय'।

इस प्रकरणको पूरा करने के पहले प्रतिज्ञाके अर्थके संबंधमें कुछ कहना जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा मातासे किया हुआ एक इकरार था। दुनियामें बहुतेरे झगड़े इकरारोंके अर्थकी खींचातानीसे पैदा होते है। आप चाहे कितनी ही स्पष्ट भाषामें इकरारनामा लिखिए, फिर भी भाषा-शास्त्री उसे तोड़-मरोड़कर अपने मतलबका अर्थ निकाल ही लेंगे। इसमें सभ्यासभ्यका भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अंधा बना डालता है। राजासे लेकर रंकतक इकरारोके अर्थ अपने मनके मुआफिक लगाकर दुनियाको, अपनेको और ईश्वरको धोखा देते है। इस प्रकार जिस शब्द अथवा वाक्यका अर्थ लोग अपने मतलबका लगाते है उसे न्यायाशास्त्र 'द्विअर्थी मध्यमपद' कहता है। ऐसी दशामें स्वर्ण-न्याय तो यह है कि प्रतिपक्षीने हमारी बातका जो अर्थ समझा हो वही ठीक समझना चाहिए, हमारे मनमें जो अर्थ रहा हो वह झूठा और अधूरा समझना चाहिए। और ऐसा दूसरा स्वर्ण-न्याय यह है कि जहां दो अर्थ निकलते हों वहां वह अर्थ ठीक मानना चाहिए, जिसे कमजोर पक्ष ठीक समझता हो। इन दो स्वर्ण-मार्गोंपर न चलनेके कारण ही बहुत-कुछ झगड़े होते हैं और अधर्म चला करता है। और इस अन्यायकी जड़ है असत्य। जो सत्यके ही रास्ते चलना चाहता है, उसे स्वर्ण-मार्ग सहज ही प्राप्त हो जाता है। उसे शास्त्रोंकी पोथियां नहीं उलटनी पड़तीं। माताजीने मांस

शब्दका जो अर्थ माना था और जो मै उस समय समझता था, वही मेरे लिए सच्चा अर्थ था। और जो अर्थ मैंने अपनी विद्वत्ताके मदमें किया अथवा यह मान लिया कि अधिक अनुभवसे सीखा, वह सच्चा न था।

अबतक मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्यकी दृष्टिसे होते थे। विलायतमें उन्हें धार्मिक स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। धार्मिक दृष्टिसे तो कठोर प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में हुए, जिनका जिक्र आगे आयेगा। पर हां, यह जरूर कह सकते हैं कि उनका बीजारोपण विलायतमें हुआ।

मसल मशहूर है कि 'नया मुसलमान जोरसे बांग देता है।' अन्नाहार विलायतमें एक नया धर्म ही था, और मेरे लिए तो वह नया था ही। क्योंकि बुद्धिसे मांसाहारका हिमायती बननेके बाद ही मैं विलायत गया था। समझ-बूझकर अन्नाहार तो मैंने विलायतमें ही स्वीकार किया था। इसलिए मेरी हालत 'नये मुसलमान'की-सी थी। नवीन धर्मको ग्रहण करनेवालेका उत्साह मुझमें आ गया था, अतएव जिस मुहल्लेमें मैं रहता था वहां अन्नाहारी-मंडल स्थापित करनेका प्रस्ताव मैंने किया। मुहल्लेका नाम था 'बेज़-वाटर'। उसमें सर एडविन एर्नाल्ड रहते थे। उन्हें उपाध्यक्ष बनानेका यत्न किया और वह हो भी गये। डाक्टर ओल्डफील्ड अध्यक्ष बनाये गये, और मंत्री बना मैं। थोड़े समय तो वह संस्था कुछ चली; परंतु कुछ महीनोंके बाद उसका अंत आ गया। क्योंकि अपने दस्तूरके मुताबिक उस मुहल्लेको कुछ समयके बाद मैंने छोड़ दिया। परंतु इस छोटे और थोड़े समयके अनुभवसे मुझे संस्थाओंकी रचना और संचालनका कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

१८

झेंप—मेरी ढाल

अन्नाहारी-मंडलकी कार्य-समितिमें मैं चुना तो जरूर गया, उसमें हर समय हाजिर भी जरूर होता; परंतु बोलनेको मुंह ही न खुलता था। डाक्टर ओल्डफील्ड कहते—"तुम मेरे साथ तो अच्छी तरह बातें करते हो; परंतु समितिकी बैठकमें कभी मुंह नहीं खोलते। तुम्हें 'नर-मक्खी' क्यों न कहना चाहिए?" मैं इस विनोदका भाव समझा। मक्खियां तो निरंतर काम करती रहती हैं;

परंतु नर-मक्खी कुछ काम नहीं करता— हां, खाता-पीता अलबत्ता रहता है। समितिमें और लोग तो अपने-अपने मत प्रदर्शित करते; पर मैं मुंह सींकर चुपचाप बैठा रहूं— यह भद्दा मालूम होता था। यह बात नहीं कि बोलनेके लिए मेरा दिल न होता, पर समझ ही नहीं पड़ता कि बोलूं कैसे ? सभी सदस्य मुझे अपनेसे अधिक जानकार दिखाई देते। फिर ऐसा भी होता कि कोई विषय मुझे बोलने योग्य मालूम हुआ और मैं बोलनेकी हिम्मत करने लगता कि इतनेमें ही दूसरा विषय चल निकलता।

बहुत दिनोंतक ऐसा चलता रहा। एक बार समितिमें एक गंभीर विषय निकला। उसमें योग न देना मुझे अनुचित या अन्याय जैसा लगा। चुपचाप मत देकर खामोश हो रहना दब्बूपन मालूम हुआ। मंडलके अध्यक्ष 'टेम्स आयर्न वर्क्स' के मालिक मिस्टर हिल्स थे। वह कट्टर नीतिवादी थे। प्रायः उन्हींके द्रव्यपर मंडल चल रहा था। समितिके बहुतेरे लोग उन्हींकी छत्रछायामें निभ रहे थे। इस समितिमें डाक्टर एलिन्सन भी थे। इन दिनों संतति-निग्रहके लिए कृत्रिम उपाय काममें लानेकी हलचल चल रही थी। डा० एलिन्सन कृत्रिम उपायोंके हामी थे और मजदूरोंमें उनका प्रचार करते थे। मि० हिल्सको ये उपाय नीति-नाशक मालूम होते थे। उनके नजदीक अन्नाहारी-मंडल केवल भोजन सुधारके ही लिए नहीं था, बल्कि एक नीति-वर्धक मंडल भी था, और इस कारण उनकी यह राय थी कि डा० एलिन्सन जैसे समाज-घातक विचार रखनेवाले लोग इस मंडलमें न होने चाहिएं। इसलिए डा० एलिन्सनको समितिसे हटानेका प्रस्ताव पेश हुआ। मैं इस चर्चामें दिलचस्पी लेता था। डा० एलिन्सनके कृत्रिम उपायोंवाले विचार मुझे भयंकर मालूम हुए। उनके मुकाबलेमें मि० हिल्सके विरोधको मैं शुद्ध नीति मानता था। मि० हिल्सको मैं बहुत मानता था। उनकी उदारताको मैं आदरकी दृष्टिसे देखता था। परंतु एक अन्नाहार-वर्धक-मंडलमेंसे एक ऐसे पुरुष का निकाला जाना जो कि शुद्ध नीतिका कायल न हो, मुझे बिलकुल अन्याय दिखाई पड़ा। मेरा मत हुआ कि स्त्री-पुरुष-संबंध-विषयक हिल्स साहबके विचारोंसे अन्नाहारी-मंडलके सिद्धांतका कोई संबंध न था, वे उनके अपने विचार थे। मंडलका उद्देश्य तो था केवल अन्नाहारका प्रचार करना, किसी नीति-नियमका प्रचार नहीं। इसलिए मेरा यह मत था कि दूसरे कितने ही नीति-नियमोंका

अनादर करनेवाले मनुष्यके लिए भी मंडलमें स्थान हो सकता है ।

यद्यपि समितिमें और लोग भी मुझ जैसे विचार रखते थे, परंतु इस बार मुझे अपने विचार प्रदर्शित करने की भीतर-ही-भीतर तीव्र प्रेरणा हो रही थी। मगर सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि यह हो कैसे ? बोलनेकी मेरी हिम्मत नहीं थी। इसलिए मैंने अपने विचार लिखकर अध्यक्षको दे देनेका निश्चय किया। मैं अपना वक्तव्य लिखकर ले गया। जहांतक मुझे याद है, उस समय लेखको पढ़-सुनानेका भी साहस मुझे न हुआ। अध्यक्षने दूसरे सदस्यसे उसे पढ़वाया। अंतको डा० एलिन्सनका पक्ष हारा। अर्थात् इस तरहके इस पहले युद्धमें मैं हारनेवालोंकी तरफ था। परंतु मुझे इस बातसे अपने दिलमें पूरा संतोष था कि उनका पक्ष था सच्चा। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि उसके बाद मैंने समितिसे इस्तीफा दे दिया था ।

मेरी यह झेंप विलायतमें अंततक कायम रही। किसीसे यदि मिलने जाता और वहां पांच-सात आदमी इकट्ठे हो जाते, तो वहां मेरी जबान न खुलती।

एक बार मैं वेंटनर गया। मजूमदार भी साथ थे। वहां एक अन्नाहारी घर था, उसमें हम दोनों रहते। 'एथिक्स आव डायट' के लेखक इसी बंदरमें रहते थे। हम उनसे मिले। यहां अन्नाहारको उत्तेजन देनेके लिए एक सभा हुई। उसमें हम दोनोंको बोलनेके लिए कहा गया। दोनोंने 'हां' कर लिया। मैंने यह जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढ़नेमें वहां कोई आपत्ति न थी। मैं देखता था कि अपने विचारोंको सिलसिलेवार और थोड़ेमें प्रकट करनेके लिए कितने ही लोग लिखित भाषण पढ़ते थे। मैंने अपना व्याख्यान लिख लिया। बोलनेकी हिम्मत नहीं थी, पर जब पढ़ने खड़ा हुआ तो बिलकुल न पढ़ सका। आंखोंके सामने अंधेरा छा गया और हाथ-पैर कांपने लगे। भाषण मुश्किलसे फुलस्केपका एक पन्ना रहा होगा। उसे मजूमदारने पढ़ सुनाया। मजूमदारका भाषण तो बढ़िया हुआ, श्रोतागण करतल-ध्वनिसे उनके वचनोंका स्वागत करते जाते थे। इससे मुझे बड़ी शर्म मालूम हुई और अपने बोलनेकी अक्षमतापर बड़ा दुःख हुआ ।

विलायतमें सार्वजनिक रूपमें बोलनेका अंतिम प्रयत्न मुझे तब करना पड़ा, जबकि विलायत छोड़नेका अवसर आया, परंतु उसमें मेरी बुरी तरह फजीहत

हुई। विलायतसे विदा होनेके पहले अन्नाहारी मित्रोंको हॉबर्न भोजनालयमें मैंने भोजनके लिए निमंत्रित किया था। मैंने विचार किया कि अन्नाहारी भोजनालयोंमें तो अन्नाहार दिया ही जाता है; परंतु मांसाहारवाले भोजनालयोंमें अन्नाहारका प्रवेश हो तो अच्छा। यह सोचकर मैंने इस भोजनालयके व्यवस्थापकसे खास तौरपर प्रबंध करके अन्नाहारकी तजवीज की। यह नया प्रयोग अन्नाहारियोंको बड़ा अच्छा मालूम हुआ। यों तो सभी भोज भोगके ही लिए होते हैं; परंतु पश्चिममें उसे एक कलाका रूप प्राप्त हो गया है। भोजनके समय खास सजावट और धूम-धाम होती है। बाजे बजते हैं और भाषण होते हैं सो अलग। इस छोटे-से भोजमें भी यह सारा आडंबर हुआ। अब मेरे भाषणका समय आया। मैं खूब सोच-सोचकर बोलनेकी तैयारी करके गया था। थोड़े ही वाक्य तैयार किये थे, परंतु पहले ही वाक्यसे आगे न बढ़ सका। एडिसनवाली गत हुई। उनके झेंपूपनका हाल मैं पहले कहीं पढ़ चुका था। हाउस आव कामंसमें वह व्याख्यान देने खड़ा हुआ। 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है'— यह तीन बार कहा; परंतु उसके आगे न बढ़ सका। अंग्रेजी शब्द जिसका अर्थ धारण करना है, 'गर्भधारण'के अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। इसलिए जब एडिसन आगे न बोल सका तब एक मसखरा सभ्य बोल उठा—'इन साहबने तीन बार गर्भ धारण किया, पर पैदा कुछ न हुआ?' इस घटनाको मैंने ध्यानमें रख छोड़ा था, और एक छोटी-सी विनोदयुक्त बक्तृता देनेका विचार किया था। मैंने अपने भाषणका श्रीगणेश इसी कहानीसे किया, पर वहीं अटक गया। जो सोचा था सब भूल गया। और विनोद तथा हास्य-युक्त भाषण करने जाते हुए मैं खुद ही विनोदका पात्र बन गया। 'सज्जनो, आपने जो मेरा निमंत्रण स्वीकार किया इसके लिए मैं आपका उपकार मानता हूं।' कहकर मुझे बैठ जाना पड़ा।

यह झेंपूपन जाकर ठेठ दक्षिण अफ्रीका में टूटा। बिलकुल टूट गया हो सो तो अब भी नहीं कह सकते। अब भी बोलते हुए विचारना तो पड़ता ही है। नये समाजमें बोलते हुए सकुचाता हूं। बोलनेसे पीछा छूट सके तो जरूर छुड़ा लूं। और यह हालत तो आज भी नहीं है कि यदि किसी संस्था या समाजमें बैठा होऊं तो खास बात कर ही सकूं या बात करनेकी इच्छा ही हो।

परंतु इस झेंपू स्वभावके कारण मेरी फजीहत होनेके अलावा और कुछ

नुकसान न हुआ—कुछ फायदा ही हुआ है। बोलनेके संकोचसे पहले तो मुझे दुःख होता था; परंतु अब सुख होता है। बड़ा लाभ तो यह हुआ कि मैंने शब्दोंकी किफायत-शारी सीखी। अपने विचारोंको काबूमें रखनेकी आदत सहज ही हो गई। अपनेको मैं यह प्रमाण-पत्र आसानीसे दे सकता हूं कि मेरी जबान अथवा कलमसे बिना विचारे अथवा बिना तौले शायद ही कोई शब्द निकलता हो। मुझे याद नहीं पड़ता कि अपने भाषण या लेखके किसी अंशके लिए शर्मिंदा होने या पछतानेकी आवश्यकता मुझे कभी हुई हो। इसके बदौलत अनेक खतरोंसे मैं बच गया और बहुतेरा समय भी बच गया, यह लाभ अलग है।

अनुभवने यह भी बताया है कि सत्यके पुजारीको मौनका अवलंबन करना उचित है। जान-अनजानमें मनुष्य बहुत-बार अत्युक्ति करता है, अथवा कहने योग्य बातको छिपाता है, या दूसरी तरहसे कहता है। ऐसे संकटोंसे बचने के लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलनेवाला बिना विचारे नहीं बोलता; वह अपने हरेक शब्दको तौलेगा। बहुत बार मनुष्य बोलनेके लिए अधीर हो जाता है। 'मैं भी बोलना चाहता हूं' ऐसी चिट किस सभापतिको न मिली होगी? फिर दिया हुआ समय भी उन्हें काफी नहीं होता, और बोलनेकी इजाजत चाहते हैं, एवं फिर भी बिना इजाजतके बोलते रहते हैं। इन सबके इतने बोलनेसे संसारको लाभ होता हुआ तो शायद ही दिखाई देता है। हां, यह अलबत्ता हम स्पष्ट देख सकते हैं कि इतना समय व्यर्थ जा रहा है। इसीलिए यद्यपि आरंभमें मेरा झेंपूपन मुझे अखरता था; पर आज उसका स्मरण मुझे आनंद देता है यह झेंपूपन मेरी ढाल था। उससे मेरे विचारोंको परिपक्व होनेका अवसर मिला। सत्यकी आराधनामें उससे मुझे सहायता मिली।

१९

असत्य-रूपी जहर

चालीस साल पहले विलायत जानेवालोंकी संख्या अबसे कम थी। उनमें ऐसा रिवाज पड़ गया था कि खुद विवाहित होते हुए भी अपनेको अविवाहित बताते। वहां हाईस्कूल अथवा कालेजमें पढ़नेवाले सब अविवाहित होते हैं।

वहां विवाहितके लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहां तो प्राचीन समयमें विद्यार्थीका नाम ही ब्रह्मचारी था। बाल-विवाहकी चाल तो इसी जमानेमें पड़ी है। बाल-विवाहका नामनिशान विलायतमें नहीं। इस कारण वहांके भारतीय नवयुवकको बताते यह शरम मालूम होती है कि हमारा विवाह हो गया है। विवाहकी बात छिपानेका दूसरा मतलब यह है कि यदि यह बात मालूम हो जाय तो जिन कुटुंबोंमें वे रहते है उनकी युवती लड़कियोंके साथ घूमने-फिरने और आमोद-प्रमोद करनेकी स्वतंत्रता न मिल पावेगी। यह आमोद-प्रमोद बहुतांशमें निर्दोष होता है और खुद मां-बाप ऐसे मेलजोलको पसंद करते है। युवक और युवतियोंमें ऐसे सहवासकी आवश्यकता भी समझी जाती है; क्योंकि वहां तो हरेक नवयुवकको अपनी सह-धर्मचारिणी खोज लेनी पड़ती है। इस कारण जो संबंध विलायतमें स्वाभाविक समझा जा सकता है वही यदि हिंदुस्तानके नवयुवक वहां जाकर बांधने लगे तो परिणाम भयंकर हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे कितने ही भीषण परिणाम सुने भी गये हैं। फिर भी इस मोहिनी-मायामें हमारे नवयुवक फंसे हुए थे। जो संबंध अंग्रेजोंके लिए चाहे कितना निर्दोष हो, पर जो हमारे नजदीक सर्वथा त्याज्य है, उनके लिए वे असत्याचरण पसंद करते थे। मैं भी इस जालमें फंस गया। पांच-छ: वर्षसे विवाहित होते हुए और एक लड़केका बाप होते हुए भी मैं अपनेको अविवाहित कहते न हिचका! पर इस 'कुंवारेपन' का स्वाद मैं बहुत न चख पाया। मेरे झेंपूपनने और मौनने मुझे बहुत बचाया। भला जब मैं बात ही नहीं कर सकता था, तो कौन लड़की ऐसी फाजिल होती, जो मुझसे बातचीत करने आती? शायद ही कोई लड़की मेरे साथ घूमने निकलती।

मैं जैसा झेंपू था, वैसे ही डरपोक भी था। वेंटनरमें जैसे घरमें रहता था वहां यह रिवाज था कि घरकी लड़की मुझ जैसे अतिथिको साथ घूमने ले जाय। तदनुसार मुझे मकान-मालकिनकी लड़की वेंटनरके आसपास की सुंदर पहाड़ियोंपर घूमने ले गई। मेरी चाल यों धीमी न थी, परंतु उसकी चाल मुझसे भी तेज थी। मैं तो एक तरह उसके पीछे खिंचता-घसिटता जाता था। वह तो रास्तेमें बातोंके फव्वारे उड़ाती चलती और मेरे मुंहसे सिर्फ कभी 'हां' और कभी 'ना' की ध्वनि निकल पड़ती। मैं बहुत-से-बहुत बोलता तो इतना ही कि— 'वाह कैसा

सुंदर ! ' वह तो हवाकी तरह उड़ती चली जाती और मैं यह सोचता कि कब घर पहुंचेंगे। फिर भी यह कहनेकी हिम्मत न पड़ती कि चलो वापस लौट चलें। इतनेमें ही हम एक पहाड़ीकी चोटीपर आ खड़े हुए। अब उतरें कैसे ? मगर ऊंची एडीके बूट होते हुए भी यह २०-२५ वर्षकी रमणी बिजलीकी तरह नीचे उतर गई और मैं शर्मिन्दा होकर यह सोच ही रहा हूं कि कैसे उतरें ! वह नीचे उतरकर कहकहा लगाती है और मुझे हिम्मत दिलाती है। कहती है—'ऊपर आकर हाथ पकड़कर नीचे खींच ले चलूं ? ' मैं अपनेको ऐसा बोदा कैसे साबित करता ? अंतको सम्हल-सम्हलकर पैर रखता और कहीं-कहीं बैठता हुआ नीचे उतरा। इधर वह मजाकमें 'शा...बाश' कहकर मुझ शरमाये हुएको और भी शर्मिन्दा करने लगी। मैं मानता हूं कि इस तरह मजाकमें शर्मिन्दा करनेका उसे हक था।

परंतु हर जगह मैं इस तरह कैसे बच सकता था ? ईश्वरको मंजूर था कि असत्यका जहर मेरे अंदरसे निकल जाय। वेंटनरकी तरह ब्रायटन भी समुद्रतटपर हवाखोरीका मुकाम है। वहां मैं एक बार गया। जिस होटलमें ठहरा था, वहां एक मामूली दरजेकी अच्छी हैसियतवाली विधवा बुढ़िया घूमने आई थी। यह मेरे पहले सालकी बात है— वेंटनरके पहलेकी घटना है । यहां भोज्य पदार्थोंके नाम फ्रेंच भाषामें लिखे हुए थे। मैं उन्हें नहीं समझ पाया बुढ़िया और मैं एक ही मेजपर बैठे हुए थे। बुढ़ियाने देखा कि मैं अजनबी हूं और कुछ दुविधामें हूं। उसने बात छेड़ी, तुम अजनबी मालूम होते हो ? किस फिक्रमें पड़े हो ? तुमने खानेके लिए अबतक कुछ नहीं मंगाया ? मैं खानेके पदार्थोंकी नामावली पढ़ रहा था और परोसनेवालोंसे पूछनेका विचार ही कर रहा था। मैंने इस भली देवीको धन्यवाद दिया और कहा— "ये नाम मेरी समझमें नहीं आते। मैं अन्नाहारी हूं और मैं जानना चाहता हूं कि इनमें कौन-सी चीजें मेरे कामकी हैं ? "

यह देवी बोली—" तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूं और तुम्हें बताये देती हूं कि इनमेंसे कौन-कौन सी चीजें ले सकते हो।"

मैंने उसकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार की। यहांसे जो परिचय उसके साथ हुआ, सो मेरे विलायत छोड़नेके बाद भी बरसों कायम रहा। उसने

लँदनका अपना पता मुझे दिया और हर रविवारको अपने यहां भोजनके लिए निमंत्रित किया था। इसके सिवा भी जब-जब अवसर आता मुझे बुलाती। चाहकर मेरी शरम तुड़वाती। युवती स्त्रियोंसे पहचान करवाती और उनके साथ बातें करनेके लिए ललचाती। एक बाई उसीके यहां रहती थी। उसके साथ बहुत बातें करवाती। कभी-कभी हमें अकेले भी छोड़ देती।

पहिले-पहल तो मुझे यह बहुत अटपटा मालूम हुआ। सूझ ही न पड़ता कि बातें क्या करूं! हंसी-दिल्लगी भी भला क्या करता, पर वह बाई मेरा हौसला बढ़ाती। मैं इसमें ढलने लगा। हर रविवारकी राह देखता। अब तो उसकी बातोंमें भी मन रमने लगा।

इधर बुढ़िया भी मुझे लुभाये जाती। वह हमारे इस मेल-जोलको बड़ी दिलचस्पीसे देखती। मैं समझता हूं उसने तो हम दोनोंका भला ही सोचा होगा।

अब क्या करूं? अच्छा होता यदि पहलेसे ही इस बाईसे अपने विवाह की बात कह दी होती। क्योंकि फिर भला वह क्यों मुझ-जैसेके साथ विवाह करना चाहती? अब भी कुछ बिगड़ा नहीं। समय है, सच कह देनेसे अधिक संकटमें न पड़ूंगा।' यह सोचकर मैंने उसे चिट्ठी लिखी। अपनी स्मृतिके अनुसार उसका सार नीचे देता हूं—

"जबसे ब्रायटनमें आपसे भेंट हुई, तबसे आप मुझे स्नेहकी दृष्टिसे देखती आ रही हैं। मां जिस प्रकार अपने बेटेकी सम्हाल रखती है उसी प्रकार आप मेरी सम्हाल रखती हैं। आपका खयाल है कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए और इसलिए आप युवतियोंके साथ मेरा परिचय कराती हैं। इसके पहले कि ऐसे संबंधकी सीमा और आगे बढ़े, मुझे आपको यह कह देना चाहिए कि मैं आपके प्रेमके योग्य नहीं। मैं विवाहित हूं और यह बात मुझे उसी दिन कह देना चाहिए थी, जिस दिनसे मैं आपके घर आने-जाने लगा। हिंदुस्तानके विवाहित विद्यार्थी यहां अपने विवाहकी बात जाहिर नहीं करते, और इसीलिए मैं भी उसी ढर्रेपर चल पड़ा; पर अब मैं महसूस करता हूं कि मुझे अपने विवाहकी बात बिलकुल ही न छिपानी चाहिए थी। मुझे तो आगे बढ़कर यह भी कह देना चाहिए कि मेरी शादी बचपनमें ही हो गई थी और मेरे एक लड़का भी है। यह बात तो मैंने आपसे अबतक छिपा रक्खी थी, इसपर मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। परंतु अब भी ईश्वरने मुझे

सत्य कह देनेकी हिम्मत दे दी, इसके लिए साथ ही मुझे आनंद भी हो रहा है। आप मुझे माफ तो कर देंगी न ? जिस बहनसे आपने मेरा परिचय कराया है, उनके साथ मैंने कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया है, इसका मैं आपको विश्वास दिलाता हूं। मैं अपनी स्थितिको अच्छी तरह जानता था, अतएव मैं तो कोई अनुचित बात कर ही नहीं सकता था; पर आप चूंकि उससे नावाकिफ थीं इसलिए आपकी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि मेरा विवाह-संबंध किसीके साथ हो जाय। अतः आपके मनमें यह विचार और आगे न बढ़ें, इसलिए भी मुझे सच बात आपपर अवश्य प्रकट कर देनी चाहिए ।

"यह पत्र मिलनेके बाद यदि आप अपने यहां आनेके योग्य मुझे न समझें तो मुझे बिलकुल बुरा न मालूम होगा । आपकी इस ममताके लिए तो में सदाके लिए आपका ऋणी हो चुका हूं । इतना होनेपर भी यदि आप मुझे अपनेसे दूर न हटावें, तो बड़ी प्रसन्नता होगी । यदि अब भी आप मुझे अपने यहां आने योग्य समझेंगी, तो इसे मैं आपके प्रेमका एक नया चिह्न समझूंगा और उसके योग्य बननेके लिए प्रयत्न करता रहूंगा ।"

यह पत्र मैंने चट-पट नहीं लिख डाला । न जाने कितने मसविदे बनाये होंगे । पर हां, यह बात जरूर है कि यह पत्र भेज देनेपर मेरे दिलसे बड़ा बोझ उतर गया । लगभग लौटती डाकसे उस विधवा मित्रका जवाब आया । उसमें लिखा था--

"तुमने दिल खोलकर जो पत्र लिखा, वह मिल गया । हम दोनों पढ़कर खुश हुए और खिलखिलाकर हंसे । ऐसा असत्याचरण तो क्षंतव्य ही हो सकता है । हां, यह अच्छा किया जो तुमने अपनी सच्ची कथा लिख दी । मेरे निमंत्रणको ज्यों-का-त्यों कायम समझना । इस रविवारको हम दोनों तुम्हारी राह अवश्य देखगी । तुम्हारे बाल-विवाहकी बातें सुनेंगी और तुमसे हंसी-दिल्लगी करनेका आनंद प्राप्त करेंगी । विश्वास रक्खो, अपनी मित्रतामें फर्क न आने पावेगा ।"

इस तरह अपने अंदर छिपा यह असत्यका जहर मैंने निकाला; और फिर तो कहीं भी अपने विवाह इत्यादिकी बातें करते हुए मुझे पशोपेश न होता ।

२०

धार्मिक परिचय

विलायतमें रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसॉफिस्ट मित्रोंसे मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताकी बात निकाली। उन दिनों ये एड्विन एर्नाल्ड-कृत गीताके अंग्रेजी अनुवादको पढ़ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृतमें गीता पढ़नेके लिए कहा। मैं लज्जित हुआ; क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृतमें न प्राकृतमें ही पढ़ी थी। यह बात झेंपते हुए मुझे उनसे कहनी पड़ी। पर साथ ही यह भी कहा कि 'मैं आपके साथ पढ़नेके लिए तैयार हूं। यों तो मेरा संस्कृत ज्ञान नहींके बराबर है, फिर भी मैं इतना समझ सकूंगा कि अनुवाद कहीं गड़बड़ होगा तो वह बता सकूं।' इस तरह इन भाइयोंके साथ मेरा गीता-वाचन आरंभ हुआ। दूसरे अध्यायके अंतिम श्लोकोंमें,

> **ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।**
> **संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥**
> **क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।**
> **स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥** [1]

इन श्लोकोंका मेरे दिलपर गहरा असर हुआ। बस, कानोंमें उनकी ध्वनि दिन-रात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई—और, अब तो तत्वज्ञानके लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशाके समयमें इस ग्रंथने मेरी अमूल्य सहायता की है। यों इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूं। परंतु एडविन

---

[1] विषयका चिंतन करनेसे, पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है और संगसे कामकी उत्पत्ति होती है। कामनाके पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मृतिभ्रम, और स्मृतिभ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और अंतमें पुरुष खुद ही नष्ट हो जाता है।

एर्नाल्डका अनुवाद सबमें श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रंथके भावोंकी अच्छी रक्षा की है और तिस पर भी वह अनुवाद-जैसा नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्‌गीताका अच्छा अध्ययन कर लिया हो। उसका रोज-मर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

इन्हीं भाइयोंने मुझे एर्नाल्ड लिखित बुद्ध-चरित पढ़नेकी सिफारिश की। अबतक मैं तो सिर्फ यही जानता था कि सिर्फ गीताका ही अनुवाद एर्नाल्डने किया है, परंतु बुद्ध-चरितको मैंने भगवद्‌गीतासे भी अधिक चावके साथ पढ़ा। पुस्तक जो एक बार हाथमें ली सो खतम करके ही छोड़ सका।

ये भाई मुझे एक बार ब्लेवेट्स्की-लॉजमें भी ले गये। वहां मैडम ब्लेवेट्स्की तथा मिसेज बेसेंटके दर्शन मुझे कराये। मिसेज बेसेंट उन्हीं दिनों थियोसोफिकल सोसायटीमें आई थीं; और इस विषयकी चर्चा अखबारोंमें चल रही थी। मैं उसे चावसे पढ़ता था। इन भाइयोंने मुझे थियोसोफिकल सोसायटीमें आनेके लिए कहा। मैंने विनयपूर्वक 'ना' करके कहा—'मुझे अभी किसी धर्मका कुछ भी ज्ञान नहीं, इसलिए मेरा दिल नहीं होता कि अभी किसी भी संप्रदायमें मिल जाऊं।' मुझे कुछ ऐसा खयाल पड़ता है कि इन्हीं भाइयोंके कहनेसे मेडम ब्लेवेट्स्की रचित 'की टु थियोसोफी' पुस्तक भी मैंने पढ़ी। उससे हिंदू-धर्म-संबंधी पुस्तकोंके पढ़नेकी इच्छा हुई। पादरी लोगोंके मुंहसे जो यह सुना करता था कि हिंदू-धर्म तो अंध विश्वासोंसे भरा हुआ है, यह खयाल दिलसे निकल गया।

इसी अरसेमें एक अन्नाहारी छात्रालयमें मैंचेस्टरके एक भले ईसाईसे मुलाकात हुई। उन्होंने ईसाई-धर्मकी बात मुझसे छेड़ी। मैंने अपना राजकोटका अनुभव उन्हें सुनाया। उन्हें बहुत दुःख हुआ। कहा—'मै खुद अन्नाहारी हूं। शराबतक नहीं पीता। बहुतेरे ईसाई मांस खाते हैं, शराब पीते हैं, यह सच है। पर ईसाई-धर्ममें दोनोंमेंसे एक चीज भी लाजिमी नहीं। आप बाइबिल पढ़ें तो मालूम होगा।' मैंने उनकी सलाह मानी। उन्होंने एक बाइबिल भी खरीदकर ला दी। मुझे कुछ-कुछ ऐसा याद पड़ता है कि वह सज्जन खुद ही बाइबिल बेचते थे। उन्होंने जो बाइबिल मुझे दी उसमें कई नक्शे और अनुक्रमणिका इत्यादि थी। पढ़ना शुरू तो किया; परंतु 'ओल्ड टेस्टामेंट' तो पढ़ ही न सका। जेनिसेस—'सृष्टि-उत्पत्ति'—वाले प्रकरणके बाद तो पढ़ते-पढ़ते नींद आने लगती। केवल

इसी खयालसे कि यह कह सकूं कि 'हां बाइबिल पढ़ ली' मैंने बे-मन और बे-समझे आगेके प्रकरणोंको बड़े कष्टसे पढ़ा। 'नंबर्स' नामक प्रकरण पढ़कर तो उलटी अरुचि हो गई। पर जब 'न्यू टेस्टामेंट'तक पहुंचा तब तो कुछ और ही असर हुआ। हजरत ईसाके गिरि-प्रवचनका असर बहुत ही अच्छा हुआ। वह तो सीधा ही हृदयमें पैठ गया। बुद्धिने गीताजीके साथ उसकी तुलना की। 'जो तेरा कुरता मांगे उसे तू अंगरखा दे डाल। जो तेरे दाहिने गालपर थप्पड़ मारे उसके आगे बायां गाल करदे।' यह पढ़कर मुझे अपार आनंद हुआ। श्यामल भट्टका वह छप्पय याद आया। मेरे युवक मनने गीता, एर्नाल्ड-कृत बुद्ध-चरित्र और ईसाके वचनोंका एकीकरण किया। 'त्यागमें धर्म है' यह बात दिलको जंच गई।

इन पुस्तकोंके पठनसे दूसरे धर्माचार्योंके जीवन-चरित्र पढ़नेकी इच्छा हुई। किसी मित्रने सुझाया—कार्लाईलकी 'विभूतियां और विभूति-पूजा' पढ़ो। उसमें मैंने हजरत मुहम्मद-विषयक अंश पढ़ा और मुझे उनकी महत्ता, वीरता और उनकी तपश्चर्याका परिचय मिला।

बस, इतने धार्मिक परिचयसे आगे मैं न बढ़ सका; क्योंकि परीक्षा संबंधी पुस्तकोंके अलावा दूसरी पुस्तकें पढ़नेकी फुरसत न निकाल सका। मगर मेरे दिलमें यह भाव जम गया कि मुझे भी धर्म-पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए और समस्त मुख्य-मुख्य धर्मोंका आवश्यक परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

भला यह कैसे संभव था कि विलायतमें रहकर नास्तिकताके संबंधमें कुछ न जानता? उन दिनों ब्रेडलाका नाम समस्त भारतवासी जानते थे। ब्रेडला नास्तिक माने जाते थे। इस कारण नास्तिकवादके विषयमें भी एक पुस्तक पढ़ी। नाम इस समय याद नहीं पड़ता। मेरे मनपर उसकी कुछ छाप न पड़ी। क्योंकि नास्तिकतारूपी सहाराका रेगिस्तान अब मैं पार कर चुका था। मिसेज बेसेंटकी कीर्त्ति तो उस समय भी बहुत फैली हुई थी। वह नास्तिकसे आस्तिक बनी थीं, इस बातने भी मुझे नास्तिकताकी ओरसे उदासीन बनाया। बेसेंटकी 'मैं थियोसोफिस्ट कैसे हुई?' पुस्तिका मैं पढ़ चुका था। इन्हीं दिनों ब्रेडलाका देहांत हुआ। उनकी अंत्येष्टिक्रिया वोकिंगमें हुई थी। मैं भी वहां गया था। मेरा खयाल है कि शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा, जो वहां न गया हो।

कितने ही पादरी भी उनके सम्मानमें उपस्थित हुए थे। लौटते समय हम सब एक जगह ट्रेनकी राह देख रहे थे। वहां भीड़मेंसे एक पहलवान नास्तिकता-वादीने एक पादरीसे जिरह करना शुरू की--

"क्यों जी, आप कहते हैं न, कि ईश्वर है ?"

उस भले पादरीने धीमी आवाजमें जवाब दिया--"हां भाई, कहता तो हूं।"

पहलवान हंसा, और इस भावसे कि मानो पादरीको पराजित कर दिया हो, बोला--"अच्छा, आप यह तो मानते हैं न, कि पृथ्वीकी परिधि २८००० मील है ?"

"हां, अवश्य।"

"तब बताओ तो देखें, ईश्वरका कद कितना बड़ा है और वह कहां रहता होगा ?"

"यदि हम समझें तो वह हम दोनोंके हृदयमें वास करता है।"

चारों ओर खड़े हुए हम लोगोंकी ओर यह कहकर उसने विजयीकी तरह देखकर कहा--"किसी बच्चेको फुसलाइए किसी बच्चेको।"

पादरी ने नम्रता के साथ मौन धारण कर लिया।

इस संवादने नास्तिकवादकी ओरसे मेरा मन और भी हटा दिया।

२१

'निर्बलके बल राम'

इस तरह मुझे धर्म-शास्त्रोंका तथा दुनियाके धर्मोंका कुछ परिचय तो मिला, लेकिन इतना ज्ञान मनुष्यको बचानेके लिए काफी नहीं होता। आपत्तिके समय जो वस्तु मनुष्यको बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान ही रहता है, न ज्ञान ही। नास्तिक जब बच जाता है, तो कहने लगता है कि मैं तो अचानक बच गया। आस्तिक ऐसे समय कहेगा कि मुझे ईश्वरने बचाया। परिणामके बाद वह ऐसा अनुमान कर लेता है कि धर्मोंके अध्ययनसे, ईश्वर हृदयमें प्रकट होता है। इस प्रकारका अनुमान करनेका उसे अधिकार है। लेकिन बचते समय वह

नहीं जानता कि उसे उसका संयम बचाता है या और कोई। जो अपने संयम-बलका गर्व करता है, उसका संयम भ्रष्ट नहीं हुआ, ऐसा किसने अनुभव नहीं किया? ऐसे समय शास्त्र-ज्ञान तो व्यर्थ-सा मालूम होता है।

इस बौद्धिक धर्म-ज्ञानके मिथ्यात्वका अनुभव मुझे विलायतमें हुआ। पहले जो इस प्रकारके भयोंसे मैं बचा, उसका विश्लेषण करना असंभव है। उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी। लेकिन अब तो मैं बीस वर्षका हो गया था। गृहस्थाश्रमका अनुभव खूब प्राप्त कर चुका था।

बहुत करके विलायतमें मेरे आखिरी वर्षमें, अर्थात् १८९० में, पोर्टस्मथमें अन्नाहारियोंका एक सम्मेलन हुआ। उसमें मुझे तथा एक और भारतीय मित्रको निमंत्रण मिला था। हम दोनों वहां गये। हम दोनों एक बाईके यहां ठहराये गये।

पोर्टस्मथ मल्लाहों का बंदर कहा जाता है। वहां दुराचारिणी स्त्रियोंके बहुत-से घर हैं। वे स्त्रियां वेश्या तो नहीं कही जा सकतीं, लेकिन साथही उन्हें निर्दोष भी नहीं कह सकते। ऐसे ही एक घरमें हम ठहराये गये थे। कहनेका आशय यह नहीं है कि स्वागत-समितिने जान-बूझकर ऐसे घर चुने थे। लेकिन पोर्टस्मथ-जैसे बंदरमें जब मुसाफिरोंके ठहरनेके लिए घर खोजनेकी जरूरत पड़ती है, तब यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन घर अच्छा और कौन बुरा।

रात हुई। सभासे हम घर लौटे। भोजनके बाद हम ताश खेलने बैठे। विलायतमें अच्छे घरोंमें भी गृहिणी मेहमानोंके साथ इस प्रकार ताश खेला करती हैं। ताश खेलते समय सब लोग निर्दोष मजाक करते हैं। परंतु यहां गंदा विनोद शुरू हुआ।

मैं नहीं जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोदमें दिल-चस्पी होने लगी। मैं भी सम्मिलित हुआ। विनोदके वाणीसे चेष्टामें परिणत होनेकी नौबत आ गई। ताश एक ओर रखनेका अवसर आ गया; पर मेरे उस भले साथीके हृदयमें भगवान् जगे। वह बोले, "तुम और यह कलियुग—यह पाप? यह तुम्हारा काम नहीं! भगो यहांसे।"

मैं शरमिंदा हुआ। चेता। हृदयमें इस मित्रका उपकार माना। मातासे की हुई प्रतिज्ञा याद आई। मैं भगा। कांपता हुआ अपने कमरेमें पहुंचा। कलेजा धड़कता था। मेरी ऐसी स्थिति हो गई मानो कातिलके हाथसे छूटा शिकार।

परस्त्रीको देखकर विकाराधीन होनेका और उसके साथ खेलनेकी इच्छा होनेका यह पहला प्रसंग मेरे जीवनमें था। रात-भर मुझे नींद न आई। अनेक तरहसे विचारोंने मुझे आ घेरा। 'क्या करूं? घर छोड़ दूं? यहांसे भाग निकलूं? मैं कहा हूं? यदि मैं सावधान न रहूं तो मेरे क्या हाल होंगे?' मैंने खूब सचेत रहकर जीवन बितानेका निश्चय किया। सोचा कि घर तो अभी न छोड़ूं; पर पोर्टस्मथ तुरंत छोड़ देना चाहिए। सम्मेलन दो ही दिनतक होनेवाला था। इसलिए जहांतक मुझे याद है, दूसरे ही दिन मैंने पोर्टस्मथ छोड़ दिया मेरे साथी वहां कुछ दिन रहे।

उस समय मैं 'धर्म क्या है, ईश्वर क्या चीज है, वह हमारे अंदर किस तरह काम करता है' ये बातें नहीं जानता था। लौकिक अर्थमें मैं समझा कि ईश्वरने मुझे बचाया। परंतु जीवनके विविध क्षेत्रोंमें भी मुझे ऐसे ही अनुभव हुए हैं। 'ईश्वरने बचाया' इस वाक्यका अर्थ मैं आज बहुत अच्छी तरह समझता हूं। पर यह भी जानता हूं कि अभी इसकी कीमत मैं ठीक-ठीक नहीं आंक सका हूं। यह तो अनुभवसे ही आंकी जा सकती है। पर हां, कितने ही आध्यात्मिक अवसरोंपर, वकालतके सिलसिलेमें, संस्थाओंका संचालन करते हुए, राजनैतिक मामलोंमें, मैं कह सकता हूं कि 'ईश्वरने मुझे बचाया है।' मैंने अनुभव किया है कि जब चारों ओरसे आशायें छोड़ बैठनेका अवसर आ जाता है, हाथ-पांव ढीले पड़ने लगते हैं, तब कहीं-न-कहींसे सहायता अचानक आ पहुंचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना, अंधविश्वास नहीं, बल्कि उतनी अथवा उससे भी अधिक सच बातें हैं, जितना कि हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं, ये सच हैं। बल्कि यों कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं कि यही एकमात्र सच है; दूसरी सब बातें झूठ हैं, मिथ्या हैं।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना वाणीका वैभव नहीं है। उसका मूल कंठ नहीं, बल्कि हृदय है। अतएव यदि हम हृदयको निर्मल बना लें, उसके तारोंका सुर मिला लें, तो उसमेंसे जो सुर निकलता है वह गगनगामी हो जाता है। उसके लिए जीभकी आवश्यकता नहीं। यह तो स्वभावतः ही अद्भुत वस्तु है। विकाररूपी मलकी शुद्धिके लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जड़ी है, इस विषयमें मुझे ज़रा भी संदेह नहीं। परंतु इस प्रसादीको पानेके लिए हमारे अंदर पूरी-पूरी नम्रता होनी चाहिए।

२२

नारायण हेमचन्द्र

लगभग इसी दरमियान स्वर्गीय नारायण हेमचंद्र विलायत आये थे। मैं सुन चुका था कि वह एक अच्छे लेखक हैं। नेशनल इंडियन एसोसियेशन-वाली मिस मैनिंगके यहां उनसे मिला। मिस मैनिंग जानती थीं कि सबसे हिलमिल जाना मैं नहीं जानता। जब कभी मैं उनके यहां जाता तब चुप-चाप बैठा रहता। तभी बोलता, जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होंने नारायण हेमचंद्रसे मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचंद्र अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनका पहनावा विचित्र था। बेढंगी पतलून पहने थे। उसपर था एक बादामी रंग का मैलाकुचैला-सा पारसी काटका बेडौल कोट। न नेकटाई, न कालर। सिरपर ऊनकी गुंथी हुई टोपी और नीचे लंबी दाढ़ी।

बदन इकहरा, कद नाटा कह सकते हैं। चेहरा गोल था, उसपर चेचकके दाग थे। नाक न नोकदार थी, न चपटी। हाथ दाढ़ीपर फिरा करता था।

वहांके लाल-गुलाल फैशनेबल लोगोंमें नारायण हेमचंद्र विचित्र मालूम होते थे। वह औरोंसे अलग छटक पड़ते थे।

"आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। आप मेरे घर चलिए न ?"

नारायण हेमचंद्रकी आवाज जरा भर्राई हुई थी उन्होंने हंसते हुए जवाब दिया—

"आप कहां रहते हैं ?"

"स्टोर स्ट्रीटमें।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेजी सीखना है। आप सिखा देंगे ?"

मैंने जवाब दिया— "यदि मैं किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकूं तो मुझे बड़ी खुशी होगी। मैं अपनी शक्ति-भर कोशिश करूंगा। यदि आप चाहें, तो मैं आपके यहां भी आ सकता हूं।"

"जी नहीं, मैं खुद ही आपके पास आऊंगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊंगा।"

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनोंमें बड़ा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचंद्र व्याकरण जरा भी नहीं जानते थे। 'घोड़ा' क्रिया और 'दौड़ना' संज्ञा बन जाती। ऐसे मजेदार उदाहरण तो मुझे कई याद हैं। परंतु नारायण हेमचंद्र ऐसे थे, जो मुझे भी हजम कर जायं। वह मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञानसे अपनेको भुला देनेवाले जीव न थे। व्याकरण न जाननेपर वह किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

"मैं आपकी तरह किसी पाठशालामें नहीं पढ़ा हूं। मुझे अपने विचार प्रकट करनेमें कहीं व्याकरणकी सहायताकी जरूरत नहीं दिखाई दी। अच्छा, आप बंगला जानते हैं? मैं तो बंगला भी जानता हूं। मैं बंगालमें भी घूमा हूं। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोरकी पुस्तकोंका अनुवाद तो गुजराती जनताको मैंने ही दिया है। अभी कई भाषाओंके सुंदर ग्रंथोंके अनुवाद करने हैं। अनुवाद करनेमें भी मैं शब्दार्थपर नहीं चिपटा रहता। भावमात्र दे देनेसे मुझे संतोष हो जाता है। मेरे बाद दूसरे लोग चाहे भले ही सुंदर वस्तु दिया करें। मैं तो बिना व्याकरण पढ़े मराठी भी जानता हूं, हिंदी भी जानता हूं और अब अंग्रेजी भी जानने लग गया हूं। मुझे तो सिर्फ शब्द-भंडारकी जरूरत है। आप यह न समझ लें कि अकेली अंग्रेजी जान लेनेभरसे मुझे संतोष हो जायगा। मुझे तो फ्रांस जाकर फ्रेंच भी सीख लेनी है। मैं जानता हूं कि फ्रेंच-साहित्य बहुत विशाल है। यदि हो सका तो जर्मन जाकर जर्मन भाषा भी सीख लूंगा।"

इस तरह नारायण हेमचंद्रकी वाग्धारा बे-रोक बहती रही। देश-देशांतरोंमें जाने व भिन्न-भिन्न भाषा सीखनेका उन्हें असीम शौक था।

"तब तो आप अमेरिका भी जरूर ही जावेंगे?"

"भला इसमें भी कोई संदेह हो सकता है? इस नवीन दुनियाको देखे बिना कहीं वापस लौट सकता हूं?"

"पर आपके पास इतना धन कहां है?"

"मुझे धनकी क्या जरूरत पड़ी है? मुझे आपकी तरह तड़क-भड़क तो रखना है ही नहीं। मेरा खाना कितना और पहनना क्या? मेरी पुस्तकोंसे

कुछ मिल जाता है और थोड़ा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते हैं, वह काफी है। मैं तो सर्वत्र तीसरे दर्जेमें ही सफर करता हूं। अमेरिका तो डेकमें जाऊंगा।"

नारायण हेमचंद्रकी सादगी बस उनकी अपनी थी; हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था। अभिमान छूतक नहीं गया था। लेखकके नाते अपनी क्षमतापर उन्हें आवश्यकतासे भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था। दोनों अन्नाहारी थे। दोपहरको कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मैं प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंगमें ही अपना गुजर करता और खाना खुद पकाया करता था। कभी मैं उनके मकानपर जाता तो कभी वह मेरे मकानपर आते। मैं अंग्रेजी ढंगका खाना पकाता था, उन्हें देसी ढंगके बिना संतोष नहीं होता था। उन्हें दाल जरूरी थी। मैं गाजर इत्यादिका रसा बनाता। इसपर उन्हें मुझपर बड़ी दया आती। कहींसे वह मूंग ढूंढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये, जो मैंने बड़ी रुचिपूर्वक खाये। फिर तो हमारा इस तरहका देने-लेनेका व्यवहार बहुत बढ़ गया। मैं अपनी चीजोंका नमूना उन्हें चखाता और वह मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मैनिंगका नाम सबकी जबान पर था। डॉकके मजदूरोंने हड़ताल करदी थी। जॉनबर्न्स और कार्डिनल मैनिंगके प्रयत्नोंसे हड़ताल जल्दी बंद हो गई। कार्डिनल मैनिंगकी सादगीके विषयमें जो डिसरैलीने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचंद्रको सुनाया।

"तब तो मुझे उस साधु पुरुषसे जरूर मिलना चाहिए।"

"वह तो बहुत बड़े आदमी हैं, आपसे क्योंकर मिलेंगे ?"

"इसका रास्ता मैं बता देता हूं। आप उन्हें मेरे नामसे एक पत्र लिखिए कि मैं एक लेखक हूं। आपके परोपकारी कार्योंपर आपको धन्यवाद देनेके लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूं। उसमें यह भी लिख दीजिएगा कि मैं अंग्रेजी नहीं जानता, इसलिए—आपका नाम लिखिए—बतौर दुभाषियाके मेरे साथ रहेंगे।"

मैंने इस मजमूनका पत्र लिख दिया। दो-तीन दिनमें कार्डिनल मैनिंगका कार्ड आया। उन्होंने मिलनेका समय दे दिया था।

हम दोनों गये। मैंने तो, जैसा कि रिवाज था, मुलाकाती कपड़े पहन

लिये। नारायण हेमचंद्र तो ज्यों-के-त्यों, सनातन ! वही कोट और वही पतलून। मैंने जरा मजाक किया, पर उन्होंने उसे साफ हंसीमें उड़ा दिया और बोले—

"तुम सब सुधारप्रिय लोग डरपोक हो। महापुरुष किसीकी पोशाककी तरफ नहीं देखते। वे तो उसके हृदयको देखते हैं।"

कार्डिनलके महलमें हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि एक दुबलेसे ऊंचे कदवाले वृद्ध पुरुषने प्रवेश किया। हम दोनोंसे हाथ मिलाया। उन्होंने नारायण हेमचंद्रका स्वागत किया।

"मैं आपका अधिक समय लेना नहीं चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रक्खी थी। आपने हड़तालमें जो शुभ काम किया है, उसके लिए आपका उपकार मानना था। संसारके साधु पुरुषोंके दर्शन करनेका मेरा अपना रिवाज है। इसलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्योंका तरजुमा करके उन्हें सुनानेके लिए हेमचंद्रने मुझसे कहा।

"आपके आगमनसे मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूं। मैं आशा करता हूं कि आपको यहांका निवास अनुकूल होगा, और यहांके लोगोंसे आप अधिक परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करें।" यों कहकर कार्डिनल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचंद्र मेरे यहां धोती और कुरता पहनकर आये। भली मकान-मालकिनने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौड़कर मेरे पास आई (पाठक यह तो जानते ही हैं कि मैं बार-बार मकान बदलता ही रहता था) और बोली— "एक पागल-सा आदमी आपसे मिलना चाहता है।" मैं दरवाजेपर गया और नारायण हेमचंद्रको देखकर दंग रह गया। उनके चेहरेपर वही नित्यका हास्य चमक रहा था।

"पर आपको लड़कोंने नहीं सताया ?"

"हां, मेरे पीछे पड़े जरूर थे, लेकिन मैंने कोई ध्यान नहीं दिया, तो वापस लौट गये।"

नारायण हेमचंद्र कुछ महीने इंग्लैंडमें रहकर पेरिस चले गये। यहां फ्रेंच का अध्ययन किया और फ्रेंच पुस्तकों का अनुवाद करना शुरू कर दिया। मैं इतनी फ्रेंच जान गया था कि उनके अनुवादोंको जांच लूं। मैंने देखा कि वह तर्जुमा नहीं, भावार्थ था।

अंतमें उन्होंने अमेरिका जानेका अपना निश्चय भी निबाहा। बड़ी मुश्किलसे डेक या तीसरे दर्जेका टिकट प्राप्त कर सके थे। अमेरिकामें जब वह धोती और कुरता पहनकर निकले तो असभ्य पोशाक पहननेके जुर्ममें वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। पर जहांतक मुझे याद है, बादमें वह छूट गये।

२३

महाप्रदर्शिनी

१८९० ई० में पेरिसमें एक महाप्रदर्शिनी हुई थी। उसकी तैयारियोंकी बातें मैं अख़बारोंमें खूब पढ़ता था। इधर पेरिस देखनेकी तीव्र इच्छा तो थी ही। सोचा कि इस प्रदर्शिनी को देखने के लिए चला जाऊंगा तो दुहेरा लाभ हो जायगा। प्रदर्शिनीमें एफिल टावर देखनेका आकर्षण बहुत भारी था। यह टावर बिलकुल लोहेका बना हुआ है। एक हजार फीट ऊंचा है। इसके पहले लोगोंका खयाल था कि इतनी ऊंची इमारत खड़ी ही नहीं रह सकती। और भी अनेक बातें प्रदर्शिनी में देखने लायक थीं।

मैंने कहीं पढ़ा था कि पेरिसमें अन्नाहार के लिए एक स्थान है। मैंने उसमें एक कमरा ले लिया। पेरिसतकका सफर गरीबीसे किया और वहां पहुंचा। सात दिन रहा। बहुत-कुछ तो पैदल ही चल कर देखा। पासमें पेरिस और उस प्रदर्शिनीकी गाइड तथा नकशा भी रखता था। उनकी सहायतासे रास्ते ढूंढकर मुख्य-मुख्य चीजें देख लीं।

प्रदर्शिनीकी विशालता और विविधताके सिवा अब मुझे उसकी किसी चीजका स्मरण नहीं है। एफिल टावरपर तो दो-तीन बार चढ़ा था, इसलिए उसकी याद ठीक-ठीक है। पहली मंजिलपर खाने-पीनेकी सुविधा भी थी। इसलिए यह कहनेको कि इतनी ऊंचाईपर हमने खाना खाया, मैंने वहां भोजन किया और उसके लिए साढ़े सात शिलिंगको दियासलाई लगाई।

पेरिसके प्राचीन मंदिरोंकी याद अबतक कायम है। उनकी भव्यता और भीतरकी शांति कभी नहीं भुलाई जा सकती। नाट्रेडमकी कारीगरी और भीतरकी चित्रकारी मेरे स्मृति-पटपर अंकित है। यह प्रतीत हुआ कि जिन्होंने

लाखों रुपये ऐसे स्वर्गीय मंदिरोंके बनानेमें खर्च किये, उनके हृदयके अंतस्तलमें कुछ-न-कुछ ईश्वर-प्रेम जरूर रहा होगा ।

पेरिसका फैशन, वहांका स्वेच्छाचार और भोग-विलासका वर्णन खूब पढ़ा था और उसकी प्रतीति वहांकी गली-गलीमें होती जाती थी । परंतु ये मंदिर उन भोग-सामग्रियोंसे अलग छटक जाते थे । उनके अंदर जाते ही बाहरकी अशांति भूल जाती थी । लोगोंका बर्ताव ही बदल जाता था । वे अदबके साथ बरतने लग जाते थे । वहां शोर-गुल नहीं हो सकता । कुमारिका मरियमकी मूर्तिके सामने कोई-न-कोई जरूर प्रार्थना करता हुआ दिखाई देता । यह सब देखकर चित्तपर यही असर पड़ा कि यह सब वहम नहीं, हृदयका भाव है; और यह भाव दिन-ब-दिन बराबर पुष्ट होता गया । कुमारिकाकी मूर्तिके सामने घुटने टेककर प्रार्थना करनेवाले वे उपासक संगमरमरके पत्थरको नहीं पूज रहे थे; बल्कि उसके अंदर निवास करनेवाली अपनी मनोगत शक्तिको पूजते थे । मुझे आज भी कुछ-कुछ याद है कि उस समय मेरे चित्तपर इस पूजाका ऐसा असर पड़ा कि वे पूजन-द्वारा ईश्वरकी महिमाको घटाते नहीं, बल्कि बढ़ाते ही हैं ।

एफिल टॉवरके विषयमें एक-दो बातें लिख देना जरूरी है । मुझे पता नहीं कि एफिल टॉवर आज किस मतलबको पूरा कर रहा है । प्रदर्शिनीमें जानेपर उसके वर्णन तो जरूर ही पढ़नेमें आते थे । उनमें उसकी स्तुति थी और निंदा भी थी । मुझे याद है कि निंदा करनेवालोंमें टॉलस्टॉय मुख्य थे । उन्होंने लिखा था कि एफिल टॉवर मनुष्यकी मूर्खताका चिह्न है, उसके ज्ञानका परिणाम नहीं । उन्होंने अपने लेखमें बताया था कि संसारके अनेक प्रचलित नशोंमें तंबाकूका व्यसन सबसे खराब है । जो कुकर्म करनेकी हिम्मत शराबके पीनेसे नहीं होती, वह बीड़ी पीकर आदमीको हो जाती है । शराब आदमीको पागल बना देती है, परंतु बीड़ी से तो उसकी बुद्धि पर कोहरा छा जाता है और वह हवाई किले बांधने लग जाता है । टॉलस्टॉयने अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि एफिल टॉवर ऐसे ही व्यसन का परिणाम है ।

एफिल टॉवरमें सौंदर्यका तो नाम भी नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि उससे प्रदर्शिनीकी शोभा जरा भी बढ़ गई हो । एक नई भारी-भरकम चीज थी । और इसीलिए उसे देखने हजारों आदमी गये थे । यह टॉवर प्रदर्शिनी-

का एक खिलौना था। और वह इस बातको बड़ी अच्छी तरह सिद्ध कर रहा था कि जबतक हम मोहाधीन हैं तबतक हम भी बालक ही हैं। बस, इसे भले ही हम उसकी उपयोगिता कह लें।

२४

बैरिस्टर तो हुए--लेकिन आगे ?

परंतु जिस कामके लिए, अर्थात् बैरिस्टर बननेके लिए मैं विलायत गया था, उसका क्या हुआ ? मैंने उसका वर्णन आगेके लिए छोड़ रक्खा था। पर अब उसके संबंधमें कुछ लिखनेका समय आ पहुंचा है।

बैरिस्टर बननेके लिए दो बातें आवश्यक थीं--एक तो 'टर्म' भरना, अर्थात् सत्रोंमें आवश्यक हाजिरी होना; और दूसरे कानूनकी परीक्षामें शरीक होना। सालमें चार सत्र होते थे। वैसे बारह सत्रोंमें हाजिर रहना जरूरी था। सत्रमें हाजिर रहनेके मानी हैं 'भोजोंमें उपस्थित रहना।' हरेक सत्रमें लगभग २४ भोज होतेहैं, जिनमेंसे छःमें हाजिर रहना जरूरी था। भोजमें जानेसे यह मतलब नहीं कि वहां कुछ खाना ही चाहिए; सिर्फ निश्चित समयपर वहां हाजिर हो जाना और जबतक वह चलता रहे वहां उपस्थित रहना काफी था। आमतौरपर तो सभी विद्यार्थी उसमें खाते-पीते हैं। भोजनमें अच्छे-अच्छे पकवान होते और पेयमें ऊंचे दरजेकी शराब। दाम अलबत्ता देने पड़ते थे। पर यह ढाई या तीन शिलिंगके करीब, अर्थात् दो या तीन रुपयेसे ज्यादा नहीं होता था। यह रकम वहां बहुत ही कम समझी जाती थी; क्योंकि बाहरके किसी भी भोजनालयमें भोजन करनेवालेको तो सिर्फ शराबके लिए ही इतने दाम देने पड़ते थे। भोजनके खर्चकी बनिस्बत शराब पीनेवालेको शराबके ही दाम अधिक लगते हैं। हिंदुस्तान-में--यदि हम नये ढंगके सुधारक न हों तो--हमें यह बड़ा ही आश्चर्यजनक मालूम होगा। विलायत जानेपर जब यह बात मालूम हुई तो मेरे दिलको बड़ी चोट पहुंची। मैं नहीं समझ सका कि शराबके पीछे इतने रुपये खर्च करनेको लोगोंका जी कैसे होता है। पर पीछे मैं उनका रहस्य समझने लगा। शुरूमें तो मैं ऐसे भोजोंमें कुछ भी नहीं खाता था; क्योंकि मेरे कामकी चीज तो वहां

केवल रोटी, उबाले हुए आलू या गोभी ही हो सकती थी। शुरूमें तो वे भी अच्छे न लगते थे, इसलिए मैं नहीं खाता था। बादको जब वे मुझे स्वादिष्ट लगने लगे तब तो मुझे दूसरी चीजें प्राप्त करनेका भी सामर्थ्य प्राप्त हो चुका था।

विद्यार्थियोंके लिए एक प्रकारका खाना होता था और बेंचरों (विद्या-मंदिरके अध्यापकों) के लिए दूसरे प्रकारका और भारी खाना होता था। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी थे। वह भी निरामिष भोजी बन गये थे। हमें दोनोंने मिलकर बेंचरोंके भोजनके पदार्थोंमेंसे निरामिष भोजियोंके खाने योग्य पदार्थ प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना की। वह मंजूर हुई, और हमें बेंचरोंके टेबलसे फलादि और दूसरे शाक भी मिलने लगे।

शराबको तो मैं छूतातक न था। चार-चार विद्यार्थियोंमें शराबकी दो-दो बोतलें दी जाती थीं। इसलिए ऐसी चौकड़ियोंमें मेरी बड़ी मांग होती थी। क्योंकि मैं शराब नहीं पीता था, इसलिए दो बोतलें शेष तीनोंमें उड़ सकती थीं। फिर इन सत्रोंमें एक बड़ी रात (ग्रैंड नाइट) भी होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी'के अलावा 'शेम्पेन' भी मिलती थी। शेम्पेनका मजा कुछ और ही समझा जाता है। इसलिए इस बड़ी रातको मेरी कीमत अधिक आंकी जाती थी, और उस रातको हाजिर रहनेके लिए मुझे निमंत्रण भी दिया जाता।

इस खाने-पीनेसे बैरिस्टरीकी पढ़ाईमें क्या अधिकता हो सकती है, यह मैं न तब समझ सका था और न आज ही समझ सका हूं। हां, ऐसा एक समय अवश्य था कि जब ऐसे भोजोंमें बहुत ही थोड़े विद्यार्थी होते थे। तब उनमें और बेंचरोंमें वार्तालाप होता और व्याख्यान भी दिये जाते थे। इसमें उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो सकता था, भली-बुरी पर एक प्रकारकी सभ्यता वे सीख सकते थे और व्याख्यान देनेकी शक्तिका विकास कर सकते थे। किंतु मेरे समयमें तो यह सब असंभव हो गया था। बेंचर तो दूर अछूत होकर बैठते थे। इस पुराने रिवाजका बादमें कुछ भी अर्थ नहीं रह गया था, फिर भी प्राचीनता-प्रेमी— धीमे— इंग्लैंडमें वह अभीतक चला आ रहा है।

कानूनकी पढ़ाई आसान थी। बैरिस्टर विनोदमें 'डिनर बैरिस्टर'के नामसे पुकारे जाते थे। सभी जानते थे कि परीक्षाका मूल्य नहींके बराबर है। मेरे समयमें दो परीक्षाएं होती थीं। रोमन-लॉकी और इंग्लैंडके कानूनोंकी।

यह परीक्षा दो बार करके दी जाती थी। परीक्षाके लिए पुस्तकें नियत थीं, परंतु उन्हें शायद ही कोई पढ़ता होगा। रोमन लॉके लिए तो छोटे-छोटे 'नोट्स' लिखे हुए मिलते थे। उन्हें पंद्रह दिनमें पढ़कर पास होनेवालोंको भी मैंने देखा है। इंग्लैंडके कानूनोंके विषयमें भी यही बात होती थी। उनके 'नोट्स' दो-तीन महीनेमें पढ़कर पास होनेवाले विद्यार्थियोंको भी मैंने देखा है। परीक्षाके प्रश्न आसान और परीक्षक भी उदार। रोमन लॉमें ९५ से ९९ प्रति सैकड़ा विद्यार्थी पास होते थे; और अंतिम परीक्षामें ७५ अथवा उससे भी कुछ अधिक। इसलिए फेल होनेका भय बहुत ही कम रहता था। और परीक्षा भी वर्षमें एक नहीं बल्कि चार बार होती थी। ऐसी सुविधाजनक परीक्षा किसीको भी बोझ नहीं मालूम हो सकती थी।

परंतु मैंने अपने लिए उसे एक बोझ बना लिया था। मैंने सोचा कि मुझे तो मूल पुस्तकें सब पढ़ लेनी चाहिएं। उन्हें न पढ़ना अपनेआपको धोखा देना प्रतीत हुआ। इसलिए काफी खर्च करके मूल पुस्तकें खरीद लीं। रोमन लॉको लैटिनमें पढ़ जानेका निश्चय किया। विलायतकी प्रवेश-परीक्षामें मैंने लैटिन पढ़ी थी। उससे यहां अच्छा फायदा हुआ। यह मिहनत व्यर्थ न गई। दक्षिण अफ्रीकामें रोमन-डच लॉ प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझनेमें मुझे जस्टीनियनका अध्ययन बड़ा ही उपयोगी साबित हुआ।

इंग्लैंडके कानूनोंका अध्ययन मैं काफी मिहनत करनेपर नौ महीनेमें पूरा कर सका था। क्योंकि ब्रूमकी 'कॉमन लॉ' नामक बड़ी परंतु सरस पुस्तक पढ़नेमें ही बहुत समय लगा था। स्नेलकी 'इक्विटीमें' दिल तो लगा; परंतु समझनेमें दम निकल गया। व्हाइट और ट्यूडरके मुख्य मुकदमोंमें जो-जो पढ़नेके थे उन्हें पढ़नेमें आनंद भी आया और ज्ञान भी मिला। विलियम्स और एडवर्ड्सकी स्थावर-संपत्ति संबंधी और गुडीकी जंगम संबंधी पुस्तक मैं बड़ी दिलचस्पीके साथ पढ़ सका था। विलियम्सकी पुस्तक तो मुझे उपन्यासके जैसी मालूम हुई। उसे पढ़ते हुए छोड़नेको जी नहीं चाहता। कानूनी पुस्तकोंमें हिंदुस्तान आनेके बाद, मैं मेइनका 'हिंदू लॉ' उतनी ही दिलचस्पीके साथ पढ़ सका था, परंतु हिंदुस्तानके कानूनोंकी बात करनेके लिए यह स्थान नहीं है।

परीक्षायें पास कीं। १० जून १८९१ ई०को मैं बैरिस्टर हुआ। ग्यारहवीं

तारीखको इंग्लैंड-हाईकोर्टमें ढाई शिलिंग देकर अपना नाम रजिस्टर कराया। बारह जूनको हिंदुस्तान लौट आनेके लिए रवाना हुआ।

परंतु मेरी निराशा और भीतिका कुछ ठिकाना न था। कानून मैंने पढ़ तो लिया, परंतु मेरा दिल यही कहता था कि अभीतक मुझे कानूनका इतना ज्ञान नहीं हुआ कि वकालत कर सकूं।

इस व्यथाका वर्णन करनेके लिए एक दूसरे अध्यायकी आवश्यकता होगी।

२५

मेरी दुविधा

बैरिस्टर कहलाना तो आसान मालूम हुआ, परंतु बैरिस्टरी करना बड़ा मुश्किल जान पड़ा। कानूनकी किताबें तो पढ़ डालीं, पर वकालत करना न सीखा। कानूनकी पुस्तकोंमें कितने ही धर्म-सिद्धांत मुझे मिले, जो मुझे पसंद हुए। परंतु यह समझमें न आया कि वकालतके पेशेमें उनसे कैसे फायदा उठाया जा सकेगा। 'अपनी चीजका इस्तैमाल इस तरह करो कि जिससे दूसरोंकी चीजको नुकसान न पहुंचे, यह धर्म-वचन मुझे कानूनमें मिला। परंतु यह समझमे न आया कि वकालत करते हुए मवक्किलके मुकदमेमें उसका व्यवहार किस तरह किया जाता होगा। जिन मुकदमोंमें इस सिद्धांतका उपयोग किया गया था, मैंने उनको पढ़ा। परंतु उनसे इस सिद्धांतको व्यवहारमें लानेकी तरकीब हाथ न आई।

दूसरे, जिन कानूनोंको मैंने पढ़ा उनमें भारतवर्षके कानूनोंका नाम तक न था। न यह जाना कि हिंदू-शास्त्र तथा इस्लामी कानून क्या चीज है। अर्जी-दावातक लिखना न जानता था! मै बड़ी दुविधामें पड़ा। फीरोजशाह मेहताका नाम मैंने सुना था। वह अदालतोंमें सिंह-समान गर्जना करते हैं। यह कला वह इंग्लैंडमें किस प्रकार सीखे होंगे? उनके जैसी निपुणता इस जन्ममें तो नहीं आने की, यह तो दूरकी बात है; किंतु मुझे तो यह भी जबरदस्त शक था कि एक वकीलकी हैसियतसे मै पेट-पालनेतकमें भी समर्थ हो सकूंगा या नहीं!

यह उथल-पुथल तो तभी से चल रही थी, जब मैं कानूनका अध्ययन कर रहा था। मैंने अपनी यह कठिनाई अपने एक-दो मित्रोंके सामने रक्खी। एकने कहा, दादाभाईकी सलाह लो। यह पहले ही लिख चुका हूं कि मेरे पास दादाभाईके नाम एक परिचय-पत्र था। उस पत्रका उपयोग मैंने देरसे किया। ऐसे महान् पुरुषसे मिलने जानेका मुझे क्या अधिकार है? कहीं यदि उनका भाषण होता तो मैं सुनने चला जाता और एक कोनेमें बैठकर आंख-कानको तृप्त करके वापस लौट आता। उन्होंने विद्यार्थियोंके संपर्कमें आनेके लिए एक मंडलकी भी स्थापना की थी। उसमें मैं जाया करता। दादाभाईकी विद्यार्थियोंके प्रति चिंता और दादाभाईके प्रति विद्यार्थियोंका आदर-भाव देखकर मुझे बड़ा आनंद होता। आखिर हिम्मत बांधकर एक दिन वह पत्र दादाभाईको दिया। उनसे मिला। उन्होंने कहा— 'तुम जब कभी मिलना चाहो और सलाह मशविरा लेना चाहो, जरूर मिलना।' लेकिन मैंने उन्हें कभी तकलीफ न दी। बगैर जरूरी कामके उनका समय लेना मुझे पाप मालूम हुआ। इसलिए, उस मित्रकी सलाहके अनुसार, दादाभाईके सामने अपनी कठिनाइयोंको रखनेकी मेरी हिम्मत न हुई।

उसी अथवा और किसी मित्रने मुझे मि० फ्रेडेरिक पिंकटसे मिलनेकी सलाह दी। मि० पिंकट कंजरवेटिव दलके थे, लेकिन भारतीयोंके प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। बहुत-से विद्यार्थी उनसे सलाह लेते। इसलिए मैंने एक पत्र लिखकर मिलनेको समय मांगा। उन्होंने मुझे समय दिया। मैं मिला। यह मुलाकात मैं आजतक न भूल सका। एक मित्रकी तरह वह मुझसे मिले। मेरी निराशाको तो उन्होंने हंसकर ही उड़ा दिया— "तुम क्यों ऐसा मानते हो कि हर आदमीके लिए फीरोजशाह होना जरूरी है? फीरोजशाह और बदरुद्दीन तो बिरले ही होते हैं। यह तो तुम निश्चय जानो कि एक मामूली मनुष्य प्रामाणिकता तथा उद्योगशीलतासे वकालतका पेशा अच्छी तरह चला सकता है। सब-के-सब मुकदमे कठिन और उलझे हुए नहीं होते। अच्छा, तुम्हारा सामान्य ज्ञान कैसा-क्या है?"

मैंने उसका जब परिचय दिया तब मुझे वह कुछ निराश-से मालूम हुए। किंतु वह निराशा क्षणिक थी। तुरंत ही फिर उनके चेहरेपर एक हंसीकी रेखा

दौड़ गई और बोले—

"तुम्हारी कठिनाईको अब में समझ पाया। तुम्हारा सामान्य ज्ञान बहुत ही कम है। तुम्हें दुनियाका ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकीलका काम नहीं चलता। तुमने तो भारतका इतिहास भी नहीं पढ़ा। वकीलको मनुष्य-स्वभावका परिचय होना चाहिए। उसे तो चेहरा देखकर आदमीको पहचानना आना चाहिए। दूसरे, हर भारतवासीको भारतवर्षके इतिहासका भी ज्ञान होना जरूरी है। यों वकालत के साथ इसका कोई संबंध नहीं है; किंतु उसका ज्ञान तुम्हें होना चाहिए। मैं देखता हूं कि तुमने 'के' तथा 'मैलेसन'की १८५७ के गदरपर लिखी पुस्तक भी नहीं पढ़ी है। उसे तो फौरन् ही पढ़ लेना। मैं दो पुस्तकोंके नाम और बतलाता हूं। उन्हें मनुष्यको पहचाननेके लिए जरूर पढ़ डालना।" यह कहकर उन्होंने लॅवेटर तथा शेमलपेनिककी 'मुख सामुद्रिक विद्या' (फिजियॉग्नामी) विषयक दो पुस्तकोंके नाम लिख दिये।

इन बुजुर्ग मित्रका मैंने खूब अहसान माना। उनके सामने तो एक क्षणके लिए मेरा डर भाग गया, किंतु बाहर निकलते ही फिर चिंता शुरू हुई। 'चेहरा देखकर आदमीको पहचान लेना' इस वाक्यको गुनगुनाता और उन दो पुस्तकोंका विचार करता-करता घर पहुंचा। दूसरे ही रोज लॅवेटरकी पुस्तक ख़रीद ली। शेमलपेनिककी किताब उस दूकानपर न मिली। लॅवेटरकी पुस्तक पढ़ी तो सही; किंतु वह तो स्नेलकी 'इक्विटी' की अपेक्षा भी कठिन मालूम हुई। दिलचस्प-भी बहुत कम थी। शेक्सपियरके चेहरेका अध्ययन किया, लेकिन लंदनकी सड़कों पर घूमते-फिरते शेक्सपियरोंको पहचानकी शक्ति बिलकुल न आई।

लॅवेटरकी पुस्तकसे मुझे ज्ञान नहीं मिला। मि० पिंकटकी सलाहकी अपेक्षा उनके स्नेहसे बहुत लाभ हुआ। उनकी हंसमुख तथा उदार मुखमुद्राने मेरे दिलमें जगह करली। उनके इस वचन पर, कि वकालत करनेके लिए फीरोजशाह मेहताके समान निपुणता, स्मरणशक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं होती, प्रामाणिकता व श्रमशीलतासे काम चल जायगा, मेरा विश्वास बैठ गया। इन दो चीजोंकी पूंजी तो मेरे पास काफी थी। अतः दिलकी गहराईमें कुछ आशा बंधी।

'के' तथा 'मैलेसन'की पुस्तकको मैं विलायतमें न पढ़ पाया। किंतु

मैंने समय मिलते ही पहले उसीको पढ़ डालनेका निश्चय कर लिया था। दक्षिण अफ्रीकामें जाकर मेरा यह मनोरथ पूरा हुआ।

यों निराशामें आशाका थोड़ा-सा मिश्रण लेकर मैं कांपते पैरोंसे 'आसाम' स्टीमरसे बम्बई बन्दरपर उतरा। बन्दरपर समुद्र क्षुब्ध था। लाँचमें बैठकर किनारेपर पहुंचना था।

भाग पहला समाप्त

दूसरा भाग

१

रायचन्दभाई

पिछले अध्यायमें मैं लिख चुका हूं कि बंबई-बंदरपर समुद्र क्षुब्ध था। जून-जुलाईमें हिंद-महासागरमें यह कोई नई बात नहीं होती। अदनसे ही समुद्रका यह हाल था। सब लोग बीमार पड़ गये थे—अकेला मैं मौजमें रहा था। तूफान देखनेके लिए डेकपर रहता और भीग भी जाता। सुबह भोजनके समय यात्रियोंमें हम एक ही दो नजर आते। हमें ओटकी पतली लपसी की रकाबीको गोदमें रखकर खाना पड़ता था; वर्ना हालत ऐसी थी कि लपसी गोदमें ही ढुलक पड़ती।

यह बाहरी तूफान मेरे लिए तो अंदरके तूफानका चिह्न-मात्र था। परंतु बाहरी तूफान के रहते हुए भी मैं जिस प्रकार अपनेको शांत रख सकता था, वही बात आंतरिक तूफानके संबंधमें भी कही जा सकती है। जातिवालोंका सवाल तो सामने था ही। वकालतकी चिंताका हाल पहले ही लिख चुका हूं। फिर मैं ठहरा सुधारक। अतः मनमें कितने ही सुधार करनेके मनसूबे बांध रक्खे थे। उनकी भी चिंता थी। एक और अकल्पित चिंता खड़ी हो गई।

माताजीके दर्शन करनेके लिए मैं अधीर हो रहा था। जब हम डॉकपर पहुंचे तो मेरे बड़े भाई वहां मौजूद थे। उन्होंने डाक्टर मेहता तथा उनके बड़े भाईसे जान-पहचान कर ली थी। डाक्टर चाहते थे कि मैं उन्हींके घर ठहरूं, सो वह मुझे वहीं लिवा ले गये। इस तरह विलायतमें जो संबंध बंधा था वह देशमें भी कायम रहा। यही नहीं, बल्कि अधिक दृढ़ होकर दोनों परिवारोंमें फैला।

माताजीके स्वर्गवासके बारेमें मैं बिलकुल बेखबर था घर पहुंचनेपर मुझे यह समाचार सुनाया और स्नान कराया गया। यह खबर मुझे विलायतमें भी दी जा सकती थी; पर इस विचारसे कि मुझे आघात कम पहुंचे मेरे बड़े भाईने बंबई पहुंचने तक मुझे खबर न पहुंचानेका ही निश्चय किया। अपने इस

दुःखपर मैं परदा डालना चाहता हूं। पिताजीकी मृत्युसे अधिक आघात मुझे इस समाचार को पाकर पहुंचा। मेरे कितने ही मनसूबे मिट्टीमें मिल गये। पर मुझे याद है कि इस समाचार को सुनकर मैं रोने-चीखने नहीं लगा था। आंसूतकको प्रायः रोक पाया था। और इस तरह व्यवहार शुरू रक्खा, मानो माताजीकी मृत्यु हुई ही न हो

डाक्टर मेहताने अपने घरके जिन लोगोंसे परिचय कराया, उनमेंसे एकका जिक्र यहां किये बिना नहीं रह सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन के साथ तो जीवन-भरके लिए स्नेह-गांठ बंध गई। परतु जिनकी बात मैं कहना चाहता हूं वह तो है कवि रायचंद्र अथवा राजचंद्र। वह डाक्टर साहब के बड़े भाईके दामाद थे और रेवाशंकर जगजीवनकी दूकानके भागीदार तथा कार्यकर्ता थे। उनकी अवस्था उस समय २५ वर्षसे अधिक न थी। फिर भी पहली ही मुलाकातमें मैंने यह देख लिया कि वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शतावधानी माने जाते थे। डाक्टर मेहताने कहा कि इनके शतावधानका नमूना देखना। मैंने अपने भाषा-ज्ञानका भंडार खाली कर दिया और कविजीने मेरे कहे तमाम शब्दोंको उसी नियमसे कह सुनाया, जिस नियमसे मैने कहा था। इस सामर्थ्यपर मुझे ईर्ष्या तो हुई; किंतु उसपर मैं मुग्ध न हो पाया। जिस चीजपर मैं मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ। वह था उनका विशाल शास्त्रज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शन करनेकी उनकी भारी उत्कंठा। मैंने आगे चलकर तो यह भी जाना कि केवल आत्म-दर्शन करनेके लिए वह अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

हसतां रमतां प्रगट हरि देखूं रे
मारुं जीव्यूं सफल तव लेखूं रे;
मुक्तानंद नो नाथ विहारी रे
ओधा जीवनदोरी अमारी रे।[1]

---

[1] भावार्थ यह कि मैं अपना जीवन तभी सफल समझूंगा, जब मैं हंसते-खेलते ईश्वरको अपने सामने देखूंगा। निश्चय-पूर्वक वही मुक्तानंद की जीवन-डोरी है। —अनु०

मुक्तानंदका यह वचन उनकी जबानपर तो रहता ही था, पर उनके हृदयमें भी अंकित हो रहा था ।

खुद हजारोंका व्यापार करते, हीरेमोतीकी परख करते, व्यापारकी गुत्थियां सुलझाते, पर वे बातें उनका विषय न थीं । उनका विचार--उनका पुरुषार्थ तो--आत्म-साक्षात्कार--हरिदर्शन था । दूकानपर और कोई चीज हो या न हो, एक-न-एक धर्म-पुस्तक और डायरी जरूर रहा करती । व्यापारकी बात जहां खतम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोजनामचेपर कलम चलने लगती । उनके लेखोंका संग्रह गुजरातीमें प्रकाशित हुआ है, उसका अधिकांश इस रोजनामचेके ही आधारपर लिखा गया है । जो मनुष्य लाखोंके सौदेकी बात करके तुरंत आत्मज्ञानकी गूढ़ बातें लिखने बैठ जाता है वह व्यापारीकी श्रेणीका नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानीकी कोटिका है । उनके संबंधमें यह अनुभव मुझे एक बार नहीं अनेक बार हुआ है । मैंने उन्हें कभी गाफिल नहीं पाया । मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था । मैं उनके बहुत निकट समागममें आया हूं । मैं उस वक्त एक ठलुआ बैरिस्टर था । पर जब मैं उनकी दुकानपर पहुंच जाता तो वह धर्म-वार्ताके सिवा दूसरी कोई बात न करते । इस समयतक मैं अपने जीवनकी दिशा न देख पाया था; यह भी नहीं कह सकते कि धर्म-वार्ताओंमें मेरा मन लगता था । फिर भी मैं कह सकता हूं कि रायचंदभाईकी धर्म-वार्ता मैं चावसे सुनता था । उसके बाद मैं कितने ही धर्माचार्योंके संपर्कमें आया हूं, प्रत्येक धर्मके आचार्योंसे मिलनेका मैंने प्रयत्न भी किया है; पर जो छाप मेरे दिलपर रायचंदभाईकी पड़ी, वह किसी की न पड़ सकी । उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अंतस्तलतक पहुंच जातीं । उनकी बुद्धिको मैं आदरकी दृष्टिसे देखता था । उनकी प्रामाणिकतापर भी मेरा उतना ही आदर-भाव था । और इसमें मैं जानता था कि वह जान-बूझकर उल्टे रास्ते नहीं ले जायंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे, जिसे वह अपने जीमें ठीक समझते होंगे । इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयोंमें उनकी सहायता लेता ।

रायचंदभाईके प्रति इतना आदर-भाव रखते हुए भी मैं उन्हें धर्मगुरुका स्थान अपने हृदयमें न दे सका । धर्म-गुरुकी तो खोज मेरी अबतक चल रही है ।

हिंदू-धर्ममें गुरुपदको जो महत्त्व दिया गया है उसे मैं मानता हूं । 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांशमें सच है । अक्षर-ज्ञान देनेवाला शिक्षक

यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है, परंतु आत्म-दर्शन करानेवाले अधूरे शिक्षकसे हरगिज काम नहीं चलाया जा सकता। गुरुपद तो पूर्ण ज्ञानीको ही दिया जा सकता है। सफलता गुरुकी खोजमें ही है; क्योंकि गुरु शिष्यकी योग्यताके अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधनको योग्यता-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका पूरा-पूरा अधिकार है। परंतु इस प्रयत्नका फल ईश्वराधीन है।

इसीलिए रायचंदभाईको मैं यद्यपि अपने हृदयका स्वामी न बना सका, तथापि हम आगे चलकर देखेंगे कि उनका सहारा मुझे समय-समयपर कैसा मिलता रहा है। यहां तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवनपर गहरा असर डालने-वाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं--- रायचंदभाईने अपने सजीव संसर्गमें, टॉलस्टॉयने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदयमें है' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किनने 'अनटु दिस लास्ट'--- सर्वोदय---नामक पुस्तकसे मुझे चकित कर दिया है। इन प्रसंगोंका वर्णन अपने-अपने स्थानपर किया जायगा।

२

संसार-प्रवेश

बड़े भाईने तो मुझपर बहुतेरी आशायें बांध रक्खी थी। उन्हें धनका, कीर्तिका, और ऊंचे पदका लोभ बहुत था। उनका हृदय बादशाहके जैसा था। उदारता उड़ाऊपनतक उन्हें ले जाती। इससे तथा उनके भोलेपनके कारण मित्र बनाते उन्हें देर न लगती। उन मित्रोंके द्वारा उन्होंने मेरे लिए मुकदमे लानेकी तजवीज कर रक्खी थी। उन्होंने यह भी मान लिया था कि मैं खूब रुपया कमाने लगूंगा और इस भरोसेपर उन्होंने घरका खर्च भी खूब बढ़ा लिया था। मेरे लिए वकालतका क्षेत्र तैयार करनेमें भी उन्होंने कसर न उठा रक्खी थी।

इधर जातिका झगड़ा अभी खड़ा ही था। उसमें दो दल हो गये थे। एक दलने मुझे तुरंत जातिमें ले लिया। दूसरा न लेनेके पक्षमें अटल रहा। जातिमें ले लेनेवाले दलको संतुष्ट करने के लिए, राजकोट पहुंचनेके पहले, भाई-साहब मुझे नासिक ले गये। वहां गंगा-स्नान कराया और राजकोटमें पहुंचते ही

जातिभोज दिया गया ।

यह बात मुझे रुचिकर न हुई । बड़े भाईका मेरे प्रति अगाध प्रेम था । मेरा खयाल है कि मेरी भक्ति भी वैसा ही थी । इसलिए उनकी इच्छाको आज्ञा मानकर मैं यंत्रकी तरह बिना समझे, उसके अनुकूल होता चला गया । जातिकी समस्या तो इतना करनेसे सुलझ गई ।

जिस दलसे मैं पृथक् रहा, उसमें प्रवेश करनेके लिए मैंने कभी कोशिश न की, और न मैं कभी जातिके मुखियापर मनमें क्रुद्ध ही हुआ । उसमें ऐसे लोग भी थे जो मुझे तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते थे । उनसे मैं नमता-झुकता रहता । जातिके बहिष्कार-विषयक नियमका पूरा पालन करता । अपने सास-ससुर अथवा बहनके यहां पानीतक न पीता । वे छिपे-छिपे पिलानेको तैयार होते थे । पर जिस बातको चार आदमियोंके सामने नही कर सकते, उसे छिपकर करनेको मेरा जी न चाहता ।

मेरे इस व्यवहारका परिणाम यह हुआ कि मुझे याद नहीं आता कि जातिवालोंने कभी किसी तरह मुझे सताया हो । यही नही, बल्कि मैं आज भी जातिके एक विभागसे नियमके अनुसार बहिष्कृत माना जाता हूं, फिर भी मैंने अपने प्रति उनकी तरफसे मान और उदारताका ही अनुभव किया है । उन्होंने मुझे मेरे काममें मदद भी की है, और मुझसे इस बातकी जरा भी आशा न रक्खी कि मैं जातिके लिहाज से कोई काम करूं । मेरी यह धारणा है कि इस मधुर फलका कारण है केवल मेरा अप्रतिकार । यदि मैंने जातिमें जानेकी कोशिश की होती, अधिक दलबंदी करनेकी चेष्टा की होती, जातिवालोंको छेड़ा और उकसाया होता, वे मेरे खिलाफ उठ खड़े होते और मैं, विलायतसे आते ही, उदासीन और अलिप्त रहनेके बदले, कुचक्रके फंदेमें पड़कर केवल मिथ्यात्वका पोषक बन जाता ।

पत्नीके साथ मेरा संबंध अभी जैसा मैं चाहता था वैसा न हुआ । विलायत जानेपर भी अपने द्वेष-दुष्ट स्वभावको मैं न छोड़ सका था । हर बातमें मेरी दोष देखनेकी वृत्ति और वहम जारी रहा । इससे मैं अपने मनोरथोंको पूरा न कर सका । सोचा था कि पत्नीको लिखना-पढ़ना सिखाऊंगा; परंतु मेरी विषया-सक्तिने मुझे यह काम बिलकुल न करने दिया और अपनी इस कमीका गुस्सा

मैंने पत्नी पर निकाला। एक बार तो यहांतक नौबत आ पहुंची कि मैंने उसे नैहर भेज दिया और बहुत कष्ट देनेके बाद ही फिर साथ रहने देना स्वीकार किया। आगे चलकर मैं देख सका कि यह महज मेरी नादानी ही थी।

बालकोंकी शिक्षा-प्रणालीमें भी मुझे बहुत-कुछ सुधार करने थे। बड़े भाईके लड़के-बच्चे तो थे ही। मैं भी एक बच्चा छोड़ गया था, जो कि अब चार सालका होने आया था। सोचा यह था कि इन बच्चोंको कसरत कराऊंगा, हट्टा-कट्टा बनाऊंगा और अपने साथ रक्खूंगा। भाई इसमें सहमत थे। इसमें मैं कुछ-न-कुछ सफलता प्राप्त कर सका। लड़कोंका समागम मुझे बहुत प्रिय मालूम हुआ। और उनके साथ हंसी-मजाक करनेकी आदत आजतक बाकी रह गई है। तभीसे मेरी यह धारणा हुई है कि मैं लड़कोंके शिक्षकका काम अच्छा कर सकता हूं।

भोजन-पानमें भी सुधार करनेकी आवश्यकता स्पष्ट थी। घरमें चाय-काफीको तो स्थान मिल ही चुका था। बड़े भाईने सोचा कि भाईके विलायतसे घर आनेके पहले घरमें विलायतकी कुछ-न-कुछ हवा तो आ ही जानी चाहिए। इस कारण चीनीके बरतन, चाय आदि जो भी चीजें पहले महज दवा-दारूके लिए अथवा नई रोशनीके महमानोंके लिए घरमें रहती थीं अब सबके लिए काम आने लगीं। ऐसे वायु-मंडलमें मैं अपने 'सुधारों'को लेकर आया। अब ओटमीलकी पतली लपसी शुरू हुई। चाय-काफीकी जगह कोको आया। पर यह परिवर्तन नाममात्रका हुआ, वास्तवमें तो चाय-काफीमें कोको और आकर शामिल हो गया। बूट और मोजोंने अपना अड्डा पहलेसे जमा ही रक्खा था। मैंने अब कोट-पतलूनसे घरको पवित्र कर दिया।

इस तरह खर्च बढ़ा। नवीनतायें बढ़ीं। घरपर सफेद हाथी बंधा। पर इतना खर्च आये कहांसे? यदि राजकोटमें आते ही वकालत शुरू करता तो हंसी होनेका डर था, क्योंकि मुझे तो अभी इतना भी ज्ञान न था कि राजकोटमें पास हुए वकीलोंके सामने खड़ा रह सकता—और तिसपर फीस उनसे दस गुनी लेनेका दावा। कौन मवक्किल ऐसा बेवकूफ था, जो मुझे अपना वकील बनाता? अथवा यदि कोई ऐसा मूर्ख मवक्किल मिल भी जाता, तो क्या यह उचित था कि मैं अपने अज्ञानमें गुस्ताखी और धोखेबाजीकी जोड़ मिलाकर अपनेपर संसारका कर्ज बढ़ाता?

मित्रोंकी यह सलाह हुई कि पहले मैं कुछ समय बंबई जाकर हाईकोर्ट में अनुभव प्राप्त करूं और भारतके कानून-कायदोंका अध्ययन करूं। साथ ही मुकदमे मिल जायं तो वकालत भी करता रहूं। मैं बंबई रवाना हुआ।

घर-बार रचा। रसोइया रक्खा। वह तकदीरसे मिला मुझ-जैसा ही। ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकरकी तरह नहीं रक्खा था। वह नहाता तो था, पर धोता न था। धोती मैली, जनेऊ मैला, शास्त्राध्ययनकी तो बात ही दूर। मगर और अधिक अच्छा रसोइया लाता कहां से ?

"क्यों रविशंकर, रसोई बनाना तो जानते हो, पर संध्या वगैरा भी कुछ याद है ?"

"संध्या ? साहब, संध्या-तर्पण तो है हल और कुदाली है खटकरम। मैं तो ऐसा ही बामन हूं। आप जैसे है, तो निबाह लेते हैं, नहीं तो खेती बनी-बनाई है ही।"

मैं सब समझ गया। मुझे रविशंकरका शिक्षक बनना होगा। समय तो बहुत था। आधी रसोई रविशंकर पकाता और आधी मैं। विलायतके अन्न-भोजनके प्रयोग यहां शुरू किये। एक स्टोव खरीदा। मैं खुद तो पंक्ति-भेद मानता ही न था। इधर रविशंकरको भी पंक्ति-भेद का आग्रह न था। सो हमारी खासी जोड़ी मिल गई। सिर्फ इतनी शर्त—अथवा मुसीबत कहिए—थी कि रविशंकरने मैले-कुचैलेपनसे नाता तोड़ने और रसोई साफ रखनेकी कसम खा रक्खी थी।

पर मैं चार-पांच माससे अधिक बंबई न रह सकता था। क्योंकि खर्च बढ़ता ही जाता था और आमदनी कुछ न होती थी।

इस तरह जो मैंने संसारमें प्रवेश किया तो अपनी बैरिस्टरी मुझे खलने लगी। आडंबर बहुत, आमदनी कम। जिम्मेदारीका खयाल मुझे भीतर-ही-भीतर कुतरने-नोचने लगा।

३

पहला मुकदमा

बंबईमें एक ओर कानूनका अध्ययन शुरू हुआ, दूसरी ओर भोजनके प्रयोग। उसमें मेरे साथ वीरचंद गांधी सम्मिलित हुए। तीसरी ओर भाईसाहब मेरे लिए मुकदमे खोजने लगे।

कानून पढ़नेका काम ढिलाईसे चला। 'सिविल प्रोसिजर कोड' किसी तरह आगे नहीं चल सका। हां, कानून-शहादत ठीक चला। वीरचंद गांधी सालिसिटरीकी तैयारी करते थे, इसलिए वकीलोंकी बातें बहुत करते—'फीरोजशाहकी योग्यता और निपुणताका कारण है उनका कानून-विषयक अगाध ज्ञान, कानून-शहादत तो उन्हें बर-जबान है। दफा बत्तीसका एक-एक मुकदमा वह जानते हैं। बदरुद्दीन तैयबजीकी बहस करने और दलीलें देनेकी शक्ति ऐसी अद्भुत है कि जज लोग भी चकित हो जाते हैं।'

ज्यों-ज्यों मैं ऐसे अतिरथी-महारथियोंकी बातें सुनता त्यों-त्यों मेरे छक्के छूटते।

"बैरिस्टर लोगोंका पांच-सात सालतक अदालतोंमें मारे-मारे फिरना कोई गैर-मामूली बात नहीं है। इसीसे मैंने सालिसिटर होना ठीक समझा है। तीन सालके बाद यदि तुम अपने खर्च-भरके लिए पैदा कर सको तो बहुत समझना।"

खर्च हर महीने चढ़ रहा था। बाहर बैरिस्टरकी तख्ती लगी रहती और अंदर बैरिस्टरी की तैयारी होती रहती। मेरा दिल इन दोनों बातोंमें किसी तरह मेल न बैठा सकता था। इस कारण मेरा अध्ययन बड़ी परेशानीमें चलता। मैं पहले कह चुका हूं कि कानून-शहादतमें कुछ मेरा दिल लगा। मेनका 'हिंदू-लॉ' बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा। परंतु पैरवी करनेकी हिम्मत अभी न आई। किंतु अपना यह दुःख मैं किससे कहता? ससुरालमें आई नई बहूकी तरह मेरी हालत हो गई!

इतनेमें ही तकदीरसे ममीबाईका मुकदमा मुझे मिला। मामला स्माल काज कोर्टमें था। प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'दलालको कमीशन देना पड़ेगा।'

मैंने साफ इन्कार कर दिया ।

"परंतु फौजदारी अदालतके नामी वकील भी तो कमीशन देते हैं, जोकि तीन-चार हजार महीना कमा लेते हैं ।"

"मुझे उनकी बराबरी नहीं करना । मुझे तो ३००) मासिक मिल जायं तो बस । पिताजीको कहां इससे ज्यादा मिलते थे ?"

"पर वह जमाना निकल गया । बंबईका खर्च कितना है ? जरा व्यवहारकी बातोंको भी देखना चाहिए ।"

पर मैं टस-से-मस न हुआ । कमीशन बिलकुल न देने दिया । ममीबाईका मुकदमा तो मिला ही । मुकदमा था आसान । मुझे ३०) मिहनताना मिला था । एक दिनसे ज्यादाका काम न था ।

स्माल काज कोर्टमें पहले-पहल मैं पैरवी करने गया । मैं मुद्दालेकी तरफसे था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी । मैं खड़ा हुआ; पर पैर कांपने लगे, सिर घूमने लगा । मुझे मालूम हुआ कि सारी अदालत घूम रही है । सवाल क्या पूछूं, यह सूझ नहीं पड़ता था । जज हंसा होगा । वकीलोंको तो मजा आया ही होगा । पर उस समय मेरी आंखें यह सब कहां देख सकती थीं ?

मैं बैठ गया । दलालसे कहा कि मैं इस मामलेकी पैरवी न कर सकूंगा । तुम पटेलको वकालतनामा दे दो और अपनी यह फीस वापस ले लो । उसी दिन ५१) देकर पटेल साहबसे तय कर दिया । उनके लिए तो यह बायें हाथका खेल था ।

मैं वहांसे सटका । पता नहीं, मवक्किल हारा या जीता । मैं बड़ा लज्जित हुआ । निश्चय किया कि जबतक पूरी-पूरी हिम्मत न आजाय, तबतक कोई मुकदमा न लूंगा । और दक्षिण अफ्रीका जानेतक अदालतमें न गया । इस निश्चयमें कोई बल न था । हारनेके लिए कौन अपना मुकदमा मुझे देता ? अतः मेरे इस निश्चयके बिना भी कोई मुझे पैरवी करने आनेका कष्ट न देता ।

पर बंबईमें अभी एक और मुकदमा मिलना बाकी था । इसमें सिर्फ अर्जी लिखनी थी । एक मुसलमानकी जमीन पोरबंदरमें जब्त हो गई थी । मेरे पिताका नाम वह जानता था । और इसलिए वह उनके बैरिस्टर पुत्रके पास आया था । मुझे उसका मामला कमजोर मालूम हुआ, परंतु मैंने अर्जी लिख देना मंजूर कर लिया । छपाईका खर्च मवक्किलसे ठहराकर मैंने अर्जी तैयार

की। मित्रोंको दिखाई। उन्होंने उसे पास किया, तब मुझे कुछ विश्वास हुआ कि हां अब अर्जियां लिख लेने लायक हो जाऊंगा, और इतना तो हो भी गया था।

पर मेरा काम बढ़ता गया। यों मुफ्तमें अर्जियां लिखते रहनेसे अर्जियां लिखनेका मौका तो मिलता; पर उसमे घर-गिरस्तीके खर्चका सवाल कैसे हल हो सकता था ?

मैंने सोचा कि मै शिक्षणका काम तो अवश्य कर सकता हूं। अंग्रेजी मेरी अच्छी थी। इसलिए, यदि किसी स्कूलमें मैट्रिक क्लासको अंग्रेजी पढ़ाने अवसर मिले तो अच्छा हो। कुछ तो आमदनी हुआ करेगी।

मैंने अखबारोंमें पढ़ा—'चाहिए, अंग्रेजी शिक्षक। रोज एक घंटेके लिए। वेतन ७५)।' यह एक प्रख्यात हाईस्कूलका विज्ञापन था। मैंने दरख्वास्त दी। रूबरू मिलनेका हुक्म मिला। मै बड़ी उमंगसे गया। पर जब आचार्यको मालूम हुआ कि मै बी० ए० नहीं हूं तब उन्होंने मुझे दुःखके साथ वापस लौटा दिया।

"पर मैंने लंदनमे मैट्रिक पास किया है। मेरी दूसरी भाषा लैटिन थी।"

"सो तो ठीक, पर हमें ग्रेजुएटकी ही जरूरत है।"

मै लाचार रहा। मेरे हाथ-पांव ठंडे हो गये। बड़े भाई भी चिंतामें पड़े। हम दोनोंने सोचा कि बंबईमें अधिक समय गंवाना फिजूल है। मुझे राजकोटमें ही सिलसिला जमाना चाहिए। भाई खुद एक वकील थे। अर्जियां लिखनेका कुछ-न-कुछ तो काम दिला ही सकेंगे। फिर राजकोटमें घर भी था। वहां रहनेसे बंबईका सारा खर्च कम हो सकता था। मैंने इस सलाहको पसंद किया। पांच-छः महीने रहकर बंबईसे डेरा-डंडा उठाया।

बंबई रहते हुए मै रोज हाईकोर्ट जाता। पर यह नहीं कह सकता कि वहां कुछ सीख पाया। इतना ज्ञान न था कि सीख सकता। कितनी ही बार तो मुकदमेमें कुछ समझ ही नहीं पड़ता, न दिल ही लगता। बैठे-बैठे झोंके भी खाया करता। और भी झोंके खानेवाले वहां थे—इससे मेरी शर्मका बोझ हलका हो जाता। आगे चलकर मैं यह समझने लगा कि हाईकोर्टमें बैठे-बैठे नींदके झोंके खाना एक फैशन ही समझ लेना चाहिए। फिर तो शर्मका कारण ही न रह गया।

यदि इस युगमें बंबईमें मुझ जैसे कोई बेकार बैरिस्टर हों तो उनके लिए

एक छोटा-सा अपना अनुभव यहां लिख देता हूं ।

मेरा मकान गिरगांव में था । फिर भी कभी-कभी ही गाड़ी किराये करता । ट्राममें भी मुश्किलसे बैठता । गिरगांवसे नियम-पूर्वक बहुत करके पैदल ही जाता । उसमें खासे ४५ मिनट लगते । लौटता भी बिला नागा पैदल ही । दिनमें धूप सहनेकी आदत डाल ली थी । इससे मैंने खर्चमें किफायत भी बहुत की और मैं एक दिन भी वहां बीमार न पड़ा, हालांकि मेरे साथी बीमार होते रहते थे । जब मैं कमाने लगा था, तब भी मैं पैदल ही आफिस जाता । उसका लाभ मैं आजतक पा रहा हूं ।

४

पहला आघात

बंबईसे निराश होकर राजकोट गया । अलहदा दफ्तर खोला । कुछ सिलसिला चला । अर्जियां लिखनेका काम मिलने लगा और प्रतिमास लगभग ३००)की आमदनी होने लगी । इन अर्जियोंके मिलनेका कारण मेरी योग्यता नहीं बल्कि जरिया था । बड़े भाई साहबके साथी वकीलकी वकालत अच्छी चलती थी । जो बहुत जरूरी अर्जियां आती अथवा जिन्हें वे महत्वपूर्ण समझते वे तो बैरिस्टर के पास जातीं, मुझे तो सिर्फ उनके गरीब मवक्किलोंकी अर्जियां मिलतीं ।

बंबईवाली कमीशन न देनेकी मेरी टेक यहां न निभ सकी । वहां और यहांकी स्थितिका भेद मुझे समझाया गया––बंबईमें तो दलालको कमीशन देनेकी बात थी। यहां वकीलको देनेकी बात है । मुझसे कहा गया कि बंबईकी तरह यहां भी तमाम बैरिस्टर, बिना अपवादके, कुछ-न-कुछ कमीशन अवश्य दिया करते हैं । भाई साहबकी दलीलका उत्तर मेरे पास न था । 'तुम देखते हो कि मैं एक दूसरे वकीलका साझी हूं । मेरे पास आनेवाले मुकदमोंमेंसे तुम्हारे लायक मुकदमे तुम्हें देनेकी ओर मेरी प्रवृत्ति स्वभावतः रहती है और यदि तुम अपनी फीसका कुछ अंश मेरे साझीको न दो तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो सकती है ? हम तो एक साथ रहते हैं, इसलिए मुझे तो तुम्हारी फीसका लाभ मिल ही जाता

है ; पर मेरे साझीदारको नहीं मिलता। किंतु यदि वही मुकदमा वह किसी दूसरेको दे दे तो उसका हिस्सा अवश्य मिलेगा।' मैं इस दलीलके चक्करमें आ गया और मेरे मनने कहा—'यदि मुझे बैरिस्टरी करना है, तो फिर ऐसे मुकदमोंमें कमीशन न देनेका आग्रह मुझे न रखना चाहिए।' मैं झुक गया। अपने मनको फुसलाया अथवा स्पष्ट शब्दोंमें कहें तो धोखा दिया। पर इसके सिवा दूसरे किसी मामलेमें कमीशन दिया हो, यह मुझे याद नहीं पड़ता।

इस तरह यद्यपि मेरा आर्थिक सिलसिला तो लग गया, परंतु इसी अरसेमें मुझे अपने जीवनमें एक पहली ठेस लगी। अबतक मैंने सिर्फ कानोंसे सुन रक्खा था कि ब्रिटिश अधिकारी कैसे होते हैं। पर अब अपनी आंखों देखनेका अवसर मिला।

पोरबंदरके भूतपूर्व राणा साहबको गद्दी मिलनेके पहले मेरे भाई उनके मंत्री और सलाहकार थे। उस समय उनपर यह तोहमत लगाई थी कि वह राणा साहबको उलटी सलाह देते हैं। तात्कालिक पोलिटिकल एजेंटसे उनकी शिकायत की गई थी और उनका खयाल भाई साहबके प्रति खराब हो रहा था। इन साहबसे मैं विलायतमें मिला था। वहां उनसे मेरी ठीक-ठीक मित्रता हो गई थी। भाई साहबने सोचा कि इस परिचयसे लाभ उठाकर मैं पोलिटिकल एजेंटसे दो बातें कहूं और उनके दिलपर जो-कुछ बुरा असर पैदा हो उसे दूर करनेकी चेष्टा करूं। मुझे यह बात बिलकुल पसंद न हुई। मैंने कहा—"विलायतकी ऐसी-वैसी मुलाकातका फायदा यहां न उठाना चाहिए। यदि भाई साहबने सचमुच ही कोई बुरा काम किया हो, तो फिर सिफारिशसे लाभ ही क्या ? यदि न किया हो तो फिर बाकायदा अपना वक्तव्य पेश करना चाहिए अथवा अपनी निर्दोषतापर विश्वास रखकर निर्भय हो रहना चाहिए।" पर भाई साहबको यह बात न पटी। "तुम काठियावाड़से परिचित नहीं हो। जिंदगीकी खबर तुम्हें अब पड़ेगी; यहां जरिया और मेल-मुलाकातसे सब काम होता है। तुम्हारे जैसा भाई हो और तुम्हारे मुलाकाती हाकिमको थोड़ी-सी सिफारिश करनेका जब वक्त आवे तब तुम इस तरह पिंड छुड़ा लो, यह उचित नहीं।"

भाईकी मुरव्वत मैं न तोड़ सका। अपनी इच्छाके खिलाफ मैं गया। मुझे उस हाकिमके पास जानेका कोई अधिकार न था। मैं जानता था कि जानेमें

मेरा आत्माभिमान जाता है। मैंने मिलनेका समय मांगा। वह मिला और मैं गया। मैंने पुरानी पहचान निकाली, परंतु मैंने तुरंत देखा कि विलायत और काठियावाड़में भेद था। हुकूमनकी कुर्सीपर डटे हुए साहब और विलायतमें छुट्टीपर गये हुए साहबमें भेद था। पोलिटिकल एजेंटको मुलाकात तो याद आई, पर साथ ही अधिक बेरुख भी हुए। उनकी बेरुखाईमें मैंने देखा, उनकी आंखोंमें मैंने पढ़ा— 'उस परिचयसे लाभ उठाने तो तुम यहां नहीं आये हो?' यह जानते-समझते हुए भी मैंने अपना सुर छेड़ा। साहब अधीर हुए—"तुम्हारे भाई कुचक्री हैं। मैं तुमसे ज्यादा बात नहीं सुनना चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाईको कुछ कहना हो तो बाकायदा अर्जी पेश करे।" यह उत्तर बस था; परंतु गरज बावली होती है। मैं अपनी बात कहता ही जा रहा था। साहब उठे। बोले—"अब तुमको चला जाना चाहिए।"

मैंने कहा—"पर, मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए!" साहब लाल-पीले हुए—"चपरासी, इसको दरवाजेके बाहर करदो।"

'हुजूर' कहकर चपरासी दौड़ आया। मेरा चर्खा अभीतक चल ही रहा था। चपरासीने मेरा हाथ पकड़ा और दरवाजेके बाहर कर दिया।

साहब चले गये, चपरासी भी चला गया। मैं भी चला—झुंझलाया, खिसियाया। मैंने साहबको चिट्ठी लिखी—"आपने मेरा अपमान किया है, चपरासीसे मुझपर हमला कराया है। मुझसे माफी मांगो, नहीं तो बाकायदा मानहानिका दावा करूंगा।" चिट्ठी भेज दी। थोड़ी ही देरमें साहबका सवार जवाब ले आया।

"तुमने मेरे साथ असभ्यताका बर्ताव किया। तुमसे कह दिया था कि जाओ, फिर भी तुम न गये। तब मैंने जरूर चपरासीको कहा कि इन्हें दरवाजेके बाहर कर दो। और चपरासीके ऐसा कहनेपर भी तुम बाहर नहीं गये। तब उसने हाथ पकड़कर तुम्हें दफ्तरसे बाहर कर दिया। इसके लिए तुमको जो-कुछ करना हो, शौकसे करो।" जवाबका भाव यह था।

इस जवाबको जेबमें रख, अपना-सा मुंह ले, मैं घर आया। भाईसे सारा हाल कहा। उन्हें दुःख हुआ। पर वह मेरी सांत्वना क्या कर सकते थे? वकील मित्रोंसे सलाह ली—क्योंकि खुद मैं दावा दायर करना कहां जानता था?

उस समय सर फीरोजशाह मेहता अपने किसी मुकदमेमें राजकोट आये थे। मुझ-जैसा नया बैरिस्टर भला उनसे कैसे मिल सकता था ? जिस वकीलकी मार्फत वह आये थे उनके द्वारा कागज-पत्र भेजकर सलाह ली। उत्तर मिला कि गांधीसे कहना—'ऐसी बातें तो तमाम वकील-बैरिस्टरोंके अनुभवमें आई होंगी। तुम अभी नये आये हो। तुमपर अभी विलायतकी हवा का असर है, तुम ब्रिटिश अधिकारीको पहचानते नहीं। यदि तुम चाहते हो कि सुखसे बैठकर दो पैसे कमा लें तो उस चिट्ठीको फाड़ डालो और अपमानकी यह घूंट पी डालो। मामला चलानेमें तुम्हें एक कौड़ी न मिलेगी और मुफ्तमें बरबादी हाथ आवेगी। जिंदगीका अनुभव तो तुम्हें अभी मिलना बाकी है।'

मुझे यह नसीहत जहरकी तरह कड़वी लगी। परंतु इस कड़वी घूंटको पीये बिना चारा न था। मैं इस अपमान को भूल तो न सका; पर मैंने उसका सदुपयोग किया—'अबसे मैं अपनेको ऐसी हालतमे न डालूंगा। इस तरह किसीकी सिफारिश आगे न करूंगा।' इस नियमका भंग मैंने फिर कभी न किया। इस आघातने मेरे जीवनकी दिशा बदल दी।

५

दक्षिण अफ्रीकाकी तैयारी

पोलिटिकल एजेंटके पास मेरा जाना अवश्य अनुचित था; परंतु उसकी अधीरता, उसका रोष, उसकी उद्धतताके सामने मेरा दोष बहुत छोटा हो गया। मेरे दोषकी सजा धक्का दिलाना न थी। मैं उसके पास पांच मिनट भी न बैठा होऊंगा। पर मेरा तो बात-चीत करना ही उसे नागवार हो गया। वह मुझे सौजन्यके साथ जानेके लिए कह सकता था, परंतु हुकूमतके नशेकी सीमा न थी। बादको मुझे मालूम हुआ कि धीरज जैसी किसी चीजको यह शख्स जानता न था। मिलने जानेवालेका अपमान करना उनके लिए मामूली बात थी। जहां उसकी रुचिके खिलाफ कोई बात हुई कि फौरन उसका मिजाज बिगड़ जाता।

मेरा ज्यादातर काम उसीकी अदालतमे था। इधर खुशामद मुझसे हो नहीं सकती थी। और उसे नाजायज तरीकेसे खुश करना मैं चाहता न था।

नालिश करनेकी धमकी देकर नालिश न करना और उसे कुछ भी जवाब न देना मुझे अच्छा न लगा ।

इस बीच काठियावाड़की अंदरूनी खटपटका भी मुझे कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्योंका प्रदेश है। वहां राजकाजी लोगोंकी बहुतायत होना स्वाभाविक था । राज्योंमें परस्पर गहरे षड्यंत्र; पद-प्रतिष्ठा पानेके लिए षड्यंत्र; राजा कच्चे कानके और पराधीन; साहबोंके चपरासियोंकी खुशामद; सरिश्तेदारको डेढ़ साहब समझिए—क्योंकि सरिश्तेदार साहबकी आंख, साहबके कान, और उसका दुभाषिया सब कुछ। सरिश्तेदार जो बता दे वही कायदा। सरिश्तेदार की आमदनी साहबकी आमदनीसे ज्यादा मानी जाती थी। संभव है कि इसमें कुछ अत्युक्ति हो। पर यह बात निर्विवाद है कि सरिश्तेदारके थोड़े वेतनके मुकाबलेमें उसका खर्च ज्यादा रहता था ।

यह वायुमंडल मुझे जहरके समान प्रतीत हुआ। दिन-रात मेरे मनमें यह विचार रहने लगा कि यहां अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा किस तरह कर सकूंगा ?

होते-होते मैं उदासीन रहने लगा। भाईने मेरा यह भाव देखा। यह विचार आया कि कहीं कोई नौकरी मिल जाय तो इन षड्यंत्रोंसे पिंड छूट सकता है। परंतु बिना षड्यंत्रोंके न्यायाधीश अथवा दीवानका पद कहांसे मिल सकता था ? और वकालत करनेके रास्तेमें साहबके साथ वाला झगड़ा खड़ा हुआ था।

पोरबंदरमें राणा साहबको अख्तियार न थे, उसके लिए कुछ अधिकार प्राप्त करनेकी तजवीज चल रही थी। मेर लोगोंसे ज्यादा लगान लिया जाता था। उसके संबंधमें भी मुझे वहांके एडमिनिस्ट्रेटर—मुख्य राज्याधिकारी—से मिलना था। मैंने देखा कि एडमिनिस्ट्रेटरके देशी होते हुए भी उनका रौब-दाब साहबसे भी ज्यादा था। वह थे तो योग्य; परंतु उनकी योग्यताका लाभ प्रजाजनको बहुत न मिलता था। अंतमें राणा साहबको तो थोड़े अधिकार मिले। परंतु मेर लोगोंके हाथ कुछ न आया। मेरा खयाल है कि उनकी तो बात भी पूरी न सुनी गई ।

इसलिए यहां भी अपेक्षाकृत निराश हुआ। मुझे लगा कि इन्साफ नहीं हुआ। इन्साफ पानेके लिए मेरे पास कोई साधन न था। बहुत हुआ तो बड़े साहबके यहां अपील करदी। वह हुक्म लगा देता—'हम इस मामलेमें दखल

नहीं दे सकते।' ऐसा फैसला यदि किसी कानून-कायदेमें बलपर किया जाता हो तब तो आशा की जा सकती है। पर यहां तो साहबकी इच्छा ही कानून था।

आखिर मेरा जी ऊब उठा। इसी अवसरपर भाई साहबके पास पोरबंदरकी एक मेमन दूकानका संदेशा आया—'दक्षिण अफ्रीकामें हमारा व्यापार है। बड़ा कारोबार है। एक भारी मुकदमा चल रहा है। दावा चालीस हजार पौंडका है। बहुत दिनोंसे मामला चल रहा है। हमारी तरफसे अच्छे-से-अच्छे वकील बैरिस्टर हैं। यदि आप अपने भाईको हमारे यहां भेज दें तो हमें भी मदद मिलेगी और उसकी भी कुछ मदद हो जायगी। वह हमारा मामला वकीलोंको अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा नये देशकी यात्रा होगी और नये-नये लोगोंसे जान-पहचान होगी सो अलग।'

भाई साहबने मुझसे जिक्र किया। मैं सारी बात अच्छी तरह न समझ सका। मैं यह न जान सका कि सिर्फ वकीलोंको समझानेका काम है या मुझे अदालतमें भी जाना पड़ेगा। पर मेरा जी ललचाया जरूर।

दादा अब्दुल्लाके हिस्सेदार स्वर्गीय सेठ अब्दुलकरीम जवेरीकी मुलाकात भाईने कराई। सेठने कहा—"तुमको बहुत मिहनत नहीं करनी पड़ेगी। बड़े-बड़े गोरोंसे हमारी दोस्ती है। उनसे तुम्हारा परिचय होगा। हमारी दूकानके काममें भी मदद कर सकोगे। हमारे यहां अंग्रेजी चिट्ठी-पत्री बहुत होती है। उसमें भी तुम्हारी मदद मिल सकेगी। तुम्हारे रहनेका प्रबंध हमारे ही बंगलेमें रहेगा। इस तरह तुमपर कुछ भी खर्च न पड़ेगा।"

मैंने पूछा—"कितने दिनतक मुझे वहां काम करना पड़ेगा? मुझे वेतन क्या मिलेगा?"

"एक सालसे ज्यादा तुम्हारा काम न रहेगा। आने-जानेका फर्स्ट-क्लासका किराया और भोजन-खर्चके अलावा १०५ पौंड दे देंगे।"

यह वकालत नहीं, नौकरी थी। परंतु मुझे तो जैसे-तैसे हिंदुस्तान छोड़ देना था। सोचा कि नई दुनिया देखेंगे और नया अनुभव मिलेगा सो अलग। १०५ पौंड भाई साहबको भेज दूंगा तो घर-खर्चमें कुछ मदद हो जायगी। यह सोचकर मैंने तो वेतनके संबंधमें बिना कुछ खींच-तान किये सेठ अब्दुल करीमकी बात मान ली और दक्षिण अफ्रीका जानेके लिए तैयार हो गया।

६

नेटाल पहुंचा

विलायत जाते समय जो वियोग दुःख हुआ था
जाते हुए न हुआ; क्योंकि माताजी तो चल बसी थीं और मुझे दुनियाका और सफरका अनुभव भी बहुत-कुछ हो गया था। राजकोट और बंबई तो आया-जाया करता ही था। इस कारण अबकी बार सिर्फ पत्नीका ही वियोग दुःखद था। विलायतसे आनेके बाद दूसरे एक बालकका जन्म हो गया था। हम दम्पती-के प्रेममें अभी विषय-भोगका अंश तो था ही। फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायतसे लौटनके बाद हम बहुत थोड़ा समय एक साथ रहे थे और मैं ऐसा-वैसा ही क्यों न हो, उसका शिक्षक बन चुका था। इधर पत्नीकी बहुतेरी बातोंमें बहुत-कुछ सुधार करा चुका था और उन्हें कायम रखनेके लिए भी साथ रहनेकी आवश्यकता हम दोनोंको मालूम होती थी। परंतु अ ीका मुझे आकर्षित कर रहा था। उसने इस वियोगको सहन करनेकी शक्ति दे दी थी। 'एक सालके बाद तो हम मिलेंगे ही' कहकर और दिलासा देकर मैंने राजकोट छोड़ा, और बंबई पहुंचा।

दादा अब्दुल्लाके बंबईके एजेंटकी मार्फत मुझे टिकट लेना था। परंतु जहाजपर केबिन खाली न थी। यदि मैं यह चूक जाऊं तो फिर मुझे एक मासतक बंबईमें हवा खानी पड़े। एजेंटने कहा— "हमने तो खूब दौड़-धूप कर ली। हमें टिकट नहीं मिला। हां, डेकमें जायं तो बात दूसरी है। भोजनका इंतजाम सैलूनमें हो सकता है।" ये दिन मेरे फर्स्ट क्लासकी यात्राके थे। बैरिस्टर भला कहीं डेकमें सफर कर सकता है? मैंने डेकमें जानेसे इन्कार कर दिया। मुझे एजेंटकी बात पर शक भी हुआ। यह बात मेरे माननेमें न आई कि पहले दर्जेका टिकट मिल ही नहीं सकता। अतएव एजेंटसे पूछकर खुद मैं टिकट लाने चला। जहाजपर पहुंचकर बड़े अफसरसे मिला। पूछनेपर उसने सरल भावसे उत्तर दिया—"हमारे यहां मुश्किलसे इतनी भीड़ होती है। परंतु मोजांबिकके गवर्नर जनरल इसी जहाजसे जा रहे हैं। इससे सारी जगह भर गई है।"

"तब क्या आप किसी प्रकार मेरे लिए जगह नहीं कर सकते ?" अफसरने मेरी ओर देखा, हंसा और बोला-- "एक उपाय है। मेरी केबिनमें एक बैठक खाली रहती है। उसमें हम यात्रियोंको नहीं बैठने देते। पर आपके लिए मैं जगह कर देने को तैयार हूं।" मै खुश हुआ। अफसरको धन्यवाद दिया व सेठसे कहकर टिकट मंगाया। १८९३के अप्रैल मासमें मै बड़ी उमंगके साथ अपनी तकदीर आजमानेके लिए दक्षिण अफ्रीका रवाना हुआ।

पहला बंदर लामू मिला। कप्तानको शतरंज खेलनेका शौक था। पर वह अभी नौसिखया था। कोई तेरह दिनमें वहां पहुंचे। रास्तेमें कप्तानके साथ खासा स्नेह हो गया था। उसे अपनेसे कम जानकार खिलाड़ीकी जरूरत थी और उसने मुझे खेलनेके लिए बुलाया। मैंने शतरंजका खेल कभी देखा न था। हां, सुन खूब रक्खा था। खेलनेवाले कहा करते कि इसमें बुद्धिका खासा उपयोग होता है। कप्तानने कहा--"मै तुम्हें सिखाऊंगा।" मै उसे मनचाहा शिष्य मिला; क्योंकि मुझमे धीरज काफी था। मैं हारता ही रहता। और ज्यों-ज्यों मैं हारता, कप्तान बड़े उत्साह और उमंगसे सिखाता। मुझे यह खेल पसंद आया। परंतु जहाजसे नीचे वह कभी साथ न उतरा। राजा-रानीकी चालें जाननेसे अधिक मैं न सीख सका।

लामू बंदर आया। जहाज वहां तीन-चार घंटे ठहरनेवाला था। मैं बंदर देखनेको नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। पर उसने मुझे कह दिया था--'यहांका बंदर दगाबाज है। तुम जल्दी वापस आ जाना।'

गांव छोटा-सा था। वहां डाकघरमें गया तो हिंदुस्तानी आदमी देखे। मुझे खुशी हुई। उनके साथ बातें कीं। हबशियोंसे मिला। उनकी रहन-सहन में दिलचस्पी पैदा हुई। उसमें कुछ समय चला गया। डेकके और यात्री भी वहां आ गये थे। उनसे परिचय हो गया था। वे भोजन पकाकर आराम से खाना खाने नीचे उतरे थे। मैं उनकी नावमें बैठा। समुद्रमें ज्वार भी खासा था। हमारी नावमें बोझ भी काफी था। तनाव इतने जोरका था कि नावकी रस्सी जहाजकी सीढ़ी के साथ किसी तरह न बंधती थी। नाव जहाजके पास जाकर फिर हट जाती। जहाज रवाना होनेकी पहली सीटी हुई। मैं घबराया। कप्तान ऊपरसे देख रहा था। उसने जहाज ५ मिनट रोकनेके लिए कहा। जहाजके

पास एक मछवा था। उसे १०)देकर एक मित्रने किराये किया। मछवे ने मुझे नावमेंसे उठा लिया। जहाजकी सीढ़ी ऊपर चढ़ चुकी थी। रस्सीके बल मैं ऊपर खींचा गया और जहाज चलने लगा। बेचारे दूसरे यात्री रह गये। कप्तानकी उस चेतावनीका मतलब अब मैं समझा।

लामूसे मोंबासा और वहांसे जंजीबार पहुंचे। जंजीबारमें बहुत ठहरना था--८ या १० दिन। यहांसे नये जहाजमें बैठना था।

कप्तानके प्रेमकी सीमा न थी। इस प्रेमने मेरे लिए विपरीत रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैर करनेके लिए बुलाया। उसका एक अंग्रेज मित्र भी साथ था। हम तीनों कप्तानके मछवेमें उतरे। इस सैरका मर्म मैं बिलकुल न जानता था। कप्तानको क्या खबर थी कि ऐसी बातोंमें मैं बिलकुल अनजान होऊंगा। हम तो हबशी औरतोंके मुहल्लोंमें जा पहुंचे। एक दलाल हमें वहां ले गया। तीनों एक-एक कमरेमें दाखिल हुए। पर मैं तो शर्मका मारा कमरेमें घुसा बैठा ही रहा। उस बेचारी बाईके मनमें क्या-क्या विचार आये होंगे, यह तो वही जानती होगी। थोड़ी देरमें कप्तानने आवाज लगाई। मैं तो जैसा अंदर घुसा था, वैसा ही वापस बाहर आ गया। यह देखकर कप्तान मेरा भोलापन समझ गया। शुरूमें तो मुझे बड़ी शर्म मालूम हुई; परंतु इस काम को तो मैं किसी तरह पसंद नहीं कर सकता था, इससे शर्म चली गई और मैंने ईश्वरका उपकार माना कि इस बहनको देखकर मेरे मनमें किसी प्रकारका विकारतक उत्पन्न न हुआ। मुझे अपनी इस कमजोरीपर बड़ी ग्लानि हुई कि मैं कमरेमें प्रवेश करनेसे इन्कार करनेका साहस क्यों न कर सका।

मेरे जीवनमें यह इस प्रकार की तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरूआतमें निर्दोष होते हुए भी झूठी शर्मसे बुराईमें लिप्त हो जाते होंगे। मेरा बचाव मेरे पुरुषार्थके बदौलत नहीं हुआ था। यदि मैंने कमरेमें जानेसे साफ इन्कार कर दिया होता तो पुरुषार्थ समझा जा सकता था। सो मेरे इस बचावके लिए तो एकमात्र ईश्वरका ही उपकार मानना चाहिए। इस घटनासे ईश्वरपर मेरी आस्था दृढ़ हुई और झूठी शर्म छोड़नेका साहस भी कुछ आया।

जंजीबारमें एक सप्ताह रहना था। इसलिए एक मकान किराये का लेकर मैं शहरमें रहा। खूब घूम-फिरकर शहरको देखा। जंजीबारकी हरियाली-

की कल्पना सिर्फ मलाबारमें ही हो सकती है। वहांके विशाल वृक्ष, बड़े-बड़े फल इत्यादि देखकर मैं तो चकित रह गया।

जंजीबारसे मोजांबिक और वहांसे लगभग मईके अंतमे नेटाल पहुंचा।

७

कुछ अनुभव

नेटालका बंदर यों तो डरबन कहलाता है, पर नेटालको भी बंदर कहते हैं। मुझे बंदरपर लिवाने अब्दुल्ला सेठ आये थे। जहाज धक्केपर आया। नेटालके जो लोग जहाजपर अपने मित्रोंको लेने आये थे, उनके रंग-ढंगको देखकर मैं समझ गया कि यहां हिंदुस्तानियोंका विशेष आदर नहीं। अब्दुल्ला सेठकी जान-पहचानके लोग उनके साथ जैसा बरताव करते थे उसमें एक प्रकारकी क्षुद्रता दिखाई देती थी, और वह मुझे चुभ रही थी। अब्दुल्ला सेठ इस फजीहतके आदी हो गये थे। मुझपर जिनकी नजर पड़ती जाती वे मुझे कुतूहलसे देखते थे; क्योंकि मेरा लिबास ऐसा था कि मैं दूसरे भारतवासियोंसे कुछ निराला मालूम होता था। उस समय फ्राक कोट आदि पहने था और सिरपर बंगाली ढंगकी पगड़ी दिये था।

मुझे घर लिवा ले गये। वहां अब्दुल्ला सेठके कमरेके पासका कमरा मुझे दिया गया। अभी वह मुझे नहीं समझ पाये थे; मैं भी उन्हें नहीं समझ पाया था। उनके भाईकी दी हुई चिट्ठी उन्होंने पढी और बेचारे पसोपेशमें पड़ गये। उन्होंने तो समझ लिया कि भाईने तो यह सफेद हाथी घर बंधवा दिया। मेरा साहबी ठाट-बाट उन्हें बड़ा खर्चीला मालूम हुआ; क्योकि मेरे लिए उस समय उनके यहां कोई खास काम तो था नहीं। मामला उनका चल रहा था ट्रांसवालमें। सो तुरंत ही वहां भेजकर वह क्या करते? फिर यह भी एक सवाल था कि मेरी काबलियत और ईमानदारीका विश्वास भी किस हदतक किया जाय? और प्रिटोरियामें खुद मेरे साथ वह रह नहीं सकते थे। मुद्दाले प्रिटोरियामें रहते थे। कहीं उनका बुरा असर मुझपर होने लगे तो? और यदि वह मामलेका काम मुझे न दें तो और काम तो उनके कर्मचारी मुझसे भी अच्छा कर सकते थे। फिर कर्मचारीसे यदि भूल हो जाय, तो कुछ कह-सुन भी सकते थे; मुझे तो कहनेसे

भी रहे। काम या तो कारकुनीका था या मुकदमेका— तीसरा था नहीं। ऐसी हालतमें यदि मुकदमेका काम मुझे नहीं सौंपते हैं तो घर बैठे मेरा खर्च उठाना पड़ता था।

अब्दुल्ला सेठ पढ़े-लिखे बहुत कम थे। अक्षर-ज्ञान कम था; पर अनुभव-ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उनकी बुद्धि तेज थी; और वह खुद भी इस बातको जानते थे। रफ्तसे अंग्रेजी इतनी जान ली थी कि बोलचालका काम चला लेते। परंतु इतनी अंग्रेजी के बलपर वह अपना सारा काम निकाल लेते थे। बैंकमें मैनेजरोंसे बातें कर लेते, यूरोपियन व्यापारियोंसे सौदा कर लेते, वकीलोंको अपना मामला समझा देते। हिंदुस्तानियोंमें उनका काफी मान था। उनकी पेढ़ी उस समय हिंदुस्तानियोंमें सबसे बड़ी नहीं तो, बड़ी पेढ़ियोंमें अवश्य थी। उनका स्वभाव वहमी था।

वह इस्लामका बड़ा अभिमान रखते थे। तत्वज्ञानकी वार्ताके शौकीन थे। अरबी नहीं जानते थे। फिर भी कुरान-शरीफ तथा आमतौरपर इस्लामी-धर्म-साहित्यकी वाकफियत उन्हें अच्छी थी। दृष्टांत तो जबानपर हाजिर रहते थे। उनके सहवाससे मुझे इस्लामका अच्छा व्यावहारिक ज्ञान हुआ। जब हम एक-दूसरेको जान-पहचान गये, तब वह मेरे साथ बहुत धर्म-चर्चा किया करते।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन अदालत दिखाने ले गये। यहां कितने ही लोगोंसे परिचय कराया। अदालतमें अपने वकीलके पास मुझे बिठाया। मजिस्ट्रेट मेरे मुंहकी ओर देखता रहा। उसने कहा— "अपनी पगड़ी उतार लो।" मैंने इन्कार किया और अदालतसे बाहर चला आया।

मेरे नसीबमें तो यहां भी लड़ाई लिखी थी।

पगड़ी उतरवानेका रहस्य मुझे अब्दुल्ला सेठने समझाया। मुसलमानी लिबास पहननेवाला अपनी मुसलमानी पगड़ी यहां पहन सकता है। दूसरे भारत-वासियोंको अदालतमें जाते हुए अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

इस सूक्ष्म-भेदको समझानेके लिए यहां कुछ बातें विस्तारके साथ लिखनी होंगी।

मैंने इन दो-तीन दिनमें ही यहां देख लिया था कि हिंदुस्तानियोंने यहां अपने-अपने गिरोह बना लिये थे। एक गिरोह था मुसलमान व्यापारियोंका—

वे अपनेको 'अरब' कहते थे। दूसरा गिरोह था हिंदू या पारसी कारकुन-पेशा लोगोंका। हिंदू-कारकुन अधरमें लटकता था। कोई अपनको 'अरब'में शामिल कर लेता। पारसी अपनेको परशियन कहते। तीनों एक-दूसरेसे सामाजिक संबंध तो रखते थे। एक चौथा और बड़ा समूह था तामिल, तेलगू और उत्तरी भारतके गिरमिटिया अथवा गिरमिटयुक्त भारतीयोंका। गिरमिट 'एग्रिमेंट' का बिगड़ा हुआ रूप है। इसका अर्थ है इकरारनामा, जिसके द्वारा गरीब हिंदुस्तानी पांच सालकी मजूरी करनेकी शर्तपर नेटाल जाते थे। गिरमिटसे गिरमिटिया बना है। इस समुदायके साथ औरोंका व्यवहार काम-संबंधी ही रहता था। इन गिरमिटियोंको अंग्रेज कुली कहते। कुलीकी जगह 'सामी' भी कहते। सामी एक प्रत्यय है, जो बहुतेरे तामिल नामोंके अंतमें लगता है। 'सामी'का अर्थ है स्वामी। स्वामीका अर्थ हुआ पति। अतएव 'सामी' शब्दपर जब कोई भारतीय बिगड़ पड़ता, और यदि उसकी हिम्मत पड़ी, तो उस अंग्रेजसे कहता—'तुम मुझे सामी तो कहते हो; पर जानते हो सामी के माने क्या होते हैं? सामी 'पति' को कहते हैं, क्या मैं तुम्हारा पति हूं?' यह सुनकर कोई अंग्रेज शर्मिंदा हो जाता, कोई खीझ उठता और ज्यादा गालियां देने लगता और मौका पड़े तो मार भी बैठता; क्योंकि उनके नजदीक तो 'सामी' शब्द घृणा-सूचक होता था—उसका अर्थ 'पति' करना मानो उसका अपमान करना था।

इस कारण मुझे वे कुली-बैरिस्टर कहते। व्यापारी कुली-व्यापारी कहलाते। कुलीका मूल अर्थ 'मजूर' तो एक ओर रह गया। व्यापारी 'कुली' शब्दसे चिढ़कर कहता—'मैं कुली नहीं, मैं तो अरब हूं;' अथवा 'मैं व्यापारी हूं।' कोई-कोई विनयशील अंग्रेज यह सुनकर माफी मांग लेते।

ऐसी स्थितिमें पगड़ी पहननेका सवाल विकट हो गया। पगड़ी उतार देनेका अर्थ था मान-भंग सहन करना। सो मैंने तो यह तरकीब सोची कि हिंदुस्तानी पगड़ीको उतारकर अंग्रेजी टोप पहना करूं, जिससे उसे उतारनेमें मान-भंगका भी सवाल न रह जाय और मैं इस झगड़ेसे भी बच जाऊं।

पर अब्दुल्ला सेठको यह तरकीब पसंद न हुई। उन्होंने कहा—"यदि आप इस समय ऐसा परिवर्त्तन करेंगे तो उसका उलटा अर्थ होगा। जो लोग देशी पगड़ी पहने रहना चाहते होंगे उनकी स्थिति विषम हो जायगी। फिर

आपके सिरपर अपने ही देशकी पगड़ी शोभा देती है। आप यदि अंग्रेजी टोपी लगावेंगे तो लोग 'वेटर' समझेंगे ।"

इन वचनोंमें दुनियावी समझदारी थी, देशाभिमान था, और कुछ संकुचितता भी थी। समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमानके बिना पगड़ी पहननेका आग्रह नहीं हो सकता था। संकुचितताके बिना 'वेटर'की उपमा न सूझती। गिरमिटिया भारतीयोंमें हिंदू, मुसलमान और ईसाई तीन विभाग थे। जो गिरमिटिया ईसाई हो गये, उनकी संतति ईसाई थी। १८९३ ई०में भी उनकी संख्या बड़ी थी। वे सब अंग्रेजी लिबासमें रहते। उनका अच्छा हिस्सा होटलमें नौकरी करके जीविका उपार्जन करता। इसी समुदायको लक्ष्य करके अंग्रेजी टोपीपर अब्दुल्ला सेठने यह टीका की थी। उसके अंदर वह भाव था कि होटलमें 'वेटर' बनकर रहना हलका काम है। आज भी यह विश्वास बहुतोंके मनमें कायम है।

कुल मिलाकर अब्दुल्ला सेठकी बात मुझे अच्छी मालूम हुई। मैंने पगड़ीवाली घटनापर पगड़ीका तथा अपने पक्षका समर्थन अखबारोंमें किया। अखबारोंमें उसपर खूब चर्चा चली। 'अनवेलकम विजिटर'— अनचाहा अतिथि— के नामसे मेरा नाम अखबारोंमें आया, और तीन ही चार दिनके अंदर अनायास ही दक्षिण अफ्रीकामें मेरी ख्याति हो गई। किसीने मेरा पक्ष-समर्थन किया, किसीने मेरी गुस्ताखीकी भरपेट निंदा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अंततक कायम रही। वह कब उतरी, यह बात हमें अंतिम भागमें मालूम होगी।

८

प्रिटोरिया जाते हुए

डरबनमें रहनेवाले ईसाई भारतीयोंके संपर्कमें भी मैं तुरंत आ गया। वहांकी अदालतके दुभाषिया श्री पॉल रोमन कैथोलिक थे। उनसे परिचय किया और प्रोटेस्टेंट मिशनके शिक्षक स्वर्गीय श्री सुभान गाडफ्रे से भी मुलाकात की। उन्हींके पुत्र जेम्स गाडफ्रे पिछले साल यहांके दक्षिण अफ्रीकाके भारतीय प्रतिनिधि-

मंडलमें आये थे। इन्हीं दिनों स्वर्गीय पारसी रुस्तमजीसे जान-पहचान हुई। और इसी समय स्वर्गीय आदमजी मियांखानसे परिचय हुआ। ये सब लोग आपसमें बिना काम एक-दूसरेसे न मिलते थे। अब इसके बाद वे मिलने-जुलने लगे।

इस तरह मैं परिचय बढ़ा रहा था कि इसी बीच दूकानके वकीलका पत्र मिला कि मुकदमेकी तैयारी होनी चाहिए तथा या तो अब्दुल्ला सेठको खुद प्रिटोरिया जाना चाहिए अथवा दूसरे किसीको वहां भेजना चाहिए।

यह पत्र अब्दुल्ला सेठने मुझे दिखाया और पूछा— "आप प्रिटोरिया जायंगे?" मैंने कहा— "मुझे मामला समझा दीजिए तो कह सकूं। अभी तो मैं नहीं जानता कि वहां क्या करना होगा।" उन्होंने अपने गुमाश्तोंके जिम्मे मामला समझानेका काम किया।

मैंने देखा कि मुझे तो अ-आ-इ-ईसे शुरूआत करनी होगी। जंजीबारमें उतरकर वहांकी अदालतें देखनेके लिए गया था। एक पारसी वकील किसी गवाहका बयान ले रहा था और जमा-नामेके सवाल पूछ रहा था। मुझे जमा-नामेकी कुछ खबर न पड़ती थी, क्योंकि बहीखाता न तो स्कूलमें सीखा था और न विलायतमें।

मैंने देखा कि इस मुकदमेका तो दारोमदार बहीखातोंपर है। जिसे बहीखातेका ज्ञान हो वही मामलेको समझ-समझा सकता है। गुमाश्ता जमा-नामेकी बातें करता था और मै चक्करमें पड़ता चला जाता था। मैं नहीं जानता था कि पी. नोट क्या चीज होती है। कोषमें यह शब्द नहीं मिलता। मैंने गुमाश्तों-के सामने अपना अज्ञान प्रकट किया और उनसे जाना कि पी. नोटका अर्थ है प्रामिसरी नोट। अब मैंने बहीखातेकी पुस्तक खरीदकर पढ़ी। तब जाकर कुछ आत्म-विश्वास हुआ और मामला समझमें आया। मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ नामा लिखना नहीं जानते, पर अनुभव-ज्ञान उनका इतना बढ़ा-चढ़ा था कि नामेकी उलझनें चटपट सुलझाते जाते। अंतको मैंने उनसे कहा— "मैं प्रिटोरिया जानेके लिए तैयार हूं।"

"आप ठहरेंगे कहां?" सेठने पूछा।

"जहां आप कहेंगे।" मैंने उत्तर दिया।

"तो मैं अपने वकीलको लिखूंगा। वह आपके ठहरनेका इंतजाम कर देंगे। प्रिटोरियामें मेरे मेमन मित्र हैं। उन्हें भी मैं लिखूंगा तो, पर आपका उनके यहां ठहरना उचित न होगा। वहां अपने प्रतिपक्षीकी पहुंच बहुत है। आपको मैं जो खानगी चिट्ठियां लिखूंगा वह यदि उनमेंसे कोई पढ़ ले तो अपना सारा मामला बिगड़ सकता है। उनके साथ जितना कम संबंध हो उतना ही अच्छा।"

मैंने कहा— "आपके वकील जहां ठहरावेंगे वहीं ठहरूंगा। अथवा मैं कोई दूसरा मकान ले लूंगा। आप बेफिक्र रहिए, आपकी एक भी खानगी बात बाहर न जायगी। पर मैं मिलता-जुलता सबसे रहूंगा। मैं तो दूसरे पक्षवालोंसे भी मित्रता करना चाहता हूं। यदि हो सकेगा तो मैं मामलेको आपसमें भी निपटाने की कोशिश करूंगा, क्योंकि आखिर तैयब सेठ हैं तो आपके ही रिश्तेदार न।"

प्रतिवादी स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खानमुहम्मद अब्दुल्ला सेठके नजदीकी रिश्तेदार थे।

मैंने देखा मेरी इस बातसे अब्दुल्ला सेठ कुछ चौंके; पर अब मुझे डरबन पहुंचे छः-सात दिन हो गये थे और हम एक-दूसरेको जानने, समझने भी लगे थे। अब मैं 'सफेद हाथी' प्रायः नहीं रह गया था। वह बोले—

"हां . . . आ . . . आ, यदि समझौता हो जाय तो उससे बढ़कर उम्दा बात क्या हो सकती? पर हम तो आपसमें रिश्तेदार हैं, इसलिए एक-दूसरे-को अच्छी तरह जानते हैं। तैयब सेठ आसानीसे मान लेनेवाले शख्स नहीं हैं। हम यदि भोले-भाले बनकर रहें तो वह हमारे पेटकी बात निकालकर पीछेसे फंसा मारेंगे! ऐसी हालतमें आप जो कुछ करें बहुत सोच-समझकर होशियारीसे करें।"

"आप बिलकुल चिंता न करें। मुकदमेकी बात तो तैयब सेठ क्या, किसीसे भी क्यों करने लगा? पर यदि दोनों आपसमें समझ लें तो वकीलोंके घर न भरने पड़ेंगे।"

सातवें या आठवें दिन मैं डरबनसे रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दरजेका टिकट लिया गया। सोनेकी जगहके लिए वहां ५ शिलिंगका एक अलहदा टिकट लेना पड़ता था। अब्दुल्ला सेठने आग्रहके साथ कहा कि सोनेका टिकट ले लो,

पर मैंने कुछ तो हठमें, कुछ मदमें, और कुछ ५ शिलिंग बचानेकी नीयतसे इन्कार कर दिया ।

अब्दुल्ला सेठने मुझे चेताया— "देखना यह मुल्क और है, हिंदुस्तान नहीं । खुदाकी मेहरबानी है, आप पैसे का ख्याल न करना, अपने आरामका सब इंतजाम कर लेना ।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि आप मेरी चिंता न कीजिए ।

नेटालकी राजधानी मेरित्सबर्गमे ट्रेन कोई ९ बजे पहुंची। यहां सोनेवालोंको बिछौने दिये जाते थे। एक रेलवेके नौकरने आकर पूछा—"आप बिछौना चाहते हैं!"

मैंने कहा—"मेरे पास एक बिछौना है ।"

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे 'काला आदमी' देखकर चकराया। बाहर गया और एक-दो कर्मचारियोंको लेकर आया। किसीने मुझसे कुछ न कहा। अंतको एक अफसर आया। उसने कहा—"चलो, तुमको दूसरे डिब्बेमे जाना होगा ।"

मैंने कहा—"पर मेरे पास पहले दरजेका टिकट है ।"

उसने उत्तर दिया—"परवा नहीं, मै तुमसे कहता हूं कि तुम्हें आखिरी डिब्बेमें बैठना होगा ।"

"मैं कहता हूं कि मै डरबनमे इसी डिब्बेमें बिठाया गया हूं और इसीमें जाना चाहता हूं ।"

अफसर बोला— "यह नहीं हो सकता। तुम्हे उतरना होगा, नहीं तो सिपाही आकर उतार देगा ।"

मैंने कहा— "तो अच्छा, सिपाही आकर भले ही मुझे उतारे, मै अपने-आप न उतरूंगा ।"

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और धक्का मार कर मुझे नीचे गिरा दिया। मेरा सामान नीचे उतार लिया। मैंने दूसरे डिब्बेमें जाने से इन्कार किया। गाड़ी चल दी। मै वेटिंग-रूममें जा बैठा। हैंडबेग अपने साथ रक्खा। दूसरे सामानको मैंने हाथ न लगाया। रेलवेवालोंने सामान कहीं रखवा दिया।

मौसम जाड़ेका था। दक्षिण अफरीकामें ऊंची जगहोंपर बड़े जोरका

जाड़ा पड़ता है। मेरित्सबर्ग ऊंचाईपर था—इससे खूब जाड़ा लगा। मेरा ग्रोवरकोट मेरे सामानमें रह गया था। सामान मांगनेकी हिम्मत न पड़ी कि कहीं फिर बेइज्जती न हो। जाड़ेमें सिकुड़ता ग्रौर ठिठुरता रहा। कमरेमें रोशनी न थी। ग्राधी रातके समय एक मुसाफिर ग्राया। ऐसा जान पड़ा मानो वह कुछ बात करना चाहता हो; पर मेरे मनकी हालत ऐसी न थी कि बातें करता।

मैंने सोचा, मेरा कर्तव्य क्या है। या तो मुझे ग्रपने हकोंके लिए लड़ना चाहिए, या वापस लौट जाना चाहिए। ग्रथवा जो बेइज्जती हो रही है, उसे बर्दाश्त करके प्रिटोरिया पहुंचूं ग्रौर मुकदमेका काम खतम करके देश चला जाऊं। मुकदमेको ग्रधूरा छोड़कर भाग जाना तो कायरता होगी। मुझपर जो-कुछ बीत रही है वह तो ऊपरी चोट है—वह तो भीतरके महारोगका एक बाह्य लक्षण है। यह महारोग है रंग-द्वेष। यदि इस गहरी बीमारीको उखाड़ फेंकनेका सामर्थ्य हो तो उसका उपयोग करना चाहिए। उसके लिए जो-कुछ कष्ट ग्रौर दुःख सहन करना पड़े, सहना चाहिए। इन ग्रन्यायोंका विरोध उसी हदतक करना चाहिए, जिस हदतक उनका संबंध रंग-द्वेष दूर करनेसे हो।

ऐसा संकल्प करके मैंने जिस तरह हो दूसरी गाड़ीसे ग्रागे जानेका निश्चय किया।

सुबह मैंने जनरल मैनेजरको तार-द्वारा एक लंबी शिकायत लिख भेजी। दादा ग्रब्दुल्लाको भी समाचार भेजे। ग्रब्दुल्ला सेठ तुरंत जनरल मैनेजरसे मिले। जनरल मैनेजरने ग्रपने ग्रादमियोंका पक्ष तो लिया; पर कहा कि मैंने स्टेशन मास्टरको लिख दिया है कि गांधीको बिना खरखशा ग्रपने मुकामपर पहुंचा दो। ग्रब्दुल्ला सेठने मेरित्सबर्गके हिंदू व्यापारियोंको भी मुझसे मिलने तथा मेरा प्रबंध करनेके लिए तार दिये तथा दूसरे स्टेशनोंपर भी ऐसे तार दे दिये। इससे व्यापारी लोग स्टेशनपर मुझसे मिलने ग्राये। उन्होंने ग्रपनेपर होनेवाले ग्रन्यायोंका जिक्र मुझसे किया ग्रौर कहा कि ग्रापपर जो-कुछ बीता है वह कोई नई बात नहीं। पहले-दूसरे दरजेमें जो हिंदुस्तानी सफर करते हैं उन्हें क्या कर्मचारी ग्रौर क्या मुसाफिर दोनों सताते हैं। सारा दिन इन्हीं बातोंके सुननेमें गया। रात हुई, गाड़ी ग्राई। मेरे लिए जगह तैयार थी। डरबनमें सोनेके लिए जिस टिकटको लेनेसे इन्कार किया था, वही मेरित्सबर्ग में लिया। ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन ले चली।

९

और कष्ट

चार्ल्सटाउन ट्रेन सुबह पहुंचती है। चार्ल्सटाउनसे जोहान्सबर्गतक पहुंचनेके लिए उस समय ट्रेन न थी। घोड़ागाड़ी थी और बीचमें एक रात स्टैंडरटन-में रहना पड़ता था। मेरे पास घोड़ागाड़ीका टिकट था। मेरे एक दिन पिछड़ जानेसे यह टिकट रद्द न होता था। फिर अब्दुल्ला सेठने चार्ल्सटाउनके घोड़ागाड़ी-वालेको तार भी दे दिया था। पर उसे तो बहाना बनाना था। इसलिए मुझे एक अनजान आदमी समझकर उसने कहा—'तुम्हारा टिकट रद्द हो गया है।' मैंने उचित उत्तर दिया। यह कहनेका कि टिकट रद्द हो गया है, कारण तो और ही था। मुसाफिर सब घोड़ागाड़ीके अंदर बैठते हैं। पर मैं समझा जाता था 'कुली'; और अनजान मालूम होता था, इसलिए घोड़ागाड़ीवालेकी यह नीयत थी कि मुझे गोरे मुसाफिरोंके साथ न बैठाना पड़े तो अच्छा। घोड़ागाड़ीमें बाहरकी तरफ, अर्थात् हांकनेवालेके पास, दायें-बायें दो बैठकें थीं। उनमें से एक बैठक पर घोड़ा-गाड़ी कंपनीका एक अफसर गोरा बैठता। वह अंदर बैठा और मुझे हांकनेवालेके पास बैठाया। मैं समझ गया कि यह बिलकुल अन्याय है, अपमान है। परंतु मैंने इसे पी जाना उचित समझा। मैं जबरदस्ती तो अंदर बैठ नहीं सकता था। यदि झगड़ा छेड़ लूं तो घोड़ागाड़ी चल दे और फिर मुझे एक दिन देर हो, और दूसरे दिनका हाल परमात्मा ही जाने। इसलिए मैंने समझदारी से काम लिया और बाहर ही बैठ गया। मनमें तो बड़ा खीझ रहा था।

कोई तीन बजे घोड़ागाड़ी पारडीकोप पहुंची। उस वक्त गोरे अफसरको मेरी जगह बैठनेकी इच्छा हुई। उसे सिगरेट पीना था। शायद खुली हवा भी खानी हो। सो उसने एक मैला-सा बोरा हांकनेवालेके पाससे लिया और पैर रखनेके तख्तेपर बिछाकर मुझसे कहा—"सामी, तू यहां बैठ, मैं हांकनेवालेके पास बैठूंगा।" इस अपमानको सहन करना मेरे सामर्थ्यके बाहर था, इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा—"तुमने मुझे जो यहां बैठाया, सो इस अपमानको तो मैंने सहन कर लिया। मेरी जगह तो थी अंदर; पर तुमने अंदर बैठकर मुझे

यहां बैठाया; अब तुम्हारा दिल बाहर बैठनेको हुआ, तुम्हें सिगरेट पीना है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरोंके पास बिठाना चाहते हो। मैं चाहे अंदर चला जाऊं; पर तुम्हारे पैरोंके पास बैठनेको तैयार नहीं।"

यह मैं किसी तरह कह ही रहा था कि मुझपर थप्पड़ोंकी वर्षा होने लगी और मेरे हाथ पकड़कर वह नीचे खींचने लगा। मैंने बैठकके पास लगे पीतलके सीखचोंको जोरसे पकड़े रक्खा, और निश्चय कर लिया कि कलाई टूट जानेपर भी सींखचे न छोड़ूंगा। मुझपर जो-कुछ बीत रही थी, वह अंदरवाले यात्री देख रहे थे। वह मुझे गालियां दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था; फिर भी मैं चुप था। वह तो था बलवान और मैं बलहीन। कुछ मुसाफिरोंको दया आई और किसीने कहा—"अजी, बेचारेको वहां बैठने क्यों नहीं देते? फिजूल उसे क्यों पीटते हो? वह ठीक तो कहता है। वहां नहीं तो उसे हमारे पास अंदर बैठने दो।" वह बोल उठा—"हरगिज नहीं।" पर जरा सिटपिटा जरूर गया। पीटना छोड़ दिया; मेरा हाथ भी छोड़ दिया। हां, दो चार गालियां अलबत्ता और दे डालीं। फिर एक हाटेंटाट नौकरको, जो दूसरी तरफ बैठा था, अपने पांवके पास बैठाया और आप खुद बाहर बैठा। मुसाफिर अंदर बैठे। सीटी बजी और घोड़ागाड़ी चली। मेरी छाती धक्-धक् कर रही थी। मुझे भय था कि मैं जीते-जी मुकाम पर पहुंच सकूंगा या नहीं। गोरा मेरी ओर त्योरी चढ़ाकर देखता रहता। अंगुलीका इशारा करके बकता रहा—'याद रख, स्टैंडरटन तो पहुंचने दे, फिर तुझे मजा चखाऊंगा।' मै चुप साधकर बैठा रहा और ईश्वरसे सहायताके लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैंडरटन पहुंचे। कितने ही हिंदुस्तानियोंके चेहरे दीखे। कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिंदुस्तानियोंने कहा—"हम आपको ईसा सेठकी दूकानपर ले जानेके लिए खड़े हैं। दादा अब्दुल्लाका तार आया था।" मुझे बड़ा हर्ष हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमारकी दुकानपर गया। सेठ तथा उनके गुमाश्ते मेरे आस-पास जमा हो गये। मुझपर जो-जो बीती, मैंने कह सुनाई। सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपने कड़वे अनुभव सुना-सुनाकर मुझे आश्वासन देने लगे। मैं चाहता था कि घोड़ागाड़ी-कंपनीके एजेंटको अपनी बीती सुना दूं। मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी। उस गोरेने जो धमकी दी थी, सो भी

लिख दी और मैंने यह भी आश्वासन चाहा कि कल मुझे दूसरे यात्रियोंके साथ अंदर बिठाया जाय। एजेंटने मुझे संदेशा भेजा--'स्टैंडरटनसे बड़ी घोड़ागाड़ी जाती है, और हांकनेवाले आदिकी बदली होती है। जिस शख्सकी शिकायत आपने की है, वह कल उसपर न रहेगा। आपको दूसरे यात्रियोंके साथ ही जगह मिलेगी।' इस बातसे मुझे कुछ राहत मिली। उस गोरेपर दावा-फर्याद करनेकी तो मेरी इच्छा ही न थी, इसलिए वह पिटाईका प्रकरण यहीं खतम हो गया। सुबह ईसा सेठके आदमी मुझे घोड़ागाड़ीपर ले गये। अच्छी जगह मिली। बिना किसी दिक्कतके रातको जोहान्सबर्ग पहुंचा।

स्टैंडरटन छोटा-सा गांव था। जोहान्सबर्ग भारी शहर। वहां भी अब्दुल्ला सेठने तार तो दे दिया था। मुझे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकानका पता-ठिकाना लिख दिया था। उनका आदमी घोड़ागाड़ीके ठहरनेकी जगह तो आया था; पर न मैंने उसे देखा, न वही मुझे पहचान सका। मैंने होटलमें जानेका इरादा किया। दो-चार होटलोंके नाम-पते पूछ लिये थे। गाड़ीको ग्रेंड नेशनल होटलमें ले चलनेके लिए कहा। वहां पहुंचते ही मैनेजरके पास गया। जगह मांगी। मैनेजरने मुझे नीचेसे ऊपरतक देखा। फिर शिष्टाचार और सौजन्यके साथ कहा--"मुझे अफसोस है, तमाम कमरे भरे हुए हैं।" और मुझे बिदा किया। तब मैंने गाड़ीवालेसे कहा-- "मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकानपर ले चलो।" वहां तो अब्दुलगनी सेठ मेरी राह ही देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटलमें बीती कह सुनाई। वह एकबारगी हंस पड़े। "भला होटलमें वह हमें ठहरने देंगे।"

मैंने पूछा--"क्यों?"

"यह तो आप तब जानेंगे, जब कुछ दिन यहां रह लेंगे। इस देशमें तो हम ही रह सकते हैं। क्योंकि हमें रुपया पैदा करना है, इसलिए बहुतेरे अपमान सहन करते हैं, और पड़े हुए हैं।" यह कहकर उन्होंने ट्रांसवालमें होनेवाले कष्टों और अन्यायोंका इतिहास कह सुनाया।

इन अब्दुलगनी सेठका परिचय हमें आगे चलकर अधिक करना पड़ेगा। उन्होंने कहा--"यह मुल्क आपके जैसे लोगोंके लिए नहीं है। देखिए न, आपको कल प्रिटोरिया जाना है। उसमें तो आपको तीसरे ही दरजेमें जगह मिलेगी।

ट्रांसवालमें नेटालसे ज्यादा कष्ट है। यहां तो हमारे लोगोंको दूसरे और पहले दरजेके टिकट बिलकुल देते ही नहीं।"

मैंने कहा—"आप लोगोंने इसके लिए पूरी कोशिश न की होगी।"

अब्दुलगनी सेठ बोले—"हमने लिखा-पढ़ी तो शुरू की है; पर हमारे बहुतेरे लोग तो पहले-दूसरे दरजेमें बैठनेकी इच्छा भी क्यों करने लगे ?"

मैंने रेलवेके कायदे-कानून मंगाकर देखे। उनमें कुछ गुंजाइश दिखाई दी। ट्रांसवालके पुराने कानून-कायदे बारीकीके साथ नहीं बनाये जाते थे। फिर रेलवेके कानूनोंका तो पूछना ही क्या ?

मैंने सेठसे कहा—"मैं तो फर्स्ट क्लासमें ही जाऊंगा। और यदि इस तरह न जा सका तो फिर प्रिटोरिया यहांसे सैंतीस ही मील तो है। घोड़ागाड़ी करके चला जाऊंगा।"

अब्दुलगनी सेठने इस बात की ओर मेरा ध्यान खींचा कि उसमें कितना तो खर्च लगेगा और कितना समय जायगा। पर अंतको उन्होंने मेरी बात मान ली और स्टेशन-मास्टरको चिट्ठी लिखी। पत्रमें उन्होंने लिखा कि मैं बैरिस्टर हूं; हमेशा पहले दरजेमें सफर करता हूं। तुरंत प्रिटोरिया पहुंचनेकी ओर उनका ध्यान दिलाया और उन्हें लिखा कि पत्रके उत्तरकी राह देखनेके लिए समय न रह जायगा, अतएव मैं खुद ही स्टेशनपर इसका जवाब लेने आऊंगा और पहले दरजेका टिकट मिलनेकी आशा रक्खूंगा। ऐसी चिट्ठी लिखानेमें मेरी एक मसलहत थी। मैंने सोचा कि लिखित उत्तर स्टेशन-मास्टर 'ना' ही दे देगा। फिर उसको 'कुली' बैरिस्टरके रहन-सहनकी पूरी कल्पना न हो सकेगी। इसलिए यदि मैं सोलहों आना अंग्रेजी वेश-भूषामें उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊंगा और उससे बात करूंगा तो वह समझ जायगा और मुझे टिकट दे देगा। इसलिए मैं फ्राक कोट, नेकटाई इत्यादि डाटकर स्टेशन पहुंचा। स्टेशन मास्टर के सामने गिन्नी निकालकर रक्खी और पहले दरजेका टिकट मांगा।

उसने कहा—"आपने ही वह चिट्ठी लिखी है ?"

मैंने कहा—"जी हां। मैं बड़ा खुश होऊंगा, यदि आप मुझे टिकट दे देंगे। मुझे आज ही प्रिटोरिया पहुंच जाना चाहिए।"

स्टेशन मास्टर हंसा। उसे दया आई। बोला—"मै ट्रांसवालर नहीं

हूं, हालैंडर हूं । आपके मनोभावको समझ सकता हूं । आपके साथ मेरी सहानुभूति है । मैं आपको टिकट दे देना चाहता हूं । पर एक शर्त है— यदि रास्तेमें आपको गार्ड उतार दे और तीसरे दरजेमें बिठा दे तो आप मुझे दिक न करें, अर्थात् रेलवे-कंपनीपर दावा न करें । मैं चाहता हूं कि आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो । में देख रहा हूं कि आप एक भले आदमी हैं ।" यह कहकर उसने टिकट दे दिया । मैंने उसे धन्यवाद दिया और अपनी तरफसे निश्चित किया । अब्दुलगनी सेठ पहुंचाने आये थे । इस कौतुकको देखकर उन्हें हर्ष हुआ, आश्चर्य भी हुआ; पर मुझे चेताया—"प्रिटोरिया राजी-खुशी पहुंच गये तो समझना गंगा-पार हुए । मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दरजेमें आरामसे न बैठने देगा; और उसने बैठने दिया तो मुसाफिर न बैठने देंगे ।"

मै पहले दरजेके डिब्बेमें जा बैठा । ट्रेन चली । जर्मिस्टन पहुंचनेपर गार्ड टिकट देखनेके लिए निकला । मुझे देखते ही झल्ला उठा । अंगुलीसे इशारा करके कहा—"तीसरे दरजेमें जा बैठ ।" मैंने अपना पहले दरजेका टिकट दिखाया । उसने कहा—"इसकी परवा नहीं, चला जा तीसरे दरजेमें ।"

इस डिब्बेमें सिर्फ एक अंग्रेज यात्री था । उसने उस गार्डको डांटा—"तुम इनको क्यों सताते हो ? देखते नहीं, इनके पास पहले दरजेका टिकट है ? मुझे इनके बैठनेसे जरा भी कष्ट नहीं ।" यह कहकर उसने मेरी ओर देखा और कहा—"आप तो आरामसे बैठे रहिए ।"

गार्ड गुनगुनाया— 'तुझे कुलीके पास बैठना हो तो बैठ, मेरा क्या बिगड़ता है !' और चलता बना ।

रातको कोई ८ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुंची ।

१०

प्रिटोरियामें पहला दिन

मैंने आशा रक्खी थी कि प्रिटोरिया स्टेशनपर दादा अब्दुल्लाके वकीलकी तरफसे कोई-न-कोई आदमी मुझे मिलेगा । मै यह तो जानता था कि कोई हिंदुस्तानी तो मुझे लिवाने आवेगा नहीं; क्योंकि किसी भी भारतीयके यहां न ठहरनेका

अभिवचन मैंने दिया था। वकीलने किसी भी आदमीको स्टेशनपर नहीं भेजा। पीछे मुझे मालूम हुआ कि जिस दिन मै पहुंचा, रविवार था। और वह बिना असुविधा उठाये उस दिन किसीको न भेज सकते थे। मैं असमंजसमें पड़ा। कहां जाऊं ? मुझे भय था कि होटलमें कहीं जगह मिलनेकी नहीं। १८९३का प्रिटोरिया स्टेशन १९१४के प्रिटोरिया स्टेशनसे भिन्न था। मंद-मंद बत्तियां जल रही थीं। मुसाफिर भी बहुत न थे। मैंने सोचा कि जब सब यात्री चले जायंगे तब अपना टिकट टिकट-कलेक्टरको दूंगा और उससे किसी मामूली होटल अथवा मकानका पता पूछ लूंगा; अन्यथा स्टेशनपर ही पड़कर रात काट दूंगा। इतनी पूछताछ करनेको जी न होता था; क्योंकि अपमानित होनेका भय था। आखिर स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट कलेक्टरको टिकट देकर पूछ-ताछ प्रारंभ की। उसने विनय-पूर्वक उत्तर दिये। पर मैंने देखा कि उससे अधिक सहायता न मिल सकती थी। उसके नजदीक एक अमेरिकन हबशी खड़ा था। वह मुझसे बातें करने लगा—'मालूम होता है, आप बिलकुल अनजान हैं और यहां आपका कोई साथी नहीं है। आइए, मेरे साथ चलिए, मैं आपको एक छोटे-से होटलमें ले चलता हूं। उसका मालिक अमेरिकन है और उसे मैं अच्छी तरह जानता हूं। मैं समझता हूं वह आपको जगह दे देगा।' मुझे कुछ शक तो हुआ; पर मैंने उसे धन्यवाद दिया और उसके साथ जाना स्वीकार किया। वह मुझे जान्स्टनके फेमिली होटलमें ले गया। पहले उसने मि० जान्स्टनको एक ओर ले जाकर कुछ बातचीत की। मि० जान्स्टनने मुझे एक रातके लिए जगह देना मंजूर किया—वह भी इस शर्तपर कि मेरा खाना मेरे कमरेमें पहुंचा दिया जायगा।

"मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि मैं तो काले-गोरेका भेदभाव नहीं रखता; पर मेरे ग्राहक सब गोरे लोग ही हैं। यदि मैं आपको भोजनालयमें ही भोजन कराऊं तो मेरे ग्राहकोंको आपत्ति होगी और शायद मेरी गाहकी टूट जाय।" मि० जान्स्टनने कहा।

मैंने उत्तर दिया—"मै तो यह भी आपका उपकार समझता हूं, जो आपने एक रातके लिए भी रहनेका स्थान दिया। इस देशकी हालतसे मैं कुछ-कुछ वाकिफ हो गया हूं। आपकी कठिनाई मै समझ सकता हूं। आप मुझे खुशीसे मेरे कमरेमें खाना भिजवा दीजिएगा। कल तो मैं दूसरा प्रबंध कर लेने की आशा

करता हूं ।"

कमरा मिला। अंदर गया। एकांत मिलते ही भोजनकी राह देखता हुआ विचारोंमें लीन हो गया। इस होटलमें अधिक मुसाफिर नहीं रहते थे। थोड़ी ही देर में वेटरको भोजन लाते हुए देखनेके बजाय मि० जान्स्टनको देखा। उन्होंने कहा--"मैंने आपसे यह कहा तो कि खाना यहीं भिजवा दूंगा, पर बादको मुझे शर्म मालूम हुई। इसलिए मैंने अपने ग्राहकोंसे आपके संबंधमें बातचीत की और उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि भोजनालयमे आकर आपके भोजन करनेमें हमें कोई ऐतराज नहीं है। इसलिए आप चाहें तो भोजनशालामें आकर भोजन करें और जबतक चाहें यहां रहें।"

मैंने दुबारा उनका उपकार माना, भोजनशालामे खाने गया और आरामसे भोजन किया।

दूसरे दिन सुबह वकीलके यहां गया। उनका नाम था ए० डबल्यू० बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठने उनका थोड़ा-बहुत परिचय दे रक्खा था, इसलिए उनकी पहली मुलाकातसे मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ। वह मुझसे बड़ी अच्छी तरह मिले और मुझसे अपना हाल-चाल पूछा, जो मैंने उन्हें बता दिया। उन्होंने कहा-- "बैरिस्टरकी हैसियतसे तो आपका यहां कुछ भी उपयोग न हो सकेगा। हमने अच्छे-से-अच्छे बैरिस्टर इस मामलेमें कर लिये हैं। मुकदमा मुद्दततक चलेगा और उसमें कई गुत्थियां हैं। इसलिए आपसे तो मैं इतना काम ले सकूंगा कि आवश्यक वाकफियत वगैरा मुझे मिल जाय। हां, हमारे मवक्किलसे पत्रव्यवहार करना अब आसान हो जायगा। और जो बातें मुझे जाननी होंगी वे आपके मार्फत उनसे मंगाई जा सकेंगी, यह लाभ जरूर है। आपके लिए मकान तो मैंने अबतक नहीं खोजा है। सोचा था कि आपसे मिल लेनेके बाद ही खोजना ठीक होगा। यहां रंग-भेद जबरदस्त है। इसलिए घर मिलना आसान भी नहीं है; परंतु एक बाईको मैं जानता हूं। वह गरीब है। भटियारेकी औरत है। मैं समझता हूं, वह आपको अपने यहां रहने देगी। उसे भी कुछ मिल जायगा। चलो वहीं चलें।"

यह कहकर वह मुझे वहां ले गये। मि० बेकरने पहले बाईके साथ अकेलेमें बातचीत की। उसने मुझे अपने यहां टिकाना स्वीकार किया। ३५ शिलिंग

प्रति सप्ताह देना ठहरा ।

मि० बेकर वकील और साथ ही कट्टर पादरी भी थे । अभी वह मौजूद हैं । अब तो सिर्फ पादरीका ही काम करते हैं । वकालत छोड़ दी है । खा-पीकर सुखी हैं । अबतक मुझसे चिट्ठी-पत्री करते रहते हैं । चिट्ठी-पत्रीका विषय एक ही होता है । ईसाई-धर्मकी उत्तमताकी चर्चा वह भिन्न-भिन्न रूपमें अपने पत्रोंमें किया करते हैं, और यह प्रतिपादन करते है कि ईसामसीहको ईश्वरका एकमात्र पुत्र तारनहार माने बिना परम शांति कभी नहीं मिल सकती ।

हमारी पहली ही मुलाकातमें मि० बेकरने धर्म-संबंधी मेरी मनोदशा जान ली । मैंने उनसे कहा—"जन्मतः मै हिंदू हूं; पर मुझे उस धर्मका विशेष ज्ञान नहीं । दूसरे धर्मोका ज्ञान भी कम है । मै कहां हूं, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब नहीं जानता । अपने धर्मका गहरा अध्ययन करना चाहता हूं । दूसरे धर्मोंका भी यथाशक्ति अध्ययन करनेका विचार है ।"

यह सब सुनकर मि० बेकर प्रसन्न हुए और मुझसे कहा—"मै खुद 'दक्षिण अफ्रिका जनरल मिशन'का एक डाइरेक्टर हूं । मैंने अपने खर्चसे एक गिरजा बनाया है । उसमें मै समय-समयपर धर्म-संबंधी व्याख्यान दिया करता हूं । में रंग-भेद नहीं मानता । मेरे साथ और लोग भी काम करनेवाले है । हमेशा एक बजे हम कुछ समयके लिए मिलते है और आत्माकी शांति तथा प्रकाश (ज्ञानके उदय)के लिए प्रार्थना करते है । उसमें आप आया करेंगे तो मुझे खुशी होगी । वहां अपने साथियोंका भी परिचय आपसे कराऊंगा । वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे, और मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका समागम प्रिय होगा । आपको कुछ धर्म-पुस्तकें भी मैं पढ़नेके लिए दूंगा । परंतु सच्ची पुस्तक तो बाइबिल ही है । मैं खास तौरपर सिफारिश करता हूं कि आप इसे पढ़ें ।"

मैंने मि० बेकरको धन्यवाद दिया और कहा कि जहांतक हो सकेगा आपके मंडलमें एक बजे प्रार्थनाके लिए आया करूंगा ।

"तो कल एक बजे आप यहीं आइएगा, हम साथ ही प्रार्थना-मंदिर चलेंगे ।"

और हम अपने-अपने स्थानोंको बिदा हुए । अधिक विचार करनेकी फुरसत मुझे न थी । मिस्टर जान्स्टनके पास गया । बिल चुकाया । नये घर गया और

यह सब हम ईसामसीहके नामपर मांगते हैं।' इस प्रार्थनामें भजन-कीर्तन न होते। किसी विशेष बातकी याचना ईश्वरसे करके अपने-अपने घर चले जाते। यह समय सबके दोपहरके भोजनका होता था, इसलिए सब इस तरह प्रार्थना करके भोजन करने चले जाते। प्रार्थनामें पांच मिनटसे अधिक समय न लगता।

कुमारी हैरिस और कुमारी गेबकी अवस्था प्रौढ़ थी। मि० कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों महिलायें साथ रहतीं। उन्होंने मुझे हर रविवारको ४ बजे चाय पीनेके लिए अपने यहां आमंत्रित किया। मि० कोट्स जब मिलते तब हर रविवारको उन्हें मैं अपना साप्ताहिक धार्मिक-रोजनामचा सुनाता। मैंने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ीं, उनका क्या असर मेरे दिलपर हुआ, इसकी चर्चा होती। ये कुमारिकायें अपने मीठे अनुभव सुनातीं और अपनेको मिली परम-शांतिकी बातें करतीं।

मि० कोट्स एक शुद्ध भाववाले कट्टर युवक क्वेकर थे। उनसे मेरा घनिष्ट संबंध हो गया। हम बहुत बार साथ घूमने भी जाते। वह मुझे दूसरे भाइयोंके यहां ले जाते।

कोट्सने मुझे किताबोंसे लाद दिया। ज्यों-ज्यों वह मुझे पहचानते जाते त्यों-त्यों जो पुस्तकें उन्हें ठीक मालूम होतीं, मुझे पढ़नेके लिए देते। मैंने भी केवल श्रद्धाके वशीभूत होकर उन्हें पढ़ना मंजूर किया। इन पुस्तकोंपर हम चर्चा भी करते।

ऐसी पुस्तकें मैंने १८९३मे बहुत पढ़ीं। अब सबके नाम मुझे याद नहीं रहे हैं। कुछ ये थीं—सिटी टेंपलवाले डा० पारकरकी टीका, पियर्सनकी 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स', बटलर कृत 'एनेलाजी' इत्यादि। कितनी ही बातें समझमें न आतीं, कितनी ही पसंद आतीं, कितनी ही न आती। यह सब मैं कोट्ससे कहता। 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स'के मानी हैं 'बहुतसे दृढ़ प्रमाण', अर्थात् बाइबलमें रचयिताने जिस धर्मका अनुभव किया उसके प्रमाण। इस पुस्तकका असर मुझपर बिलकुल न हुआ। पारकरकी टीका नीतिवर्द्धक मानी जा सकती है; परंतु वह उन लोगोंकी सहायता नहीं कर सकती जिन्हें ईसाई-धर्मकी प्रचलित धारणाओंपर संदेह है। बटलरकी 'एनेलाजी' बहुत क्लिष्ट और गंभीर मालूम हुई। उसे पांच-सात बार पढ़ना चाहिए। वह नास्तिक को आस्तिक बनानेके लिए लिखी गई मालूम हुई। उसमें ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए जो युक्तियां

दी गई हैं, उनसे मुझे लाभ न हुआ; क्योंकि यह मेरी नास्तिकताका युग न था; और जो युक्तियां ईसामसीहके अद्वितीय अवतारके संबंधमें अथवा उसके मनुष्य और ईश्वरके बीच संधि-कर्त्ता होनेके विषयमें दी गई थीं, उनकी भी छाप मेरे दिलपर न पड़ी ।

पर कोट्स पीछे हटनेवाले आदमी न थे । उनके स्नेहकी सीमा न थी । उन्होंने मेरे गलेमें वैष्णव-कंठी देखी । उन्हें यह वहम मालूम हुआ, और देखकर दुःख हुआ । "यह अंध-विश्वास तुम जैसों को शोभा नहीं देता । लाओ तोड़ दूं ।"

"यह कंठी तोड़ी नहीं जा सकती । माताजीकी प्रसादी है ।"

"पर तुम्हारा इसपर विश्वास है ?"

"मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता । यह भी नहीं भासित होता कि यदि इसे न पहनूं तो कोई अनिष्ट हो जायगा । परंतु जो माला मुझे माताजीने प्रेम-पूर्वक पहनाई है, जिसे पहनानेमें उसने मेरा श्रेय माना, उसे मैं बिना प्रयोजन नहीं निकाल सकता । समय पाकर जीर्ण होकर जब यह अपने आप टूट जायगी तब दूसरी मंगाकर पहननेका लोभ मुझे न रहेगा; पर इसे नहीं तोड़ सकता ।"

कोट्स मेरी इस दलीलकी कद्र न कर सके; क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्मके प्रति ही अनास्था थी । वह तो मुझे अज्ञान-कूपसे उबारनेकी आशा रखते थे । वह मुझे इतना बताना चाहते थे कि अन्य धर्मोंमें थोड़ा-बहुत सत्यांश भले ही हो; परंतु पूर्ण सत्य-रूप ईसाई-धर्मको स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, और ईसामसीहकी मध्यस्थताके बिना पाप-प्रक्षालन नहीं हो सकता, तथा सारे पुण्य कर्म निरर्थक हैं । कोट्सने जिस प्रकार पुस्तकोंसे परिचय कराया उसी प्रकार उन ईसाइयोंसे भी कराया, जिन्हें वह कट्टर समझते थे । इनमें एक प्लीमथ ब्रदर्सका भी परिवार था ।

'प्लीमथ ब्रदरन्' नामक एक ईसाई-संप्रदाय है । कोट्सके कराये बहुतेरे परिचय मुझे अच्छे मालूम हुए । ऐसा जान पड़ा कि वे लोग ईश्वर-भीरु थे; परंतु इस परिवारवालोंने मेरे सामने यह दलील पेश की—"हमारे धर्मकी खूबी ही तुम नहीं समझ सकते । तुम्हारी बातोंसे हम देखते हैं कि तुम हमेशा बात-बातमें अपनी भूलोंका विचार करते हो, हमेशा उन्हें सुधारना पड़ता है, न सुधरें तो उनके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है । इस क्रियाकांडसे तुम्हें मुक्ति

कब मिल सकती है? तुमको शांति तो मिल ही नहीं सकती। हम पापी हैं, यह तो आप कबूल ही करते हैं। अब देखो हमारे धर्म-मन्तव्यकी परिपूर्णता। वह कहता है मनुष्यका प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी उसे मुक्तिकी तो जरूरत है ही। ऐसी दशामें पापका बोझ उसके सिरसे उतरेगा किस तरह? इसकी तरकीब यह कि हम उससे ईसामसीह पर ढो देते हैं; क्योंकि वह तो ईश्वरका एकमात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो मुझे मानता है वह सब पापोंसे छूट जाता है। ईश्वरकी यह अगाध उदारता है। ईसामसीहकी इस मुक्ति-योजनाको हमने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमें नहीं लगते। पाप तो मनुष्यसे होते ही हैं। इस जगत्में बिना पापके कोई कैसे रह सकता है? इसलिए ईसामसीहने सारे संसारके पापोंका प्रायश्चित्त एकबारगी कर लिया। उसके इस बलिदानपर जिसकी श्रद्धा हो वही शांति प्राप्त कर सकता है। कहां तुम्हारी शांति और कहां हमारी शांति!"

यह दलील मुझे बिलकुल न जंची। मैंने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—"यदि सर्वमान्य ईसाई-धर्म यही हो, जैसाकि आपने बयान किया है, तो इसमें मेरा काम नहीं चल सकता। मैं पापके परिणामसे मुक्ति नहीं चाहता, मैं तो पाप-प्रवृत्तिसे, पाप-कर्मसे मुक्ति चाहता हूं। जबतक वह न मिलेगी, मेरी अशांति मुझे प्रिय लगेगी।"

प्लीमथ ब्रदरने उत्तर दिया—"मैं तुमको निश्चयसे कहता हूं कि तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बातपर फिरसे विचार करना।"

और इन महाशयने जैसा कहा था वैसा ही कर भी दिखाया—जान-बूझकर बुरा काम कर दिखाया।

परंतु तमाम ईसाइयोंकी मान्यता ऐसी नहीं होती, यह बात तो मैं इनसे परिचय होनेके पहले भी जान चुका था। कोट्स खुद पाप-भीरु थे। उनका हृदय निर्मल था, वह हृदय-शुद्धिकी संभावनापर विश्वास रखते थे। वे बहनें भी इसी विचारकी थीं। जो-जो पुस्तकें मेरे हाथ आईं उनमें कितनी ही भक्ति-पूर्ण थीं, इसलिए प्लीमथ ब्रदर्सके परिचयसे कोट्सको जो चिंता हुई थी उसे मैंने दूर कर दिया और उन्हें विश्वास दिलाया कि प्लीमथ ब्रदरकी अनुचित धारणाके आधारपर मैं सारे ईसाईधर्मके खिलाफ अपनी राय न बना लूंगा। मेरी कठिनाइयां

तो बाइबिल तथा उसके रूढ़ अर्थके संबंधमें थीं ।

१२

भारतीयोंसे परिचय

ईसाइयोंके परिचयोंके संबंधमें और अधिक लिखनेके पहले उन्हीं दिनों हुए अन्य अनुभवोंका वर्णन करना आवश्यक है ।

नेटालमें जो स्थान दादा अब्दुल्लाका था, वही प्रिटोरियामें सेठ तैयब हाजी खानमुहम्मदका था । उनके बिना वहां एक भी सार्वजनिक काम नहीं हो सकता था । उनसे मैंने पहले ही सप्ताहमें परिचय कर लिया । प्रिटोरियाके प्रत्येक भारतीयके संपर्कमें आनेका अपना विचार मैंने उनपर प्रकट किया । भारतीयोंकी स्थितिका निरीक्षण करनेकी अपनी इच्छा उनपर प्रदर्शित करके इस कार्यमें उनकी सहायता मांगी । उन्होंने खुशीसे सहायता देना स्वीकार किया ।

पहला काम जो मैंने किया, वह था समस्त भारतीयोंकी एक सभा करना, जिसमें उनके सामने वहांकी स्थितिका चित्र रक्खा जाय । सेठ हाजी मुहम्मद हाजी जुसबके यहां, जिनके नाम मुझे परिचय-पत्र मिला था, सभा की गई । उनमें प्रधानतः मेमन व्यापारी शरीक हुए थे । कुछ हिंदू भी थे । प्रिटोरियामें हिंदुओंकी आबादी बहुत कम थी ।

जीवनमें मेरा यह पहला भाषण था । मैंने तैयारी ठीक की थी । मुझे 'सत्य' पर बोलना था । व्यापारियोंके मुंहसे मैं सुनता आया था कि व्यापारमें सच्चाईसे काम नहीं चल सकता । उस समय मैं यह बात नहीं मानता था । आज भी नहीं मानता हूं । व्यापार और सत्य दोनों एकसाथ नहीं चल सकते, ऐसा कहनेवाले व्यापारी मित्र आज भी मौजूद हैं । वे व्यापारको व्यवहार कहते हैं, सत्यको धर्म कहते हैं और युक्ति पेश करते हैं कि व्यवहार एक चीज है और धर्म दूसरी । व्यवहारमें शुद्ध सत्यसे काम नहीं चल सकता । वे मानते हैं कि उसमें तो यथाशक्ति ही सत्य बोला और बरता जा सकता है । मैंने अपने भाषणमें इस बातका प्रबल विरोध किया और व्यापारियोंको उनके दुहरे कर्त्तव्यका स्मरण दिलाया । मैंने कहा—"विदेशमें आनेके कारण आपकी जवाबदेही देशसे अधिक

बढ़ गई है; क्योंकि मुट्ठी भर हिंदुस्तानियोंके रहन-सहनसे लोग करोड़ों भारत-वासियोंका अंदाजा लगाते हैं।"

मैंने देख लिया था कि अंग्रेजोंके रहन-सहनके मुकाबलेमें हिंदुस्तानी गंदे रहते हैं और उनको मैंने यह त्रुटि दिखाई।

हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मदरासी, पंजाबी, सिंधी, कच्छी, सूरती इत्यादि भेदोंको भुला देने पर जोर दिया। और अंतको यह सूचित किया कि एक मंडलकी स्थापना करके भारतीयोंके कष्टों और दुःखों का इलाज अधिकारियोंसे मिलकर, प्रार्थना-पत्र आदिके द्वारा, करना चाहिए। और अपनी तरफसे यह कहा कि इसके लिए मुझे जितना समय मिल सकेगा बिना वेतन देता रहूंगा।

मैंने देखा कि सभापर इसका अच्छा असर हुआ।

चर्चा हुई। कितनोंने ही कहा कि हम हकीकतें ला-लाकर देंगे। मुझे हिम्मत आई। मैंने देखा कि सभामें अंग्रेजी जाननेवाले कम थे। मुझे लगा कि ऐसे प्रदेशमें यदि अंग्रेजीका ज्ञान अधिक हो तो अच्छा, इसलिए मैंने कहा कि जिन्हें फुर्सत हो उन्हें अंग्रेजी सीख लेनी चाहिए। बड़ी उम्रमें भी चाहें तो पढ़ सकते हैं, यह कहकर उन लोगोंकी मिसालें दीं जिन्होंने प्रौढ़ावस्थामें पढ़ा था। कहा कि यदि कुछ लोग या एक वर्ग जितने लोग पढ़ना चाहें तो मैं पढ़ानेको तैयार हूं। वर्ग तो निकला परंतु तीन शख्स अपनी सुविधासे व उनके घर जाकर पढ़ाऊं तो पढ़नेके लिए तैयार हुए। इनमें दो मुसलमान थे, एक नाई था और एक था कारकुन। एक हिंदू छोटा-सा दुकानदार था। मैं सबकी सुविधाके अनुकूल हुआ। अपनी पढ़ानेकी योग्यता और क्षमताके संबंधमें तो मुझे अविश्वास था ही नहीं। मेरे शिष्य भले ही थक गये हों; पर मैं न थका। कभी उनके घर जाता तो उन्हें फुरसत नहीं रहती। मैंने धीरज न छोड़ा। किसीको अंग्रेजीका पंडित तो होना ही न था; परंतु दो विद्यार्थियोंने कोई आठ मासमें अच्छी प्रगति कर ली। दोनोंने बहीखातेका तथा चिट्ठीपत्री लिखनेका ज्ञान प्राप्त कर लिया। नाईको तो इतना ही पढ़ना था कि वह अपने ग्राहकोंसे बातचीत कर सके। दो आदमी इस पढ़ाईकी बदौलत ठीक कमानेका भी सामर्थ्य प्राप्त कर सके।

सभाके परिणामसे मुझे संतोष हुआ। ऐसी सभा हर मास अथवा हर

सप्ताह करनेका निश्चय हुआ ।

न्यूनाधिक नियमित रूपमे यह सभा होती तथा विचार-विनिमय होता । इसके फलस्वरूप प्रिटोरियामें शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा, जिसे मैं पहचानता न होऊं या जिसकी स्थितिसे वाकिफ न होऊं । भारतीयोंकी स्थितिकी ऐसी जानकारी प्राप्त कर लेनेका परिणाम यह हुआ कि मुझे प्रिटोरिया-स्थित ब्रिटिश एजेंटसे परिचय करनेकी इच्छा हुई । मै मि० जेकोब्स डिबेटसे मिला । उनके मनोभाव हिंदुस्तानियोकी ओर थे । पर उनकी पहुंच कम थी । फिर भी उन्होंने भरसक सहायता करनेका आश्वासन दिया और कहा—"जब जरूरत हो तो मिल लिया करो ।" रेलवे-अधिकारियोंसे लिखा-पढ़ी की और उन्हें दिखाया कि उन्हींके कायदोंके अनुसार हिंदुस्तानियोंकी यात्रामें रोक-टोक नहीं हो सकती । उसके उत्तरमे यह पत्र मिला कि साफ-सुथरे और अच्छे कपड़े पहननेवाले भारत-वासियोंको ऊपर दरजेके टिकट दिये जायंगे । इससे पूरी सुविधा तो न हुई; क्योंकि अच्छे कपड़ोंका निर्णय तो आखिर स्टेशनमास्टर ही करता न ?

ब्रिटिश एजेंटने मुझे हिंदुस्तानियोंसे संबंध रखनेवाली चिट्ठियां दिखाईं । तैयब सेठने भी ऐसे पत्र दिये । उनसे मैंने जाना कि आरेंज फ्री स्टेटसे हिंदुस्तानियों-के पैर किस प्रकार निर्दयतासे उखाड़े गये । संक्षेपमें कहूं तो प्रिटोरियामें मै भारत-वासियोंकी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थितिका गहरा अध्ययन कर सका । मुझे इस समय यह बिलकुल पता न था कि यह अध्ययन आगे चलकर बड़ा काम आवेगा; क्योंकि मैं तो एक साल बाद अथवा मामला जल्दी तय हो जाय तो उसके पहले देश चला जानेवाला था ।

पर ईश्वरने कुछ और ही सोचा था ।

१३

कुलीपनका अनुभव

ट्रांसवाल तथा आरेंज फ्री स्टेटके भारतीयोंकी दशाका पूरा चित्र देनेका यह स्थान नहीं । उनके लिए पाठकोंको 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' पढ़ना चाहिए; परंतु उसकी रूप-रेखा यहां दे देना आवश्यक है ।

आरेंज फ्री स्टेटमें १८८२ ईस्वीमें अथवा उसके पहले एक कानून बनाकर भारतीयोंके तमाम अधिकार छीन लिये गये थे। सिर्फ होटलमें 'वेटर' बनकर रहनेकी आजादी भारतीयोंको रह गई थी। जो भारतीय व्यापारी वहां थे उन्हें नाम-मात्रके लिए मुआवजा देकर वहांसे हटा दिया गया। उन्होंने प्रार्थना-पत्र इत्यादि तो भेजे-भिजाये; पर नक्कारखाने में तूतीकी आवाज कौन सुनता!

ट्रांसवालमें १८८५में सख्त कानून बना। १८८६में उसमें कुछ सुधार हुआ, जिसके फलस्वरूप यह नियम बना कि तमाम हिंदुस्तानी प्रवेश-फीसके तौरपर ३ पौंड दे। जमीनकी मालिकी भी उन्हें ' न्हीं जगहोंमें मिल सकती है, जो उनके लिए खास तौरपर बताई जायं र वास्तवमें तो किसीको मालिकी मिली न थी; और मताधिकार भी किसी कुछ न था। ये तो कानून ऐसे थे, जिनका संबंध एशियावासियोंसे था; परंतु जो कानून श्यामवर्णके लोगोंके लिए थे वे भी एशियावासियोंपर लागू होते थे। उसके अनुसार भारतवासी फुटपाथपर अधिकार-पूर्वक न चल सकते थे, रातको नौ बजेके बाद बिना परवानेके बाहर न निकल सकते थे। इस अंतिम कानूनका अमल भारतवासियोंपर कहीं कम होता, कहीं ज्यादा। जो अरब कहलाते थे, उसपर बतौर मेहरबानीके यह कानून लागू न भी किया जाता; पर यह बात थी पुलिसकी मरजीपर अवलंबित।

अब मुझे यह देखना था कि इन दोनों कानूनोंका अमल खुद मेरे साथ किस तरह होता है। मि० कोट्सके साथ मैं बहुत बार घूमनेके लिए जाता। घर पहुंचते कभी दस भी बज जाते। ऐसी अवस्थामें यह आशंका रहा करती कि कहीं मुझे पुलिस पकड़ न ले। पर मेरी अपेक्षा यह भय कोट्सको अधिक था; क्योंकि अपने हबशियोंको तो परवाने वही देते थे। पर मुझे कैसे दे सकते थे? मालिकको परवाना देनेका अधिकार सिर्फ नौकरके ही लिए था। यदि मैं लेना चाहूं और कोट्स देनेको तैयार हों तो भी वह नहीं दे सकते थे; क्योंकि ऐसा करना दगा समझा जाता।

इस कारण मुझे कोट्स अथवा उनके कोई मित्र वहांके सरकारी वकील डा० क्राउजेके पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन' के बैरिस्टर निकले। यह बात कि मुझे नौ बजेके बाद रातको परवाना लेनेकी जरूरत है, उन्हें बड़ी नागवार मालूम हुई। उन्होंने मेरे साथ समवेदना प्रदर्शित की। मुझे परवाना

देनेके बदले अपनी तरफसे एक पत्र दे दिया। उसका आशय यह था कि मैं कहीं भी किसी समय चला जाऊं तो पुलिस मुझे रोक-टोक न करे। हमेशा मैं इस पत्रको अपने साथ रखता। उसका उपयोग तो किसी दिन भी न करना पड़ा; पर इसे एक दैव-योग ही समझना चाहिए।

डा० क्राउजेने मुझे अपने घर चलनेका निमंत्रण दिया। हम दोनोंमें खासी मित्रता-सी हो गई। कभी-कभी मैं उनके घर जाने लगा। उनके द्वारा उनके अधिक प्रख्यात भाईसे मेरा परिचय हुआ। वह जोहांसबर्गमें पब्लिक प्रासीक्यूटर थे। उनपर बोअर-युद्धके समय अंग्रेज अधिकारीका खून करनेकी साजिशका अभियोग लगाया गया था और उन्हें सात साल कैदकी सजा भी मिली थी। बेंचरोंने उनकी सनद भी छीन ली थी। लड़ाई खतम होनेके बाद, डा० क्राउज जेलसे छूटे, और फिर सम्मान-सहित ट्रांसवालकी अदालतमें वकालत करने लगे। इन परिचयोंसे मुझे बादको सार्वजनिक कार्योंमें खासा लाभ मिला और मेरा कितना ही सार्वजनिक काम बहुत सुगम हो गया।

फुटपाथपर चलनेका प्रश्न जरा मेरे लिए गंभीर परिणामवाला साबित हुआ। मैं हमेशा प्रेसीडेंट-स्ट्रीटमें होकर एक खुले मैदानमें घूमने जाता। इस मुहल्लेमें प्रेसीडेंट क्रूगरका घर था। इस घरमें आडंबरका नाम-निशान न था। उसके आस-पास कंपाउंड तक न था। दूसरे पड़ौसी घरोंमें और इसमें कुछ फर्क न मालूम देता था। कितने ही लखपतियोंके घर, प्रिटोरियामें, इस घरसे भारी आलीशान और चहारदीवारीवाले थे। प्रेसीडेंटकी सादगी प्रख्यात थी। यह घर किसी राज्याधिकारीका है, इसका अंदाज सिर्फ उस संतरीको देखकर हो सकता था, जो उसके सामने टहलता रहता। मैं इस संतरीके नजदीकसे ही रोज निकला करता, परंतु संतरी मुझे रोक-टोक नहीं करता था। उनकी बदली होती रहती। एक बार एक संतरीने, बिना चिताये, बिना यह कहे कि फुटपाथसे उतर जाओ, मुझे धक्का मार दिया, लात जमा दी और फुटपाथसे उतार दिया। मैं तो भौंचक्का रह गया। ज्योंही मैं संतरीसे लात जमानेका कारण पूछता हूं कि कोट्सने, जो घोड़ेपर सवार होकर उस समय उसी रास्तेसे जा रहे थे, आकर कहा—

"गांधी, मैंने यह सब देख लिया है। तुम यदि मुकदमा चलाना चाहो तो मैं गवाही दूंगा। मुझे बहुत अफसोस होता है कि तुमपर इस प्रकारका हमला

हुआ ।" मैंने कहा—"इसमें अफसोस की बात ही क्या है, संतरी बेचारा क्या पहचानता ? उसके नजदीक तो काले-काले सब बराबर । हबशियोंको फुटपाथसे इसी तरह उतारता होगा । इसलिए मुझे भी धक्का मार दिया । मैंने तो अपना यह नियम ही बना लिया है कि मेरे जात खासपर जो भी कुछ बीते, उसके लिए कभी अदालत न जाऊं; इसलिए मुझे इसे अदालतमें नहीं ले जाना है ।"

"यह तो तुमने अपने स्वभावके अनुसार ही कहा है; पर और भी विचार कर देखना । ऐसे आदमी को कुछ सबक तो जरूर सिखाना चाहिए ।" यह कहकर उन्होंने उस संतरीको दो-चार बातें कहीं । मैं सारी बात न समझ सका । संतरी डच था और डच भाषामे उसके साथ बात-चीत हुई थी । संतरीने मुझसे माफी मांगी, मैं तो अपने मनमें उसे माफी पहले ही दे चुका था ।

पर उसके बादसे मैंने उस रास्ते जाना छोड़ दिया । दूसरे संतरी इस घटनाको क्या जानते ? मैं अपने-आप लात खाने क्यों जाऊं ? इसलिए मैंने दूसरे रास्ते होकर घूमने जाना पसंद किया । इस घटनाने वहांके हिंदुस्तानी निवासियोंके प्रति मेरे मनोभाव और भी तीव्र कर दिये । उनसे मैंने दो बातोंकी चर्चा की । एक तो यह कि इन कानूनोंके लिए ब्रिटिश एजेंटसे बात कर ली जाय, और दूसरी बात यह कि मौका पड़नेपर बतौर नमूनेके एक मुकदमा चलाया जाय ।

इस प्रकार मैंने भारतवासियोंके कष्टोंको पढ़कर, सुनकर तथा अनुभव करके अध्ययन किया । मैंने देखा कि आत्म-सम्मानकी रक्षा चाहनेवाले भारत-वासीके लिए, दक्षिण अफ्रिका अनुकूल नहीं । यह दशा कैसे बदली जा सकती है । इसीके विचारमें मेरा मन दिन-दिन व्यग्र रहने लगा; पर अभी तो मेरा मुख्य धर्म था दादा अब्दुल्लाके मुकदमेको सम्हालना ।

१४

मुकदमेकी तैयारी

प्रिटोरियामें मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवनमें अमूल्य था । सार्वजनिक काम करनेकी अपनी शक्तिका कुछ अंदाज मुझे यहां हुआ, सार्वजनिक सेवाको सीखनेका अवसर मिला । धार्मिक भावना तीव्र होने लगी । और सच्ची

वकालत भी, कहना चाहिए, मैंने यहीं सीखी। नया बैरिस्टर पुराने बैरिस्टरके दफ्तरमें रहकर जो सीखता है वह मैं यहां सीख सका। यहां मुझे इस बातपर विश्वास हुआ कि एक वकीलकी हैसियतसे मैं बिलकुल अयोग्य न रहूंगा। वकील होनेकी कुंजी भी मेरे हाथ यहीं आकर लगी।

दादा अब्दुल्लाका मामला छोटा न था। दावा ४०,००० पौंड अर्थात् ६ लाख रुपयेका था। यह व्यापारके सिलसिलेमें था और उसमें जमा-नामेकी बहुतेरी गुत्थियां थीं। उसके कुछ अंशका आधार था प्रामिसरी नोटोंपर और कुछका था नोट देनेके वचनका पालन करनेपर। सफाईमें यह कहा जाता था कि प्रामिसरी नोट जालसाजी करके लिये गये थे और पूरा मुआवजा नहीं मिला था। इसमें हकीकतकी तथा कानूनी गुंजाइशें बहुतेरी थीं। बही-खातेकी उलझनें बहुत थीं।

दोनों ओरसे अच्छे-से-अच्छे सालिसिटर और बैरिस्टर खड़े हुए थे। इस कारण मुझे इन दोनोंके कामका अनुभव प्राप्त करनेका बढ़िया अवसर हाथ आया। मुद्दईका मामला सालिसिटरके लिए तैयार करनेका तथा हकीकतोंको ढूंढनेका सारा बोझ मुझीपर था। इससे मुझे यह देखनेका अवसर मिलता था कि मेरे तैयार किये काममेंसे सालिसिटर अपने काममें कितनी बातें लेते हैं और सालिसिटरोंके तैयार किये मामलेमेंसे बैरिस्टर कितनी बातोंको काममें लेते हैं। मैं समझ गया कि इस मामलेको तैयार करनेमें मुझे ग्रहण-शक्ति और व्यवस्था-शक्तिका ठीक अंदाजा हो जायगा।

मैंने मुकदमा तैयार करनेमें पूरी-पूरी दिलचस्पी ली। मैं उसमें लवलीन हो गया। आगे-पीछेके तमाम कागज-पत्रोंको पढ़ डाला। मवक्किलके विश्वास और होशियारीकी सीमा न थी। इससे मेरा काम बड़ा सरल हो गया। मैंने बही-खातोंका सूक्ष्म अध्ययन कर लिया। गुजराती कागजपत्र बहुतेरे थे। उनके अनुवाद भी मैं करता था। इससे उल्था करनेकी क्षमता भी बढ़ी।

मैंने खूब उद्योगसे काम लिया। यद्यपि जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं धार्मिक चर्चा आदिमें तथा सार्वजनिक कामोंमें मेरा दिल खूब लगता था, उनके लिए समय भी देता था, तथापि इस समय ये बातें गौण थीं। मुकदमेकी तैयारी को ही मैं प्रधानता देता था। उसके लिए कानून वगैरा देखनेका अथवा दूसरा

कुछ पढ़ना होता तो उसे मैं पहले कर लेता। इसके फलस्वरूप मामलेकी असली बातोंका मुझे इतना ज्ञान हो गया कि खुद मुद्दई-मुद्दालेको भी शायद न हो; क्योंकि मेरे पास तो दोनोंके कागजात थे।

मुझे स्वर्गीय मि० पिकटके शब्द याद आये। उनका समर्थन बादको दक्षिण अफ्रिकाके सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्वर्गीय मि० लैनर्डने एक अवसरपर किया था। 'हकीकत तीन-चौथाई कानून है'—यह मि० पिकटका वाक्य था। एक मामलेमें मैं जानता था कि न्याय सर्वथा मेरे मवक्किलके पक्षमें था; परंतु कानून उसके खिलाफ जाता हुआ दिखाई पड़ा। मैं निराश होकर मि० लैनर्डसे सहायता लेनेके लिए दौड़ा। उन्हें भी हकीकतोंके आधारपर मामला मजबूत मालूम हुआ। वह बोल उठे, "गांधी, मैंने एक बात सीखी है। यदि हकीकतोंका ज्ञान हमें पूरा-पूरा हो, कानून अपने-आप हमारे अनुकूल हो जायगा। सो हम इस मामलेकी हकीकतको देखें।" यह कहकर उन्होंने सुझाया कि 'एक बार और हकीकतोंका खूब मनन कर लो और मुझसे मिलो।' उसी हकीकतकी फिर छानबीन करते हुए, उसका मनन करते हुए, मुझे वह दूसरी तरह दिखाई दी और उससे संबंध रखनेवाला दक्षिण अफ्रिकामें हुआ एक पुराना मामला भी हाथ लग गया। मारे खुशीके मैं मि० लेनर्डके यहां पहुंचा। वह खुश हो उठे और बोले—"बस, अब हम इस मामलेको जीत लेंगे। बेंचपर कौन-से जज होंगे, यह जरा ध्यानमें रखना होगा।"

जब दादा अब्दुल्लाके मामलेकी तैयारी कर रहा था तब हकीकतकी महिमा मैं इस दरजेतक न समझ सका था। हकीकतके मानी हैं सत्य बात; सत्य बातपर आरूढ़ रहनेमे कानून अपने-आप हमारी सहायताके लिए अनुकूल हो जाता है।

मैंने अंतको देख लिया था कि मेरे मवक्किलका पक्ष बहुत मजबूत है। कानूनको उसकी मददके लिए आना ही पड़ेगा।

पर साथ ही मैंने यह भी देखा कि मामला लड़ते-लड़ते दोनों रिश्तेदार, एक ही शहरके रहनेवाले, बरबाद हो जायंगे। मामलेका अंत क्या होगा, यह किसीको खबर न हो सकती थी। अदालतमें तो मामला जहांतक जी चाहे लंबा किया जा सकता है। लंबा करनेसे दोमेंसे किसीको लाभ न था। इस कारण दोनों

पक्षवालोंकी इच्छा जरूर थी कि मामला जल्दी तय हो जाय तो अच्छा ।

मैंने तैयब सेठसे अनुरोध किया और आपसमें निपटारा कर लेनेकी सलाह दी । मैंने कहा कि आप अपने वकीलसे मिलिए । दोनोंके विश्वासपात्र पंचको यदि ये नियुक्त करदें तो मामला जल्दी तय हो सकता है । वकीलोंके खर्चका बोझा इतना चढ़ रहा था कि उसमें बड़े-बड़े व्यापारी भी खप जायं । दोनों इतनी चितासे मुकदमा लड़ रहे थे कि कोई भी बेफिक्रीसे दूसरा कोई काम न कर पाते थे; और दोनोंमें मनमुटाव जो बढ़ता जाता था सो अलग ही । यह देखकर मेरे मनमें वकालतपर घृणा उत्पन्न हुई । वकीलका तो यह काम ही ठहरा कि एक-दूसरेको जितानेकी कानूनी गुंजाइशें ही खोज-खोजकर निकालते रहें । जीतने-वालेको सारा खर्च कभी नहीं मिलता, यह बात मैंने इस मामलेमें पहलेपहल जानी । वकील मवक्किलसे एक फीस लेता है; और मवक्किलको प्रतिवादीसे दूसरी रकम मिलती है । दोनों रकमें जुदा-जुदा होती हैं । मुझे यह सब बड़ा नागवार गुजरा । मेरी अंतरात्माने कहा कि इस समय मेरा धर्म है दोनोंमें मित्रता करा देना, दोनों रिश्तेदारोंमें मिलाप करा देना । मैंने समझौतेके लिए जी तोड़कर मिहनत की । तैयब सेठने बात मान ली । अंतको पंच मुकर्रर हुए और मुकदमा चला । उसमें दादा अब्दुल्लाकी जीत हुई ।

पर मुझे इतनेसे संतोष न हुआ । यदि पंचके फैसलेका अमल एकबारगी हो तो तैयब हाजी खान मुहम्मद इतना रुपया एकाएक न दे सकते थे । दक्षिण अफ्रिका-स्थित पोरबंदरके मेमन व्यापारियोंमें एक आपसका अलिखित कायदा था कि खुद चाहे मर जायं, पर दिवाला न निकालें । तैयब सेठ ३७,००० पौंड और खर्च एकमुश्त नहीं दे सकते थे । फिर वह एक पाई कम न देना चाहते थे । दिवाला भी नहीं निकालना था । ऐसी दशामें एक ही रास्ता था—दादा अब्दुल्ला उन्हें अदायगीके लिए काफी मियाद दें । दादा अब्दुल्लाने उदारतासे काम लिया और लंबी मियाद दे दी । पंच मुकर्रर करनेमें जितना श्रम मुझे हुआ उससे कहीं अधिक लंबी किस्तें करानेमें हुआ । अंतको दोनों पक्ष खुश रहे । दोनोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी । मेरे संतोषकी तो सीमा न रही । मैंने सच्ची वकालत करना सीखा; मनुष्यके गुण—उज्ज्वल पक्षको खोजना सीखा; मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करना सीखा । मैंने देखा कि वकीलका कर्तव्य है, फरीकैनमें पड़ी खाईको पाट देना ।

यह शिक्षा मेरे हृदयमें इतने जोरके साथ अंकित हो गई कि अपने बीस सालके वकील-जीवनमें अधिक समय मेरा सैकड़ों फरीकैनमें समझौता करानेमें बीता इसमें मैंने वाया कुछ नहीं । धन खोया हो, यह भी गंनहीं कह सकते; और आत्माको तो किसी तरह नहीं खोया ।

१५

धार्मिक मंथन

अब फिर ईसाई-मित्रोंके संपर्कपर विचार करनेका समय आया है मेरे भविष्यके संबंधमे मि० बेकरकी चिंता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। वह मुझे वेलिंग्टन कन्वेंशनमें ले गये। प्रोटेस्टेंट ईसाइयोंमें, कुछ-कुछ वर्षो बाद धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धिके लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्मकी पुनःप्रतिष्ठा अथवा धर्मका पुनरुद्धार कहा करते हैं। ऐसा एक सम्मेलन वेलिंग्टनमें था। उसके सभापति वहांके प्रख्यात धर्मनिष्ठ पादरी रेवरंड एंड्रू मरे थे। मि० बेकरको ऐसी आशा थी कि इस सम्मेलनमें होनेवाली जागृति, वहां आनेवाले लोगोंका धार्मिक उत्साह, उनका शुद्धभाव, मुझपर ऐसा गहरा असर डालेगा कि मै ईसाई हुए बिना न रह सकूंगा ।

परंतु मि० बेकरका अंतिम आधार था प्रार्थना-बल। प्रार्थनापर उनकी भारी श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अंतःकारण-पूर्वक की गई प्रार्थनाको ईश्वर अवश्य सुनता है। वह कहते, 'प्रार्थनाके ही बलपर मुलर (एक विख्यात भावुक ईसाई) जैसे लोगोंका काम चलता है।' प्रार्थनाकी यह महिमा मैंने तटस्थ भावसे सुनी। मैंने उनसे कहा कि यदि मेरी अंतरात्मा पुकार उठे कि मुझे ईसाई हो जाना चाहिए तो दुनियाकी कोई शक्ति मुझे रोक नहीं सकती। अंतरात्माकी पुकारके अनुसार चलनेकी आदत तो मैं कितने ही वर्षोंसे डाल चुका था। अंतरात्मा के अधीन होते हुए मुझे आनंद आता। उसके विपरीत आचरण करना मुझे कठिन और दुखदाई मालूम होता था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझ 'श्याम साथी' को साथ रखना मि० बेकरके लिए भारी पड़ा। कई बार उन्हें मेरे कारण असुविधा भोगनी पड़ती। रास्तेमें

हमें मुकाम करना पड़ा था; क्योंकि मि० बेकरका संघ रविवारको सफर न करता था और बीचमें रविवार पड़ गया था। बीचमे तथा स्टेशनपर मुझे होटलवालेने होटलमें ठहरनेसे तथा चख-चख होनेके बाद ठहरनेपर भी भोजमालयमें भोजन करने देनेसे इन्कार कर दिया; पर मि० बेकर आसानीसे हार माननेवाले न थे। वह होटलमें ठहरनेवालोंके हकपर अड़े रहे; परंतु मैने उनकी कठिनाइयोंका अनुभव किया। वेलिंग्टनमें भी मैं उनके पास ही ठहरा था। वहां उन्हें छोटी-छोटी-सी बातोंमें असुविधा होती थी। वह उन्हें ढांकनेका शुभ प्रयत्न करते थे; फिर भी वे मेरे ध्यानमें आ जाया करती थीं।

सम्मेलन में भावुक ईसाइयोंका अच्छा सम्मिलन हुआ। उनकी श्रद्धा देख-कर मुझे आनंद हुआ। मि० मरेसे परिचय हुआ। मैंने देखा कि मेरे लिए बहुतेरे लोग प्रार्थना कर रहे थे। उनके कितने ही भजन मुझे बहुत ही मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिनतक हुआ। सम्मेलनमे सम्मिलित होनेवालोंकी धार्मिकताको तो मैं समझ सका, उसकी कद्र भी कर सका, परंतु अपनी मान्यता——अपने धर्म——मे परिवर्तन करनेका कारण न दिखाई दिया। मुझे यह न मालूम हुआ कि मै अपनेको ईसाई कहलानेपर ही स्वर्गको जा सकता हूं या मोक्ष पा सकता हूं। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रोंसे कही तब उन्हें दुःख तो हुआ; पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइया गहरी थीं। यह बात कि ईसामसीह ही एकमात्र ईश्वर-का पुत्र है, जो उसको मानता है उसीका उद्धार होता है, मुझे न पटी। ईश्वरके यदि कोई पुत्र हो सकता है तो फिर हम सब उसके पुत्र है। ईसामसीह यदि ईश्वर-सम हैं, ईश्वर ही हैं, तो मनुष्य-मात्र ईश्वरसम है, ईश्वर हो सकते हैं। ईसाकी मृत्युसे और उसके लहूसे संसार के पाप धुल जाते हैं, इस बातको अक्षरशः माननेके लिए बुद्धि किसी तरह तैयार न होती थी। रूपकके रूपमें यह सत्य भले ही हो। फिर ईसाई मतके अनुसार तो मनुष्यको ही आत्मा होती है, दूसरे जीवोंको नहीं, और देहके नाशके साथ ही उसका भी सर्वनाश हो जाता है; पर मेरा मत इसके विपरीत था।

ईसाको त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक मान सकता था; परंतु एक अद्वितीय पुरुष नहीं। ईसाकी मृत्युसे संसारको एक भारी उदाहरण मिला; परंतु उसकी

मृत्युमें कोई गुह्य चमत्कार-प्रभाव था, इस बातको मेरा हृदय न मान सकता था। ईसाइयोंके पवित्र जीवनमेंसे मुझे कोई ऐसी बात न मिली जो दूसरे धर्मवालोंके जीवनमें न मिलती थी। उनकी तरह दूसरे धर्मवालोंके जीवनमें भी परिवर्तन होता हुआ मैंने देखा था। सिद्धांतकी दृष्टिसे ईसाई-सिद्धांतोंमें मुझे अलौकिकता न दिखाई दी। त्यागकी दृष्टिसे हिंदू-धर्मवालोंका त्याग मुझे बढ़कर मालूम हुआ। अतः ईसाई-धर्मको मैं संपूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म न मान सका।

अपना यह हृदय-मंथन मैंने, समय पाकर, ईसाई मित्रोंके सामने रक्खा। उसका जवाब वे संतोषजनक न दे सके।

परंतु एक ओर जहां मैं ईसाई-धर्मको ग्रहण न कर सका वहां दूसरी ओर हिंदू-धर्मकी संपूर्णता अथवा सर्वोपरिताका भी निश्चय मैं इस समय तक न कर सका। हिंदू-धर्मकी त्रुटियां मेरी आंखोंके सामने घूमा करतीं। अस्पृश्यता यदि हिंदू-धर्मका अंग हो तो वह मुझे सड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ मालूम हुआ। अनेक संप्रदायों और जात-पांतका अस्तित्व मेरी समझमें न आया। वेद ही ईश्वर प्रणीत है, इसका क्या अर्थ? वेद यदि ईश्वर-प्रणीत है, तो फिर कुरान और बाइबिल क्यों नहीं?

जिस प्रकार ईसाई मित्र मुझपर असर डालनेका उद्योग कर रहे थे, उसी प्रकार मुसलमान मित्र भी कोशिश कर रहे थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लामका अध्ययन करनेके लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियोंकी चर्चा तो वह हमेशा करते रहते।

मैंने अपनी दिक्कतें रायचंदभाईको लिखीं। हिंदुस्तानमें दूसरे धर्मशास्त्रियों-से भी पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर भी आये; परंतु रायचंदभाईके पत्रने मुझे कुछ शांति दी। उन्होंने लिखा कि धीरज रक्खो, और हिंदू-धर्मका गहरा अध्ययन करो। उनके एक वाक्यका भावार्थ यह था—'हिंदू-धर्ममें जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, जो आत्माका निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्ममें नहीं है—निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मैं इस परिणामपर पहुंचा हूं।'

मैंने सेल-कृत कुरान खरीदी और पढ़ना शुरू किया। दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी मंगाई। विलायतके ईसाई मित्रोंसे लिखा-पढ़ी की। उनमेंसे एकने एडवर्ड मेटलैंडसे जान-पहचान कराई। उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। उन्होंने

एना किंग्सफर्डके साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढ़नेके लिए भेजी। प्रचलित ईसाई-धर्मका उसमें खंडन था। 'बाइबिलका नवीन अर्थ' नामक पुस्तक भी उन्होंने मुझे भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसंद आईं। उनसे हिंदू-मतको पुष्टि मिली। टॉलस्टायकी 'वैकुंठ तुम्हारे हृदयमें है' नामक पुस्तकने मुझे मुग्ध कर लिया। उसकी बड़ी गहरी छाप मुझपर पड़ी। इस पुस्तककी स्वतंत्र विचार-शैली, उसकी प्रौढ़ नीति, उसके सत्यके सामने मि० कोट्सकी दी हुई तमाम पुस्तकें शुष्क मालूम हुईं।

इस प्रकार मेरा यह अध्ययन मुझे ऐसी दिशामें ले गया जिसे ईसाई मित्र नहीं चाहते थे। एडवर्ड मेटलैंडके साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी समयतक रहा। कवि (रायचंद)के साथ तो अंत तक रहा। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भेजी। उन्हें भी पढ़ गया। उनमें 'पंचीकरण', 'मणिरत्नमाला', 'योगवासिष्ठ' का मुमुक्षु-प्रकरण, हरिभद्र सूरिका 'षड्दर्शन-समुच्चय' इत्यादि थे।

इस प्रकार यद्यपि मैं ऐसे रास्ते चल पड़ा, जिसका खयाल ईसाई मित्रोंने न किया था, फिर भी उनके समागमने जो धर्म-जिज्ञासा मुझमें जागृत कर दी थी उसके लिए तो मैं उनका चिर-कालीन ऋणी हूं। उनसे मेरा यह संबंध मुझे हमेशा याद रहेगा। ऐसे मीठे और पवित्र संबंध आगे और भी बढ़ते गये, घटे नहीं हैं।

१६

'को जाने कलकी ?'

खबर नहिं इस जुगमें पलकी
समझ मन! 'को जाने कलकी?'

मुकदमा खतम हो जानेके बाद मेरे प्रिटोरियामें रहनेका कोई प्रयोजन न रहा था। सो मैं डरबन गया। वहां जाकर घर (भारतवर्ष) लौटनेकी तैयारी की; पर अब्दुल्ला सेठ भला मुझे आदर-सत्कार किये बिना क्यों जाने देने लगे ? उन्होंने सिडनहैममें मेरे लिए खान-पानका एक जलसा किया। सारा दिन उसमें लगनेवाला था।

मेरे पास कितने ही अखबार रक्खे हुए थे। उन्हें मैं देख रहा था। एक

अखबारके कोनेमें एक छोटी-सी खबर छपी थी—'इंडियन फ्रैंचाइज'। इसका अर्थ हुआ—'हिंदुस्तानी मताधिकार।' खबरका भावार्थ यह था कि नेटालकी धारा-सभाके सभ्योंको चुननेका जो अधिकार हिंदुस्तानियोंको था वह छीन लिया जाय। इसके विषयमें एक कानून धारासभामें पेश था और उसपर चर्चा हो रही थी। मैं उस कानूनके बारेमें कुछ न जानता था। जलसेमें किसीको इस मसविदेकी खबर न थी, जोकि भारतीयोंके अधिकारोंको छीननेके लिए तैयार हुआ था।

मैंने अब्दुल्ला सेठसे इसका जिक्र किया। उन्होंने कहा—"इन बातोंको हम लोग क्या समझें? हमारे तो व्यापारपर अगर कोई आफत आवे तो खबर पड़ सकती है। देखिए, आरेंज फ्री स्टेटमें हमारे व्यापारकी सारी जड़ उखड़ गई। उसके लिए हमने कोशिश भी की; पर हम तो ठहरे अपंग। अखबार पढ़ते हैं—पर अपने भाव-तावकी बातें ही समझ लेते हैं। कानून-कायदेकी बातोंका हमें क्या पता चले? हमारे आंख-कान जो-कुछ हैं, गोरे वकील हैं।"

"पर यहीं पैदा हुए और अंग्रेजी पढ़े-लिखे इतने नौजवान हिंदुस्तानी जो यहां है?" मैंने कहा।

"अजी भाई साहब!" अब्दुल्ला सेठने सिरपर हाथ मारते हुए कहा—"उनसे क्या उम्मीद की जाय? वे बेचारे इन बातोंमें क्या समझें? वे तो हमारे पासतक फटकते नहीं, और सच पूछिए तो हम भी उन्हें नहीं पहचानते। वे है ईसाई, इसलिए पादरियोंके पंजेमें है और पादरी लोग गोरे, वे सरकारके ताबेदार हैं।"

सुनकर मेरी आंखें खुलीं। सोचा कि इस दल को अपनाना चाहिए। ईसाई-धर्मके क्या यही मानी हैं? क्या ईसाई हो जानेसे उनका नाता देशसे टूट गया, और वे विदेशी हो गये?

पर मुझे तो देश वापस लौटना था, अतएव इन विचारोंको मूर्त्त रूप न दिया। अब्दुल्ला सेठसे कहा—

"पर यदि यह बिल ज्यों-का-त्यों पास हो गया तो आप लोगोंके लिए बहुत भारी पड़ेगा। यह तो भारतवासियोंके अस्तित्वको मिटा डालनेका पहला कदम है। इससे हमारा स्वाभिमान नष्ट होगा।"

"जो-कुछ हो। इस 'फ्रैंचाइज' (इस तरह अंग्रेजीके कितने ही शब्द

देशी भाषामें रूढ़ हो गये थे। 'मताधिकार' कहनेसे कोई नहीं समझता) का थोड़ा इतिहास सुन लीजिए। इस मामलेमें हमारी समझ काम नहीं देती; पर हमारे बड़े वकील मि० ऐस्कंबको तो आप जानते ही है, वह जबरदस्त लड़वैये हैं। उनकी तथा वहांके फुरजाके इंजीनियरकी खूब चख-चख चला करती है। मि० ऐस्कंबके धारा-सभामें जानेमें यह लड़ाई बाधक हो रही थी। इसलिए उन्होंने हमें हमारी स्थितिका ज्ञान कराया। उनके कहनेसे हमने अपने नाम मताधिकार-पत्रमें दर्ज करा लिये और अपने तमाम मत मि० ऐस्बंकको दिये। अब आप समझ जायंगे कि हम इस मताधिकारकी कीमत आपके इतनी क्यो नहीं आंकते है; पर आपकी बात अब हमारी समझमें आ रही है---अच्छा तो अब आप क्या सलाह देते हैं ?"

यह बात दूसरे मेहमान लोग गौरसे सुन रहे थे। इनमेंसे एकने कहा--"मैं आपसे सच्ची बात कह दूं ? यदि आप इस जहाज से न जाय और एकाध महीना यहां रह जायं, तो आप जिस तरह बतायें हम लड़नेको तैयार है।"

एक दूसरेने कहा--"यह बात ठीक है। अब्दुल्ला सेठ, आप गांधीजीको रोक लीजिए।"

अब्दुल्ला सेठ थे उस्ताद आदमी। वह बोले--"अब इन्हें रोकनेका अख्तियार मुझे नहीं। अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको भी है; पर आपकी बात है ठीक। हम सब मिलकर इन्हें रोक लें, पर यह तो बैरिस्टर है। इनकी फीसका क्या होगा ?"

फीसकी बातसे मुझे दुख हुआ। मैं बीचमें ही बोला--

"अब्दुल्ला सेठ, इसमें फीसका क्या सवाल ? सार्वजनिक सेवामें फीस किस बातकी ? यदि मैं रहा तो एक सेवककी हैसियतसे रह सकता हूं। इन सब भाइयोंसे मेरा पूरा परिचय नहीं है; पर यदि आप यह समझते हों कि ये सब लोग मेहनत करेंगे तो मै एक महीना ठहर जानेके लिए तैयार हूं; पर एक बात है। मुझे तो आपको कुछ देना-वेना नहीं पड़ेगा; पर ऐसे काम बिना रुपये-पैसेके नहीं चल सकते। हमें तार वगैरा देने पड़ेंगे---कुछ छापना भी पड़ेगा। इधर-उधर जाना-आना पड़ेगा, उसका किराया आदि भी लगेगा। मौका पड़नेपर यहांके वकीलोंकी भी सलाह लेनी पड़ेगी। मै यहांके सब कानून-कायदोंको अच्छी तरह

नहीं जानता । कानूनकी पुस्तकें देखनी होंगी; फिर ऐसे काम अकेले हाथों नहीं हो सकते । कई लोगोंके सहयोगकी जरूरत होगी ।"

बहुत-सी आवाज एक-साथ सुनाई दीं—"खुदाकी मेहर है । रुपये-पैसेकी फिक्र मत कीजिए । आदमी भी मिल जायंगे । आप सिर्फ ठहरना मंजूर करें तो बस है ।"

फिर क्या था वह जलसा कार्यकारिणी-समितिके रूपमें परिणत हो गया । मैंने सुझाया कि खा-पीकर जल्दी फारिग होकर हम लोग घर पहुंचें । मैंने मनमें लड़ाईकी रूप-रेखा बांधी । यह जान लिया कि मताधिकार कितने लोगोंको है । मैंने एक मास ठहर जानेका निश्चय किया ।

इस प्रकार ईश्वरने दक्षिण अफ्रीकामें मेरे स्थायी रूपसे रहनेकी नींव डाली और आत्म-सम्मानके संग्रामका बीजारोपण हुआ ।

१७

बस गया

१८९३ ईस्वीमें सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा नेटालकी भारतीय जातिके अग्रगण्य नेता माने जाते थे । सांपत्तिक स्थितिमें सेठ अब्दुल्ला हाजी आदि मुख्य थे; परंतु वह तथा दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामोंमें सेठ हाजी मुहम्मदको ही प्रथम स्थान देते थे । इसलिए उनकी अध्यक्षतामें, अब्दुल्ला सेठके मकानमें एक सभा की गई । उसमें फ्रैंचाइज बिलका विरोध करनेका प्रस्ताव स्वीकृत हुआ । स्वयंसेवकोंकी सूची भी बनी । इस सभामें नेटालमें जन्मे हिंदुस्तानी अर्थात् ईसाई नवयुवक भी बुलाये गये थे । मि० पॉल डरबनकी अदालतके दुभाषिये थे । मि० सुभान गाडफ्रे मिशन स्कूलके हेडमास्टर थे । वे भी सभामें उपस्थित हुए थे; और उनके प्रभावसे ईसाई नवयुवक अच्छी संख्यामें आये थे । इन सब लोगोंने स्वयंसेवकोंमें अपना नाम लिखाया । सभामें व्यापारी भी बहुतेरे थे । उनमें जानने योग्य नाम ये है—सेठदाऊद मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियां खान, ए० कोलंदावेल्लू पिल्ले, सी० लछीराम, रंगस्वामी पड़ियाची, आमद जीवा इत्यादि । पारसी रुस्तमजी तो थे ही । कारकुन लोगोंमें पारसी

माणेकजी, जोशी, नरसीराम इत्यादि। दादा अब्दुल्लाकी तथा दूसरी बड़ी दूकानोंके कर्मचारी थे। पहले-पहल सार्वजनिक काममें पड़ते हुए इन लोगोंको जरा अटपटा मालूम हुआ। इस तरह सार्वजनिक काममें निमंत्रित तथा सम्मिलित होनेका उन्हें यह पहला अनुभव था। सिर आई विपत्तिके मुकाबलेके लिए नीच-ऊंच, छोटे-बड़े, मालिक-नौकर, हिंदू-मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मदरासी, सिंधी इत्यादि भेद-भाव जाते रहे। उस समय सब भारतकी संतान और सेवक थे।

फ्रेंचाइज बिलका दूसरा वाचन हो चुका था अथवा होनेवाला था। उस समय धारा-सभामें जो भाषण हुए, उनमें यह बात कही गई कि कानून इतना सख्त था, फिर भी हिंदुस्तानियोंकी ओरसे उनका कुछ विरोध न हुआ। यह भारतीय प्रजाकी लापरवाही और मताधिकार-संबंधी उनकी अपात्रताका प्रमाण था।

मैंने सभाको सारी हकीकत समझा दी। पहला काम तो यह हुआ कि धारा-सभाके अध्यक्षको तार दिया कि वह बिलपर आगे विचार करना स्थगित कर दें। ऐसा ही तार मुख्य प्रधान सर जान राबिसनको भी भेजा, तथा एक और तार दादा अब्दुल्लाके मित्रके नाते मि० ऐस्कंबको गया। तारका जवाब मिला कि बिलकी चर्चा दो दिननक स्थगित रहेगी। इसमे सब लोगोंको खुशी हुई।

अब दरख्वास्तका मसविदा तैयार हुआ। उसकी तीन प्रतियां भेजी जानेवाली थीं। अखबारोंके लिए भी एक प्रति तैयार करनी थी। उसपर जितनी अधिक सहियां ली जा सकें, लेनी थीं। यह सब काम एक रातमें पूरा करना था। वे शिक्षित स्वयंसेवक तथा दूसरे लोग लगभग सारी रात जगे। उनमें एक मि० आर्थर थे, जो बहुत बूढ़े थे और जिनका खत अच्छा था। उन्होंने सुंदर हरफोंमें दरख्वास्तकी नकल की। औरोंने उसकी और नकलें कीं। एक बोलता जाता और पांच लिखते जाते। इस तरह पांच नकलें एक साथ हो गईं। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाड़ियां लेकर या अपने खर्चेसे गाड़ियां किराया करके सहियां देने दौड़ पड़े।

दरख्वास्त गई। अखबारोंमें छपी। उसपर अनुकूल टिप्पणियां निकलीं। धारा-सभापर भी उसका असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। दरख्वास्तमें जो दलीलें पेश की गई थीं, उनपर आपत्तियां उठाई गईं—परंतु खुद उठानेवालों-

को ही वे लचर मालूम हुईं। इतना करनेपर भी बिल तो ग्राखिर पास हो ही गया।

सब जानते थे कि यही होकर रहेगा; पर इतने ग्रांदोलनसे हिंदुस्तानियोंमें नवीन जीवन ग्रा गया। सब लोग इस बातको समझ गये कि हम सबका समाज एक है। ग्रकेले व्यापारी ग्रधिकारोंके लिए ही नहीं, बल्कि ग्रपने कौमी ग्रधिकारोंके लिए भी लड़ना सबका धर्म है।

इस समय लार्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। प्रस्ताव हुग्रा कि उन्हें एक भारी दरख्वास्त लिखकर पेश की जाय। इसपर जितनी ग्रधिक सहियां मिलें ली जायं। यह काम एक दिनमें नहीं हो सकता था। स्वयंसेवक तैनात हुए ग्रौर सबने थोड़ा-थोड़ा कामका बोझ उठा लिया।

दरख्वास्त तैयार करने में मैंने बड़ा परिश्रम किया। जितना साहित्य मेरे हाथ लगा, सब पढ़ डाला। हिंदुस्तानमें हमें एक तरहका मताधिकार है, इस सिद्धांतकी बातको तथा हिंदुस्तानियोंकी ग्राबादी बहुत थोड़ी है, इस व्यावहारिक दलीलको मैंने ग्रपना मध्यबिंदु बनाया।

दरख्वास्तपर दस हजार ग्रादमियोंके दस्तखत हुए। एक सप्ताहमें दरख्वास्त भेजनेके लिए ग्रावश्यक सहियां प्राप्त हो गईं। इतने थोड़े समयमें नेटालमें दस हजार दस्तखत प्राप्त करनेको पाठक ऐसा-वैसा काम न समझें। सारे नेटालमेंसे दस्तखत प्राप्त करने थे। लोग इस कामसे ग्रपरिचित थे। इधर यह निश्चय किया गया था कि तबतक किसीकी सही न ली जाय, जबतक कि वे दस्तखत का ग्राशय न समझ लें। इसलिए खास तौरपर स्वयंसेवकोंको भेजनेसे ही सहियां मिल सकती थीं। गांव दूर-दूर थे। ऐसी ग्रवस्थामें ऐसे काम उसी हालतमें जल्दी हो सकते हैं, जब बहुतेरे काम करनेवाले निश्चय-पूर्वक काममें जुट पड़ें। ऐसा ही हुग्रा भी। सबने उत्साह-पूर्वक काम किया। इनमेंसे सेठ दाऊद मुहम्मद, पारसी रुस्तमजी, ग्रादमजी मियां खान ग्रौर ग्रामद जीवाकी मूर्तियां ग्राज भी मेरी ग्रांखोंमें सामने ग्रा जाती हैं। वे बहुतोंके दस्तखत लाये थे। दाऊद सेठ दिन-भर ग्रपनी गाड़ी लिये-लिये घूमते। किसीने जेब-खर्चतक न मांगा।

दादा ग्रब्दुल्लाका मकान तो धर्मशाला ग्रथवा सार्वजनिक कार्यालय जैसा हो गया था। शिक्षित भाई तो मेरे पास डटे ही रहते। उनका तथा दूसरे

कर्मचारियोंका खाना-पीना दादा अब्दुल्लाके ही यहां होता । इस तरह सब लोगों-ने काफी खर्च बरदाश्त किया ।

दरख्वास्त गई, उसकी एक हजार प्रतियां छपवाई गई थी । उस दरख्वास्त-ने हिंदुस्तानके देश-सेवकोंको नेटालका पहली बार परिचय कराया । जितने अखबारों तथा देशके नेताओंका नाम-ठाम मैं जानता था, सबको दरख्वास्तकी नकलें भेजी गई थीं ।

'टाइम्स आफ इंडिया'ने उसपर अग्रलेख लिखा और भारतीयोंकी मांगका खासा समर्थन किया। विलायतमें भी प्रार्थना-पत्रकी नकलें तमाम दलके नेताओंको भेजी गई थीं। वहां 'लंदन टाइम्स'ने उनकी पुष्टि की। इस कारण बिलके मंजूर न होनेकी आशा होने लगी ।

अब ऐसी हालत हो गई कि मैं नेटाल न छोड़ सकता था । लोगोंने मुझे चारों ओरसे आ घेरा और बड़ा आग्रह करने लगे कि अब मैं नेटालमें ही स्थायी रूपसे रह जाऊं। मैंने अपनी कठिनाइयां उनपर प्रकट की। अपने मनमें मैंने यह निश्चय कर लिया था कि मैं यहां सर्व-साधारणके खर्चपर न रहूंगा ।

अपना अलग इतजाम करनेकी आवश्यकता मुझे दिखाई दी। घर भी अच्छा और अच्छे मुहल्लेमें होना चाहिए—इस समय मेरा यही मत था। मेरा खयाल था कि दूसरे बैरिस्टरोंकी तरह ठाठ-बाठसे रहनेमें अपने समाजका मान-गौरव बढ़ेगा। मैंने देखा कि इस तरह तो मैं ३०० पौंड सालके बिना काम न चला सकूंगा। तब मैंने निश्चय किया कि यदि यहांके लोग इतनी आमदनीके लायक वकालतका इंतजाम करा देनेका जिम्मा ले तो रह जाऊंगा। और मैंने लोगोंको इसकी इत्तिला दे दी ।

"पर इतनी रकम तो यदि आप सार्वजनिक कामोंके लिए लें तो कोई बात नहीं, और इतनी रकम जुटाना हमारे लिए कोई कठिन बात भी नहीं है । वकालत-में जो कुछ मिल जाय वह आपका ।" साथियोंने कहा ।

"इस तरह मैं आर्थिक सहायता लेना नहीं चाहता। अपने सार्वजनिक कामका मैं इतना मूल्य नहीं समझता । इसमें मुझे वकालतका आडंबर थोड़े ही रचना है—मुझे तो लोगोंसे काम लेना है। इसका मुआवजा मैं द्रव्यके रूपमें कैसे ले सकता हूं ? फिर आप लोगोंसे भी तो मुझे सार्वजनिक कामोंके लिए

धन लेना है। यदि मैं अपने लिए रुपया लेने लगूं तो आपसे बड़ी-बड़ी रकमें लेते हुए मुझे संकोच होगा, और अपनी गाड़ी रुक जायगी। लोगोंसे तो मैं हर साल ३०० पौंडसे अधिक ही खर्च करा दूंगा।" मैंने उत्तर दिया।

"पर हम तो आपको अब अच्छी तरह जान गये हैं। आप अपने लिए थोड़े ही चाहते हैं। आपके रहनेका खर्चा तो हमी लोगोंको न देना चाहिए?"

"यह तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह आपसे कहलवा रहा है। यह कैसे मान लें कि यही उत्साह सदा कायम रह सकेगा? मुझे तो आपको कभी कड़वी बात भी कहनी पड़ेंगी। उस समय भी मैं आपके स्नेहका पात्र रह सकूंगा या नहीं, सो ईश्वर जाने; पर असली बात यह है कि सार्वजनिक-कामके लिए रुपया-पैसा मैं न लूं। आप लोग सिर्फ अपने मामले मुकदमे मुझे देते रहनेका वचन दें तो मेरे लिए काफी है। यह भी शायद आपको भारी मालूम होगा; क्योंकि मैं कोई गोरा बैरिस्टर तो हूं नही, और यह भी पता नही कि अदालत मुझ-जैसेको दाद देगी या नही। यह भी नहीं कह सकता कि पैरवी कैसी कर सकूंगा। इसलिए मुझे पहलेसे मेहनताना देने मे भी आपको जोखिम उठानी पड़ेगी। और इतनेपर भी यदि आप मुझे मेहनताना दे तो यह तो मेरी सेवाओंकी बदौलत ही न होगा?"

इस चर्चाका नतीजा यह निकला कि कोई २० व्यापारियोंने मिलकर मेरे एक वर्षकी आयका प्रबंध कर दिया। इसके अलावा दादा अब्दुल्ला बिदाईके समय मुझे जो रकम भेंट करनेवाले थे उसके बदले उन्होंने मुझे आवश्यक फर्नीचर ला दिया और मैं नेटालमें रह गया।

१८

वर्ण-द्वेष

अदालतोंका चिह्न है तराजू। उसे पकड़ रखनेवाली एक निष्पक्ष, अंधी, परंतु समझदार बुढ़िया है। उसे विधाताने अंधा बनाया है कि जिससे वह मुंह देखकर तिलक न लगावे; बल्कि योग्यताको देखकर लगावे। इसके विपरीत, नेटालकी अदालतसे तो मुंह देखकर तिलक लगवानेके लिए वहांकी

वकील-सभाने कमर कसी थी; किन्तु अदालतने इस अवसरपर अपने चिह्नकी लाज रख ली।

मुझे वकालतकी सनद लेनी थी। मेरे पास बंबई हाईकोर्टका तो प्रमाण-पत्र था; पर विलायतका प्रमाण-पत्र बंबई-अदालतके दफ्तरमें था; वकालतकी मंजूरीकी दरख्वास्तके साथ नेकचलनीके दो प्रमाणपत्रोंकी आवश्यकता समझी जाती थी। मैंने सोचा कि यदि ये प्रमाणपत्र गोरे लोगोंके हों तो ठीक होगा। इसलिए अब्दुल्ला सेठकी मार्फत मेरे संपर्कमें आये दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियोंके प्रमाण-पत्र लिये। दरख्वास्त किसी वकीलकी मार्फत दी जानी चाहिए। मामूली कायदा यह था कि ऐसी दरख्वास्त एटर्नी-जनरल बिना फीसके पेश करता है। मि० एस्कंब एटर्नी-जनरल थे। हम जानते ही है कि अब्दुल्ला सेठके वह वकील थे। अतएव मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशीसे मेरी दरख्वास्त पेश करना मंजूर कर लिया।

इतनेमें अचानक वकील-सभाकी तरफसे मुझे नोटिस मिला। नोटिसमें मेरे वकालत करनेके खिलाफ विरोधकी आवाज उठाई गई थी। इसमें एक कारण यह बताया गया था कि मैंने वकालतकी दरख्वास्तके साथ असल प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया था; परंतु विरोधकी असली बात यह थी कि जिस समय अदालतमें वकीलोंको दाखिल करनेके संबंधमें नियम बने, उस समय किसीने भी यह खयाल न किया होगा कि वकालतके लिए कोई काला या पीला आदमी आकर दरख्वास्त देगा। नेटाल गोरोंके साहसका फल है और इसलिए यहां गोरोंकी प्रधानता रहनी चाहिए। उनको भय हुआ कि यदि काले वकील भी अदालतमें आने लगेंगे तो धीरे-धीरे गोरोंकी प्रधानता चली जायगी और उनकी रक्षाकी दीवारें टूट जायंगी।

इस विरोधके समर्थनके लिए वकील-सभाने एक प्रख्यात वकीलको अपनी तरफसे खड़ा किया था। इस वकीलका भी संबंध दादा अब्दुल्लासे था। उनकी मार्फत उन्होंने मुझे बुलाया। उन्होंने शुद्ध-भावनासे मुझसे बातचीत की। मेरा इतिहास पूछा। मैंने सब कह सुनाया। तब वह बोले—

"मुझे आपके खिलाफ कुछ नहीं कहना। मुझे यह भय था कि आप कोई यहींके पैदा हुए धूर्त आदमी होंगे। फिर आपके पास असली प्रमाण-पत्र नहीं हैं, इससे मेरे शकको और पुष्टि मिल गई। और ऐसे लोग भी होते हैं, जो दूसरोंके

प्रमाण-पत्रों को इस्तेमाल कर लेते हैं। और आपने जो गोरोंके प्रमाण-पत्र पेश किये हैं उनका असर मेरे दिलपर न हुआ। यहांके गोरे लोग भला आपको क्या पहचाने ? आपके साथ उनका परिचय ही कितना ?"

"पर यहां तो मेरे लिए सभी नये हैं। अब्दुल्ला सेठसे भी मेरी पहचान यहीं हुई।" मैं बीचमें बोला।

"हां, पर आप कहते हैं कि वह आपके गावके हैं। और आपके पिता वहांके दीवान थे, अतएव आपके परिवारके लोगोंको तो वह पहचानते ही हैं। यदि उनका हलफिया बयान पेश कर दें तो मुझे कुछ भी उज्र न होगा। मैं वकील-सभाको लिख भेजूंगा कि गांधीका विरोध मुझसे न होगा।"

मुझे गुस्सा आया, पर मैंने रोका। मुझे लगा--'यदि मैंने अब्दुल्ला सेठका ही प्रमाण-पत्र पेश किया होता तो उसकी कोई परवा न करता और गोरोंकी जान-पहचान मांगी जाती। फिर मेरे जन्मके साथ वकालत-संबंधी मेरी योग्यताका क्या संबंध हो सकता है ? यदि मै दुष्ट या गरीब मां-बापका पुत्र होऊं तो यह बात मेरी लियाकतकी जांचमें मेरे खिलाफ किसलिए कही जाय ?' पर मैंने इन सब विचारोंको रोककर उत्तर दिया--

"हालांकि मैं यह नहीं मानता कि इन सब बातोंके पूछने का अधिकार वकील-सभाको है, फिर भी जैसा आप चाहते है, दादा अब्दुल्लाका हलफिया बयान मैं पेश करा देनेको तैयार हूं।"

अब्दुल्ला सेठका हलफिया बयान लिखा और वह वकीलको दिया। उन्होंने तो संतोष प्रकट कर दिया, पर वकील-सभाको संतोष न हुआ। उसने अपना विरोध अदालतमें भी उठाया। अदालतने मि० एस्कंबका जवाब सुने बिना ही सभाका विरोध नामंजूर कर दिया। प्रधान न्यायाधीशने कहा--

"इस दलीलमें कुछ जान नहीं कि प्रार्थीने असली प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया। यदि उसने झूठी सौगंध खाई होगी तो उसपर अदालतमें झूठी कसम खानेका मुकदमा चल सकेगा और उसका नाम वकीलोंकी सूचीसे हटा दिया जायगा। अदालतकी धाराओंमें काले-गोरेका भेदभाव नहीं है। हमें मि० गांधीको वकालत करनेसे रोकनेका कोई अधिकार नहीं। उनकी दरख्वास्त मंजूर की जाती है। मि० गांधी, आप आकर शपथ ले सकते हैं।"

मैं उठा। रजिस्ट्रारके पास जाकर शपथ ली। शपथ लेते ही प्रधान न्यायाधीशने कहा—"अब आपको अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिए। वकीलकी हैसियतसे, वकीलकी पोशाकके संबंधमें अदालतका जो नियम है, उसका पालन आपको करना होगा।"

मैंने अपनी मर्यादा समझ ली। डरबनके मजिस्ट्रेटकी अदालतमें पगड़ी पहन रहनेकी बातपर जो मैं अड़ा रहा था, सो वहां न रह सका। पगड़ी उतारी, यह बात नहीं कि पगड़ी उतारनेके विरोधमें दलील न थी; पर मुझे तो अब बड़ी लड़ाइयां लड़नी थीं। पगड़ी पहने रहनेकी हठमें मेरी युद्ध-कलाकी समाप्ति न होती थी। उलटा इससे उसमें बट्टा लग जाता।

अब्दुल्ला सेठ तथा दूसरे मित्रोंको मेरी यह नरमी (या कमजोरी ?) अच्छी न लगी। वह चाहते थे कि वकीलकी हैसियतसे भी मैं पगड़ी पहन रखनेकी टेक कायम रखना। मैंने उन्हे समझानेकी भरसक कोशिश की। 'जैसा देश वैसा भेस' वाली कहावतका रहस्य समझाया। 'हिंदुस्तानमें यदि वहांके गोरे अधिकारी अथवा जज पगड़ी उतारनेपर मजबूर करें तो उसका विरोध किया जा सकता है। नेटाल-जैसे देशमें, और फिर अदालतके एक सदस्यकी हैसियतसे, मुझे अदालतके रिवाजका, विरोध शोभा नहीं देता।'

यह तथा दूसरी दलीलें देकर मित्रोंको मैंने कुछ शांत तो किया; पर मैं नहीं समझता कि एक ही बातको भिन्न परिस्थितिमे भिन्न रीतिसे देखनेके औचित्यको मैं, इस समय, उनके हृदयपर इस तरह अंकित कर सका कि जिससे उन्हें संतोष हो; परंतु मेरे जीवनमे आग्रह और अनाग्रह दोनों सदा साथ-साथ चलते आते हैं। पीछे चलकर मैंने कई बार यह अनुभव किया है कि सत्याग्रहमें यह बात अनिवार्य है। अपनी इस समझौतावृत्तिके कारण मुझे कई बार अपनी जान जोखिममें डालनी पड़ी है और मित्रोंके असंतोषको शिरोधार्य करना पड़ा है; पर सत्य तो वज्रकी तरह कठोर और कमलकी तरह कोमल है।

१६
नेटाल इंडियन कांग्रेस

वकील-सभाके विरोधने दक्षिण अफरीकामें मेरे लिए एक विज्ञापनका काम कर दिया। कितने ही अखबारोंने मेरे खिलाफ उठाये गये विरोधकी निंदा की और वकीलोंपर ईर्ष्याका इलजाम लगाया। इस प्रसिद्धिसे मेरा काम कुछ अंशमें अपने-आप सरल हो गया।

वकालत करना मेरे नजदीक गौण बात थी और हमेशा गौण ही रही। नेटालमें अपना रहना सार्थक करनेके लिए मुझे सार्वजनिक काममें ही तन्मय हो जाना जरूरी था। भारतीय मताधिकार-प्रतिरोधक कानूनके विरोधमें आवाज उठाकर—महज दरख्वास्त भेजकर चुप न बैठा जा सकता था। उसका आंदोलन होते रहनेसे ही उपनिवेशोंके मंत्रीपर असर हो सकता था। इसके लिए एक संस्था स्थापित करनेकी आवश्यकता दिखाई दी। अतः मैंने अब्दुल्ला सेठके साथ मशविरा किया। दूसरे साथियोंसे भी मिला और हम लोगोंने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करनेका निश्चय किया।

उसका नाम रखने में कुछ धर्म-संकट आया। यह संस्था किसी पक्षका पक्षपात नहीं करना चाहती थी। महासभा (कांग्रेसका) नाम कंजरवेटिव (प्राचीन) पक्षमें अरुचिकर था, यह मुझे मालूम था, परंतु महासभा तो भारतका प्राण थी। उसकी शक्तिको बढ़ाना जरूरी था। उसके नामको छिपाने में अथवा धारण करते हुए संकोच रखने में कायरताकी गंध आती थी। इसलिए मैंने अपनी दलीलें पेश करके संस्थाका नाम 'कांग्रेस' ही रखने का प्रस्ताव किया। और २२ मई, १८९४को 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' का जन्म हुआ।

दादा अब्दुल्लाका बैठकखाना लोगोंसे भर गया था। उन्होंने उत्साहके साथ इस संस्थाका स्वागत किया। विधान बहुत सादा रक्खा था, पर चंदा भारी रक्खा गया था। जो हर मास कम-से-कम पांच शिलिंग देता वही सभ्य हो सकता था। धनिक लोग राजी-खुशीसे जितना अधिक दे सकें, चंदा दें, यह तय हुआ। अब्दुल्ला सेठसे हर मास दो पौंड लिखाये। दूसरे दो सज्जनोंने भी इतना ही चंदा लिखाया। खुद भी सोचा कि मैं इसमें संकोच कैसे करूं? इसलिए मैंने भी प्रति-

मास एक पौंड लिखाया। यह मेरे लिए बीमा करने-जैसा था; पर मैंने सोचा कि जहां मेरा इतना खर्च-वर्च चलेगा वहां प्रतिमास एक पौंड क्यों भारी पड़ेगा? और ईश्वरने मेरी नाव चलाई। एक पौंडवालोंकी संख्या खासी हो गई। दस शिलिंगवाले उससे भी अधिक हुए। इसके अलावा बिना सभ्य हुए भेंटके तौरपर जो लोग दे दें सो अलग।

अनुभवने बताया कि उगाही किये बिना कोई चंदा नहीं दे सकता। डरबनसे बाहरवालों के यहां बार-बार जाना असंभव था। इससे मुझे हमारी 'आरंभ-शूरता'का परिचय मिला। डरबनमें भी बहुत चक्कर खाने पड़ते, तब कहीं जाकर चंदा मिलता। मै मंत्री था, रुपया वसूल करनेका जिम्मा मुझपर था। मुझे अपने मुंशीको सारा दिन चंदावसूलीमें लगाये रहनेकी नौबत आ गई। वह बेचारा भी उकता उठा। मैंने सोचा कि मासिक नहीं, वार्षिक चंदा होना चाहिए और वह भी सबको पेशगी दे देना चाहिए। बस, सभा की गई और सबने इस बातको पसंद किया। तय हुआ कि कम-से-कम तीन पौंड वार्षिक चंदा लिया जाय। इससे वसूलीका काम आसान हो गया।

आरंभमें ही मैंने यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज लेकर नहीं चलाना चाहिए। और बातोंमें भले ही लोगोंका विश्वास कर लें, पर पैसेकी बातमें नहीं किया जा सकता। मैंने देख लिया था कि वादा कर चुकनेपर भी देनेके धर्मका पालन कहीं भी नियमित रूपसे नहीं होता। नेटालके हिंदुस्तानी इसके अपवाद न थे। इस कारण 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' ने कभी कर्ज करके कोई काम नहीं किया।

सभ्य बनानेमें साथियोंने असीम उत्साह प्रकट किया था। उसमें उनकी बड़ी दिलचस्पी हो गई थी। उसके कार्यसे अनमोल अनुभव मिलता था। बहुतेरे लोग खुशी-खुशी नाम लिखवाते और चंदा दे देते। हां, दूर-दूरके गांवोंमें जरा मुश्किल पेश आती। लोग सार्वजनिक कामकी महिमा नहीं समझते थे। कितनी ही जगह तो लोग अपने यहां आनेका न्यौता भेजते, अग्रसर व्यापारीके यहां ठहराते; परंतु इस भ्रमणमें हमें एक जगह शुरुआतमें ही दिक्कत पेश हुई। यहांसे छः पौंड मिलने चाहिए थे; पर वह तीन पौंडसे आगे न बढ़ते थे। यदि उनसे इतनी ही रकम लेते तो औरोंसे इससे अधिक न मिलती। ठहराये हम उन्हींके यहां गये

थे। सबको भूख लग रही थी; पर जबतक चंदा न मिले तबतक भोजन कैसे करते ? खूब मिन्नत-खुशामद की गई; पर वह टस-से-मस न हुए। गांवके दूसरे व्यापारियोंने भी उन्हें समझाया। सारी रात इसी खींचा-तानीमें गई। गुस्सा तो कई साथियोंको आया; पर किसीने अपना सौजन्य न छोड़ा। ठेठ सुबह जाकर वह पसीजे और छः पौंड दिये। तब जाकर हम लोगोंको खाना नसीब हुआ। यह घटना टोंगाटकी है। इसका असर उत्तर किनारेपर ठेठ स्टेंगरतक तथा अंदर ठेठ चार्ल्संटाउनतक पड़ा और चंदा-वसूलीका हमारा काम बड़ा सरल हो गया।

परंतु प्रयोजन केवल इतना ही न था कि चंदा एकत्र किया जाय। आवश्यकतासे अधिक रुपया जमा न करनेका तत्व भी मैंने मान लिया था।

सभा प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास आवश्यकताके अनुसार होती। उसमें पिछली सभाकी कार्रवाई पढी जाती और अनेक बातोंपर चर्चा होती। चर्चा करनेकी तथा थोड़ेमें मतलबकी बात कहनेकी आदत लोगोंको न थी। लोग खड़े होकर बोलनेमें सकुचाते। मैंने सभाके नियम उन्हें समझाये और लोगोंने उन्हें माना। इससे होनेवाला लाभ उन्होंने देखा और जिन्हें सभाओंमें बोलनेका रफ्त न था वे सार्वजनिक कामोंके लिए बोलने और विचारने लगे।

सार्वजनिक कामोंमें छोटी-छोटी बातोंमें बहुत-सा खर्च हो जाया करता है, यह मैं जानता था। शुरूमें तो रसीद-बुकतक न छपानेका निश्चय रक्खा था। मेरे दफ्तरमें साईक्लोस्टाइल था, उसपर रसीदें छपा लीं। रिपोर्ट भी इसी तरह छपती। जब रुपया-पैसा काफी आ गया, सभ्योंकी संख्या बढ़ गई, तभी रसीदें इत्यादि छपाई गईं। ऐसी किफायतशारी हर संस्थामें आवश्यक है। फिर भी मैं जानता हूं कि सब जगह ऐसा नहीं होता है। इसलिए इस छोटी-सी उगती हुई संस्थाके परवरिशके समयका इतना वर्णन करना मैंने ठीक समझा। लोग रसीद लेनेकी परवा न करते, फिर भी उन्हें आग्रह-पूर्वक रसीद दी जाती। इस कारण हिसाब शुरूसे ही पाई-पाईका साफ रहा, और मैं मानता हूं कि आज भी नेटाल-कांग्रेसके दफ्तरमें १८९४के बही-खाने ब्योरेवार मिल जायंगे। किसी भी संस्थाका सविस्तार हिसाब उसकी नाक है। उसके बिना वह संस्था अंतको जाकर गंदी और प्रतिष्ठा-हीन हो जाती है। शुद्ध हिसाबके बिना शुद्ध सत्यकी

'रखवाली असंभव है।

कांग्रेसका दूसरा अंग था——वहां जन्मे और शिक्षा पाये भारतीयोंकी सेवा करना। उनके लिए 'कालोनियल बॉर्न एंड इंडियन एजुकेशनल एसोसिएशन' की स्थापना की। उसमें मुख्यतः ये नवयुवक ही सभ्य थे। उनके लिए चंदा बहुत थोड़ा रक्खा था। इस सभाकी बदौलत उनकी आवश्यकतायें मालूम होतीं, उनकी विचार-शक्ति बढ़ती, व्यापारियोंके साथ उनका संबंध बंधता, और खुद उन्हें भी सेवाका स्थान मिलता। यह संस्था एक वाद-विवाद-समिति जैसी थी। उसकी नियमपूर्वक बैठकें होतीं; भिन्न-भिन्न विषयोंपर भाषण होते, निबंध पढे जाते। उसके सिलसिलेमें एक छोटा-सा पुस्तकालय भी स्थापित हुआ।

कांग्रेसका तीसरा अंग था बाहरी आन्दोलन। इसके द्वारा दक्षिण अफरीकाके अंग्रेजोंमें तथा बाहर इंग्लैंडमें और हिंदुस्तानमें वास्तविक स्थिति प्रकट की जाती थी। इस उद्देश्यसे मैंने दो पुस्तिकायें लिखीं। पहली पुस्तिका थी—— 'दक्षिण अफरीका-स्थित प्रत्येक अंग्रेजसे अपील'। उसमें नेटालवाले भारतीयोंकी सामान्य स्थितिका दिग्दर्शन सप्रमाण कराया गया था। दूसरी थी—— 'भारतीय मताधिकार——एक अपील।' इसमें भारतीय मताधिकारका इतिहास अंकों और प्रमाणों सहित दिया गया था। इन दोनों पुस्तिकाओंको बड़े परिश्रम और अध्ययनके बाद मैंने लिखा था। उसका परिणाम भी वैसा ही निकला। पुस्तिकाओंका काफी प्रचार किया गया। इस हल-चलके फलस्वरूप दक्षिण अफरीकामें भारतीयोंके मित्र उत्पन्न हुए। इंग्लैंडमें तथा हिंदुस्तानमें सब दलोंकी ओरसे मदद मिली और आगे कार्य करनेकी नीति और मार्ग निश्चित हुआ।

२०
बालासुंदरम्

जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसको फल मिला करता है। अपनेपर यह नियम घटा हुआ मैंने अनेक वार देखा है। लोगोंकी, अर्थात् गरीबोंकी, सेवा करनेकी मेरी प्रबल इच्छाने गरीबोंके साथ मेरा संबंध हमेशा अनायास बांध दिया है।

'नेटाल इंडियन कांग्रेस'में यद्यपि उपनिवेशोंमें जन्मे भारतीयोंने प्रवेश किया था, कारकुन लोग शरीक हुए थे, फिर भी उसमें अभी मजूर गिरमिटिया लोग सम्मिलित न हुए थे। कांग्रेस अभी उनकी न हुई थी। वे चंदा देकर, उसके सदस्य होकर, उसे अपना न सके थे। कांग्रेसके प्रति उनका प्रेम पैदा तभी हो सकता था, जब कांग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा अवसर अपने-आप आ गया, और सो भी ऐसे समय, जबकि खुद मैं अथवा कांग्रेस उसके लिए मुश्किलसे तैयार थी; क्योंकि अभी मुझे वकालत शुरू किये दो-चार महीने भी मुश्किलसे हुए होंगे। कांग्रेस भी बाल्यावस्थामें ही थी। इन्हीं दिनों एक दिन एक मदरासी हाथमें फेंटा रखकर रोता हुआ मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। कपड़े उसके फटे-पुराने थे। उसका शरीर कांप रहा था। सामने के दो दांत टूटे हुए थे और मुंहसे खून बह रहा था। उसके मालिकने उसे बेदर्दीसे पीटा था। मैंने अपने मुंशीसे जो तामिल जानता था, उसकी हालत पुछवाई। बालासुन्दरम् एक प्रतिष्ठित गोरेके यहां मजूरी करता था। मालिक किसी बातपर उसपर बिगड़ पड़ा और आग-बबूला होकर उसे बुरी तरह उसने पीट डाला, जिससे बालासुन्दरम्के दो दांत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टरके यहां भेजा। उस समय गोरे डाक्टर ही वहा थे। मुझे चोट-संबंधी प्रमाण-पत्रकी जरूरत थी। उसे लेकर मैं बालासुंदरम्को अदालतमें ले गया। बालासुंदरम्ने अपना हलफिया बयान लिखवाया। पढ़कर मजिस्ट्रेटको मालिकपर बड़ा गुस्सा आया। उसने मालिकको तलब करनेका हुक्म दिया।

मेरी इच्छा यह न थी कि मालिकको सजा हो जाय। मुझे तो सिर्फ बालासुंदरम्को उसके यहांसे छुड़वाना था। मैंने गिरमिट-संबंधी कानूनको अच्छी तरह देख लिया। मामूली नौकर यदि नौकरी छोड़ दे तो मालिक उसपर दीवानी दावा कर सकता है, फौजदारीमें नहीं ले जा सकता। गिरमिट और मामूली नौकरोंमें यों बड़ा फर्क था; पर उसमें मुख्य बात यह थी कि गिरमिटिया यदि मालिकको छोड़ दे तो वह फौजदारी जुर्म समझा जाता था और इसलिए उसे कैद भोगनी पड़ती। इसी कारण सर विलियम विलसन हंटरने इस हालतको 'गुलामी'-जैसा बताया है। गुलामकी तरह गिरमिटिया मालिककी संपत्ति समझा जाता। बालासुंदरम्को मालिकके चंगुलसे छुड़ानेके दो ही उपाय थे—या तो गिरमिटियोंका अफसर, जो कानूनके अनुसार उनका रक्षक समझा जाता

था, गिरमिट रद कर दे, या दूसरेके नामपर चढ़ा दे अथवा मालिक खुद उसे छोड़नेके लिए तैयार होजायं। मैं मालिकसे मिला और उससे कहा—"मै आपको सजा कराना नहीं चाहता। आप जानते हैं कि उसे सख्त चोट पहुंची है। यदि आप उसकी गिरमिट दूसरेके नाम चढ़ानेको तैयार होते हों तो मुझे संतोष हो जायगा।" मालिक भी यही चाहता था। फिर मै उस रक्षक अफसरसे मिला। उसने भी रजामंदी तो जाहिर की; पर इस शर्तपर कि मैं बालासुंदरम्के लिए नया मालिक ढूंढ दूं।

अब मुझे नया अंग्रेज मालिक खोजना था। भारतीय लोग गिरमिटियोंको नहीं रख सकते थे। अभी थोड़े ही अंग्रेजोंसे मेरी जान-पहचान हो पाई थी। फिर भी एकसे जाकर मिला। उसने मझपर मेहरबानी करके बालासुंदरम्को रखना मंजूर कर लिया। मैंने कृतज्ञता प्रदर्शित की। मजिस्ट्रेटने मालिकको अपराधी करार दिया और यह बात नोट कर ली कि मुजरिमने बालासुंदरम्की गिरमिट दूसरेके नाम पर चढ़ा देना स्वीकार किया है।

बालासुंदरम्के मामलेकी बात गिरमिटियोंमें चारों ओर फैल गई और मैं उनके बंधुके नामसे प्रसिद्ध हो गया। मुझे यह संबंध प्रिय हुआ। फलतः मेरे दफ्तरमें गिरमिटियोंकी बाढ़ आने लगी और मुझे उनके सुख-दुःख जाननेकी बड़ी सुविधा मिल गई।

बालासुंदरम्के मामलेकी ध्वनि ठेठ मदरासतक जा पहुंची। उस इलाकेके जिन-जिन जगहोंसे लोग नेटालकी गिरमिटमें गये उन्हें गिरमिटियोंने इस बातका परिचय कराया। मामला कोई इतना महत्त्वपूर्ण न था; फिर भी लोगोंको यह बात नई मालूम हुई कि उनके लिए कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तैयार हो गया। इस बातसे उन्हें तसल्ली और उत्साह मिला।

मैंने लिखा है कि बालासुंदरम् अपना फेंटा उतारकर उसे अपने हाथमें रखकर मेरे सामने आया था। इस दृश्यमें बड़ा ही करुण-रस भरा हुआ है। यह हमें नीचा दिखानेवाली बात है। मेरी पगड़ी उतारनेकी घटना पाठकोंको मालूम ही है। कोई भी गिरमिटिया तथा दूसरा नवागत हिंदुस्तानी किसी गोरेके यहां जाता तो उसके सम्मानके लिए पगड़ी उतार लेता—फिर टोपी हो, या पगड़ी, अथवा फेंटा हो। दोनों हाथोंसे सलाम करना काफी न था। बाला-

सुंदरम्ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह जाया जाता होगा। बालासुंदरम्का यह दृश्य मेरे लिए पहला अनुभव था। मैं शर्मिंदा हुआ। मैंने बालासुंदरम्से कहा, "पहले फेंटा सिरपर बांध लो।" बड़े संकोचसे उसने फेंटा बांधा; पर मैंने देखा कि इससे उसे बड़ी खुशी हुई। मैं अबतक यह गुत्थी न सुलझा सका कि दूसरोंको नीचे झुकाकर लोग उसमें अपना सम्मान किस तरह मान सकते होंगे।

२१

तीन पौंडका कर

बालासुंदरम्वाली घटनाने गिरमिटियोंके साथ मेरा संबंध जोड़ दिया; परंतु उनकी स्थितिका गहरा अध्ययन तो मुझे उनपर कर बैठानेकी जो हल-चल चली उसके फलस्वरूप करना पड़ा।

१८९४में नेटाल-सरकारने गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंपर प्रतिवर्ष २५ पौंड अर्थात् ३७५)का कर बिठानेका बिल तैयार किया। इस मसविदे को पढ़कर मैं तो भौचक रह गया। मैंने उसे स्थानिक कांग्रेसमें पेश किया और कांग्रेसने उसके लिए आवश्यक हलचल करनेका प्रस्ताव स्वीकार किया।

इस करका ब्योरा थोड़ा सुन लीजिए—

१८६० ईस्वीके लगभग, जबकि नेटालके गोरोंने देखा कि यहां ईखकी खेती अच्छी हो सकती है, उन्होंने मजूरोंकी खोज करना शुरू की। यदि मजूर न मिलें तो न गन्नेकी फसल हो सकती थी, न गुड़-शक्कर बन सकता था। नेटालके हबशी इस कामको नहीं कर सकते थे। इसलिए नेटालवासी गोरोंने भारत-सरकारसे लिखा-पढ़ी करके हिंदुस्तानी मजूरोंको नेटाल ले जानेकी इजाजत हासिल कर ली। उन्हें लालच दिया गया था कि तुम्हें पांच साल तो बंधकर हमारे यहां काम करना पड़ेगा, फिर आजाद हो, शौकसे नेटालमें रहो। उन्हें जमीनका हक मिल्कियत भी पूरा दिया गया था। उस समय गोरोंकी यह इच्छा थी कि हिंदुस्तानी मजदूर पांच सालकी गिरमिट पूरी करनेके बाद खुशीसे जमीन जोतें और अपनी मेहनतका लाभ नेटालको पहुंचावें।

भारतीय कुलियोंने नेटालको यह लाभ आशासे अधिक दिया। तरह-

तरहकी साग-तरकारियां बोईं। हिंदुस्तानकी कितनी ही मीठी तरकारियां बोईं। जो साग-तरकारी वहां पहलेसे मिलती थीं उन्हें सस्ता कर दिया। हिंदुस्तानसे ग्राम लाकर लगाया; पर इसके साथ ही वे व्यापार भी करने लगे। घर बनानेके लिए जमीनें खरीदीं और मजूरसे अच्छे जमींदार और मालिक बनने लगे। मजूरकी दशासे मालिककी दशाको पहुंचनेवाले लोगोंके पीछे स्वतंत्र व्यापारी वहां आये। स्वर्गीय सेठ अबुबकर आदम सबसे पहले व्यापारी थे, जो वहां गये। उन्होंने अपना कारबार खूब जमाया।

इससे गोरे व्यापारी चौंके। जब उन्होंने भारतीय कुलियोंको बुलाया और उनका स्वागत किया तब उन्हें उनकी व्यापार-क्षमताका अंदाज न हुआ था। उनके किसान बनकर आजादीके साथ रहनेमें तो उस समयतक उन्हें आपत्ति न थी, परंतु व्यापारमें उनकी प्रतिस्पर्धा उन्हें नागवार हो गई।

यह है हिंदुस्तानियोंके खिलाफ आवाज उठानेका मूल कारण।

अब इसमें और बात भी शामिल हो गई। हमारी भिन्न और विशिष्ट रहन-सहन, हमारी सादगी, हमें थोड़े मुनाफेसे होनेवाला संतोष, आरोग्यके नियमों-के विषयमें हमारी लापरवाही, घर-आंगनको साफ रखने का आलस्य, उसे साफ-सुथरा रखनेमें कंजूसी, हमारे जुदे-जुदे धर्म—ये सब बातें इस विरोधको बढ़ाने-वाली थीं।

यह विरोध एक तो उस मताधिकारको छीन लेनेके रूपमें और दूसरा गिरमिटियोंपर कर बैठानेके रूपमें सामने आया। कानूनके अलावा भी तरह-तरहकी खुचरपट्टी चल रही थी सो अलग।

पहली तजवीज यह पेश हुई थी कि पांच साल पूरे होनेपर गिरमिटिया जबरदस्ती वापस लौटा दिया जाय। वह इस तरह कि उसकी गिरमिट हिंदुस्तान में जाकर पूरी हो; पर इस तजवीज को भारत-सरकार मन्जूर न कर सकती थी। तब ऐसी तजवीज हुई कि—

१—मजदूरीका इकरार पूरा होनेपर गिरमिटिया वापस हिंदुस्तान चला जाय। अथवा—

२—दो-दो वर्षकी गिरमिट नये सिरेसे कराता रहे और ऐसी हर गिरमिटके समय उसके वेतनमें कुछ वृद्धि होती रहे।

३—यदि वापस न जाय और फिरसे मजदूरीका इकरार भी न करे तो उसे हर साल २५ पौंड कर देना चाहिए ।

इस तजवीजको मंजूर करानेके लिए सर हेनरी बीन्स तथा मि० मेसनका शिष्ट-मंडल हिंदुस्तान भेजा गया। उस समय लार्ड एल्गिन वायसराय थे। उन्होंने पच्चीस पौंडका कर नामंजूर कर दिया; पर यह मान लिया कि सिर्फ तीन पौंड कर लिया जाय । मुझे उस समय भी लगा और आज भी लगता है कि वायसरायने यह जबरदस्त भूल की थी। उन्होंने इस बातमें हिंदुस्तानके हितका बिलकुल खयाल न किया। उनका यह धर्म कतई न था कि वह नेटालके गोरोंको इतनी सुविधा कर दें। यह भी तय हुआ कि तीन-चार वर्ष बाद ऐसे हिंदुस्तानीकी स्त्रीसे, उनके हर १६ वर्ष तथा उससे अधिक उम्रके प्रत्येक पुत्रसे और १३ वर्षकी तथा उससे अधिक उम्रवाली लड़कीसे भी कर लिया जाय। इस तरह पति-पत्नी और दो बच्चोंके परिवारसे, जिसमें पतिको मुश्किलसे बहुत-से-बहुत १४ शिलिंग मासिक मिलते हों, १२ पौंड अर्थात् १८०) कर लेना महान् अत्याचार है। दुनिया-में कहीं भी ऐसा कर ऐसी स्थितिवाले लोगोंसे नहीं लिया जाता था ।

इस करके विरोधमें घोर लड़ाई छिड़ी। यदि नेटाल-इंडियन कांग्रेस की ओरसे बिलकुल आवाज न उठी होती तो वायसराय शायद २५ पौंड भी मंजूर कर लेते। २५ पौंडके ३ पौंड होना भी, बिलकुल संभव है, कांग्रेसके आंदोलन का ही परिणाम हो। पर मेरे इस अंदाजमें भूल होना संभव है। संभव है, भारत-सरकारने अपन-आप ही २५ पौंडको अस्वीकार कर दिया हो और बिना कांग्रेसके विरोधके ३ पौंडका कर स्वीकार कर लिया हो। फिर भी वह हिंदुस्तानके हितका तो भंग था ही। हिंदुस्तानके हित-रक्षककी हैसियतसे ऐसा अमानुष कर वायसरायको हरगिज न बैठाना चाहिए था ।

पच्चीससे तीन पौंड (३७५ रु०से ४५ रु०) होनेके लिए कांग्रेस भला श्रेय भी क्या ले ? कांग्रेसको तो यही बात खली कि वह गिरमिटियोंके हितकी पूरी-पूरी रक्षा न कर सकी, और कांग्रेसने अपना यह निश्चय कि तीन पौंडका कर तो अवश्य रद्द हो जाना चाहिए, कभी ढीला न किया था। इस निश्चयको पूरा हुए आज २० वर्ष हो गए। उसमें अकेले नेटालके ही नहीं, वरन् सारे दक्षिण अफ्रिकाके भारतवासियोंको जूझना पड़ा था। इसमें गोखलेको भी निमित्त बनना

पड़ा था। उसमें गिरमिटियोंको पूरा-पूरा योग देना पड़ा। कितनोंको ही गोलीका शिकार होना पड़ा। दस हजारसे ऊपर हिंदुस्तानियोंको जेल भोगनी पड़ी।

पर अंतमें सत्य विजयी हुआ। हिंदुस्तानियोंकी तपश्चर्याके रूपमें सत्य प्रत्यक्ष प्रकट हुआ। उसके लिए अटल श्रद्धा, धीरज और सतत आंदोलनकी आवश्यकता थी। यदि लोग हारकर बैठ जाते, कांग्रेस लड़ाईको भूल जाती, और करको अनिवार्य समझकर घुटने टेक देती, तो आजतक यह कर गिरमिटियोंसे लिया जाता होता और इसके अपयशका टीका सारे दक्षिण अफ्रीकाके भारतवासियोंको तथा सारे भारतवर्षको लगता।

२२

धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार जो मैं लोक-सेवामें तल्लीन हो गया था, उसका कारण था आत्म-दर्शनकी अभिलाषा। यह समझकर कि सेवाके द्वारा ही ईश्वरकी पहचान हो सकती है, मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। मैं भारतकी सेवा करता था, क्योंकि वह मुझे सहज प्राप्त थी, उसमें मेरी रुचि थी। उसकी खोज मुझे न करनी पड़ी थी। मैं तो सफर करने, काठियावाड़के षड्यंत्रोंसे छूटने और आजीविका प्राप्त करनेके लिए दक्षिण अफ्रीका गया था; पर पड़ गया ईश्वरकी खोजमें—आत्म-दर्शनके प्रयत्नमें। ईसाई-भाइयोंने मेरी जिज्ञासा बहुत तीव्र कर दी थी। वह किसी प्रकार शांत न हो सकती थी और मैं शांत होना चाहता भी तो ईसाई भाई-बहन ऐसा न होने देते; क्योंकि डरबनमें मि० स्पेंसर वाल्टनने, जोकि दक्षिण अफ्रीकाके मिशनके मुखिया थे, मुझे खोज निकाला। मैं भी उनका एक कुटुंबीजन-सा हो गया। इस संबंधका मूल है प्रिटोरियामें उनसे हुआ समागम। मि० वाल्टनका तर्ज कुछ और ही था। मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने कभी ईसाई बननेकी बात मुझसे कही हो; बल्कि उन्होंने तो अपना सारा जीवन खोलकर मेरे सामने रख दिया, अपना तमाम काम और हलचलके निरीक्षणका अवसर मुझे दे दिया। उनकी धर्म-पत्नी भी बड़ी नम्र, परंतु तेजस्वी थीं।

मुझे इस दंपतीकी कार्य-पद्धति पसंद आती थी; परंतु हमारे अंदर जो

मौलिक भेद थे, उन्हें हम दोनों जानते थे। चर्चाद्वारा उन भेदोंको मिटा देना असंभव था। जहां-जहां उदारता, सहिष्णुता और सत्य है, वहां भेद भी लाभ-दायक होते हैं। मुझे इस दंपतीकी नम्रता, उद्यम-शीलता और कार्य-परायणता बड़ी प्रिय थी। इससे हम बार-बार मिला करते।

इस संबंधने मुझे जागरुक कर रक्खा। धार्मिक पठनके लिए जो फुरसत प्रिटोरियामें मुझे मिल गई थी वह तो अब असंभव थी; परंतु जो-कुछ भी समय मिल जाता उसका उपयोग मैं स्वाध्यायमें करता; मेरा पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। रायचंदभाई मेरा पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। किसी मित्रने मुझे इस संबंधमें नर्मदाशंकर[1]की 'धर्मविचार' नामक पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावनासे मुझे सहायता मिली। नर्मदाशंकरके विलासी जीवनकी बातें सुनी थीं। प्रस्तावना-में उनके जीवनमें हुए परिवर्तनोंका वर्णन मैंने पढ़ा और उसने मुझे आकर्षित किया, जिससे कि उस पुस्तकके प्रति मेरा आदर-भाव बढ़ा। मैंने उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा। मैक्समूलरकी पुस्तक 'हिंदुस्तानसे हमें क्या शिक्षा मिलती है?' मैंने बड़ी दिल-चस्पीसे पढ़ी। थियोसोफिकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदोंका अनुवाद पढ़ा। उससे हिंदू-धर्मके प्रति मेरा आदर बढ़ा। उसकी खूबी मैं समझने लगा, परंतु इससे दूसरे धर्मोंके प्रति मेरे मनमें अभाव न उत्पन्न हुआ। वाशिंगटन इरविंग-कृत मुहम्मदका चरित और कार्लाइल-रचित 'मुहम्मद-स्तुति' पढ़ी। फलतः पैगंबर साहबके प्रति भी मेरा आदर बढ़ा। 'जरथुस्तके वचन' नामक पुस्तक भी पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न संप्रदायोंका कम-ज्यादा ज्ञान प्राप्त किया। इससे आत्म-निरीक्षण बढ़ा। जो-कुछ पढ़ा या पसंद हुआ उसपर चलनेकी आदत बढ़ी। इससे हिंदू-धर्ममें वर्णित प्राणायाम-विषयक कितनी ही क्रियायें, पुस्तकें पढ़कर मैं जैसी समझ सका था, शुरू कीं, पर कुछ सिलसिला जमा नहीं। मैं आगे न बढ़ सका। सोचा कि जब भारत लौटूंगा तब किसी शिक्षकसे सीख लूंगा, पर वह अबतक पूरा न हो पाया।

टाल्स्टायकी पुस्तकोंका स्वाध्याय बढ़ाया। उनकी 'गोस्पेल इन

---

[1] गुजरातके एक प्रसिद्ध कवि।

ब्रीफ', 'व्हाट-टु डू'[1] इत्यादि पुस्तकोंने मेरे दिलपर गहरी छाप डाली। विश्व-प्रेम मनुष्यको कहांतक ले जाता है, यह मै उससे अधिकाधिक समझने लगा।

इन्हीं दिनों एक दूसरे ईसाई-कुटुंबके साथ मेरा संबंध बंधा। उन लोगोंकी इच्छासे मैं वेस्लियन गिरजामें हर रविवारको जाता। प्रायः हर रविवारको मेरा शामका खाना भी उन्हींके यहां होता। वेस्लियन गिरजाका मुझपर अच्छा असर न हुआ। वहां जो प्रवचन हुआ करते थे वे मुझे नीरस मालूम हुए। उपस्थित जनोंमें मुझे भक्ति-भाव न दिखाई दिया। ग्यारह बजे एकत्र होनेवाली यह मंडली मुझे भक्तोंकी नहीं, बल्कि कुछ तो मनोविनोदके लिए और कुछ प्रथाके प्रभावसे एकत्र होनेवाले संसारी जीवोंकी टोली मालूम हुई। कभी तो इस सभा में बरबस मुझे नींदके झोंके आने लगते, जिससे मै लज्जित होता; पर जब मै अपने आस-पासवालोंको भी झोंके खाते देखता, तो मेरी लज्जा हलकी पड़ जाती। अपनी यह स्थिति मुझे अच्छी न मालूम हुई। अंतको मैंने गिरजा जाना ही छोड़ दिया।

जिस परिवारके यहां मै हर रविवारको जाता था, वहांसे भी मुझे इस तरहसे छुट्टी मिली। गृह-स्वामिनी भोली, भली, परंतु संकुचित विचारवाली मालूम हुई। उसके साथ हर वक्त कुछ-न-कुछ धार्मिक चर्चा हुआ ही करती। उन दिनों मैं घरपर 'लाइट आफ एशिया' पढ़ रहा था। एक दिन हम ईसा और बुद्धकी तुलनाके फेरमे पड़ गये—

"बुद्धकी दयाको देखिए। मनुष्य-जातिसे आगे बढ़कर वह दूसरे प्राणियोंतक जा पहुंची। उसके कंधेपर किलोल करनेवाले मेमनेका दृश्य आंखोंके सामने आते ही आपका दृश्य प्रेममे नहीं उमड़ पड़ता? प्राणिमात्रके प्रति यह प्रेम मुझे ईसाके जीवनमें कहीं दिखाई नहीं देता।"

मेरे इस कथनसे उस बहनको दुःख हुआ। मैं उनकी भावनाको समझ गया व अपनी बात आगे न चलाई। बादको हम भोजन करने गये। उसका कोई पांच सालका हंसमुख बच्चा हमारे साथ था। बालक मेरे साथ होनेपर मुझे फिर किस बातकी जरूरत? उसके साथ मैंने दोस्ती तो पहले ही कर ली थी। मैंने उसकी थालीमें पड़े मांसके टुकड़ेका मजाक किया और अपनी रकाबीमें शोभित

---

[1] 'मण्डल'से इसका अनुवाद 'क्या करें?' नामसे प्रकाशित हुआ है।

नासपातीकी स्तुति शुरू की । भोलाभाला बालक रीझा और नासपातीकी स्तुतिमें शरीक हो गया ।

परंतु माता ? वह तो बेचारी दुःखमें पड़ गई ।

मैं चेता । चुप हो रहा और बातका विषय बदल दिया ।

दूसरे सप्ताहमें सावधान रहकर उसके यहां गया तो, पर मेरा पांव मुझे भारी मालूम हो रहा था । अपने-आप उसके यहां जाना बंद कर देना मुझे न सूझा, न उचित मालूम हुआ; पर उस भली बहनने ही मेरी कठिनाई हल कर दी । वह बोली— "मि० गांधी, आप बुरा न मानें, आपकी सोहबतका असर मेरे लड़केपर बुरा होने लगा है । अब वह रोज मांस खानेमें आनाकानी करने लगा है और उस दिनकी आपकी बातचीतकी याद दिलाकर फल मांगता है । मुझे यह गवारा न हो सकेगा । मेरा बच्चा यदि मांस खाना छोड़ दे तो चाहे बीमार न हो; पर कमजोर जरूर हो जायगा । मैं यह कैसे देख सकती हूं ? आपकी चर्चा हम प्रौढ़ लोगोंमें तो फायदेमंद हो सकती है; पर बच्चोंपर तो उसका असर बुरा ही पड़ता है ।"

"मिसेज— मुझे खेद है । आपके,—माताके—मनोभावको मैं समझ सकता हूं । मेरे भी बाल-बच्चे हैं । इस आपत्तिका अंत आसानीसे हो सकता है । मेरी बातचीतकी अपेक्षा मेरे खान-पानका और उसको देखनेका असर बालकोंपर बहुत ज्यादा होता है । इसलिए सीधा रास्ता यह है कि अबसे रविवारको मैं आपके यहां न आया करूं । हमारी मित्रतामें इससे किसी प्रकार फर्क न आवेगा ।"

"मैं आपका अहसान मानती हूं ।" बाईने खुश होकर उत्तर दिया ।

२३

गृह-व्यवस्था

बंबईमें तथा विलायतमें मैंने जो घर-गृहस्थी सजाई थी, उसमें और नेटालमें जो घर बसाना पड़ा उसमें भिन्नता थी । नेटालमें कितना ही खर्च तो महज प्रतिष्ठाके लिए मैं उठा रहा था । मैंने यह मान लिया था कि भारतीय बैरिस्टर और भारतीयोंके प्रतिनिधिकी हैसियतसे नेटालमें मुझे अपनी रहन-सहन खर्चीली

रखनी चाहिएं। इस कारण अच्छे मुहल्लेमें बढ़िया घर लिया था। घरको सजाया भी अच्छी तरह था। खान-पान तो सादा था; परंतु अंग्रेज मित्रोंको भोजनके लिए बुलाया करता था और हिंदुस्तानी साथियोंको भी निमंत्रण दिया करता था, इसलिए आप ही खर्च और भी बढ़ गया था।

नौकर की तंगी सभी जगह रहा करती। किसीको नौकर बनाकर रखना आजतक मैंने जाना ही नहीं।

मेरे साथ एक साथी था। एक रसोइया भी रक्खा था। वह कुटुंबी ही बन गया था। दफ्तरके कारकुनोंमेंसे भी जो रक्खे जा सकते थे, उन्हें घरमें ही रक्खा था।

मेरा विश्वास है कि यह प्रयोग ठीक सफल हुआ; परंतु मुझे संसारके कटु अनुभव भी काफी मिले।

वह साथी बहुत होशियार और मेरी समझके अनुसार वफादार था; पर मैं उसे पहचान न सका। दफ्तरके एक कारकुनको मैंने घरमें रक्खा था। इस साथीको उसकी ईर्ष्या हुई। उसने ऐसा जाल रचा कि जिससे मैं कारकुनपर शक करने लगूं। यह कारकुन बड़ी आजाद तबीयतके थे। उन्होंने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। इससे मुझे दुःख हुआ। उनके साथ कहीं अन्याय न हुआ हो, यह खयाल भीतर-ही-भीतर मुझे नोच रहा था।

इसी बीच मेरे रसोइयेको किसी कारणसे दूसरी जगह जाना पड़ा। मैंने उसे अपने मित्रकी सेवा-सुश्रूषाके लिए रक्खा था, इसलिए उसकी जगह दूसरा रसोइया लाया गया। बादको मैंने देखा कि वह शख्स उड़ती चिड़िया भांपनेवाला था; पर वह मुझे इस तरह उपयोगी हो गया, मानो मुझे उसकी जरूरत रही हो।

इस रसोइयेको रक्खे मुश्किलसे दो-तीन ही दिन हुए होंगे कि इतनेमें उसने मेरे घरकी एक भयंकर बुराईको ताड़ लिया, जो मेरे ध्यानमें न आई थी, और उसने मुझे सचेत करनेका निश्चय किया। मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूं, यह धारणा लोगोंकी हो रही थी, इस कारण रसोइयेको मेरे ही घरमें फैली गंदगी भयानक मालूम हुई।

मैं दोपहरके भोजनके लिए दफ्तरसे एक बजे घर जाता था। कोई बारह बजे होंगे कि वह रसोइया हांफता हुआ दौड़ा आया और मुझसे कहा—

"आपको अगर कुछ देखना हो तो अभी मेरे साथ घर चलिए ।"

मैंने कहा—"इसका क्या मतलब ? कहो भी आखिर क्या बात है ? ऐसे वक्त मेरे घर आनेकी क्या जरूरत, और देखना भी क्या है ?"

"न आओगे तो पछताओगे । आपको इससे ज्यादा नहीं कहना चाहता ।" रसोइया बोला ।

उसकी दृढ़ताने मुझपर असर किया । अपने मुशीको साथ लेकर घर गया । रसोइया आगे चला ।

घर पहुंचते ही वह मुझे दुमंजिलेपर ले गया । जिस कमरेमें वह साथी रहता था, उसकी ओर इशारा करके कहा—"इस कमरेको खोलकर देखो ।"

अब मैं समझा, मैंने दरवाजा खटखटाया । जवाब क्या मिलता ? मैंने बड़े जोरसे दरवाजा ठोका । दीवारें कांप उठी । दरवाजा खुला । अंदर एक बदचलन औरत थी । मैंने उससे कहा— "बहन, तुम तो यहांसे इसी दम चल दो । अब भूलकर यहां कदम मत रखना ।"

साथीसे कहा—"आजसे आपका-मेरा संबंध टूटा । मैं अबतक खूब धोखेमें रहा और बेवकूफ बना । मेरे विश्वासका बदला यही मिलना चाहिए था ?"

साथी बिगड़ा । मुझे धमकी देने लगा—"तुम्हारी सब बातें प्रकट कर दूंगा ।"

"मेरे पास कोई गुप्त बात है ही नहीं । मैंने जो-कुछ किया हो उसे खुशीसे प्रकट कर देना; पर तुम्हारा संबंध आजसे खतम है ।"

साथी अधिक गर्म हुआ । मैंने नीचे खड़े मुशीसे कहा—"तुम जाओ; पुलिस सुपरिण्टेंडेंटसे मेरा सलाम कहो और कहो कि मेरे एक साथीने मेरे साथ दगा किया है । उसे मैं अपने घरमें रखना नहीं चाहता । फिर भी वह निकलनेसे इन्कार करता है । मेहरबानी करके मदद भेजिए ।"

अपराधीके बराबर दीन नहीं । मेरे इतना कहते ही वह ठंडा पड़ा । माफी मांगी । आजिजीसे कहा—"सुपरिण्टेंडेंटके यहां आदमी न भेजिए ।" और तुरंत घर छोड़ देना स्वीकार किया ।

इस घटनाने ठीक समयपर मुझे सावधान किया । वह साथी मेरे लिए मोह-रूप और अनिष्ट था, यह बात अब जाकर मैं स्पष्ट रूपसे समझ सका ।

इस साथीको रखकर मैंने अच्छा काम करनेके लिए बुरे साधनको अपनाया था। कड़वे-करेलेकी बेलमें मैंने सुगंधित बेलेके फूलकी आशा रक्खी थी। साथीका चाल-चलन अच्छा न था, फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेरे साथ बेवफा न होगा। उसे सुधारनेका प्रयत्न करते हुए मुझे खुद छींटे लगते-लगते बचे। अपने हितैषियोंकी सलाहका मैंने अनादर किया। मोहने मुझे अंधा बना दिया था।

यदि इस दुर्घटनासे मेरी आंख न खुली होती, मुझे सत्यकी खबर न पड़ी होती, तो संभव है कि मै कभी वह स्वार्पण न कर सकता, जो आज कर पाया हूं। मेरी सेवा हमेशा अधूरी रहती; क्योंकि यह साथी मेरी प्रगतिको रोके बिना नहीं रहता। मुझे उसके लिए बहुतेरा समय देना पड़ता। मुझे अंधेरेमे रखनेकी, कुमार्गमें ले जानेकी शक्ति उसमे थी। पर 'जाको राखे साइयां मारि सके नहिं कोय।' मेरी निष्ठा शुद्ध थी। इसलिए भूलें करते हुए भी मैं बच गया और मेरे पहले अनुभवने ही मुझे सावधान किया।

कौन जाने, ईश्वरने ही उस रसोइयेको प्रेरणा की हो! वह रसोई बनाना न जानता था; परंतु उसके आये बिना मुझे कोई सजग न कर पाता। वह बाई पहली ही बार मेरे घरमें न आई थी; परंतु इस रसोइयेकी तरह दूसरेकी हिम्मत नहीं पड़ती; क्योंकि सब जानते थे कि मैं उस साथीपर बेहद विश्वास रखता था।

इतनी सेवा करके रसोइया उसी दिन और उसी क्षण चला गया। उसने कहा—"मैं आपके यहां नहीं रह सकता। आप ठहरे भोले आदमी; यहां मुझ-जैसोंका काम नहीं।" मैंने भी उससे रहनेका आग्रह नहीं किया।

उस कारकुनपर शक पैदा करानेवाला यह साथी ही था, यह बात मुझे अब जाकर मालूम हुई। मैंने उस कारकुनके साथ न्याय करनेका बहुत उद्योग किया; पर मैं उसे पूरी तरह संतोष न दे सका। मुझे इस बातका सदा दुःख रहा। फूटा बरतन कितना ही झाला जाय, वह झाला हुआ ही माना जायगा; नया जैसा साबित न होने पायेगा।

२४

देशकी ओर

अब दक्षिण अफ्रीकामें रहते हुए मुझे तीन साल हो गये थे। लोगोंसे मेरी जान-पहचान हो गई थी। वे मुझे जानने-बूझने लगे थे। १८९६ ई०में मैंने छः महीनेके लिए देश जानेकी इजाजत चाही। मैंने देखा कि दक्षिण अफ्रीकामें मुझे बहुत समयतक रहना होगा। मेरी वकालत ठीक-ठीक चल निकली थी। सार्वजनिक कामोंके लिए लोग मेरी वहां आवश्यकता समझते थे। मैं भी समझता था। इसलिए मैंने दक्षिण अफ्रिकामें सकुटुंब रहनेका निश्चय किया और इसके लिए देश जाना ठीक समझा। फिर यह भी देखा कि देश जानेसे कुछ यहांका काम भी हो जायगा। देशमें लोगोंके सामने यहांके प्रश्नकी चर्चा करनेसे उनकी अधिक दिलचस्पी पदा हो सकेगी। तीन पौंडका कर एक बहता हुआ घाव था। जबतक वह उठ न जाता, जीको चैन नहीं हो सकती थी।

पर यदि मैं देश जाऊं तो फिर कांग्रेसका और शिक्षा-मंडलके कामका कौन जिम्मा ले? दो साथियोंपर नजर गई। आदमजी मियां खान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी-वर्गमें से बहुतेरे काम करनेवाले ऊपर उठ आये थे; पर उनमें प्रथम पंक्तिमें आने योग्य यही दो सज्जन ऐसे थे जो मंत्रीका काम नियमित रूपसे कर सकते थे, और जो दक्षिण अफ्रीकामें जन्मे भारतवासियोंका मन हरण कर सकते थे। मंत्रीके लिए मामूली अंग्रेजी जानना तो आवश्यक था ही। मैंने इनमेंसे स्वर्गीय आदमजी मियां खानको मंत्री-पद देनेकी सिफारिश की और वह स्वीकृत हुई। अनुभवसे यह पसंदगी बहुत ही अच्छी साबित हुई। अपनी उद्योगशीलता, उदारता, मिठास और विवेकके द्वारा सेठ आदमजी मियां खानने अपना काम संतोषजनक रीतिसे किया और सबको विश्वास हो गया कि मंत्रीका काम करनेके लिए वकील-बैरिस्टरकी अथवा पदवीधारी बड़े अंग्रेजीदांकी जरूरत न थी।

१८९६के मध्यमें मैं पोंगोला जहाजसे देशको रवाना हुआ। यह कलकत्ता जानेवाला जहाज था।

जहाजमें यात्री बहुत थोड़े थे। दो अंग्रेज अफसर थे। उनका मेरा

अच्छा मेल बैठ गया । एकके साथ तो रोज १ घंटा शतरंज खेला करता था । जहाजके डाक्टरने मुझे एक 'तामिल-शिक्षक' दिया था और मैंने उसका अभ्यास शुरू कर दिया था ।

नेटालमें मैंने देखा कि मुसलमानोंके निकट परिचयमें आनेके लिए मुझे उर्दू सीखनी चाहिए, तथा मदरासियोंसे संबंध बांधनेके लिए तामिल जान लेना चाहिए । उर्दूके लिए मैंने अंग्रेज मित्रके कहनेसे डेकके यात्रियोंमेंसे एक अच्छा मुंशी खोज निकाला था, और हम लोगोंकी पढ़ाई अच्छी चलने लगी थी । अंग्रेज अफसरकी स्मरण-शक्ति मुझसे तेज थी । उर्दू अक्षरोंको पहचाननेमें मुझे दिक्कत पड़ती थी; पर वह तो एक बार शब्द देख लेनेके बाद उसे भूलता ही न था । मैंने अपनी मेहनतकी मात्रा बढ़ाई भी; पर उसका मुकाबला न कर सका ।

तामिलकी पढ़ाई भी ठीक चली । उसमें किसीकी मदद न मिल सकती थी । पुस्तक लिखी भी इस तरह गई थी कि बहुत मददकी जरूरत न थी ।

मुझे आशा थी कि देश जानेके बाद यह पढ़ाई जारी रह सकेगी; पर ऐसा न हो पाया । १८९३के बाद मुझे पुस्तकें पढ़नेका अवसर प्रधानतः जेलोंमें ही मिला है । इन दोनों भाषाओंका ज्ञानमैंने बढ़ाया तो; पर वह सब जेलमें ही हुआ—तामिलका दक्षिण अफ्रिकाकी जेलमें और उर्दूका यरवड़ामें; पर तामिल बोलनेका अभ्यास कभी न हुआ । पढ़ना तो ठीक-ठीक आ गया था; किंतु पढ़नेका अवसर न आनेसे उसका अभ्यास छूटसा जाता है, इस बातका मुझे बराबर दुःख बना रहता है । दक्षिण अफ्रीकाके मदरासी भाइयोंसे मैंने खब प्रेम-रस पिया है । उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण रहता है । जब-जब मैं किसी तामिल-तेलगूको देखता हूं, तो उनकी श्रद्धा, उनकी उद्योगशीलता, बहुतोंका निःस्वार्थ त्याग, याद आये बिना नहीं रहता, और ये सब लगभग निरक्षर थे । जैसे पुरुष, वैसी ही स्त्रियां । दक्षिण अफ्रीकाकी लड़ाई ही निरक्षरोंकी थी और निरक्षर ही उसके लड़नेवाले थे । वह गरीबोंकी लड़ाई थी और गरीब ही उसमें जूझे ।

इन भोले और भले भारतवासियोंका चित्त चुरानेके लिए भाषाकी भिन्नता कभी बाधक न हुई । वे टूटी-फूटी हिंदुस्तानी और अंग्रेजी जानते थे और उससे हम अपना काम चला लेते थे; पर मैं तो इस प्रेमका बदला चुकानेके लिए तामिल सीखना चाहता था । अंतः तामिल तो कुछ-कुछ सीख ली । तेलगू जाननेका

प्रयत्न हिंदुस्तानमें किया; परंतु वर्णमालासे आगे न बढ़ सका ।

इस तरह तामिल-तेलगू न पढ़ पाया और अब शायद ही पढ़ पाऊं। इसलिए मैं यह आशा रख रहा हूं कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिंदुस्तानी सीख लेंगे। दक्षिण अफ्रीकाके द्राविड़— 'मद्रासी' तो अवश्य थोड़ी-बहुत हिंदी बोलते हैं, मुश्किल है अंग्रेजी पढ़े-लिखोंकी। ऐसा मालूम होता है, मानो अंग्रेजीका ज्ञान हमें अपनी भाषायें सीखनेमें बाधक हो रहा है ।

पर यह तो विषयांतर हो गया। हमें अपनी यात्रा पूरी करनी चाहिए। अभी पोंगोलाके कप्तानका परिचय करना बाकी है। अस्तु। हम दोनों मित्र हो गये थे। यह कप्तान प्लीमथ ब्रदरके संप्रदायका था। इसलिए जहाज-विद्याकी अपेक्षा आध्यात्मिक विद्याकी ही बातें हम दोनोंमें अधिक हुई। उसने नीति और धर्म-श्रद्धामें फर्क बताया। उसकी दृष्टिसे बाइबिलकी शिक्षा लड़कोंका खेल था। उसकी खूबी उसकी सरलता है। बालक, स्त्री-पुरुष, सब ईसाको और उसके बलिदानको मान लें कि बस, उनके पाप धुल जावेंगे। इस प्लीमथ ब्रदर ने मेरे प्रिटोरियाके 'ब्रदर'की पहचान ताजा कर दी। जिस धर्ममें नीति की चौकीदारी करनी पड़ती हो वह उसे नीरस मालूम हुआ। इस मित्रता और आध्यात्मिक चर्चाकी तहमें था मेरा 'अन्नाहार'। मैं मांस क्यों नहीं खाता? गो-मांसमें क्या बुराई है? वनस्पतिकी तरह क्या पशु-पक्षियोंको भी ईश्वरने मनुष्यके आनंद तथा आहारके लिए नहीं बनाया है? ऐसी प्रश्नमाला आध्यात्मिक वार्तालाप उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती थी ।

पर हम दोनों एक-दूसरेको न समझा सके। मैं अपने इस विचारपर दृढ़ हुआ कि धर्म और नीति एक ही वस्तुके वाचक हैं। इधर कप्तानको भी अपनी धारणाकी सत्यतापर संदेह न था ।

चौबीस दिनके अंतमें यह आनंददायक यात्रा पूरी हुई, और मैं हुगलीका सौंदर्य निहारता हुआ कलकत्ता उतरा। उसी दिन मैंने बंबई जानेके लिए टिकट कटाया ।

२५

हिंदुस्तानमें

कलकत्तासे बंबई जाते हुए रास्तेमें प्रयाग पड़ता था। वहां ४५ मिनट गाड़ी खड़ी रहती थी। मैंने सोचा कि इतने समयमें जरा शहर देख आऊं। मुझे दवाफरोशके यहांसे दवा भी लेनी थी। दवाफरोश ऊंघता हुआ बाहर आया। दवा देनेमें बड़ी देर लगा दी। ज्योंही मैं स्टेशन पर पहुंचा, गाड़ी चलती हुई दिखाई दी। भले स्टेशन मास्टरने गाड़ी एक मिनट रोकी भी; पर फिर मुझे वापस न आता देखकर मेरा सामान उतरवा लिया।

मैं केलनरके हॉटलमें उतरा और यहांसे अपना काम शुरू करनेका निश्चय किया। यहांके 'पायोनियर' पत्रकी ख्याति मैंने सुनी थी। भारतकी आकांक्षाओंका वह विरोधी था, यह मैं जानता था। मुझे याद पड़ता है कि उस समय मि० चेजनी (छोटे) उसके संपादक थे। मैं तो सब पक्षके लोगोंसे मिलकर सहायता प्राप्त करना चाहता था। इसलिए मि० चेजनीको मैंने मिलनेके लिए पत्र लिखा। अपनी ट्रेन छूट जानेका हाल लिखकर सूचित किया कि कल ही मुझे प्रयागसे चला जाना है। उत्तरमें उन्होंने तुरंत मिलनेके लिए बुलाया। मैं खुश हुआ। उन्होंने गौरसे मेरी बातें सुनी। 'आप जो कुछ लिखेंगे, मैं उसपर तुरंत टिप्पणी करूंगा,' यह आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा— "पर मैं आपसे यह नहीं कह सकता कि आपकी सब बातोंको मैं स्वीकार कर सकूंगा। औपनिवेशिक दृष्टिबिंदु भी तो हमें समझना और देखना चाहिए न ?"

मैंने उत्तर दिया—"आप इस प्रश्नका अध्ययन करें और अपने पत्रमें इसकी चर्चा करते रहें, यही मेरे लिए काफी है। शुद्ध न्यायके अलावा मैं और कुछ नहीं चाहता।"

शेष समय प्रयागके भव्य त्रिवेणी-संगमके दर्शन और अपने कामके विचारमें गया।

इस आकस्मिक मुलाकातने नेटालमें मुझपर हुए हमलेका बीजारोपण किया।

बंबईसे बिना कहीं रुके सीधा राजकोट गया और एक पुस्तिका लिखनेकी तैयारी की; उसे लिखने तथा छपानेमें कोई एक महीना लग गया। उसका मुखपृष्ठ हरे रंगका था; इस कारण वह बादको 'हरी पुस्तिका'के नामसे प्रसिद्ध हो गई थी। उसमें मैंने दक्षिण-अफ्रीकाके हिंदुस्तानियोंकी स्थितिका चित्र खींचा था; और सोच-समझकर उसमें न्यूनोक्तिसे काम लिया था। नेटालकी जिन पुस्तिकाओंका जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूं, इसमें उनसे नरम भाषा इस्तैमाल की गई थी; क्योंकि मैं जानता हूं कि छोटा दुःख भी दूरसे देखते हुए बड़ा मालूम होता है।

'हरी पुस्तिका'की दस हजार प्रतियां छपवाई और सारे हिंदुस्तानके अखबारोंको तथा भिन्न-भिन्न दलोंके मशहूर लोगोंको भेजीं। 'पायोनियर' में उसपर सबसे पहले लेख प्रकाशित हुआ। उसका सारांश विलायत गया और उस सारांशका सार फिर रूटरकी मार्फत नेटाल गया। यह तार सिर्फ तीन लाइनका था। वह नेटालके हिंदुस्तानियोंके दुःखोंके मेरे किये वर्णनका छोटा-सा संस्करण था। वह मेरे शब्दोंमें न था। उसका जो असर वहां हुआ वह हम आगे चलकर देखेंगे। धीरे-धीरे तमाम प्रतिष्ठित समाचार-पत्रोंमें इस प्रश्नपर टिप्पणियां हुईं।

इन पुस्तिकाओंको डाकमें डालनेके लिए तैयार कराना उलझनका और दाम देकर कराना तो खर्चका भी काम था। मैंने एक आसान तरकीब खोज निकाली। मुहल्लेके तमाम लड़कोंको इकट्ठा किया और सुबहके समय दो-तीन घंटे उनसे मांगे। लड़कोंने इतनी सेवा खुशीसे मंजूर की। अपनी तरफसे मैंने उन्हें डाकके रद्दी टिकट तथा आशीष देना स्वीकार किया। लड़कोंने खेल-खेलमें मेरा काम पूरा कर दिया। छोटे-छोटे बालकोंको स्वयंसेवक बनानेका मेरा यह पहला प्रयोग था। इस दलके दो बालक आज मेरे साथी हैं।

इन्हीं दिनों पहले-पहल प्लेगका दौरा हुआ। चारों ओर भगदड़ मच गई थी। राजकोटमें भी उसके फैल जानेका डर था। मैंने सोचा कि आरोग्य-विभागमें अच्छा काम कर सकूंगा। मैंने राज्यको लिखा कि मैं अपनी सेवायें अर्पित करनेको तैयार हूं। राज्यने एक समिति बनाई और उसमें मुझे भी रक्खा। पाखानोंकी सफाईपर मैंने जोर दिया और समितिने मुहल्ले-मुहल्ले जाकर पाखानों-

की जांच करनेका निश्चय किया। गरीब लोग अपने पाखानोंकी जांच करनेमें बिलकुल आनाकानी न करते थे। यही नहीं, बल्कि जो सुधार बताये गये वे भी उन्होंने किये। पर जब हम राजकाजी लोगोंके घरोंकी जांच करने गये तब कितनी ही जगह तो हमें पाखाना देखने तककी इजाजत न मिली––सुधारकी तो बात ही क्या? आम तौरपर हमें यह अनुभव हुआ कि धनिकोंके पाखाने अधिक गंदे थे। खूब अंधेरा, बदबू और अजहद गंदगी थी। बैठनेकी जगह कीड़े कुलबुलाते थे। मानो रोज जीते जी नरकमें जाना था। हमने जो सुधार सुझाये थे, वे बिलकुल मामूली थे, मैला जमीनपर नहीं बल्कि कूंड़ोंमें गिरा करे। पानी भी जमीनमें जज्ब होनेके बदले कूंडोंमें गिरा करे। बैठक और भंगीके आनेकी जगहके बीचमें दीवार रहती है वह तोड़ डाली जाय, जिससे भंगी सारा हिस्सा अच्छी तरह साफ कर सके; और पाखाना भी कुछ बड़ा हो जाय तो उसमें हवा-प्रकाश जा सके। बड़े लोगोंने इन सुधारोंके रास्तेमें बड़े झगड़े खड़े किये और आखिर होने ही नही दिये।

समितिको ढेड़ोंके मुहल्लों में भी जाना था, पर सिर्फ एक ही सदस्य मेरे साथ वहां जानेके लिए तैयार हुआ। एक तो वहां जाना और फिर उनके पाखाने देखना;. परंतु मुझे तो ढेड़वाडा देखकर सानंदाश्चर्य हुआ। अपनी जिंदगीमें मैं पहली ही बार ढेड़वाड़ा गया था। ढेड़ भाई-बहन हमें देखकर आश्चर्य-चकित हुए। हमने कहा––"हम तुम्हारे पाखाने देखना चाहते हैं।"

उन्होंने कहा––"हमारे यहां पाखाने कहां? हमारे पाखाने तो जंगलमें होते हैं। पाखाने तो होते हैं आप बड़े लोगोंके यहां।"

मैंने पूछा––"अच्छा तो अपने घर हमें देखने दोगे?"

"हां, साहब, जरूर! हमें क्या उज्र हो सकता है? जहां जी चाहे आइए। हमारे तो ये ऐसे ही घर हैं।"

मैं अंदर गया। घर तथा आंगनकी सफाई देखकर खुश हो गया। घर साफ-सुथरा लिपा-पुता था। आंगन बुहारा हुआ था; और जो थोड़े-बहुत बरतन थे वे साफ मंजे हुए चमकदार थे।

एक पाखानेका वर्णन किये बिना नहीं रह सकता। मोरी तो हर घरमें रहती ही है, पानी भी उसमें बहता है और पेशाब भी किया जाता है। अतएव

कोई कमरा मुश्किलसे बिना बदबूवाला होगा। पर एक घरमें तो सोनेके कमरेमें मोरी और पाखाना दोनों देखे और यह सारा मैला नलमेंसे नीचे उतरता था। इस कमरेमें खड़ा होना मुश्किल था। अब पाठक ही इस बातका अंदाजा कर लें कि उसमें घरवाले सो कैसे सकते होंगे ?

समिति हवेली—वैष्णव मंदिर— देखने भी गई थी। हवेलीके मुखियाजी-से गांधी-कुटुंबका अच्छा संबंध था। मुखियाजीने हवेली देखने देना तथा जितना हो सके सुधार करना स्वीकार किया। उन्होंने खुद उस हिस्सेको कभी न देखा था; हवेलीकी पत्तलें और जूठन आदि पीछेकी छतसे फेंक दिये जाते। वह हिस्सा कौओं और चीलोंका घर बन गया था। पाखाने तो गंदे थे ही। मुखियाजीने कितना सुधार किया, यह मैं न देख पाया। हवेलीकी गंदगी देखकर दुःख तो बहुत हुआ। जिस हवेलीको हम पवित्र स्थान समझते हैं, वहां तो आरोग्यके नियमोंका काफी पालन होनेकी आशा रखते हैं। स्मृतिकारोंने जो बाह्यान्तर शौचपर बहुत जोर दिया है, यह बात मेरे ध्यानसे बाहर उस समय भी न थी।

२६

राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठाका अनुभव मैंने जितना अपने अंदर किया है उतना शायद ही दूसरोंमें किया हो। मै देखता कि इस राजनिष्ठाका मूल है मेरा सत्यके प्रति स्वाभाविक प्रेम। राजनिष्ठाका अथवा किसी दूसरी चीजका ढोंग मुझसे आजतक न हो सका। नेटालमें जिस किसी सभामें मैं जाता, 'गॉड सेव दि किंग' बराबर गाया जाता। मैंने सोचा, मुझे भी गाना चाहिए। यह बात नहीं कि उस समय मुझे ब्रिटिश राज्य-नीतिमें बुराइयां न दिखाई देती थीं। फिर भी आमतौरपर मुझे यह नीति अच्छी मालूम होती थी। उस समय यह मानता था कि ब्रिटिश-राज्य तथा राज्य-कर्त्ताओंकी नीति कुल मिलाकर प्रजा-पोषक है।

पर दक्षिण अफ्रिकामें उलटी नीति दिखाई देती; रंग-द्वेष नजर आता। मैं समझता कि यह क्षणिक और स्थानिक है। इस कारण राजनिष्ठामें मैं अंग्रेजोंकी प्रतिस्पर्द्धा करनेकी चेष्टा करता। बड़े श्रमके साथ अंग्रेजोंके राष्ट्र-गीत 'गॉड

सेव दि किंग 'का स्वर मैंने साधा। सभाओंमें जब वह गाया जाता, तब अपना सुर उसमें मिलाता। और बिना आडंबर किये वफादारी दिखानेके जितने अवसर आते सबमें शरीक होता।

अपनी जिंदगीमें कभी मैंने इस राजनिष्ठाकी दूकान नहीं लगाई। अपना निजी मतलब साध लेनेकी कभी इच्छातक न हुई। वफादारीको एक तरहका कर्ज समझकर मैंने उसे अदा किया है।

जब भारत आया, तब महारानी विक्टोरियाकी डायमंड जुबिलीकी तैयारियां हो रही थीं। राजकोटमें भी एक समिति बनाई गई। उसमें मैं निमंत्रित किया गया। मैंने निमंत्रण स्वीकार किया; पर मुझे उसमें ढकोसलेकी बू आई। मैंने देखा कि उसमें बहुतेरी बातें महज दिखावेके लिए की जाती हैं। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं सोचने लगा कि ऐसी दशामें समितिमें रहना चाहिए, या नहीं? अंतको यह निश्चय किया कि अपने कर्तव्यका पालन करके संतोष मान लेना ही ठीक है।

एक तजवीज यह थी कि पेड़ लगाये जायं। इसमें मुझे पाखंड दिखाई दिया। मालूम हुआ कि यह सब महज साहब लोगोंको खुश करनेके लिए किया जाता है। मैंने लोगोंको यह समझानेकी कोशिश की कि पेड़ लगाना लाजिमी नहीं किया गया है, सिर्फ सिफारिश भर की गई है। यदि लगाना ही हो तो फिर सच्चे दिलसे लगाना चाहिए, नहीं तो मुतलक नहीं। मुझे कुछ-कुछ ऐसा याद पड़ता है कि जब मैं ऐसी बात कहता तो लोग उसे हंसीमें उड़ा देते थे। जो हो, अपने हिस्सेका पेड़ मैंने अच्छी तरह बोया और उसकी परवरिश भी की, यह अच्छी तरह याद है।

'गॉड सेव दि किंग' मैं अपने परिवार के बच्चोंको भी सिखाता था। मुझे याद है कि ट्रेनिंग कालेजके विद्यार्थियोंको मैंने यह सिखाया था; पर तुझे यह ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता कि यह इसी मौकेपर सिखाया था, अथवा सप्तम एडवर्डके राज्यारोहणके प्रसंगपर। आगे चलकर मुझे यह गीत गाना अखरा। ज्यों-ज्यों मेरे मनमें अहिंसाके विचार प्रबल होते गये, त्यों-त्यों मैं अपनी वाणी और विचारकी अधिक चौकीदारी करने लगा। इस गीतमें ये दो पंक्तियां भी हैं—

'उसके शत्रुओंका नाश कर;
उनकी चालों विफल कर।'

यह भाव मुझे खटका। अपने मित्र डा० बूथके सामने मैंने अपनी कठिनाई पेश की। उन्होंने भी स्वीकार किया कि हां, अहिंसावादी मनुष्यको यह गान शोभा नहीं देता। जिन्हें हम शत्रु कहते हैं, वे दगाबाजी ही करते हैं, यह कैसे मान लें ? यह कैसे कह सकते हैं कि जिन्हें हमने शत्रु मान लिया है वे सब बुरे ही हैं। ईश्वरसे तो हम न्यायकी ही याचना कर सकते है। डा० बूथको यह दलील जंची। उन्होंने अपने समाजमें गानेके लिए एक नये ही गीतकी रचना की। डा० बूथका विशेष परिचय आगे दूंगा।

जिस प्रकार वफादारीका स्वाभाविक गुण मुझमें था, उसी तरह शुश्रूषाका भी था। बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषाका शौक, फिर बीमार चाहे अपने हों या पराये, मुझे था। राजकोटमें दक्षिण अफरीका-संबंधी काम करते हुए मै एक बार बंबई गया। इरादा यह था कि बड़े-बड़े शहरोंमें सभायें करके लोकमत विशेष रूपसे तैयार किया जाय। इसी सिलसिलेमें मैं बंबई गया था। पहले न्यायमूर्ति रानडेसे मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यानसे सुनी और सर फिरोजशाहसे मिलनेकी सलाह दी। फिर मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजीसे मिला। उन्होंने भी मेरी बात सुनकर यही सलाह दी। 'जस्टिस रानडेसे और मुझसे आपको बहुत कम सहायता मिल सकेगी। हमारी स्थिति आप जानते हैं। हम सार्वजनिक कामोंमें योग नहीं दे सकते; परंतु हमारे मनोभाव और सहानुभूति आपके साथ हुई है। हां, सर फिरोजशाह आपकी सच्ची सहायता करेंगे।'

सर फिरोजशाहसे तो मैं मिलने ही वाला था। परंतु इन दो बुजुर्गोंकी यह राय जानकर कि उनकी सलाहसे चलो, मुझे इस बातका ज्ञान हुआ कि सर फिरोजशाहका कितना अधिकार लोगोंपर है।

मैं सर फिरोजशाहसे मिला। मैं उनसे चकाचौंध होनेके लिए तैयार ही था। उनके नामके साथ लगे बड़े-बड़े विशेषण मैंने सुन रक्खे थे। 'बंबईके शेर', 'बंबईके बेताजके बादशाह'से मिलना था। परंतु बादशाहने मुझे भयभीत नहीं किया। जिस प्रकार पिता अपने जवान पुत्रसे प्रेमके साथ मिलता है, उसी प्रकार वह मुझसे मिले। उनके चेंबरमें उनसे मिलना था। अनुयायियोंसे तो सदा घिरे हुए रहते ही थे। वाच्छा थे; कामा थे। उनसे मेरा परिचय कराया। वाच्छाका नाम मैंने सुना था, वह फिरोजशाहके दाहिने हाथ माने जाते थे। अंक-

शास्त्रीके नामसे वीरचन्द गांधीने मुझे उनका परिचय कराया था। उन्होंने कहा—"गांधी, हम फिर भी मिलेंगे।"

कुल दो ही मिनटमें यह सब हो गया। सर फिरोजशाहने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजीसे मिलनेकी भी बात मैंने कही। उन्होंने कहा—"गांधी, तुम्हारे कामके लिए मुझे एक सभा करनी होगी। तुम्हारे काममें जरूर मदद देनी चाहिए।" मुंशीकी ओर देखकर सभाका दिन निश्चय करनेके लिए कहा। दिन तय हुआ और मुझे छुट्टी मिली। कहा—"सभा के एक दिन पहले मुझसे मिल लेना।" निश्चित होकर मनमे फूलता हुआ मैं अपने घर गया।

मेरे बहनोई बंबईमें रहते थे, उनसे मिलने गया। वह बीमार थे। गरीब हालत थी। बहन अकेली उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सकती थी। बीमारी सख्त थी। मैंने कहा—"मेरे साथ राजकोट चलिए।" वह राजी हुए। बहन-बहनोईको लेकर मैं राजकोट गया। बीमारी अंदाजसे बाहर भीषण हो गई थी। मैंने उन्हें अपने कमरेमें रक्खा। दिन भर मैं उनके पास ही रहता। रातको भी जागना पड़ता। उनकी सेवा करते हुए दक्षिण अफ्रीकाका काम मैं कर रहा था। अंतमें बहनोईका स्वर्गवास हो गया; पर मुझे इस बातसे कुछ संतोष रहा कि अंत समय उनकी सेवा करनेका अवसर मुझे मिल गया।

शुश्रूषाके इस शौकने आगे चलकर व्यापक रूप धारण किया। वह यहांतक कि उसमें मैं अपना काम-धंधा छोड़ बैठता। अपनी धर्मपत्नीको भी उसमें लगाता और सारे घरको भी शामिल कर लेता था। इस वृत्तिको मैंने 'शौक' कहा है; क्योंकि मैंने देखा कि यह गुण तभी निभता है, जब आनंददायक हो जाता है। खींचा-तानी करके दिखावे या मुलाहिजेके लिए जब ऐसे काम होते हैं, तब वह मनुष्यको कुचल डालते हैं और उनको करते हुए भी मनुष्य मुरझा जाता है। जिस सेवासे चित्तको आनंद नहीं मालूम होता, वह न सेवकको फलती है, न सेव्यको सुहाती है। जिस सेवासे चित्त आनंदित होता है उसके सामने ऐशोआराम या धनोपार्जन इत्यादि बातें तुच्छ मालूम होती हैं।

२७

बंबईमें सभा

बहनोईके देहांतके दूसरे ही दिन मुझे सभाके लिए बंबई जाना था मुझे इतना समय न मिला था कि अपने भाषणकी तैयारी कर रखता। जागरण करते-करते थक रहा था। आवाज भी भारी हो रही थी। यह विचार करता हुआ कि ईश्वर किसी तरह निबाह लेगा, मैं बंबई गया। भाषण लिखकर लेजाने का तो मुझे स्वप्न में भी खयाल न हुआ था।

सभाकी तिथिके एक दिन पहले शामको पांच बजे आज्ञानुसार मैं सर फिरोजशाहके दफ्तरमें हाजिर हुआ।

"गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है न ?" उन्होंने पूछा।

"नहीं तो, मैंने जबानी ही भाषण करनेका इरादा कर रक्खा है।" मैंने डरते-डरते उत्तर दिया।

"बंबईमें ऐसा न चलेगा। यहांका रिपोर्टिंग खराब है, और यदि हम चाहते हों कि इस सभासे लाभ हो तो तुम्हारा भाषण लिखित ही होना चाहिए और रातों-रात छपा लेना चाहिए। रातहीको भाषण लिख सकोगे न ?"

मैं पसोपेशमें पड़ा; परंतु मैंने लिखनेकी कोशिश करना स्वीकार किया।

"तो मुंशी तुमसे भाषण लेने कब आवें ?" बंबईके सिंह बोले।

"ग्यारह बजे।" मैंने उत्तर दिया।

सर फिरोजशाहने मुंशीको हुक्म दिया कि उतने बजे जाकर मुझसे भाषण ले आवे और रातों-रात उसे छपा लें। इसके बाद मुझे विदा किया।

दूसरे दिन सभामें गया। मैंने देखा कि लिखित भाषण पढ़नेकी सलाह कितनी बुद्धिमत्तापूर्ण थी। फ्रामजी कावसजी इंस्टीट्यूटके हालमें सभा थी। मैंने सुन रक्खा था कि सर फिरोजशाहके भाषणमें सभा-भवनमें खड़े रहनेको जगह न मिलती थी। इसमें विद्यार्थी लोग खूब दिलचस्पी लेते थे।

ऐसी सभाका मुझे यह पहला अनुभव था। मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज लोगोंतक नहीं पहुंच सकती। कांपते-कांपते मैंने अपना भाषण शुरू

किया। सर फिरोजशाह मुझे उत्साहित करते जाते— 'हां, जरा और ऊंची आवाजमें ! ' ज्यों-ज्यों वह ऐसा कहते त्यों-त्यों मेरी आवाज गिरती जाती थी।

मेरे पुराने मित्र केशवराव देशपांडे मेरी मददके लिए दौड़े। मैंने उनके हाथमें भाषण सौंपकर छुट्टी पाई। उनकी आवाज थी तो बुलंद; पर प्रेक्षक क्यों सुनने लगे ? 'वाच्छा', 'वाच्छा'की पुकारसे हाल गूंज उठा। अब वाच्छा उठे। उन्होंने देशपांडेके हाथसे कागज लिया और मेरा काम बन गया। सभामें तुरंत सन्नाटा छा गया और लोगोंने 'अथसे इतितक' भाषण सुना। मामूलके मुताबिक प्रसंगानुसार 'शर्म', 'शर्म' की अथवा करतल-ध्वनि हुई। सभाके इस फलसे मैं खुश हुआ।

सर फिरोजशाहको भाषण पसंद आया। मुझे गंगा नहानेके बराबर संतोष हुआ।

इस सभाके फल-स्वरूप देशपांडे तथा एक पारसी सज्जन ललचाये। पारसी सज्जन आज एक पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए हिचकता हूं। जज खुरशेदजीने उनके निश्चयको डांवाडोल कर दिया। उसकी तहमें एक पारसी बहन थी। विवाह करें या दक्षिण अफ्रीका जायं ? यह समस्या उनके सामने थी। अंतको विवाह कर लेना ही उन्होंने अधिक उचित समझा, परंतु इन पारसी मित्रकी तरफसे पारसी रुस्तमजीने इसका प्रायश्चित्त किया। और उस पारसी बहनकी ओरसे दूसरी पारसी बहनें, सेविका बनकर, खादीके लिए वैराग्य लेकर, प्रायश्चित्त कर रही हैं। इस कारण इस दंपतीको मैंने माफ कर दिया है। देशपांडेको विवाहका प्रलोभन तो न था; पर वह भी न आ सके। इसका प्रायश्चित्त अब वह खुद ही कर रहे हैं। लौटती बार रास्तेमें जंजीबार पड़ता था। वहां एक तैयबजीसे मुलाकात हुई। उन्होंने भी आनेकी आशा दिलाई थी; पर वे भला दक्षिण अफ्रिका क्यों आने लगे ? उनके न आनेके गुनाहका बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं; परंतु बैरिस्टर मित्रोंको दक्षिण अफ्रीका आनेके लिए लुभानेके मेरे प्रयत्न इस तरह विफल हुए।

यहां मुझे पेस्तनजी पादशाह याद आते हैं। विलायतसे ही उनका मेरा मधुर संबंध हो गया था। पेस्तनजीसे मेरा परिचय लंदनके अन्नाहारी

भोजनालयमें हुआ था उनके भाई बरजोरजी एक 'सनकी' आदमी थे। मैंने उनकी ख्याति सुनी थी, पर मिला न था; मित्र लोग कहते, वह 'चंक्रम (सनकी) हैं। घोड़ेपर दया खाकर ट्राममें नहीं बैठते। शतावधानीकी तरह स्मरण-शक्ति होते हुए भी डिग्रीके फेरमें नहीं पड़ते। इतने आजाद मिजाज कि किसीके दम-झांसेमें नहीं आते और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी! पेस्तनजी-की डिग्री इतनी बढ़ी हुई नहीं समझी जाती थी; पर फिर भी उनका बुद्धि-वैभव प्रसिद्ध था। विलायतमें भी उनकी ऐसी ही ख्याति थी; परंतु उनके-मेरे संबंधका मूल तो था उनका अन्नाहार। उनके बुद्धि-वैभवका मुकाबला करना मेरे सामर्थ्यके बाहर था।

बंबईमें मैंने पेस्तनजीको खोज निकाला। वह प्रोथोनोटरी थे। जब मै मिला तब वह बृहद् गुजराती शब्द-कोषके काममें लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रीकाके कामें मदद लेनेके संबंधमें मैंने एक भी मित्रको टटोले बिना नहीं छोड़ा था। पेस्तनजी पादशाहने तो मुझे ही उलटे दक्षिण अफ्रीका न जानेकी सलाह दी। मै तो भला आपको क्या मदद दे सकता हूं; पर मुझे तो आपका ही वापस लौटना पसंद नहीं। यहीं, अपने देशमें ही, क्या कम काम है? देखिए, अभी अपनी मातृ-भाषाकी सेवाका ही कितना क्षेत्र सामने पड़ा हुआ है? मुझे विज्ञान-संबंधी शब्दोके पर्याय खोजना है। यह हुआ एक काम। देशकी गरीबीका विचार कीजिए। हां, दक्षिण अफ्रीकामें हमारे लोगोंको कष्ट है; पर उसमें आप जैसे लोग खप जायं, यह मुझे बरदाश्त नहीं हो सकता। यदि हम यहीं राज-सत्ता अपने हाथमें ले सकें तो वहां उनकी मदद अपने-आप हो जायगी। आपको शायद मैं न समझा सकूंगा; परंतु दूसरे सेवकोंको आपके साथ ले जानेमें मैं आपको हरगिज सहायता न दूंगा। ये बातें मुझे अच्छी तो न लगीं; परंतु पेस्तनजी पादशाहके प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देश-प्रेम व भाषा-प्रेम देखकर मैं मुग्ध हो गया। उस प्रसंगके बदौलत मेरी उनकी प्रेम-गांठ मजबूत हो गई। उनके दृष्टि-बिंदुको मैं ठीक-ठीक समझ गया; परंतु दक्षिण अफ्रीकाके कामको छोड़नेके बदले, उनकी दृष्टिसे भी, मुझे तो उसीपर दृढ़ होना चाहिए—यह मेरा विचार हुआ। देश-प्रेमी एक भी अंगको, जहांतक हो, न छोड़ेगा। और मेरे सामने तो गीताका श्लोक तैयार ही था—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥[1]

बढ़े-चढ़े पर-धर्मसे घटिया स्वधर्म अच्छा है । स्वधर्म में मौत भी उत्तम है, किंतु पर-धर्म तो भयकर्त्ता है ।

२८

पूना और मद्रासमें

सर फिरोजशाहने मेरा रास्ता सरल कर दिया । बंबईसे मैं पूना गया । मैं जानता था कि पूनामें दो पक्ष थे; पर मुझे सबकी सहायताकी जरूरत थी । पहले मैं लोकमान्यसे मिला । उन्होंने कहा——

"सब दलोंकी सहायता प्राप्त करनेका आपका विचार बिलकुल ठीक है । आपके प्रश्नके संबंधमें मत-भेद हो नहीं सकता; परंतु आपके कामके लिए किसी तटस्थ सभापति की आवश्यकता है । आप प्रोफेसर भांडारकरसे मिलिए । यों तो वह आजकल किसी हलचलमें पड़ते नहीं है; पर शायद इस कामके लिए 'हां' करलें । उनसे मिलकर नतीजेकी खबर मुझे कीजिएगा । मैं आपको पूरी-पूरी सहायता देना चाहता हूं । आप प्रोफेसर गोखलेसे भी अवश्य मिलिएगा । मुझसे जब कभी मिलनेकी इच्छा हो जरूर आइएगा ।"

लोकमान्यके यह मुझे पहले दर्शन थे । उनकी लोक-प्रियताका कारण मैं तुरंत समझ गया ।

यहांसे मैं गोखलेके पास गया । वह फर्ग्यूसन कालेजमें थे । बड़े प्रेमसे मुझसे मिले और मुझे अपना बना लिया । उनका भी यह प्रथम ही परिचय था; पर ऐसा मालूम हुआ मानो हम पहले मिल चुके हों । सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय-जैसे मालूम हुए; लोकमान्य समुद्र की तरह मालूम हुए । गोखले गंगा की तरह मालूम हुए; उसमें मैं नहा सकता था । हिमालयपर चढ़ना मुश्किल है, समुद्रमें डूबनेका भय रहता है; पर गंगाकी गोदीमें खेल सकते हैं, उसमें डोंगीपर

[1] गीता अध्याय ३, श्लोक ३५

चढ़कर तैर सकते हैं। गोखलेने खोद-खोदकर बातें पूछीं—जैसी कि मदरसेमें भरती होते समय विद्यार्थी से पूछी जाती हैं। किस-किससे मिलूं और किस प्रकार मिलूं, यह बताया और मेरा भाषण देखनेके लिए मांगा। मुझे अपने कालेजकी व्यवस्था दिखाई। कहा—"जब मिलना हो, खुशीसे मिलना और डाक्टर भांडारकरका उत्तर मुझे जताना।" फिर मुझे बिदा किया। राजनीतिक क्षेत्रमें गोखलेने जीते-जी जैसा आसन मेरे हृदयमें जमाया और जो उनके देहांतके बाद अब भी जमा हुआ है वैसा फिर कोई न जमा सका।

रामकृष्ण भांडारकर मुझसे उसी तरह पेश आये, जिस तरह पिता पुत्रसे पेश आता है। मैं दोपहरके समय उनके यहां गया था। ऐसे समय भी मैं अपना काम कर रहा था, यह बात इस परिश्रमी शास्त्रज्ञको प्रिय हुई और तटस्थ अध्यक्ष बनानेके मेरे आग्रहपर ('दैट्स इट', 'दैट्स इट') 'यही ठीक है', 'यही ठीक है' उद्गार सहज ही उनके मुंहसे निकल पड़े।

बातचीतके अंतमें उन्होंने कहा—"तुम किसीसे भी पूछोगे तो वह कह देगा कि आजकल मैं किसी भी राजनीतिक काममें नहीं पड़ता हूं; परंतु तुमको मैं विमुख नहीं कर सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है, और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभामें आनेसे इन्कार नहीं कर सकता। श्रीयुत तिलक और श्रीयुत गोखलेसे तुम मिल ही लिये हो, यह अच्छा हुआ। उनसे कहना कि दोनों पक्ष जिस सभामें मुझे बुलावेंगे, मैं आ जाऊंगा और अध्यक्ष स्थान ग्रहण कर लूंगा। समयके बारेमें मुझसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं। जो समय दोनों पक्षोंको अनुकूल होगा उसकी पाबंदी मैं कर लूंगा।" यह कहकर मुझे धन्यवाद और आशीर्वाद देकर उन्होंने विदा किया।

बिना कुछ गुल-गपाड़ेके, बिना कुछ आडंबरके, एक सादे मकानमें पूनाके इन विद्वान् और त्यागी मंडलने सभा की और मुझे पूरा-पूरा प्रोत्साहन देकर विदा किया।

यहांसे मदरास गया। मदरास तो पागल हो उठा। बालासुंदरम्के किस्सेका बड़ा गहरा असर सभापर पड़ा। मेरा भाषण कुछ लंबा था; पर था सब छपा हुआ। एक-एक शब्द सभाने मन लगाकर सुना। सभाके अंतमें उस हरी पुस्तिकापर लोग टूट पड़े। मदरासमें कुछ घटा-बढ़ाकर उसका दूसरा

संस्करण दस हजारका छपवाया। उनका बहुतांश निकल गया; पर मैंने देखा कि दस हजारकी जरूरत न थी, लोगोंके उत्साहको मैंने अधिक आंक लिया था। मेरे भाषणका असर तो अंग्रेजी बोलनेवालोंपर ही हुआ था और अकेले मदरासमें अंग्रेजीदां लोगोंके लिए दस हजार प्रतियोंकी आवश्यकता न थी।

यहां मुझे बड़ी-से-बड़ी सहायता स्वर्गीय जी० परमेश्वरन् पिल्लेसे मिली। वह 'मदरास स्टैंडर्ड' के संपादक थे। उन्होंने इस प्रश्नका अच्छा अध्ययन कर लिया था। वह बार-बार अपने दफ्तरमें बुलाते और सलाह देते। 'हिंदू'के जी० सुब्रह्मण्यम्से भी मिला था। उन्होंने तथा डा० सुब्रह्मण्यम्ने भी पूरी-पूरी हमदर्दी दिखाई; परंतु जी० परमेश्वरन् पिल्लेने तो अपना अखबार इस कामके लिए मानो मेरे हवाले ही कर दिया और मैंने भी दिल खोलकर उसका उपयोग किया। सभा पाच्याप्पाहालमें हुई थी और डा० सुब्रह्मण्यम् अध्यक्ष हुए थे, ऐसा मुझे स्मरण है।

मदरासमे मैंने बहुतोंका प्रेम और उत्साह इतना देखा कि यद्यपि वहां सबके साथ मुख्यत: अंग्रेजीमें ही बोलना पड़ता था फिर भी, मुझे घरके जैसा ही मालूम हुआ। सच है, प्रेम किन बंधनोंको नही तोड़ सकता।

२६

'जल्दी लौटो'

मदराससे मैं कलकत्ता गया। कलकत्तेमे मेरी कठिनाइयोंकी सीमा न रही। वहां 'ग्रेड ईस्टर्न' होटलमें उतरा। न किसीसे जान न पहचान। होटलमें 'डेली टेलीग्राफ'के प्रतिनिधि मि० एलर थार्पसे पहचान हुई। वह रहते थे बंगाल क्लब में। वहां उन्होंने मुझे बुलाया। उस समय उन्हें पता न था कि होटलके दीवानखानेमें कोई हिंदुस्तानी नहीं जा सकता। बादको उन्हें इस रुकावटका हाल मालूम हुआ। इसलिए वह मुझे अपने कमरेमें ले गये। भारत-वासियोंके प्रति स्थानीय अंग्रेजोंके इस हेय-भावको देखकर उन्हें खेद हुआ। दीवान-खानेमें न ले जा सकनेके लिए उन्होंने मुझसे माफी मांगी।

'बंगालके देव' सुरेन्द्रनाथ बनर्जीसे तो मिलना ही था। उनसे जब

मैं मिलने गया तब दूसरे मिलने वाले उन्हें घेरे हुए थे। उन्होंने कहा, "मुझे अंदेशा है कि आपकी बात में यहांके लोग दिलचस्पी न लेंगे। आप देखते ही हैं कि यहां हम लोगोंको कम मुसीबतें नहीं हैं। फिर भी आपको तो भरसक कुछ-न-कुछ करना ही है। इस काममें आपको महाराजाओंकी मददकी जरूरत होगी। 'ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन'के प्रतिनिधियोंसे मिलिएगा। राजा सर प्यारी-मोहन मुकर्जी और महाराजा टागोरसे भी मिलिएगा। दोनों उदार-हृदय हैं और सार्वजनिक कामोंमें अच्छा भाग लेते हैं।" मैं इन सज्जनोंसे मिला; पर वहां मेरी दाल न गली। दोनोंने कहा—'कलकत्तामें सभा करना आसान बात नहीं, पर यदि करना ही हो तो उसका बहुत-कुछ दारोमदार सुरेंद्रनाथ बनर्जीपर है।'

मेरी कठिनाइयां बढ़ती जाती थीं। 'अमृतबाजार पत्रिका'के दफ्तरमें गया। वहां भी जो सज्जन मिले उन्होंने मान लिया कि मैं कोई रमताराम वहां आ पहुंचा होऊंगा। 'बंगवासी'वालोंने तो हद कर दी। मुझे एक घंटे तक तो बिठाये ही रक्खा। औरोंके साथ तो संपादक महोदय बातें करते जाते; पर मेरी ओर आंख उठाकर भी न देखते। एक घंटा राह देखनेके बाद मैंने अपनी बात उनसे छेड़ी। तब उन्होंने कहा—"आप देखते नहीं, हमें कितना काम रहता है? आपके जैसे कितने ही यहां आते रहते हैं। आप चले जायं, यही अच्छा है। हम आपकी बात सुनना नहीं चाहते।" मुझे जरा देरके लिए रंज तो हुआ, पर मैं संपादकका दृष्टि-बिंदु समझ गया। 'बंगवासी'की ख्याति भी सुनी थी। मैं देखता था कि उनके पास आने-जानेवालोंका तांता लगा ही रहता था। ये सब उनके परिचित थे। उनके अखबारके लिए विषयोंकी कमी न थी। दक्षिण अफ्रीकाका नाम तो उन दिनोंमें नया ही नया था। नित नये आदमी आकर अपनी कष्ट-कथा उन्हें सुनाते। अपना-अपना दुःख हरेकके लिए सबसे बड़ा सवाल था; परंतु संपादकके पास ऐसे दुखियोंका झुंड लगा रहता। बेचारा सबको तसल्ली कैसे दे सकता है! फिर दुःखी आदमीके लिए तो संपादककी सत्ता एक भारी बात होती है। यह दूसरी बात है कि संपादक जानता रहता है कि उसकी सत्ता दफ्तरके दरवाजेके बाहर पैर नहीं रख सकती।

पर मैंने हिम्मत न हारी। दूसरे संपादकोंसे मिला। अपने मामूलके माफिक अंग्रेजोंसे भी मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' दोनों दक्षिण

अफ्रीकाके प्रश्नका महत्व समझते थे। उन्होंने मेरी लंबी-लंबी बातचीत छापी, 'इंग्लिशमैन'के मि० सांडर्सने मुझे अपनाया। उनका दफ्तर मेरे लिए खुला था, उनका अखबार मेरे लिए खुला था। अपने अग्रलेखमें कमीबेशी करनेकी भी छूट उन्होंने मुझे दे दी। यह भी कहूं तो अत्युक्ति नहीं कि उनका मेरा खासा स्नेह हो गया। उन्होंने भरसक मदद देनेका वचन दिया, मुझसे कहा कि दक्षिण अफ्रीका जानेके बाद भी मुझे पत्र लिखिएगा और वचन दिया कि मुझसे जो-कुछ हो सकेगा करूंगा। मैंने देखा कि उन्होंने अपना यह वचन अक्षरशः पाला; और जबतक कि उनकी तबीयत खराब न हो गई, उन्होंने मेरे साथ चिट्ठी-पत्री जारी रक्खी। मेरी जिंदगीमें ऐसे अकल्पित मीठे संबंध अनेक हुए हैं। मि० सांडर्सको मेरे अंदर जो सबसे अच्छी बात लगी वह थी अत्युक्तिका अभाव और सत्यपरायणता। उन्होने मुझसे जिरह करनेमें कोरकसर न रक्खी थी। उसमें उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रीकाके गोरोंके पक्षको निष्पक्ष होकर पेश करने में तथा उनकी तुलना करनेमें मैंने कोई कमी नहीं रक्खी थी।

मेरा अनुभव कहता है कि प्रतिपक्षीके साथ न्याय करके हम अपने लिए जल्दी न्याय प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार मुझे अकल्पित सहायता मिल जानेसे कलकत्तमें भी सभा करनेकी आशा बंधी; पर इसी अरसेमें डरबनसे तार मिला—'पार्लमेंटकी बैठक जनवरीमें होगी, जल्दी लौटो।'

इस कारण अखबारोंमें इस आशयकी एक चिट्ठी लिखकर कि मुझे दक्षिण अफ्रीका चला जाना जरूरी है, मैंने कलकत्ता छोड़ा और दादा अब्दुल्लाके एजेंटको तार दिया कि पहले जहाजसे जानेका इंतजाम करो। दादा अब्दुल्लाने खुद 'कुरलैंड' जहाज खरीद लिया था। उसमें उन्होंने मुझे तथा मेरे बाल-बच्चोंको मुफ्त ले जानेका आग्रह किया। मैंने धन्यवाद सहित स्वीकार किया और दिसंबरके आरंभमें 'कुरलैंड'में अपनी धर्म-पत्नी, दो बच्चे और स्वर्गीय बहनोईके इकलौते पुत्रको लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ्रीका रवाना हुआ। इस जहाजके साथ ही 'नादरी' नामक एक और जहाज डरबन रवाना हुआ। उसके एजेंट दादा अब्दुल्ला थे। दोनों जहाजोंमें मिलकर कोई आठ सौ यात्री थे। उनमें आधेसे अधिक यात्री ट्रान्सवाल जानेवाले थे।

तीसरा भाग

१

तूफानके चिन्ह

परिवारके साथ यह मेरी प्रथम जल-यात्रा थी। मैंने कई बार लिखा है कि हिंदू-संसारमें विवाह बचपनमें हो जानेसे तथा मध्यमवर्गके लोगोंमें पतिके बहुतांशमें साक्षर और पत्नीके निरक्षर होनेके कारण 'पति-पत्नी'के जीवनमें बड़ा अंतर रहता है और पतिको पत्नीका शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्म-पत्नीके तथा बालकोंके लिबासपर, खान-पानपर, तथा बोल-चालपर ध्यान रखनेकी आवश्यकता थी। मुझे उन्हें रहन-सहन और रीति-नीति सिखानी थी। उस समयकी कितनी ही बातें याद करके मुझे अब हंसी आ जाती है। हिंदू-पत्नी पति-परायणताको अपने धर्मकी पराकाष्ठा समझती है। हिंदू-पति अपनेको पत्नीका ईश्वर मानता है। इस कारण पत्नीको जैसा वह नचावे नाचना पड़ता है।

मैं जिस समयकी बात लिख रहा हूं उस समय मैं मानता था कि नई रोशनी-का समझा जानेके लिए हमारा बाह्याचार जहांतक हो यूरोपियनोंसे मिलता-जुलता होना चाहिए। ऐसा करनेसे ही रौब पड़ता है और रौब पड़े बिना देश-सेवा नहीं हो सकती।

इस कारण पत्नी तथा बालकोंका पहनावा मैंने ही पसंद किया। बालकों इत्यादिको लोग कहें कि काठियावाड़के बनिये है, तो यह कैसे सुहा सकता था? पारसी अधिक-से-अधिक सुधरे हुए माने जाते है। इस कारण जहा यूरोपियन पोशाकका अनुसरण करना ठीक न मालूम हुआ वहां पारसीका किया। पत्नीके लिए पारसी ढंगकी साड़ियां लीं। बच्चोंके लिए पारसी कोट-पतलून लिये। सबके लिए बूट-मोजे तो अवश्य चाहिएं। पत्नीको तथा बच्चोंको दोनों चीजें कई महीनोंतक पसंद न हुई। बूट काटते, मोजे बदबू करते, पैर तंग रहते। इन

अड़चनोंका उत्तर मेरे पास तैयार था। और उत्तरके औचित्यकी अपेक्षा हुक्मका बल तो अधिक था ही। इसलिए लाचार होकर पत्नी तथा बच्चोंने पोशाक-परिवर्तनको स्वीकार किया। उतनी ही बेबसी और उससे भी अधिक अनमने होकर भोजनके समय छुरी-कांटेका इस्तेमाल करने लगे। जब मेरा मोह उतरा तब फिर उन्हें बूट-मोजे, छुरी-कांटे इत्यादि छोड़ने पड़े। यह परिवर्तन जिस प्रकार दुःखदायी था उस प्रकार एक बार आदत पड़ जानेके बाद फिर उसको छोड़ना भी दुःखकर था; पर अब मैं देखता हूं कि हम सब सुधारोंकी केंचुलको छोड़कर हल्के हो गये हैं।

इसी जहाजमें दूसरे सगे-संबंधी तथा परिचित लोग भी थे। उनके तथा डेकके दूसरे यात्रियोंके परिचयमें मैं खूब आता। एक तो मवक्किल और फिर मित्रका जहाज, घरके जैसा मालूम होता और मैं हर जगह जहां जी चाहता जा सकता था।

जहाज दूसरे बंदरोंपर ठहरे बिना ही नेटाल पहुंचनेवाला था। इसलिए सिर्फ १८ दिनकी यात्रा थी। मानो हमारे पहुंचते ही भारी तूफानकी चेतावनी देनेके लिए, हमारे पहुंचनेके तीन-चार दिन पहले समुद्रमें भारी तूफान उठा। इस दक्षिण प्रदेशमें दिसंबर मास गरमी और बरसातका समय होता है। इस कारण दक्षिण समुद्रमें इन दिनों छोटे-बड़े तूफान अक्सर उठा करते हैं। तूफान इतने जोरका था और इतने दिनोंतक रहा कि मुसाफिर घबरा गये।

यह दृश्य भव्य था। दुःखमें सब एक हो गये। भेद-भाव भूल गये। ईश्वरको सच्चे हृदयसे स्मरण करने लगे। हिंदू-मुसलमान सब साथ मिलकर ईश्वरको याद करने लगे। कितनोंने मानतायें मानी। कप्तान भी यात्रियोंमें आकर आश्वासन देने लगा कि यद्यपि तूफान जोरका है, फिर भी इससे बड़े-बड़े तूफानोंका अनुभव मुझे है। जहाज यदि मजबूत हो तो एकाएक डूबता नहीं। इस तरह उसने मुसाफिरोंको बहुत समझाया; पर उन्हें किसी तरह तसल्ली न होती थी। जहाजमेंसे ऐसी-ऐसी आवाजें निकलतीं, मानो जहाज अभी कहीं-न-कहींसे टूट पड़ता है— अभी कहीं छेद होता है। डोलता इतना था कि, मानो अभी उलट जायगा। डेकपर तो खड़ा रहना ही मुश्किल था। 'ईश्वर जो करे सो सही' इसके सिवा दूसरी बात किसीके मुंहसे न निकलती।

मुझे जहांतक याद है, ऐसी चितामें चौबीस घंटे बीते होंगे। अंतको बादल बिखरे, सूर्यनारायणने दर्शन दिये। कप्तानने कहा—'अब तूफान जाता रहा।'

लोगोंके चेहरोंसे चिता दूर हुई, और उसके साथ ही ईश्वर भी न जाने कहां चला गया। मौतका डर दूर हुआ और उसके साथ ही फिर गान-तान, खान-पान शुरू हो गया; फिर वही मायाका आवरण चढ़ गया। अब भी नमाज पढ़ी जाती, भजन होते; परंतु तूफानके अवसरपर उसमें जो गंभीरता दिखाई देती थी, वह न रही।

परंतु इस तूफानकी बदौलत मैं यात्रियोंमे हिल-मिल गया था। यह कह सकते हैं कि मुझे तूफानका भय न था। अथवा कम-से-कम था। प्रायः इसी तरहके तूफान मैं पहले देख चुका था। जहाजमें मेरा जी नहीं मिचलाता, चक्कर नही आते, इसलिए मुसाफिरोंमे मै निर्भय होकर घूम-फिर सकता था। उन्हें आश्वासन दे सकता था और कप्तानके संदेश उन तक पहुंचाता था। यह स्नेह-गांठ मुझे बहुत उपयोगी साबित हुई।

हमने १८ या १९ दिसंबरको डरबनके बंदरपर लंगर डाला और 'नादरी' भी उसी दिन पहुंचा। पर सच्चे तूफानका अनुभव तो अभी होना बाकी ही था।

२

तूफान

अठारह दिसंबरके आस-पास दोनों जहाजोंने लंगर डाला। दक्षिण अफ्रीका के बंदरोंमे यात्रियोंकी पूरी-पूरी डाक्टरी जांच होती है। यदि रास्तेमें किसीको कोई छूतका रोग हो गया हो तो जहाज सूतक में—क्वारंटीनमें—रक्खा जाता है। हमने जब बंबई छोड़ा तब वहां प्लेग फैल रहा था। इसलिए हमें सूतक-बाधा होनेका कुछ तो भय था ही। बंदरमें लंगर डालनेके बाद सबसे पहले जहाज पीला झंडा फहराता है। डाक्टरी जांच के बाद जब डाक्टर छुट्टी देता है तब पीला झंडा उतारता है; फिर मुसाफिरोंके नाते-रिश्तेदारोंको जहाज पर आने की छुट्टी मिलती है।

इसके मुताबिक हमारे ज्हाजपर भी पीला झंडा लहरा रहा था। डाक्टर आये। जांच करके पांच दिनके सूतकका हुक्म दिया; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेगके जंतु तेईस दिनतक कायम रहते हैं। इसलिए उन्होंने यह तय किया कि बंबई छोड़नेके बाद तेईस दिनतक जहाजोंको सूतकमें रखना चाहिए।

परंतु इस सूतकके हुक्मका हेतु केवल आरोग्य न था। डरबनके गोरे हमें वापस लौटा देनेकी हलचल मचा रहे थे। इस हुक्ममें यह बात भी कारणीभूत थी।

दादा अब्दुल्लाकी ओरसे हमें शहरकी इस हलचलकी खबरें मिला करती थीं। गोरे एकके बाद एक विराट् सभायें कर रहे थे। दादा अब्दुल्लाको धमकियां भेज रहे थे। उन्हें लालच भी देते थे। यदि दादा अब्दुल्ला दोनों जहाजोंको वापस लौटा दें तो उन्हें सारा हरजाना देनेको तैयार थे। पर दादा अब्दुल्ला किसीकी धमकियोंसे डरनेवाले न थे। इस समय वहां सेठ अब्दुल करीम हाजी आदम दूकानपर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि चाहें कितना ही नुकसान हो, मै जहाजको बंदरपर लाकर मुसाफिरोंको उतरवाकर छोड़ूंगा। मुझे वह हमेशा सविस्तार पत्र लिखा करते। तकदीरसे इस बार स्वर्गीय मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझे मिलने डरबन आ पहुंचे थे। वह बड़े चतुर और जवांमर्द आदमी थे। उन्होंने लोगोंको नेक सलाह दी। उनके वकील मि० लाटन थे। वह भी वैसे ही बहादुर आदमी थे। उन्होंने गोरोंके कामकी खूब निंदा की और लोगोंको जो सलाह दी वह केवल वकीलकी हैसियतसे, फीस लेनेके लिए नहीं, बल्कि एक सच्चे मित्रके तौरपर दी थी।

इस तरह डरबनमें द्वंद्व-युद्ध छिड़ा। एक ओर बेचारे मुट्ठी-भर भारतवासी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र, तथा दूसरी ओर धन-बल, बाहु-बल, अक्षर-बल और संख्या-बलमें भरे-पूरे अंग्रेज। फिर इस बलशाली प्रतिपक्षीके साथ सत्ता-बल भी मिल गया; क्योंकि नेटाल-सरकारने प्रकट-रूपसे उसकी सहायता की। मि० हैरी एस्कम्ब जो प्रधान-मंडलमें थे और उसके कर्त्ता-धर्त्ता थे, उन्होंने इस मंडलकी सभामें खुले तौरपर भाग लिया था।

इसलिए हमारा सूतक केवल आरोग्यके नियमोंका ही अहसानमंद न था। बात यह थी कि एजेंटको अथवा यात्रियोंको किसी-न-किसी बहाने तंग करके हमें

वापस लौटानेकी तजवीज थी। एजेंटको तो धमकी दी ही गई थी। अब हमें भी धमकियां दी जाने लगीं--'यदि तुम लोग वापस न लौटोगे तो समुद्रमें डुबो दिये जाओगे। यदि लौट जाओगे तो शायद लौटनेका किराया भी मिल जायगा। मैं मुसाफिरोंमें खूब घूमा-फिरा और उन्हें धीरज-दिलासा देता रहा। 'नादरी' के यात्रियोंको भी धीरजके संदेश भेजे। मुसाफिर शांत रहे और उन्होंने हिम्मत दिखाई।

मुसाफिरोंके मनोविनोदके लिए जहाजमें तरह-तरहके खेलोंकी व्यवस्था थी। क्रिसमसके दिन आये। कप्तानने उन दिनों पहले दरजेके मुसाफिरोंको भोज दिया। यात्रियोंमें मुख्यतः तो मैं और मेरे बाल-बच्चे ही थे। भोजनके बाद भाषण हुआ करते हैं। मैंने पश्चिमी सुधारोंपर व्याख्यान दिया। मैं जानता था कि यह अवसर गंभीर भाषणके अनुकूल नहीं है; पर मैं दूसरी तरहका भाषण कर ही नहीं सकता था। विनोद और आमोद-प्रमोदकी बातोंमें मैं शरीक तो होता था; पर मेरा दिल तो डरबनमें छिड़े संग्रामकी ओर लग रहा था।

क्योंकि इस हमलेका मध्यबिंदु मैं ही था, मुझपर दो इलजाम थे--

(१) हिंदुस्तानमें मैंने नेटालके गोरोंकी अनुचित निंदा की है; और

(२) मैं नेटालको हिंदुस्तानियोंसे भर देना चाहता हूं और इसलिए 'कुरलैंड' और 'नादरी'में खासतौरपर नेटालमें बसानेके लिए हिंदुस्तानियोंको भर लाया हूं।

मुझे अपनी जिम्मेदारीका खयाल था। मेरे कारण दादा अब्दुल्लाने बड़ी जोखिम सिरपर ले ली थी। मुसाफिरोंकी भी जान जोखिममें थी; मैंने अपने बाल-बच्चोंको साथ लाकर उन्हें भी दुःखमें डाल दिया था। फिर भी मैं था सब तरह निर्दोष। मैंने किसीको नेटाल जानेके लिए ललचाया न था। 'नादरी'के यात्रियोंको तो मैं जानतातक न था। 'कुरलैंड'में अपने दो-तीन रिश्तेदारोंके अलावा और जो सैकड़ों मुसाफिर थे, उनके तो नाम ठामतक न जानता था। मैंने हिंदुस्तानमें नेटालके अंग्रेजोंके संबंधमें ऐसा एक भी अक्षर न कहा था, जो नेटालमें न कह चुका था; और जो मैंने कहा था उसके लिए मेरे पास बहुतेरे सबूत थे।

इस कारण उस संस्कृतिके प्रति, जिसकी उपज नेटालके गोरे थे, जिसके

वे प्रतिनिधि और हामी थे, मेरे मनमें बड़ा खेद उत्पन्न हुआ। उसीका विचार करता रहा था। और इसी कारण उसीके संबंधमें अपने विचार मैंने इस छोटी-सी सभामें पेश किये और श्रोताओंने उन्हे सहन भी किया। जिस भाव से मैंने उन्हें पेश किया था उसी भावमें कप्तान इत्यादिने उन्हें ग्रहण किया था। मै यह नहीं जानता कि उसके कारण उन्होंने अपने जीवनमें कोई परिवर्तन किया था, या नहीं; पर इस भाषणके बाद कप्तान तथा दूसरे अधिकारियोंके साथ पश्चिमी संस्कृतिके संबंधमें मेरी बहुतेरी बातें हुई। पश्चिमी संस्कृतिको मैंने प्रधानतः हिंसक बताया, पूर्वकी संस्कृतिको अहिंसक। प्रश्नकर्त्ताओंने मेरे सिद्धांत मुझीपर घटाये। शायद, बहुत करके, कप्तानने पूछा—"गोरे लोग जैसी धमकियां दे रहे हैं उसीके अनुसार यदि वे आपको हानि पहुंचावें तो आप फिर अपने अहिंसा-सिद्धांतका पालन किस तरहसे करेंगे ?"

मैंने उत्तर दिया—"मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देनेकी तथा उनपर मुकदमा न चलानेकी हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे दे देगा। आज भी मुझे उनपर रोष नहीं है। उनके अज्ञान तथा उनकी संकुचित दृष्टिपर मुझे अफसोस होता है; पर मै यह मानता हूं कि वे शुद्ध-भावसे यह मान रहे है कि हम जो-कुछ कर रहे है वह ठीक है; और इसलिए मुझे उनपर रोष करनेका कारण नही।"

पूछनेवाला हंसा। शायद उसे मेरी बातपर भरोसा न हुआ।

इस तरह हमारे दिन गुजरे और बढ़ते गये। सूतक बंद करनेकी मियाद अंततक मुकर्रर न हुई। इस विभागके कर्मचारीसे पूछता तो कहता—"यह बात मेरे इख्तियारके बाहर है। सरकार मुझे जब हुक्म देगी तब मैं उतरने दे सकता हूं।"

अंतको मुसाफिरोंके और मेरे पास आखिरी चेतावनियां आईं। दोनोंको धमकियां दी गई थीं कि अपनी जानको खतरेमें समझो। जवाबमें हम दोनोंने लिखा कि नेटालके बंदरमें उतरनेका हमें हक हासिल है; और चाहे जैसा खतरा क्यों न हो, हम अपने हकपर कायम रहना चाहते हैं।

अंतको तेईसवें दिन अर्थात् १३ जनवरीको जहाजको इजाजत मिली और मुसाफिरोंको उतरने देनेकी आज्ञा जारी हो गई।

३

कसौटी

जहाज किनारे लगा। मुसाफिर उतरे; परंतु मेरे लिए मि० एस्कंबने कप्तानसे कहला दिया था कि गांधीको तथा उनके बाल-बच्चोंको शामको उतारिएगा। गोरे उनके खिलाफ बहुत उभरे हुए हैं, और उनकी जान खतरेमें है। डॉकके सुपरिंटेंडेंट टैटम उन्हें शामको लिवा ले जायंगे।

कप्तानने मुझे इस संदेशका समाचार सुनाया। मैंने उनके अनुसार करना स्वीकार किया; परंतु इस संदेशको मिले अभी आधा घंटा भी न हुआ होगा कि मि० लाटन आये और कप्तानसे मिलकर कहा—"यदि मि० गांधी मेरे साथ आना चाहें तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारीपर ले जाना चाहता हूं। जहाजके एजेंटके वकीलकी हैसियतसे मैं आपसे कहता हूं कि मि० गांधीके संबंधमें जो संदेश आपको मिला है उससे आप अपनेको बरी समझें।" इस तरह कप्तानसे बातचीत करके वह मेरे पास आये और कुछ इस प्रकार कहा— "यदि आपको जिंदगीका डर न हो तो मैं चाहता हूं कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके यहां चले जायं और मैं और आप आम-रास्ते होकर पैदल चलें। रातको अंधेरा पड़ जानेपर चुपके-चुपके शहरमें जाना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मैं समझता हूं कि आपका बालतक बांका नहीं हो सकता है। अब तो चारों ओर शांति है। गोरे सब इधर-उधर बिखर गये हैं। और जो भी हो, मेरा तो यही मत है कि आपका इस तरह छिपकर जाना उचित नहीं।"

मैं इससे सहमत हुआ। धर्म-पत्नी और बच्चे रुस्तमजी सेठके यहां गाड़ीमें गये और सही-सलामत जा पहुंचे। मैं कप्तानसे विदा मांगकर मि० लाटनके साथ जहाजसे उतरा। रुस्तमजी सेठका घर लगभग दो मील था।

जैसे ही हम जहाजसे उतरे, कुछ छोकरोंने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी-गांधी' चिल्लाने लगे। तत्कालही दो-चार आदमी इकट्ठे हो गये और मेरा नाम लेकर जोरसे चिल्लाने लगे। मि० लाटनने देखा कि भीड़ बढ़ जायगी, उन्होंने रिक्शा मंगाई। मुझे रिक्शामें बैठना कभी भी अच्छा न मालूम होता था।

मुझे उसका अनुभव यह पहली ही बार होनेवाला था। पर छोकरे क्यों बैठने देने लगे? उन्होंने रिक्शा वालेको धमकाकर भगा दिया।

हम आगे चले। भीड़ भी बढ़ती जाती थी। काफी मजमा हो गया। सबसे पहले तो भीड़ने मुझे मि० लाटनसे अलग कर दिया। फिर मुझपर कंकड़ और सड़े अंडे बरसने लगे। किसीने मेरी पगड़ी भी गिरा दी और मुझे लातें लगनी शुरू हुई।

मुझे गश आ गया। नजदीकके घरके सींखचेको पकड़कर मैंने सांस लिया। खड़ा रहना तो असंभव ही था। अब थप्पड़ भी पड़ने लगे।

इतनेमें ही पुलिस सुपरिन्टेंडेंटकी पत्नी जो मुझे जानती थीं, उधर होकर निकली। मुझे देखते ही वह मेरे पास आ खड़ी हुई, और धूपके न रहते हुए भी अपना छाता मुझपर तान दिया। इससे भीड़ कुछ दबी। अब अगर वे चोट करते भी तो श्रीमती अलेकजेंडरको बचाकर ही कर सकते थे।

इसी बीच कोई हिंदुस्तानी, मुझपर हमला होता हुआ देख, पुलिस थानेपर दौड़ गया। सुपरिन्टेंडेंट अलेकजेंडरने पुलिसकी एक टुकड़ी मुझे बचानेके लिए भेजी। वह समयपर आ पहुंची। मेरा रास्ता पुलिसचौकीसे ही होकर गुजरता था। सुपरिन्टेंडेंटने मुझे थानेमें ठहर जानेको कहा। मैंने इन्कार कर दिया कहा—"जब लोग अपनी भूल समझ लेंगे तब शांत हो जायंगे। मुझे उनकी न्याय-बुद्धिपर विश्वास है।"

पुलिसकी रक्षामें मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजी के घर पहुंचा। पीठपर मुझे अंदरूनी चोट पहुंची थी। जख्म सिर्फ एक ही जगह हुआ था। जहाजके डाक्टर दादी बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा की।

इस तरह जहां अंदर शांति थी, वहां बाहरसे गोरोंने घरको घेर लिया। शाम हो गई थी। अंधेरा हो गया था। हजारों लोग बाहर शोर मचा रहे थे और पुकार रहे थे—"गांधीको हमारे हवाले कर दो।" मामला संगीन देखकर सुपरिन्टेंडेंट अलेकजेंडर वहां पहुंच गये थे और भीड़को डरा-धमकाकर नहीं; बल्कि हंसी-मजाक करते हुए काबूमें रख रहे थे।

फिर भी वह चिंतामुक्त न थे। उन्होंने मुझे इस आशयका संदेश भेजा—"यदि आप अपने मित्रके जान-मालको, मकानको तथा अपने बाल-बच्चोंको

बचाना चाहते हों तो मैं जिस तरह बताऊं, आपको छिपकर इस घरसे निकल जाना चाहिए।" एक ही दिन मुझे एक-दूसरेसे विपरीत दो काम करनेका समय आया। जबकि जान जानेका भय केवल कल्पित मालूम होता था तब मि० लाटनने मुझे खुले आम बाहर चलनेकी सलाह दी और मैंने उसे माना; पर जब खतरा आंखोंके सामने था तब दूसरे मित्रने इससे उलटी सलाह दी और उसे भी मैंने मान लिया। अब कौन बता सकता है कि मै अपनी जानकी जोखिमसे डरा, अथवा मित्रके जान-मालको या अपने बाल-बच्चोंको हानि पहुंचनेके डरसे, या तीनोंके ? कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है कि मेरा जहाजसे हिम्मत दिखाकर उतरना और फिर खतरेके प्रत्यक्ष होते हुए छिपकर भाग जाना उचित था ? परंतु जो बातें हो चुकी हैं उनकी इस तरह चर्चा ही फिजूल है। उसमें कामकी बातें सिर्फ इतनी हैं कि जो-कुछ हुआ, उसे समझ लें। उससे जो नसीहत मिल सकती हो, उसे ले लें। किस मौकेपर कौन मनुष्य क्या करेगा, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। उसी तरह हम यह भी देख सकते हैं कि मनुष्यके बाह्याचारसे उसके गुणकी जो परीक्षा होती है वह अधूरी होती है और अनुमान-मात्र होती है।

जो कुछ हो, भागनेकी तैयारीमें मैं अपनी चोटोंको भूल गया। मैंने हिंदुस्तानी सिपाहीकी वर्दी पहनी। कहीं सिरपर चोट न लगे, इस अंदेशेसे सिरपर एक पीतलकी तश्तरी रख ली और उसपर मदरासियोंका लंबा साफा लपेटा। साथमें दो जासूस थे, जिनमें एकने हिंदुस्तानी व्यापारीका रूप बनाया था; अपना मुंह हिंदुस्तानीकी तरह रंग लिया था। दूसरेने क्या स्वांग बनाया था यह म भूल गया हूं। हम नजदीक की गलीसे होकर पड़ौसकी एक दुकानमें पहुंचे, और गोदाममें रक्खे बोरोंके ढेरके अंधेरेमें बचते हुए दुकानके दरवाजेसे निकल भीड़में होकर बाहर चले गये। गलीके मुंहपर गाड़ी खड़ी थी, उसमे बैठकर हम उसी थानेपर पहुंचे जहां ठहरनेके लिए सुपरिन्टेंडेंटने पहले कहा था। मैंने सुपरिन्टेंडेंटका तथा खुफिया पुलिसके अफसरका अहसान माना।

इस तरह एक ओर जब मैं दूसरी जगह ले जाया जा रहा था तब दूसरी ओर सुपरिन्टेंडेंट भीडको गीत सुना रहा था, उसका हिंदी-भाव यह है—

"चलो, इस गांधीको हम इस इमलीके पेड़पर फांसी लटका दें।"

जब सुपरिन्टेंडेंटको खबर मिल गई कि मैं सही-सलामत मुकाम पर

गया तब उन्होंने भीड़से कहा--"लो, तुम्हारा शिकार तोइस दुकानसे होकर सही-सलामत बाहर सटक गया।" यह सुनकर भीड़में से कुछ लोग बिगड़े, कुछ हंसे और बहुतेरोंने तो उनकी बात ही न मानी।

"तो तुममेंसे कोई जाकर अंदर देख ले। अगर गांधी यहां मिल जाय तो उसे मैं तुम्हारे हवाले कर दूंगा, न मिले तो तुमको अपने-अपने घर चले जाना चाहिए। मुझे इतना तो विश्वास है कि तुम पारसी रुस्तमजीके मकानको न जलाओगे और गांधीके बाल-बच्चोंको नुकसान न पहुंचाओगे।" सुपरिन्टेंडेंटने कहा।

भीड़ने प्रतिनिधि चुने। प्रतिनिधियोंने भीड़को निराशा-जनक समाचार सुनाये। सब सुपरिन्टेंडेंट अलेकजेंडरकी समय-सूचकता और चतुराई की स्तुति करते हुए, और कुछ लोग मन-ही-मन कुढ़ते हुए, घर चले गये।

स्वर्गीय मि० चेम्बरलेनने तार दिया कि गांधीपर हमला करनेवालोंपर मुकदमा चलाया जाय और ऐसा किया जाय कि गांधीको इन्साफ मिले। मि० ऐस्कंबने मुझे बुलाया। मुझे जो चोटें पहुंची थीं, उसके लिए दुःख प्रदर्शित किया और कहा--"आप यह तो अवश्य मानेंगे कि आपको जरा-भी कष्ट पहुंचनेसे मुझे खुशी नहीं हो सकती। मि० लाटनकी सलाह मानकर आपने जो उतर जानेका साहस किया, उसका आपको हक था; पर यदि मेरे संदेशके अनुसार आपने किया होता तो यह दुःखद घटना न हुई होती। अब यदि आप आक्रमण-कारियोंको पहचान सकें तो मैं उन्हें गिरफ्तार करके मुकदमा चलानेके लिए तैयार हूं। मि० चेम्बरलेन भी ऐसा ही चाहते हैं।"

मैंने उत्तर दिया-- "मैं किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। हमलाइयोंमेंसे एक-दोको मैं पहचान भी लूं तो उन्हें सजा करानेसे मुझे क्या लाभ? फिर मैं तो उन्हें दोषी भी नहीं मानता हूं; क्योंकि उन बेचारोंको तो यह कहा गया कि हिंदुस्तानमें मैंने नेटालके गोरोंकी भरपेट और बढ़ा-चढ़ाकर निंदा की है। इस बातपर यदि वे विश्वास कर लें और बिगड़ पड़ें तो इसमें आश्चर्यकी कौन बात है? कुसूर तो ऊपरके लोगोंका, और मुझे कहने दें तो आपका, माना जा सकता है। आप लोगोंको ठीक सलाह दे सकते थे; पर आपने रॉयटरके तारपर विश्वास किया और कल्पना कर ली कि मैंने अत्युक्तिसे काम लिया होगा। मैं

किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। जब असली और सच्ची बात लोगोंपर प्रकट हो जायगी और लोग जान जायंगे तब अपने-आप पछतायंगे ।"

"तो आप लोग मुझे यह बात लिखकर दे देंगे ? मुझे मि० चेम्बरलेनको इस आशयका तार देना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि आप जल्दीमें कोई बात लिख दें। मि० लाटनसे तथा अपने दूसरे मित्रोंसे सलाह करके जो उचित मालूम हो, वही करें। हां, यह बात मैं जानता हूं कि यदि आप हमलाइयोंपर मामला न चलावेंगे तो सब बातोंको ठंडा करनेमें मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो बहुत ही बढ़ जायगी ।"

मैंने उत्तर दिया—"इस संबंधमें मेरे विचार निश्चित हो चुके हैं । यह तय है कि मैं किसीपर मुकदमा चलाना नहीं चाहता, इसलिए मैं यहीं-का-यहीं आपको लिखे देता हूं ।"

यह कहकर मैंने वह आवश्यक पत्र लिख दिया ।

४

शांति

हमलेके दो-एक दिन बाद जब मैं मि० ऐस्कंबसे मिला तब मैं पुलिसथानेमें ही था। मेरे साथ मेरी रक्षाके लिए एक-दो सिपाही रहते थे। पर वास्तवमें देखा जाय तो जब मैं मि० ऐस्कंबके पास ले जाया गया था तब इस तरह रक्षा करनेकी जरूरत ही नहीं रह गई थी ।

जिस दिन मैं जहाजसे उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झंडा उतरते ही, तुरंत 'नेटाल एडवरटाइजर'का प्रतिनिधि मुझसे आकर मिला था। उसने कितनी ही बातें पूछी थीं और उसके प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने एक-एक बातका पूरा-पूरा जवाब दिया था। सर फिरोजशाहकी नेक सलाहके अनुसार उस समय मैंने भारतवर्षमें एक भी भाषण अलिखित नहीं दिया था। अपने इन तमाम लेखों और भाषणोंका संग्रह मेरे पास था ही। वे सब मैंने उसे दे दिये, और यह साबित कर दिया कि भारतमें मैंने ऐसी एक भी बात नहीं कही थी, जो उससे तेज

शब्दोंमें दक्षिण अफ्रीकामें न कही हो। मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि 'कुरलैंड' तथा 'नादरी'के मुसाफिरोंको लानेमें मेरा हाथ बिलकुल नहीं है। उनमेंसे बहुतेरे तो नेटालके ही पुराने बाशिंदे थे और शेष नेटाल जानेवाले नहीं, बल्कि ट्रांसवाल जानेवाले थे। उस समय नेटालमें रोजगार मंदा था। ट्रांसवालमें काम-धंधा खूब चलता था, और आमदनी भी अच्छी होती थी। इसलिए अधिकांश हिंदुस्तानी वहीं जाना पसंद करते थे।

इस स्पष्टीकरणका तथा आक्रमणकारियोंपर मुकदमा न चलनेका प्रभाव इतना जबरदस्त हुआ कि गोरोंको शर्मिदा होना पड़ा। अखबारोंने मुझे निर्दोष बताया और हुल्लड़ करनेवालोंको बुरा-भला कहा। इस तरह अंतको जाकर इस घटनासे लाभ ही हुआ। और जो मेरा लाभ था वह हमारे कार्यका ही लाभ था। इससे हिंदुस्तानी लोगोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी और मेरा रास्ता अधिक सुगम हो गया।

तीन या चार दिनमें मैं घर गया और थोड़े ही दिनोंमें अपना काम-काज देखने-भालने लगा। इस घटनाके कारण मेरी वकालत भी चमक उठी।

परंतु इस तरह एक ओर हिंदुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी तो इसके साथ ही दूसरी ओर उनके प्रति द्वेष भी बढ़ा। लोगोंको यह निश्चय हो गया कि इनमें दृढ़ताके साथ लड़नेकी सामर्थ्य है और इस कारण उनका भय भी बढ़ गया। नेटालकी धारा-सभामें दो बिल पेश हुए, जिनसे हिंदुस्तानियोंके कष्ट और बढ़ गये। एकसे हिंदुस्तानी व्यापारियोंके धंधेको हानि पहुंचती थी और दूसरेसे हिंदुस्तानियोंके जाने-आनेमें भारी रुकावट होती थी। सुदैवसे मताधिकारकी लड़ाईके समय यह फैसला हो गया था कि हिंदुस्तानियोंके खिलाफ उनके हिंदुस्तानी होनेकी हैसियतसे, कोई कानून नहीं बनाया जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कानूनमें जाति-भेद और रंग-भेदको स्थान न मिलना चाहिए। इस कारण पूर्वोक्त दोनों बिलोंकी भाषा तो ऐसी रक्खी गई, जिसमें वे सब लोगोंपर घटते हुए दिखाई दें; पर उनका असली हेतु था हिंदुस्तानियोंके हकोंको कम कर देना।

इन बिलोंने मेरा काम बहुत बढ़ा दिया था और हिंदुस्तानियोंमें जाग्रति भी बहुत फैला दी थी। इन बिलोंकी बारीकियां इस तरह लोगोंको समझा दी गई थीं कि कोई भी भारतवासी उनसे अनजान न रहने पावे और उसके अनुवाद

भी प्रकाशित किये गये। झगड़ा अंतको विलायततक पहुंचा; परंतु बिल नामंजूर न हुए।

अब मेरा बहुतेरा समय सार्वजनिक कामोंमें ही जाने लगा। मैं लिख चुका हूं कि मनसुखलाल नाजर नेटालमें थे। वह मेरे साथ हुए। जबसे वह सार्वजनिक कामोंमें अधिक योग देने लगे तबसे मेरा बोझ कुछ हलका हुआ।

मेरी गैरहाजिरीमें आदमजी मियांखानने मंत्री-पदका काम सुचारुरूपसे किया। उनके समयमें सभासदोंकी संख्या भी बढ़ी और लगभग एक हजार पौंड स्थानीय कांग्रेसके कोषमें बढ़े। हम मुसाफिरोंपर हुए उस हमलेकी बदौलत तथा पूर्वोक्त बिलोंके विरोधके फलस्वरूप जो जागृति हुई उसके द्वारा मैंने इस बढ़तीमें और भी बढ़ती करनेका विशेष उद्योग किया और अब हमारे कोषमें लगभग पांच हजार पौंड जमा हो गये। मुझे यह लोभ लग रहा था कि यदि कांग्रेसका कोष स्थायी हो जाय और जमीन ले ली जाय तो उसके किरायेसे कांग्रेस आर्थिक दृष्टिसे निश्चिंत हो जाय। सार्वजनिक संस्थाओंका यही मुझे पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार अपने साथियोंके सामने रक्खा। उन्होंने उसका स्वागत किया। मकान खरीदे गये और वे किरायेपर उठाये गये। जायदादका अच्छा ट्रस्ट बनाया गया। यह जायदाद आज भी मौजूद है, परंतु वह आपसके कलहका मूल हो गई है और उसका किराया आज अदालतमें जमा हो रहा है।

यह दुःखद बात तो मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़ देनेके बाद हुई है; परंतु सार्वजनिक संस्थाओंके लिए स्थायी कोष रखनेके संबंधमें मेरे विचार दक्षिण अफ्रीकामें ही बदल गये। कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओंका जन्म देने तथा उनका संचालन करनेकी जिम्मेदारी रह चुकनेके कारण मेरा यह दृढ़ निर्णय हुआ है कि किसी भी सार्वजनिक संस्थाको स्थायी कोषपर निर्वाह करनेका प्रयत्न न करना चाहिए; क्योंकि इसमें नैतिक अधोगतिका बीज समाया रहता है।

सार्वजनिक संस्थाका अर्थ है लोगोंकी मंजूरी और लोगोंके धनसे चलनेवाली संस्था। जब लोगोंकी मदद मिलना बंद हो जाय तब उसे जीवित रहनेका अधिकार नहीं। स्थायी संपत्तिपर चलनेवाली संस्था लोकमतसे स्वतंत्र होती हुई देखी जाती है और कितनी ही बार तो लोकमतके विपरीत भी आचरण करती है। इसका अनुभव भारतवर्षमें हमें कदमकदमपर होता है। कितनी ही धार्मिक

मानी जानेवाली संस्थाओंके हिसाब-किताबका कोई ठिकाना नहीं है। उनके प्रबंधक ही उनके मालिक बन बैठे हैं और ऐसे बन गये हैं, मानो वे किसीके प्रति जवाबदेह ही नहीं थे। कुदरत जिस प्रकार नित्य पैदा करती और नित्य खाती है उसी प्रकार सार्वजनिक संस्थाओंका जीवन होना चाहिए। जिस संस्थाकी सहायता करनेके लिए लोग तैयार न हों उसे सार्वजनिक संस्थाकी हैसियतसे कायम रहनेका अधिकार नही। वार्षिक चंदा संस्थाकी लोकप्रियता और उसके संचालकोंकी ईमानदारीकी कसौटी है; और मेरा यह मत है कि प्रत्येक संस्थाको चाहिए कि वह अपनेको इस कसौटीपर कसे।

इससे किसी तरहकी गलतफहमी न होनी चाहिए। यह टीका उन संस्थाओंपर लागू नही होती जिन्हें मकान आदिकी जरूरत होती है। संस्थाका चालू खर्च लोगोंकी सहायतासे चलना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके समय मेरे ये विचार दृढ़ हुए। छः साल-तक यह भारी लड़ाई बिना स्थायी चंदेके चली, हालांकि उसके लिए लाखों रुपयेकी आवश्यकता थी। ऐसे समय मुझे याद है जबकि यह नही कह सकते थे कि कलके लिए खर्च कहांसे आवेगा? परंतु ये बाते आगे आने ही वाली हैं, इसलिए यहां इनका जिक्र न करूंगा।

५

बाल-शिक्षण

जनवरी १८९७में मै जब डरबन उतरा तब मेरे साथ तीन बालक थे। एक मेरा १० सालका भानजा, दूसरे मेरे दो लड़के—एक नौ सालका और दूसरा पांच सालका। अब सवाल यह पेश हुआ कि इनकी पढ़ाई-लिखाईका क्या प्रबंध करें।

गोरोंकी पाठशालामें मै अपने बच्चोंको भेज सकता था; पर वह उनकी मेहरबानीसे और बतौर छूटके। दूसरे हिंदुस्तानियोंके लड़के उनमें नहीं पढ़ सकते थे। हिंदुस्तानी बच्चोंको पढ़ानेके लिए ईसाई-मिशनके मदरसे थे। उनमें अपने बच्चोंको पढ़ानेके लिए में तैयार न था। वहां की शिक्षा-दीक्षा मुझे पसंद

कमीको अनुभव करते हैं ।

इतना होते हुए भी मेरा अपना यह मत है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिताका जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतंत्रताका जो पदार्थ-पाठ सीख पाये हैं——यह सब वे न प्राप्त कर सकते, यदि मैंने उनकी रुचिके अनुसार उन्हें स्कूलमे भेजा होता । उनके संबंधमे जितना निश्चित मैं आज हूं, उतना न हुआ होता और जो सादगी और सेवा-भाव आज उनके अंदर दिखाई देता है उसे वे न सीख पाते यदि मुझसे अलग रहकर विलायतमें अथवा अफ्रीकामें कृत्रिम शिक्षा उन्होंने पाई होती । बल्कि उनकी कृत्रिम रहन-सहन शायद मेरे देश-कार्यमें भी बाधक हो जाती ।

इस कारण, यद्यपि मैं जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान उन्हे न दे सका, तथापि जब मै अपने पिछले वर्षोका विचार करता हूं तो मुझे यह नहीं लगता कि मैंने उनके प्रति अपने धर्मका यथा-शक्ति पालन नही किया और न मुझे इस बातपर पश्चात्ताप ही होता है; बल्कि इसके विपरीत जब मैं अपने बड़े लड़केके दुःखद परिणाम देखता हूं तो मुझे बार-बार यह मालूम होता है कि वह मेरे अधकचरे पूर्वकालकी प्रतिध्वनि है । वह मेरा एक तरहसे मूर्च्छा-काल, वैभवकाल था और उस समय उसकी उम्र इतनी थी कि उसे उसका स्मरण रह सकता था । अब वह कैसे मानेगा कि वह मेरा मूर्च्छा-काल था ? वह यह क्यों न मानेगा कि वह तो मेरा ज्ञान-काल था और बादके ये परिवर्तन अनुचित और मोह-जन्य हैं ? वह क्यों न माने कि उस समय मैं जगत्के राजमार्गपर चल रहा था और इसलिए सुरक्षित था और उसके बाद किये परिवर्तन मेरे सूक्ष्म अभिमान और अज्ञानके चिह्न है ? यदि मेरे पुत्र बैरिस्टर इत्यादि पदवी पाये होते तो क्या बुरा था ? मुझे उनके पंख काटनेका क्या अधिकार था ? मैंने उन्हें क्यों न ऐसी स्थितिमें रक्खा, जिससे वे अपनी रुचिके अनुसार जीवन-मार्ग पसंद करते ? ऐसी दलीलें मेरे कितने ही मित्रोंने मेरे सामने पेश की हैं ।

पर मुझे इनमें जोर नहीं मालूम देता । अनेक विद्यार्थियोंसे मेरा साबका पड़ा है । दूसरे बालकोंपर दूसरे प्रयोग भी मैंने किये हैं अथवा करनेमें सहायक हुआ हूं । उनके परिणाम भी मैंने देखे है । वे बालक और मेरे लड़के आज एक उम्रके हैं; पर मैं नहीं मानता कि वे मेरे लड़कोंसे मनुष्यत्वमें बढ़े-चढ़े हैं अथवा

मेरे लड़के उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं ।

फिर भी मेरे प्रयोगका अंतिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। इस विषय की चर्चा यहां करनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जातिकी उत्क्रांतिका अध्ययन करनेवाला मनुष्य इस बातका कुछ-कुछ अंदाज कर सके कि गृह-शिक्षा और स्कूल-शिक्षाके भेदका और अपने जीवनमें किये माता-पिताके परिवर्तनोंका बच्चोंपर क्या असर होता है ।

इसके अलावा इस प्रकरणका यह भी तात्पर्य है कि सत्यका पुजारी देख सके कि सत्यकी आराधना उसे किस हदतक ले जा सकती है और स्वतंत्रता देवीका उपासक यह देख सके कि वह कितना बलिदान मागती है । हां, बालकोंको अपने साथ रखते हुए भी उन्हें अक्षर-ज्ञान दिला सकता था, यदि मैंने आत्मसम्मान छोड़ दिया होता, यदि मैंने इस विचारको कि जो शिक्षा दूसरे हिंदुस्तानी बालकोंको नहीं मिल सकती वह मुझे अपने बच्चोंको दिलानेकी इच्छा न करनी चाहिए, अपने हृदयमें स्थान न दिया होता । पर उस अवस्थामें वे स्वतंत्रता और आत्म-सम्मानका वह पदार्थ-पाठ न सीख पाते, जो आज सीख सके हैं । और जहां स्वतंत्रता और अक्षर-ज्ञान इनमेंसे किसी एकको पसंद करनेका सवाल हो, वहा कौन कह सकता है कि स्वतंत्रता अक्षर-ज्ञानसे हजार-गुना अच्छी नहीं है ?

१९२०में मैंने जिन नवयुवकोंको स्वतंत्रता-घातक स्कूलों और कालेजों-को छोड़ देनेका निमंत्रण दिया और जिनसे मैंने कहा कि स्वतंत्रताके लिए निरक्षर रहकर सड़कोंपर गिट्टी फोड़ना बेहतर है, बनिस्बत इसके कि गुलामीमें रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करें, वे शायद अब मेरे इस कथनका मूल स्रोत देख सकेंगे ।

६

सेवा-भाव

मेरा काम यद्यपि ठीक चल रहा था, फिर भी मुझे उससे संतोष न था । मनमें ऐसा मंथन चलता ही रहता था कि जीवनमें अधिक सादगी आनी चाहिए और कुछ-न-कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिए ।

संयोगसे एक दिन एक अपंग कोढ़ी घर आ पहुंचा । उसे कुछ खानेको

देकर हटा देनेको जी न चाहा। उसे एक कमरेमें रक्खा, उसके ज़ख्मोंको धोया और उसकी शुश्रूषा की ।

किंतु यह कितने दिनोतक चल सकता था ? सदाके लिए उसे घरमें रखने योग्य न सुविधा मेरे पास थी, न इतनी हिम्मत ही; अतः मैंने उसे गिरमिटियों-के सरकारी अस्पतालमें भेज दिया ।

पर इससे मुझे तृप्ति न हुई । मनमें यह हुआ करता कि यदि ऐसा कोई शुश्रूषाका काम सदा मिलता रहे तो क्या अच्छा हो ? डा० बूथ सेंट एडम्स मिशनके अधिकारी थे । जो कोई आता उसे वह हमेशा मुफ्त दवा देते थे। बड़े भले आदमी थे; उनका हृदय स्नेहपूर्ण था। उनकी देख-रेखमें पारसी रुस्तमजीके दानसे एक छोटा-सा अस्पताल खोला गया था । इसमें नर्सके तौरपर काम करनेकी मुझे प्रबल इच्छा हुई । एकसे लेकर दो घंटेतक उसमें दवा देनेका काम रहता था । दवा बनानेवाले किसी वैतनिक या स्वयंसेवककी वहां जरूरत थी । मैंने इतना समय अपने काममेंसे निकालकर इस कामको करनेका निश्चय किया । वकालत-संबंधी मेरा काम तो इतना ही था--दफ्तरमें बैठेबैठे सलाह देना, दस्तावेजोंके मसविदे बनाना और झगड़े सुलझाना । मजिस्ट्रेटके इजलासमें थोड़े-बहुत मुकदमे रहते । उसमेंसे अधिकांश तो अविवादास्पद होते थे । जब ऐसे मुकदमे होते तब मि० खान उनकी पैरवी कर देते । वह मेरे बाद आये थे और मेरे साथ ही रहते थे । इस तरह मैं इस छोटे-से अस्पतालमें काम करने लगा ।

रोज सुबह वहां जाना पड़ता था । आने-जाने और वहां काम करने में कोई दो घंटे लग जाते थे । इस कामसे मेरे मनको कुछ शांति मिली । रोगीसे हाल-चाल पूछकर डाक्टरको समझाना और डाक्टर जो दवा बतावे वह तैयार करके दे देना--यह मेरा काम था । इस कार्यसे मैं दुखी हिंदुस्तानियोंके प्रगाढ़ संबंधमें आने लगा । उनमें अधिक भाग तमिल और तेलगू अथवा हिंदुस्तानी गिरमिटियोंका था ।

यह अनुभव मुझे भविष्यमें बड़ा उपयोगी साबित हुआ । बोअर-युद्धके समय घायलोंकी शुश्रूषामें तथा दूसरे रोगियोंकी सेवा-टहलमें मुझे उससे बड़ी सहायता मिली । अस्तु ।

इधर बालकोंकी परवरिशका प्रश्न तो मेरे सामने था ही । दक्षिण

अफ्रीकामें मुझे दो लड़के और हुए। उनका लालन-पालन करनेकी समस्याको हल करनेमें मुझे इस कामसे अच्छी सहायता मिली। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मुझे बहुत तपाया करता था और अब भी तपाता है। हम दंपतीने निश्चय किया कि प्रसव-कार्य शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार ही होना चाहिए। इसलिए यद्यपि डाक्टर और नर्सका तो प्रबंध था ही, फिर भी मेरे मनमें यह विचार आया कि यदि डाक्टर साहब समय पर न आ पावें और दाई कहीं चली जाय तो मेरा क्या हाल होगा? दाई तो हिंदुस्तानी ही बुलानेवाले थे। शिक्षिता दाई हिंदुस्तानमें ही मुश्किलसे मिलती है तो फिर दक्षिण अफ्रीकाकी तो बात ही क्या? इसलिए मैंने बाल-पालनका अध्ययन किया। डा० त्रिभुवनदास लिखित 'माने शिखामण' नामक पुस्तक पढ़ी। उसमें कुछ घटा-बढ़ाकर अंतिम दोनों बालकोंका लालन-पालन प्रायः मैंने खुद किया। हर बार दाईकी सहायता तो ली; पर दो माससे अधिक नहीं। सो भी प्रधानतः धर्मपत्नीकी सेवाके लिए। बच्चोंको नहलाने-धुलानेका काम शुरूआतमें मैं ही करता था।

पर अंतिम बालकके जन्मके समय मेरी पूरी-पूरी आजमाइश हो गई। प्रसव-वेदना एकाएक शुरू हुई। डाक्टर मौजूद नहीं था। मैं दाईको बुलानेवाला था; पर वह यदि नजदीक होती भी तो प्रसव न करा पाती। अतएव प्रसवकालीन सारा काम खुद मुझे करना पड़ा। सौभाग्यसे मैंने यह विषय 'माने शिखामण'में अच्छी तरह पढ़ लिया था; इससे घबराया नहीं।

मैंने देखा कि माता-पिता यदि चाहते हों कि उनके बच्चोंकी परवरिश अच्छी तरह हो तो दोनोंको बाल-पालन आदिका मामूली ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। इसके संबंधमें जितनी चिंता मैंने रक्खी है उसका लाभ मुझे कदम-कदमपर दिखाई दिया है। मेरे लड़कोंकी तंदुरुस्ती जो आज आम-तौरपर अच्छी है, वह अच्छी नहीं रही होती, यदि मैंने बालकोंके लालन-पालनका आवश्यक ज्ञान प्राप्त न किया होता और उसका पालन न किया होता। हम लोगोंमें यह एक वहम प्रचलित है कि पहले पांच सालतक बच्चेको शिक्षा देनेकी जरूरत नहीं है। परंतु सच्ची बात यह है कि बालक प्रथम पांच वर्षोंमें जितना सीखता है उतना बादको हरगिज नहीं। मैं अनुभवसे यह कह सकता हूं कि बालककी शिक्षाकी शुरूआत तो माताके उदरसे ही शुरू हो जाती है। गर्भाधानके समयकी माता-

पिताकी शारीरिक एवं मानसिक स्थितिका प्रभाव बच्चेपर अवश्य पड़ता है। माताकी गर्भ-कालीन प्रकृति, माताके आहार-विहारके अच्छे-बुरे फलको विरासतमें पाकर बच्चा जन्म पाता है। जन्मके बाद वह माता-पिताका अनुकरण करने लगता है। वह खुद तो असहाय होता है, इसलिए उसके विकासका दारोमदार माता-पितापर ही रहता है।

जो समझदार दंपती इतना विचार करेंगे वे तो कभी दंपती-संगको विषय-वासनाकी पूर्तिका साधन न बनावेंगे। वे तो तभी संग करेंगे, जब उन्हें संततिकी इच्छा होगी। रति-सुखका स्वतंत्र अस्तित्व है, यह मानना मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखाई देता है। जनन-क्रियापर संसार के अस्तित्वका अवलंबन है। संसार ईश्वरकी लीला-भूमि है, उसकी महिमाका प्रतिबिंब है। जो शख्स यह मानता है कि उसकी सुव्यवस्थित बुद्धिके लिए ही रति-क्रिया निर्माण हुई है, वह विषय-वासनाको भगीरथ प्रयत्नके द्वारा भी रोकेगा। और रति-भोगके फल-स्वरूप जो संतति उत्पन्न होगी उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रक्षा करनेके लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके अपनी प्रजाको उससे लाभान्वित करेगा।

७

ब्रह्मचर्य—१

अब ब्रह्मचर्यके संबंधमें विचार करनेका समय आया है। एक पत्नी-व्रतने तो विवाहके समय से ही मेरे हृदयमें स्थान कर लिया था। पत्नीके प्रति मेरी वफ़ादारी मेरे सत्यव्रत का एक अंग था, परंतु स्वपत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी आवश्यकता मुझे दक्षिण अफ्रीकामें ही स्पष्टरूपसे दिखाई दी। किस प्रसंगसे अथवा किस पुस्तकके प्रभावसे यह विचार मेरे मनमें पैदा हुआ, यह इस समय ठीक याद नहीं पड़ता; पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रायचंद-भाईका प्रभाव प्रधानरूपसे काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टनके प्रति मिसेज ग्लैडस्टनके प्रेमकी स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस

ऑव कामंसकी बैठकमें भी मिसेज ग्लैडस्टन अपने पतिको चाय बनाकर पिलाती थीं। यह बात उस नियम-निष्ठ दंपतीके जीवनका एक नियम ही बन गया था। मैंने यह प्रसंग कविजीको पढ़ सुनाया और उसके सिलसिलेमें दंपती-प्रेमकी स्तुति की। रायचंदभाई बोले—"इसमें आपको कौनसी बात महत्त्वकी मालूम होती है—मिसेज ग्लैडस्टनका पत्नीपन या सेवा-भाव? यदि वह ग्लैडस्टनकी बहन होतीं तो? अथवा उनकी वफादार नौकर होती और फिर भी उसी प्रेमसे चाय पिलातीं तो? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियोंके उदाहरण क्या आज हमें न मिलेंगे? और नारी-जातिके बदले ऐसा प्रेम यदि नर-जातिमें देखा होता तो क्या आपको सानंदाश्चर्य न होता? इस बातपर विचार कीजिएगा।"

रायचंदभाई स्वयं विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है; परंतु इन वचनोंने मुझे लोह-चुंबककी तरह जकड़ लिया। पुरुष नौकरकी ऐसी स्वामि-भक्तिकी कीमत पत्नीकी स्वामी-निष्ठाकी कीमतसे हजार-गुना बढ़कर है। पति-पत्नी में एकताका अतएव प्रेमका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं; पर स्वामी और सेवकमें ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। अतएव दिन-दिन कविजीके वचनका बल मेरी नजरोंमें बढ़ने लगा।

अब मनमें यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नीके साथ कैसा संबंध रखना चाहिए? पत्नीको विषय-भोगका वाहन बनाना पत्नीके प्रति वफादारी कैसे हो सकती है? जबतक मैं विषय-वासनाके अधीन रहूंगा तबतक मेरी वफादारीकी कीमत मामूली मानी जायगी। मुझे यहां यह बात कह देनी चाहिए कि हमारे पारस्परिक संबंधमें कभी पत्नीकी तरफसे पहल नहीं हुई। इस दृष्टिसे मैं जिस दिन से चाहूं ब्रह्मचर्यका पालन मेरे लिए सुलभ था; पर मेरी अशक्ति या आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होनेके बाद भी दो बार तो मैं असफल ही रहा। प्रयत्न करता, पर गिरता; क्योंकि उसमें मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ संतानोत्पत्तिको रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। संतति-निग्रहके बाह्य उपकरणोंके विषयमें विलायतमें मैंने थोड़ा-बहुत साहित्य पढ़ लिया था। डा० एलिंसनके इन उपायोंका उल्लेख अन्नाहार-संबंधी प्रकरणमें कर चुका हूं। उसका कुछ क्षणिक असर मुझपर हुआ भी था;

परंतु मि० हिल्सके द्वारा किये गये उनके विरोधका तथा अंत:साधन—संयम—के समर्थनका असर मेरे दिलपर बहुत हुआ और अनुभवसे वह चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजोत्पत्तिकी अनावश्यकता जंचते ही संयम-पालनके लिए उद्योग आरंभ हुआ।

संयम-पालनमें कठिनाइयां बेहद थी। अलग-अलग चारपाइयां रक्खी। इधर मैं रातको थककर सोनेकी कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नोंका विशेष परिणाम उसी समय तो न दिखाई दिया; पर जब मैं भूतकालकी ओर आंख उठाकर देखता हूं तो जान पड़ता है कि इन सारे प्रयत्नोंने मुझे अंतिम बल प्रदान किया है।

अंतिम निश्चय तो ठेठ १९०६ ई० में ही कर सका। उस समय सत्याग्रह-का श्रीगणेश नहीं हुआ था। उसका स्वप्नतकमें मुझे खयाल न था। बोअर-युद्धके बाद नेटालमे 'जुलू' बलवा हुआ। उस समय में जोहान्सबर्गमें वकालत करता था; पर मनने कहा कि इस समय बलवेमें मुझे अपनी सेवा नेटाल-सरकारको अर्पित करनी चाहिए। तदनुसार मैंने अर्पित की भी और वह स्वीकृत भी हुई। उसका वर्णन अब आगे आवेगा; परंतु इस सेवाके सिलसिलेसे मेरे मनमें तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभावके अनुसार अपने साथियोंसे मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जंचा कि संतानोत्पत्ति और संतान-पालन लोक-सेवाके विरोधक हैं। इस 'बलवे'के काममे शरीक होनेके लिए मुझे अपना जोहान्सबर्गवाला घर तितर-बितर करना पड़ा। टीमटामके साथ सजाये घरको और जुटाई हुई विविध सामग्रीको अभी एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चोंको फीनिक्समें रक्खा और मैं घायलोंकी शुश्रूषा करनेवालोंकी टुकड़ी बनाकर चल निकला। इन कठिनाइयोंका सामना करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवामें ही लीन हो जाना है तो फिर पुत्रैषणा एवं धनैषणाको भी नमस्कार कर लेना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्मका पालन करना चाहिए।

'बलवे'मे मुझे डेढ़ महीनेसे ज्यादा न ठहरना पड़ा; परंतु ये छ: सप्ताह मेरे जीवनका बहुत बेशकीमती समय था। व्रतका महत्त्व मैंने इस समय सबसे अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बंधन नहीं, बल्कि स्वतंत्रता का द्वार है। आजतक मेरे प्रयत्नोंमें आवश्यक सफलता नहीं मिलती थी; क्योंकि मुझमें निश्चयका अभाव था। मुझे अपनी शक्तिपर विश्वास न था। मुझे ईश्वरकी कृपापर

अविश्वास था। और इसलिए मेरा मन अनेक तरंगोंमें और अनेक विकारोंके अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रतबंधनसे दूर रहकर मनुष्य मोहमें पड़ता है। व्रतसे अपनेको बांधना मानो व्यभिचारसे छूटकर एक पत्नीसे संबंध रखना है। "मेरा तो विश्वास प्रयत्नमें है, व्रतके द्वारा मैं बंधना नहीं चाहता" यह वचन निर्बलता-सूचक है और उसमें छिपे-छिपे भोगकी इच्छा रहती है। जो चीज त्याज्य है, उसे सर्वथा छोड़ देनेमें कौन-सी हानि हो सकती है? जो सांप मुझे डसनेवाला है उसको मैं निश्चय-पूर्वक हटा ही देता हूं, हटानेका केवल उद्योग नहीं करता; क्योंकि मैं जानता हूं कि महज प्रयत्नका परिणाम होनेवाला है मृत्यु। 'प्रयत्न'में सांपकी विकरालताके स्पष्ट ज्ञानका अभाव है। उसी प्रकार जिस चीजके त्यागका हम प्रयत्न-मात्र करते हैं उसके त्यागकी आवश्यकता हमें स्पष्ट रूपसे दिखाई नहीं दी है, यही सिद्ध होता है। 'मेरे विचार यदि बादको बदल जायं तो?' ऐसी शंकासे बहुत बार हम व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचारमें स्पष्ट दर्शनका अभाव है। इसीलिए निष्कुलानंदने कहा है—

त्याग न टके रे वैराग बिना

जहां किसी चीजसे पूर्ण वैराग्य हो गया है वहां उसके लिए व्रत लेना अपने आप अनिवार्य हो जाता है।

८

ब्रह्मचर्य—२

खूब चर्चा और दृढ़ विचार करनेके बाद १९०६में मैंने ब्रचह्मर्य-व्रत धारण किया। व्रत लेने तक मैंने धर्म-पत्नीसे इस विषयमें सलाह न ली थी। व्रतके समय अलबत्ता ली। उसने उसका कुछ विरोध न किया।

यह व्रत लेना मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मुझे चिंता रहती कि विकारोंको क्योंकर दबा सकूंगा? और स्वपत्नीके साथ विकारोंसे अलिप्त रहना एक अजीब बात मालूम होती थी। फिर भी मैं देख रहा था कि वही मेरा स्पष्ट कर्त्तव्य है। मेरी नीयत साफ थी। इसलिए यह

सोचकर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा ।

आज २० सालके बाद उस व्रतको स्मरण करते हुए मुझे सानंदाश्चर्य होता है । संयम-पालन करनेका भाव तो मेरे मनमें १९०१से ही प्रबल था और उसका पालन मैं कर भी रहा था; परंतु जो स्वतंत्रता और आनंद मैं अब पाने लगा वह मुझे नहीं याद पड़ता कि १९०६के पहले मिला हो; क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध था—कभी भी उसके अधीन हो जानेका भय रहता था; किंतु अब वासना मुझपर सवारी करनेमें असमर्थ हो गई ।

फिर अब मैं ब्रह्मचर्यकी महिमा और अधिकाधिक समझने लगा । यह व्रत मैंने फीनिक्समें लिया था । घायलोंकी शुश्रूषासे छुट्टी पाकर मैं फीनिक्स गया था । वहांसे मुझे तुरंत जोहान्सबर्ग जाना था । वहां जानेके एक ही महीनेके अंदर सत्याग्रह-संग्रामकी नींव पड़ी । मानो यह ब्रह्मचर्यव्रत उसके लिए मुझे तैयार करने ही न आया हो । सत्याग्रहका खयाल मैंने पहलेसे ही बना रक्खा हो, सो बात नहीं । उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छासे—हुई । पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो-जो काम किये थे—जैसे फीनिक्स जाना, जोहान्सबर्ग-का भारी घर-खर्च कम कर डालना और अंतको ब्रह्मचर्यका व्रत लेना—वे मानो इसकी पेश-बंदी थे ।

ब्रह्मचर्यका सोलह आने पालनका अर्थ है ब्रह्म-दर्शन । यह ज्ञान मुझे शास्त्रों द्वारा न हुआ था । यह तो मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया । उससे संबंध रखनेवाले शास्त्र-वचन मैंने बादको पढ़े ब्रह्मचर्यमें शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्माका रक्षण, सब कुछ है—यह बात मैं व्रतके बाद दिनों-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा; क्योंकि अब ब्रह्मचर्यको एक घोर तपश्चर्या रहने देनेके बदले रसमय बनाना था; उसीके बलपर काम चलाना था । इसलिए अब उसकी खूबियोंके नित नये दर्शन मुझे होने लगे ।

पर मैं जो इस तरह उससे रसकी घूंटें पी रहा था, उससे कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनताको अनुभव न कर रहा था । आज यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं, फिर भी उसकी कठिनताका अनुभव तो होता ही है । यह अधिकाधिक समझता जाता हूं कि यह असिधारा-व्रत है । अब भी निरंतर जागरूकताकी आवश्य-कता देखता हूं ।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिए पहले स्वादेंद्रियको वशमें करना चाहिए। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि स्वादको जीत लें तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यंत सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मेरे भोजन प्रयोग केवल अन्नाहारकी दृष्टिसे नहीं, पर ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे होने लगे। प्रयोग द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसालेका और स्वाभाविक रूपमें करना चाहिए। मैंने खुद छः साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारीका आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों मैं हरे या सूखे वन-पके फलोंपर ही रहता था, उन दिनों जिस निर्विकारताका अनुभव होता था, वह खुराकमें परिवर्तन करनेके बाद न हुआ। फलाहारके दिनोंमें ब्रह्मचर्य सरल था; दुग्धाहारके कारण अब कष्टसाध्य हो गया है। फलाहार छोड़कर दुग्धाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा, इसका जिक्र समय आनेपर होगा ही। यहां तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रह्मचारीके लिए दूधका आहार विघ्नकारक है, इसमे मुझे लेशमात्र संदेह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारीके लिए दूध छोड़ना जरूरी है। आहारका असर ब्रह्मचर्यपर क्या और कितना पड़ता है, इस संबंधमें अभी अनेक प्रयोगोंकी आवश्यकता है। दूधके सदृश शरीरके रग-रेशे मजबूत बनानेवाला और उतनी ही आसानीसे हजम हो जानेवाला फलाहार अबतक मेरे हाथ नही लगा है। न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बतला सके है। इस कारण दूधको विकारोत्पादक जानते हुए भी अभी मैं उसे छोड़नेकी सिफारिश किसीसे नही कर सकता।

बाहरी उपचारोंमें जिस प्रकार आहारके प्रकारकी और परिमाणकी मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवासकी बात भी समझनी चाहिए। इंद्रियां ऐसी बलवान् हैं कि उन्हें चारो ओरसे, ऊपर-नीचे दशों दिशाओंसे, जब घेरा डाला जाता है तभी वे कब्जेमें रहती हैं। सब लोग इस बातको जानते हैं कि आहार बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इस बातमें मुझे जरा भी शक नहीं है कि इंद्रिय-दमनके हेतु इच्छापूर्वक किये उपवासोंसे इंद्रिय-दमनमें बड़ी सहायता मिली है। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे यह मान लेते है कि केवल उपवाससे ही सब काम हो जायगा और बाहरी उपवास-मात्र करते हैं; पर मनमें छप्पन भोगोंका ध्यान करते रहते हैं। उपवासके दिनोंमें इन विचारोंका स्वाद चक्खा करते हैं कि उपवास पूरा होनेपर

क्या-क्या खायंगे; और फिर शिकायत करते हैं कि न तो स्वादेंद्रियका संयम हो पाया और न जननेंद्रियका। उपवाससे वास्तविक लाभ वहीं होता है, जहां मन भी देह-दमनमें साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मनमें विषय-भोगके प्रति वैराग्य हो जाना चाहिए। विषय-भोगकी जड़ तो मनमें है। उपवासादि साधनोंसे मिलनेवाली सहायताएं बहुत होते हुए भी अपेक्षाकृत थोड़ी ही होती हैं। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रहता है; परंतु उपवासके बिना विषयासक्तिका समूल विनाश संभवनीय नहीं। इसलिए उपवास ब्रह्मचर्य-पालनका एक अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले बहुतेरे विफल हो जाते हैं; क्योंकि वे आहार-विहार तथा दृष्टि इत्यादि में अ-ब्रह्मचारीकी तरह रहना चाहते हुए भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं। यह कोशिश गर्मीके मौसममें सरदीके मौसिमका अनुभव करने जैसी समझनी चाहिए। संयमी और स्वच्छंदीके, भोगी और त्यागीके जीवनमें भेद अवश्य होना चाहिए। साम्य तो सिर्फ ऊपर ही ऊपर रहता है। किंतु भेद स्पष्ट रूपसे दिखाई देना चाहिए। आंखसे दोनों काम लेते हैं; परंतु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक-सिनेमामें लीन रहता है। कानका उपयोग दोनों करते हैं; परंतु एक ईश्वर-भजन सुनता है और दूसरा विलासमय गीतोंको सुननेमें आनंद मानता है। जागरण दोनों करते हैं; परंतु एक तो जाग्रत अवस्थामें अपने हृदय-मंदिरमें विराजित रामकी आराधना करता है, दूसरा नाच-रंगकी धुनमें सोनेकी याद भूल जाता है। भोजन दोनों करते हैं; परंतु एक शरीर-रूपी तीर्थ-क्षेत्रकी रक्षा-मात्रके लिए शरीरको किराया देता है और दूसरा स्वादके लिए देहमें अनेक चीजोंको ठूंसकर उसे दुर्गंधित बनाता है। इस प्रकार दोनोंके आचार-विचारमें भेद रहा ही करता है और वह अंतर दिन-दिन बढ़ता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्यका अर्थ है मन, वचन और कायासे समस्त इंद्रियोंका संयम। इस संयमके लिए पूर्वोक्त त्यागोंकी आवश्यकता है, यह बात मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी और आज भी दिखाई देती है। त्यागके क्षेत्रकी कोई सीमा ही नहीं है जैसी कि ब्रह्मचर्यकी महिमाके नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्पप्रयत्नसे साध्य नहीं होता। करोड़ोंके लिए तो यह हमेशा एक आदर्शके रूपमें ही रहेगा; क्योंकि

प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो नित्य अपनी त्रुटियोंका दर्शन करेगा, अपने हृदयके कोने-कुचरेमें छिपे विकारोंको पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करनेका सतत उद्योग करेगा। जबतक अपने विचारोंपर इतना कब्जा न हो जाय कि अपनी इच्छाके बिना एक भी विचार मनमें न आने पावे तबतक वह संपूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। जितने भी विचार हैं, वे सब एक तरह विकार है। उनको वशमें करनेके मानी है मनको वशमें करना। और मनको वशमें करना वायुको वशमें करनेसे भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा है तो फिर यह भी साध्य है ही। रास्तेमें हमे बड़ी कठिनाइयां आती है, इसमे यह न मान लेना चाहिए कि वह असाध्य है। वह तो परम-अर्थ है। और परम-अर्थके लिए परम प्रयत्नकी आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है ?

परंतु देस आनेपर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज प्रयत्नसाध्य नही है। कह सकते है कि जबतक मै इस मूर्च्छामें था कि फलाहारसे विकार समूल नष्ट हो जायंगे; और इसलिए अभिमानसे मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

परंतु इस विचारके प्रकरण तक पहुंचनेमें अभी विलंब है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर-साक्षात्कार करनेके लिए मैंने जिस ब्रह्मचर्यकी व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं वे यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वरपर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उन्हें निराश होनेका कोई कारण नही है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥[1]

निराहारीके विषय तो शांत हो जाते है; परंतु रसोंका शमन नही होता। ईश्वर-दर्शनसे रस भी शांत हो जाते है।

इसलिए आत्मार्थीका अंतिम साधन तो राम-नाम और राम-कृपा ही है। इस बातका अनुभव मैंने हिंदुस्तान आनेपर ही किया।

---

[1] **गीता, अध्याय २, श्लोक ५९।**

६

सादगी

भोग भोगनेका आरंभ तो मैंने किया; पर यह टिक न सका। टीम-टामकी साधन-सामग्री मैंने जुटाई तो; परंतु उसके मोहमें मैं नहीं फंसा था। इसलिए एक ओर घर-गृहस्थी बनाते ही मैंने दूसरी ओर खर्च कम करनेकी शुरूआत की। धुलाईका खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ। फिर धोबी नियमित रूपसे कपड़े न लाता, इस कारण दो-तीन दर्जन कमीज और इतने ही कालरसे भी काम न चलता। कालर रोज बदला जाता था; कमीज रोज नहीं तो तीसरे दिन जरूर बदलनी पड़ती। इस तरह दोहरा खर्च लगता। यह मुझे व्यर्थ मालूम हुआ। इसलिए घर पर ही धोनेकी चीजे मंगाई। धुलाई-विद्याकी पुस्तक पढ़कर धोना सीख लिया और पत्नीको भी सिखा दिया। इससे कामका कुछ बोझ तो बढ़ा; पर एक नई चीज थी, इसलिए मनोविनोद भी होता।

पहले-पहल जो कालर मैंने धोया उसे मैं कभी न भूल सकूंगा। इसमें कलप ज्यादा था, और इस्तिरी पूरी गरम न थी। फिर कालरके जल जानेके भयसे इस्तिरी ठीक-ठीक दबाई नहीं गई थी। इस कारण कालर कड़ा तो हो गया; पर उसमेंसे कलप झिरता रहता था।

ऐसा ही कालर लगाकर मै अदालतमें गया और वहां बैरिस्टरोंके मजाकका साधन बन गया; परंतु ऐसी हंसी-दिल्लगीको सहन करनेकी क्षमता मुझमें उस समय भी कम न थी।

"कालर हाथसे धोनेका यह पहला प्रयोग है, इसलिए उसमेंसे कलप झिर रहा है; पर मेरा इसमें कुछ हर्ज नहीं होता। फिर आप सब लोगोंके इतने विनोदका कारण हुआ यह विशेष बात है।" मैंने स्पष्टीकरण किया।

"पर धोबी क्या नहीं मिलते?" एक मित्रने पूछा।

"यहां धोबीका खर्च मुझे नागवार हो रहा है। कालरकी कीमतके बराबर धुलाईका खर्च---और फिर भी धोबीकी गुलामी बरदाश्त करनी पड़ती है, सो जुदी। इसके बनिस्बत तो मैं घरपर हाथसे धो लेना ही ज्यादा पसंद करता

हूं ।"

किंतु यह स्वावलंबनकी खूबी मै मित्रोंको न समझा सका ।

मुझे कहना चाहिए कि अंतको मैंने अपने कामके लायक कपड़े धोनेकी कुशलता प्राप्त करली थी और मुझे कहना चाहिए कि धोबीकी धुलाईसे घरकी धुलाई किसी तरह घटिया नहीं रहती थी । कालरका कड़ापन और चमक धोबीके धोये कालरसे किसी तरह कम न थी ।

गोखलेके पास स्व० महादेव गोविद रानडेका प्रसाद-स्वरूप एक दुपट्टा था । गोखले उसे बड़े जतनसे रखते और प्रसंग-विशेषपर ही उसे इस्तेमाल करते । जोहान्सबर्गमें उनके स्वागतके उपलक्ष्यमें जो भोज हुआ था, वह अवसर बड़े महत्त्व-का था । दक्षिण अफ्रीकामें यह उनका सबसे बड़ा भाषण था । इसलिए इस अवसरपर यह दुपट्टा डालना चाहते थे । उसमें सिलवटें पड़ गई थी और इस्तिरी करनेकी जरूरत थी । धोबीके यहां भेजकर तुरंत इस्तिरी करा लेना संभव न था । मैंने कहा—"जरा मेरी विद्याको भी अजमा लीजिए ।"

"तुम्हारी वकालतपर मै विश्वास कर सकता हूं; पर इस दुपट्टेपर तुम्हारी धुलाई-कलाकी आजमाइश न होने दूंगा। तुम कहीं इसे दाग दो तो ? जानते हो, इसका कितना मूल्य है ?" यह कहकर उन्होंने अति उल्लाससे इस प्रसादीकी कथा मुझे कह सुनाई ।

मैंने आजिजीके साथ दाग न पड़ने देनेकी जिम्मेदारी ली । फलतः मझे इस्तिरी करनेकी इजाजत मिल गई और बादको अपनी कुशलताका प्रमाण-पत्र भी मुझे मिला । अब यदि दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो इससे क्या ?

जिस तरह मै धोबीकी गुलामीसे छूटा, उसी तरह नाईकी गुलामीसे भी छूटनेका अवसर आ गया । हाथसे दाढ़ी बनाना तो विलायत जानेवाले सभी सीख लेते हैं; पर मुझे खयाल नहीं कि बाल काटना भी कोई सीख लेते हों । प्रिटो-रियामें एक बार मै अंग्रेज नाईकी दूकानपर गया । उसने मेरे बाल काटनेसे साफ इन्कार कर दिया और ऐसा करते हुए तिरस्कार प्रदर्शित किया सो अलग । मुझे बड़ा ही दुःख हुआ । मै सीधा बाजारमें पहुंचा । बाल काटनेकी कैंची खरीदी और आइनेके सामने खड़े रहकर अपने बाल काट डाले । बाल ज्यों-त्यों कटे तो; पर पीछेके बाल काटनेमें बड़ी दिक्कत पेश आई । फिर भी जैसे चाहिए न कट

पाये। यह देखकर अदालतमें खूब कहकहा मचा ।

"तुम्हारे सिरपर छछूंदर तो नहीं फिर गई ?"

मैंने कहा—"नहीं, मेरे काले सिरको गोरा नाई कैसे छू सकता है ? इस कारण जैसे-तैसे हाथ-कटे बाल ही मुझे अधिक प्रिय हैं ।"

इस उत्तरसे मित्रोंको आश्चर्य हुआ। सच पूछिए तो उस नाईका कसूर न था। यदि वह श्यामवर्ण लोगोंके बाल काटने लगता तो उसकी रोजी चली जाती। हम भी तो कहां अछूतोंके बाल उच्च वर्णके नाइयोंसे कटवाने देते हैं ? इसका बदला मुझे दक्षिण अफ्रीकामें एक बार नहीं, बहुत बार मिला है। और मेरा यह खयाल बना है कि यह हमारे ही दोषका फल है। इसलिए इस बातपर मुझे कभी रोष नहीं हुआ ।

स्वावलंबन और सादगीके मेरे इस शौकने आगे जाकर जो तीव्र स्वरूप ग्रहण किया, उसका वर्णन तो यथा-प्रसंग होगा; परंतु उसका मूल पुराना था। उसके फलने-फूलनेके लिए सिर्फ सिचाईकी आवश्यकता थी और वह अवसर अनायास ही मिल गया था ।

१०

बोअर-युद्ध

१८९७से ९९ ई० तकके जीवनके दूसरे कई अनुभवोंको छोड़कर अब बोअर-युद्धपर आता हूं। जब यह युद्ध छिड़ा तब मेरे मनोभाव बिलकुल बोअरोंके पक्षमें थे; पर मैं यह मानता था कि ऐसी बातोंमें व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार काम करनेका अधिकार अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। इस संबंधमें जो मंथन मेरे हृदयमें हुआ, उसका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास'में किया है; इसलिए यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं। जिनको जानने की इच्छा हो वे उस पुस्तकको पढ़ लें।[१] यहां तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रिटिश राज्यके प्रति मेरी वफादारी मुझे उस युद्धमें योग देनेके लिए जबरदस्ती

---

[१] यह पुस्तक 'सस्ता साहित्य मण्डल'से प्रकाशित हुई है ।

घसीट ले गई । मैंने सोचा कि जब मैं ब्रिटिश प्रजाकी हैसियतसे हक़ोंका मतालबा कर रहा हूं तो ब्रिटिश प्रजाकी हैसियतसे ब्रिटिश राज्यकी रक्षामें सहायक होना मेरा धर्म है । ब्रिटिश साम्राज्यमें हिंदुस्तानकी सब तरह उन्नति हो सकती है, यह उस समय मेरा मत था । इसलिए जितने साथी मिले उनको लेकर, अनेक मुसीबतोंका सामना करके, हमने घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी तैयार की । अबतक अंग्रेजोंकी आम तौरपर यह धारणा थी कि यहांके हिंदुस्तानी जोखिमके कामोंमे नहीं पड़ते, स्वार्थके अलावा उन्हें और कुछ नहीं सूझता । इसलिए कितने ही अंग्रेज मित्रोंने मुझे निराशाजनक उत्तर दिये । अलबत्ता डा० बूथने खूब प्रोत्साहन दिया । उन्होंने हमें घायल योद्धाओंकी शुश्रूषा करनेकी तालीम दी । अपनी योग्यताके संबंधमें मैंने डाक्टरके प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिये । मि० लाटन तथा स्वर्गीय मि० ऐस्कंबने भी इस कामको पसंद किया । अंतको हमने सरकारसे प्रार्थना की कि हमे लड़ाईमें सेवा करनेका अवसर दिया जाय । जवाबमें सरकारने हमें धन्यवाद दिया; किंतु कहा कि आपकी सेवाकी इस समय आवश्यकता नहीं है ।

परंतु मैं ऐसे इन्कारसे खामोश होकर बैठ न गया । डा० बूथकी मदद लेकर उनके साथ मैं नेटालके बिशपसे मिला । हमारी टुकड़ीमें बहुतेरे ईसाई हिंदुस्तानी थे । बिशपको हमारी योजना बहुत पसंद आई और उन्होंने सहायता देनेका वचन दिया ।

इस बीच घटना-चक्र अपना काम कर रहा था । बोअरोंकी तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि अंदाजसे अधिक तेजस्वी साबित हुई, जिसके फलस्वरूप सरकारको बहुतेरे रंगरूटोंकी जरूरत हुई, और अंतको हमारी प्रार्थना स्वीकृत हो गई ।

इस टुकड़ीमें लगभग ग्यारह सौ लोग थे । उनमें लगभग चालीस मुखिया थे । कोई तीन सौ स्वतंत्र हिंदुस्तानी भरती हुए थे, और शेष गिरमिटिया थे । डा० बूथ भी हमारे साथ थे । टुकड़ीने अपना काम अच्छी तरह किया । यद्यपि उसका कार्यक्षेत्र लड़ाईके मैदानके बाहर था और रेडक्रास[1] चिह्न उनकी रक्षाके

---

[1] रेडक्रासका अर्थ है लाल स्वस्तिक । युद्धमें इस चिह्नसे अंकित पट्टे शुश्रूषा करनेवालोंके बायें हाथमें बंधे रहते हैं और ऐसे नियम है

लिए लगा हुआ था, फिर भी आवश्यकताके समय प्रत्यक्ष युद्ध-क्षेत्रकी हदके अंदर भी काम करनेका अवसर हमें मिला। ऐसी जोखिममें न पड़नेका इकरार सरकारने अपनी इच्छासे हमारे साथ किया था; परंतु स्पियांकोपकी हारके बाद स्थिति बदली। इस कारण जनरल बुलरने संदेश भेजा कि यद्यपि आप जोखिमकी जगह काम करनेके लिए बंधे हुए नहीं हैं, फिर भी यदि आप खतरेका सामना करके घायल सिपाहियोंको अथवा अफसरोंको रणक्षेत्रसे उठाकर डोलियोंमें ले जानेके लिए तैयार हो जायंगे तो सरकार आपका उपकार मानेगी। इधर हम तो जोखिम उठानेके लिए तैयार ही थे। अतएव स्पियांकोपके युद्धके बाद हम गोली-बारूदकी हदके अंदर भी काम करने लगे।

इन दिनोंमें सबको कई बार बीस-पचीस मीलकी मंजिल तय करनी पड़ती थी। एक बार तो घायलोंको डोलीमें रखकर इतनी दूर चलना भी पड़ा था। जिन घायल योद्धाओं को हम उठाकर ले गये उनमें जनरल वुडगेट इत्यादि भी थे।

छः सप्ताहके अंतमें हमारी टुकड़ीको रुखसत दी गई। स्पियांकोप और बालक्रांजकी हारके बाद लेडी स्मिथ आदि-आदि स्थानोंको बोअरोंके घेरेसे तेजीके साथ मुक्त करनेका विचार ब्रिटिश सेनापतिने त्याग दिया और इंग्लैंड तथा हिंदुस्तानसे और सेना आनेकी राह देखने तथा धीरे-धीरे काम करनेका निश्चय किया था।

हमारी उस छोटी-सी सेवाकी उस समय बहुत स्तुति हुई। उससे हिंदुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। 'आखिर हिंदुस्तानी है तो साम्राज्यके वारिस ही' ऐसे गीत गाये गये। जनरल बुलरने अपने खरीतेमें हमारी टुकड़ीके कार्यकी प्रशंसा की। मुखियोंको लड़ाईके तमगे भी मिले।

इसके फलस्वरूप हिंदुस्तानी अधिक संगठित हुए। मैं गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंके अधिक सम्पर्कमें आ सका। उनमें अधिक जाग्रति हुई और यह भावना अधिक दृढ़ हुई कि हिंदू, मुसलमान, ईसाई, मदरासी, पारसी, गुजराती,

---

कि शत्रु भी उनको नुकसान नहीं पहुंचा सकते। अधिक तफसीलके लिए देखिए—'द० अ० के सत्याग्रहका इतिहास', खण्ड १, अध्याय ६।

सिंधी, सब हिंदुस्तानी है। सबने माना कि अब हिंदुस्तानियोंके दुःख अवश्य दूर हो जायंगे। गोरोंके बर्तावमें भी उसके बाद साफ-साफ फर्क नजर आने लगा।

लड़ाईमें गोरोंसे जो संबंध बंधा, वह मीठा था। हजारों 'टामियों'के सहवासमें हम लोग आये। वे हमारे साथ मित्र-भावसे व्यवहार करते और इस खयालसे कि हम उनकी सेवाके लिए हैं, हमारे उपकार मानते।

मनुष्य-स्वभाव दुःखके समय कैसा पसीज जाता है, इसकी एक मधुर-स्मृति यहां दिये बिना नहीं रह सकता। हम लोग चीवली छावनी की ओर जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था, जहां लार्ड राबर्ट्सके पुत्र लेफ्टनेंट राबर्ट्सको मर्मांतक गोली लगी थी। लेफ्टनेंट राबर्ट्सके शवको ले जानेका गौरव हमारी टुकड़ीको प्राप्त हुआ था। लौटते वक्त धूप कड़ी थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीनेके लिए रास्तेमें एक छोटा-सा झरना पड़ा। सवाल उठा, पहले कौन पानी पीये। मैंने सोचा था कि 'टामियों'के पी लेनेके बाद हम पियेंगे। 'टामियों'ने हमें देखकर तुरंत कहा—'पहले आप लोग पी लें।' हमने कहा— 'नहीं, पहले आप पीयें।' इस तरह बहुत देरतक हमारे और उनके बीच मधुर आग्रहकी खींचातानी होती रही।

११

नगर-सुधार : अकाल-फण्ड

समाजके एक भी अंगका खराब बने रहना मुझे हमेशा अखरता रहता है। लोगोंकी बुराइयोंको ढककर उनका बचाव करना अथवा उन्हें दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर हुआ है। दक्षिण-अफ्रीका-स्थित हिंदुस्तानियोंपर एक आक्षेप हुआ करता था। वह यह कि हिंदुस्तानी अपने घर-बार साफ-सुथरे नहीं रखते और बहुत मैले रहते हैं। बार-बार यह बात कही जाती थी। उसमें कुछ सचाई भी थी। मेरे वहां होनेके आरंभ-काल ही में मैंने उसे दूर करनेका विचार किया था। इस इलजामको मिटानेके लिए शुरूआतमें समाजके लब्धप्रतिष्ठ लोगोंके घरोंमें सफाई तो शुरू हो गई थी; परंतु

घर-घर जाकर प्रचार करनेका काम तो तभी शुरू हो पाया, जब डरबनमें प्लेगके प्रवेश और प्रकोपका भय उत्पन्न हुआ। इसमें म्यूनिसिपैलिटीके अधिकारियोंका भाग था और उनकी सम्मति भी थी। हमारी मददसे उनका काम आसान हो गया और हिंदुस्तानियोंको कम कष्ट और असुविधा हुई; क्योंकि प्लेग इत्यादिका प्रकोप जब कभी होता है तब आम तौरपर अधिकारी लोग अधीर हो जाते हैं और उसका उपाय करनेमें सीमाके आगे बढ़ जाते हैं, एवं जो लोग उनकी नजरोंमें अप्रिय होते हैं, उनपर इतना दबाव डाला जाता है कि वह असह्य हो जाता है। चूंकि लोगोंने खुद ही काफी इलाज करनेका आयोजन कर लिया था, इसलिए वे इस सख्ती और ज्यादतीसे बच गये।

इस संबंधमें मुझे कितने ही कड़ुए अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानीय सरकारसे अपने हकोंका मतालबा करनेमें अपने लोगोंसे मैं जितनी सहायता ले सकता था, उतनी आसानीसे मैं उनसे स्वयं अपने कर्त्तव्योंका पालन करनेमें न ले सका। कितनी ही जगह अपमान होता, कितनी जगह विनयपूर्वक लापरवाही बताई जाती। गंदगी दूर करनेका कष्ट उठाना एक आफत मालूम होती थी और इसके लिए पैसा खर्च करना तो और भी मुश्किल पड़ता था। इससे मैंने यह पाठ और अधिक अच्छी तरह सीखा कि यदि लोगोंसे कुछ भी काम कराना हो तो हमें धीरज रखना चाहिए। सुधारकी गरज तो होती है खुद सुधारकको, जिस समाजमें वह सुधार चाहता है, उससे तो उसे विरोधकी, तिरस्कारकी और जानकी भी जोखिमकी ही आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिस बातको सुधार समझता है, समाज उसे 'कुधार' क्यों न माने? और यदि सुधार न भी माने तो उसकी तरफसे उदासीन क्यों न रहे?

इस आंदोलनका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाजमें घरबार स्वच्छ रखनेकी आवश्यकता थोड़ी-बहुत मात्रामें मान ली गई। राज्याधिकारियोंके नजदीक मेरी साख बढ़ी। वे समझे कि मैं महज शिकायतें करनेवाला अथवा हक मांगनेवाला ही नहीं हूं; बल्कि इन बातोंमें मैं जितना दृढ़ हूं उतना ही उत्साही आंतरिक सुधारोंके लिए भी हूं।

परंतु समाजकी मनोवृत्तिका विकास अभी एक और दिशामें होना बाकी था। यहांके भारतीयोंको अभी प्रसंगोपात्त भारतवर्षके प्रति अपने धर्मको समझना

और उसका पालन करना बाकी था। भारतवर्ष तो कंगाल है। लोग धन कमानेके लिए विदेश जाते हैं। मैंने सोचा, उनकी कमाईका कुछ-न-कुछ अंश भारतवर्षको आपत्तिके समय मिलना चाहिए। भारतमें १८९७ई०में तो अकाल पड़ा ही था। १८९९में एक और भारी अकाल हुआ। दोनों अकालके समय दक्षिण अफ्रीकासे खासी मदद गई थी। पहले अकालके समय जितनी रकम एकत्र हो सकी थी उससे बहुत ज्यादा रकम दूसरे अकालके समय गई थी। इसमें हमने अंग्रेजोंसे भी चंदा मांगा था और उनकी तरफसे अच्छी सहायता मिली थी। गिरमिटिया हिंदुस्तानियोंने भी अपनी तरफसे चंदा दिया था।

इस तरह इन दोनों अकालके समय जो प्रथा पड़ी वह अभीतक कायम है और हम देखते है कि भारतवर्षमें सार्वजनिक संकटके समय दक्षिण अफ्रीकाके हिंदुस्तानी अच्छी रकमे भेजा करते है।

इस तरह दक्षिण अफ्रीकाके भारतीयोंकी सेवा करते हुए मै खुद बहुतेरी बाते एकके बाद एक अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों-ज्यों सेवा की जाती है त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुए दिखाई देते हैं। उनका अंत ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों हम गहरे पैठते हैं त्यों-त्यों उसमेंसे रत्न निकलते हैं; सेवाके अवसर हाथ आते ही रहते हैं।

१२

देश-गमन

लड़ाईके कामसे मुक्त होनेके बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीकामें नहीं, बल्कि देसमें है। दक्षिण अफ्रीकामें बैठे-बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था, परंतु मैंने देखा कि यहां कहीं मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देससे मित्र लोग भी देस लौट आनेके लिये आकर्षित कर रहे थे। मुझे भी जंचा कि देस जानेसे मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा। नेटालमें मि० खान और मनसुखलाल नाजर थे ही।

मैंने साथियोंसे छुट्टी देनेका अनुरोध किया। बड़ी मुश्किलसे उन्होंने

एक शर्तपर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक सालके अंदर लोगोंको मेरी जरूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण अफ्रीका आजाऊंगा। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई, परंतु मैं तो प्रेम-पाशमें बंधा हुआ था।

काचे रे तांतणे मने हरजीए बांधी
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी।[1]

मीराबाईकी यह उपमा न्यूनाधिक अंशमें मुझपर घटित होती थी। पंच भी परमेश्वर ही हैं। मित्रोंकी बातको टाल नहीं सकता था। मैंने वचन दिया। इजाजत मिली।

इस समय मेरा निकट-संबंध प्रायः नेटालके ही साथ था। नेटालके हिंदुस्तानियोंने मुझे प्रेमामृतसे नहला डाला। स्थान-स्थानपर अभिनंदनपत्र दिये गये और हर जगहसे कीमती चीजें नजर की गईं।

१८९६में जब मैं देस आया था, तब भी भेंटें मिली थीं; पर इस बारकी भेंटों और सभाओंके दृश्योंसे मै घबराया। भेंटमें सोने-चांदीकी चीजें तो थीं ही; पर हीरेकी चीजें भी थीं।

इन सब चीजोंको स्वीकार करनेका मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मै इन्हें मंजूर कर लूं तो फिर अपने मनको यह कहकर कैसे मना सकता हूं कि मैं पैसा लेकर लोगोंकी सेवा नहीं करता था? मेरे मवक्किलोंकी कुछ रकमोंको छोड़कर बाकी सब चीजें मेरी लोक-सेवाके ही उपलक्ष्यमें दी गई थीं। पर मेरे मनमें तो मवक्किल और दूसरे साथियोंमें कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काममें भी सहायता देते थे।

फिर उन भेंटोंमें एक पचास गिनीका हार कस्तूरबाईके लिए था। मगर उसे जो चीज मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवाके उपलक्ष्यमें; अतएव उसे पृथक् नहीं मान सकते थे।

जिस शामको इनमें से मुख्य-मुख्य भेंटें मिलीं, वह रात मैंने एक पागलकी

---

[1] **प्रभुजीने मुझे कच्चे सूतके प्रेम-धागेसे बांध लिया है। ज्यों-ज्यों वह उसे तानते हैं त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूं।**

तरह जागकर काटी। कमरेमें यहांसे वहां टहलता रहा। परंतु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ों रुपयोंकी भेंटें न लेना भारी पड़ रहा था; पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मैं चाहे इन भेंटोंको पचा भी सकता; पर मेरे बालक और पत्नी? उन्हें तालीम तो सेवाकी मिल रही थी। सेवाका दाम नहीं लिया जा सकता था, यह हमेशा समझाया जाता था। घरमें कीमती जेवर आदि मैं नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्थामें सोनेकी घड़ियां कौन रक्खेगा? सोनेकी कंठी और हीरेकी अंगूठियां कौन पहनेगा? गहनोंका मोह छोड़नेके लिए मैं उस समय भी औरोंसे कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरातको लेकर मैं क्या करूंगा?

मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि वे चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादि को इन गहनोंके ट्रस्टी बनाकर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादिसे सलाह करके अपना बोझ हलका करनेका निश्चय किया।

मैं जानता था कि धर्मपत्नीको समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे विश्वास था कि बालकोंको समझानेमें जरा भी दिक्कत पेश न आवेगी, अतएव उन्हें वकील बनानेका विचार किया।

बच्चे तो तुरंत समझ गये। वे बोले, "हमें इन गहनोंसे कुछ मतलब नहीं; ये सब चीजें हमें लौटा देनी चाहिए और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद नहीं बना सकेंगे?"

मैं प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा को समझाओगे न?" मैंने पूछा।

"जरूर-जरूर। वह कहां इन गहनोंको पहनने चली है? वह रखना चाहेगी भी तो हमारे ही लिए न? पर जब हमें ही इनकी जरूरत नहीं है तब फिर वह क्यों जिद करने लगीं?"

परंतु काम अंदाजसे ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कोंको भी न हो। बच्चोंका क्या? जैसा समझादें समझ जाते हैं। मुझे न पहनने दो; पर मेरी बहुओंको तो जरूरत होगी? और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा? जो चीजें लोगोंने इतने

प्रेमसे दी हैं उन्हें वापस लौटाना ठीक नहीं।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुधारा आ मिली। लड़के दृढ़ रहे और मैं भला क्यों डिगने लगा?

मैंने धीरेसे कहा—"पहले लड़कोंकी शादी तो हो लेने दो। हम बचपनमें तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं है। बड़े होनेपर जो इनका जी चाहे सो करे। फिर हमें क्या गहनों-कपड़ोंकी शौकीन बहुएं खोजनी हैं? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मैं कहां चला गया हूं?"

"हां, जानती हूं तुमको। वही न हो, जिन्होंने मेरे भी गहने उतरवा लिये हैं। जब मुझे ही नहीं पहनने देते हो तो मेरी बहुओंको जरूर ला दोगे! लड़कोंको तो अभीसे बैरागी बना रहे हो। इन गहनोंको मैं वापस नही देने दूंगी। और फिर मेरे हारपर तुम्हारा क्या हक?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवाकी खातिर मिला है या मेरी?" मैंने पूछा।

"जैसा भी हो। तुम्हारी सेवामें क्या मेरी सेवा नही है? मुझसे जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरोंको घरमें रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नही?"

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। पर गहने वापस लौटानेका मैं निश्चय ही कर चुका था। अंतको बहुतेरी बातोंमें मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका। १८९६ और १९०१मे मिली भेंटें लौटाईं। उनका ट्रस्ट बनाया गया और लोक-सेवाके लिए उसका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियोंकी इच्छाके अनुसार होनेकी शर्तपर वह रकम बैंकमें रक्खी गई। इन चीजोंको बेचनेके निमित्तसे मैं बहुत बार रुपया एकत्र कर सका हूं। आपत्ति-कोषके रूपमें वह रकम आज मौजूद है और उसमें वृद्धि होती जाती है।

इस बातके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। आगे चलकर कस्तूर बाईको भी उसका और औचित्य जंचने लगा। इस तरह हम अपने जीवनमें बहुतेरे लालचोंसे बच गये हैं।

मेरा यह निश्चित मत हो गया है कि लोक-सेवकको जो भेंटें मिलती हैं, वे उसकी निजी चीज कदापि नहीं हो सकती।

१३

देसमें

इस तरह मैं देसके लिए बिदा हुआ। रास्तेमें मॉरीशस पड़ता था। वहां जहाज बहुत देरतक ठहरा। मैं उतरा और वहांकी स्थितिका ठीक अनुभव प्राप्त कर लिया। एक रात वहांके गवर्नर सर चार्ल्स ब्रुसके यहां भी बिताई थी।

हिंदुस्तान पहुंचनेपर कुछ समय इधर-उधर घूमनेमें व्यतीत किया। यह १९०१की बात है। इस साल राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेसका अधिवेशन कलकत्तामें था। दीनशा एदलजी वाच्छा सभापति थे। मैं कांग्रेसमें जाना तो चाहता ही था। कांग्रेसका मुझे यह पहला अनुभव था।

बंबईसे जिस गाड़ीमें सर फिरोजशाह चले, उसीमें मैं भी रवाना हुआ। उनसे मुझे दक्षिण अफ्रीकाके विषयमें बातें करनी थी। उनके डिब्बेमें एक स्टेशनतक जानेकी मुझे आज्ञा मिली। वह खास सैलूनमें थे। उनके शाही वैभव और खर्च-वर्चसे मैं वाकिफ था। निश्चित स्टेशनपर मैं उनके डिब्बेमें गया। उस समय उनके डिब्बेमें सर दीनशा और श्री (अब 'सर') चिमनलाल सेतलवाड़ बैठे थे। उनके साथ राजनीतिकी बातें हो रही थीं। मुझे देख कर सर फिरोजशाह बोले—"गांधी, तुम्हारा काम पूरा पड़नेका नहीं। प्रस्ताव तो हम जैसा तुम कहोगे पास कर देंगे; पर पहले यही देखो न, कि हमारे ही देसमें कौन से हक मिल गये हैं? मैं मानता हूं कि जबतक अपने देसमें हमें सत्ता नहीं मिली है तबतक उपनिवेशोंमें हमारी हालत अच्छी नहीं हो सकती।"

मैं तो सुनकर स्तंभित हो गया। सर चिमनलालने भी उन्हींकी हां-में-हां मिलाई। परंतु सर दीनशाने मेरी ओर दया-भरी दृष्टिसे देखा।

मैंने उन्हें समझानेका प्रयत्न किया। परंतु बंबईके बिना ताजके बादशाहको भला मुझ-जैसा आदमी क्या समझा सकता था? मैंने इसी बातपर संतोष माना कि चलो, कांग्रेसमें प्रस्ताव तो पेश हो जायगा।

"प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना भला, गांधी!" सर दीनशा मुझे उत्साहित करनेके लिए बोले।

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। दूसरे स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होते ही मैं वहांसे खिसका और अपने डिब्बेमें आकर बैठ गया।

कलकत्ता पहुंचा। नगरवासी अध्यक्ष इत्यादि नेताओंको धूम-धामसे स्थानपर ले गये। मैंने एक स्वयंसेवकसे पूछा— "ठहरनेका प्रबंध कहां है?"

वह मुझे रिपन कालेज ले गया। वहां बहुतेरे प्रतिनिधि ठहरे हुए थे। सौभाग्यसे जिस विभागमें मैं ठहरा था, वहीं लोकमान्य भी ठहराये गये थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि वह एक दिन बाद आये थे। जहां लोकमान्य होते वहां एक छोटा-सा दरबार लगा ही रहता था। यदि मैं चितेरा होऊं तो जिस चारपाईपर वह बैठते थे उसका चित्र खींचकर दिखा दूं—उस स्थानका और उनकी बैठकका इतना स्पष्ट स्मरण मुझे है! उनसे मिलने आनेवाले असंख्य लोगोंमें एकका ही नाम मुझे याद है— 'अमृतबाजार पत्रिका'के स्व० मोतीबाबू। इन दोनोंका कहकहा लगाना और राजकर्त्ताओंके अन्याय-संबंधी उनकी बातें कभी भुलाई नहीं जा सकती।

पर जरा यहांके प्रबंधकी ओर दृष्टिपात करें।

स्वयंसेवक एक-दूसरेसे लड़ पड़ते थे। जो काम जिसे सौंपा जाता वह उसे नहीं करता था; वह तुरंत दूसरेको बुलाता और दूसरा तीसरेको। बेचारा प्रतिनिधि न इधरका रहता न उधरका।

मैंने कुछ स्वयंसेवकसे मेल-मुलाकात की। दक्षिण अफ्रीकाकी कुछ बातें उनसे कीं। इससे वे कुछ शरमाये। मैंने उन्हें सेवाका मर्म समझानेकी कोशिश की। वे कुछ-कुछ समझे। परंतु सेवाका प्रेम कुकुरमुत्तेकी तरह जहां-तहां उग नहीं निकलता। उसके लिए एक तो इच्छा होनी चाहिए और फिर अभ्यास। इन भोले और भले स्वयंसेवकों में इच्छा तो बहुत थी; पर तालीम और अभ्यास कहांसे हो सकता था? कांग्रेस सालमें तीन दिन होती और फिर सो रहती। हर साल तीन दिनकी तालीमसे कितनी बातें सीखी जा सकती हैं?

जो स्वयंसेवकोंका हाल था, वही प्रतिनिधियोंका। उन्हें भी तीन ही दिन तालीम मिलती थी। वे अपने हाथों कुछ भी नहीं करते थे; हर बातमें हुक्मसे काम लेते थे। 'स्वयंसेवक, यह लाओ' और 'वह लाओ' यही हुक्म छूटा करते।

छुआछूतका विचार भी बहुतोंमें था। द्राविड़ी रसोईघर बिलकुल जुदा था। इन प्रतिनिधियोंको तो दृष्टि-दोषभी बरदाश्त न होता था। उनके लिए कंपाउंडमें एक जुदी पाकशाला बनाई गई थी। उसमें धुआं इतना था कि आदमीका दम घुट जाय। खान-पान सब उसीमें होता। रसोईघर क्या था, मानो एक संदूक था, सब तरफसे बंद !

मुझे यह वर्ण-धर्म अखरा। महासभामें आनेवाले प्रतिनिधियोंको जब इतनी छूत लगती है तो जो लोग इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं उन्हें कितनी छूत लगती होगी, इसकी त्रैराशिक लगानेपर मेरे मुंहसे सहसा निकल पड़ा—"ओफ ! "

गंदगीकी सीमा नहीं। चारों ओर पानी ही पानी हो रहा था। पाखाने कम थे। उनकी बदबूकी यादसे आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैंने एक स्वयंसेवक का ध्यान उसकी ओर खींचा। उसने बेधड़क होकर कहा—"यह तो भंगीका काम है।" मैंने झाड़ू मंगाई। वह मेरा मुंह ताकता रहा। आखिर मैं ही झाड़ू खोज लाया। पाखाना साफ किया। पर यह तो हुआ अपनी सुविधा के लिए। लोग इतने ज्यादा थे और पाखाने इतने कम थे कि कई बार उनके साफ होनेकी जरूरत थी। पर यह मेरे काबूके बाहर था। इसलिए मुझे सिर्फ अपनी सुविधा करके संतोष मानना पड़ा। मैंने देखा कि औरोंको यह गंदगी खलती न थी।

पर यही तक बस नहीं है। रातके समय तो कोई कमरेके बरामदेमें ही पाखाने बैठ जाता था। सुबह मैंने स्वयंसेवकको वह मैला दिखाया। पर कोई साफ करनेके लिए तैयार न था। यह गौरव आखिर मुझे ही प्राप्त हुआ।

आजकल इन बातोंमें यद्यपि थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है, तथापि अविचारी प्रतिनिधि अब भी कांग्रेसके कैंपको जहां-तहां मल-त्याग करके बिगाड़ देते है और सब स्वयंसेवक उसे साफ करनेको तैयार नहीं होते।

मैंने देखा कि यदि ऐसी गंदगीमें कांग्रेसकी बैठक अधिक दिनोंतक जारी रहे तो अवश्य बीमारियां फैल निकलें।

१४

कारकुन और 'बेरा'[1]

कांग्रेसके अधिवेशनको एक-दो दिनकी देर थी। मैंने निश्चय किया था कि कांग्रेसके दफ्तरमें यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करूं।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धोकर कांग्रेसके दफ्तरमें गया। श्री भूपेंद्रनाथ बसु और श्री घोषाल मंत्री थे। भूपेन बाबूके पास पहुंचकर कोई काम मांगा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—

"मेरे पास तो कोई काम नहीं है—पर शायद मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।"

मैं घोषाल बाबूके पास गया। उन्होंने मुझे नीचेसे ऊपरतक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले—

"मेरे पास कारकुनका काम है—करोगे ?"

मैंने उत्तर दिया—"जरूर करूंगा। अपने बस-भर सब कुछ करनेके लिए मैं आपके पास आया हूं।"

"नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते हैं।"

कुछ स्वयंसेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा—

"देखते हो, इस नवयुवकने क्या कहा ?"

फिर मेरी ओर देखकर कहा—"तो लो, यह चिट्ठियोंका ढेर; और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी, उसे ले लो। देखते हो न, सैकड़ों आदमी मुझसे मिलने आया करते हैं। अब मैं उनसे मिलूं या ये लोग फालतू चिट्ठियां लिखा करते हैं इन्हें उत्तर दूं ? मेरे पास ऐसे कारकुन नहीं कि जिससे मैं यह काम करा सकूं। इन चिट्ठियोंमें बहुतेरी तो फिजूल होंगी। पर तुम सबको पढ़

---

[1] अंग्रेजी 'बेअरर' शब्दका अपभ्रंश; खिदमतगार। कलकत्तामें घरके नौकरको 'बेरा' कहनेका रिवाज पड़ गया है।

जाना। जिनकी पहुंच लिखना जरूरी हो उनकी पहुंच लिख देना और जिनके उत्तरके लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।"

उनके इस विश्वाससे मुझे बड़ी खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने बादको जाना। चिट्ठियोंके जवाब आदिका काम आसान था। सारे ढेरको मैंने तुरंत निपटा दिया। घोषाल बाबू खुश हुए। उन्हें बात करनेकी आदत बहुत थी। मैं देखता था कि वह बातोंमें बहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जाननेके बाद तो कारकुनका काम देनेसे उन्हें जरा शर्म मालूम हुई। पर मैंने उन्हें निश्चित कर दिया।

"कहां मैं और कहां आप! आप कांग्रेसके पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप बुजुर्ग हैं। मैं ठहरा अनुभवहीन नवयुवक, यह काम सौंपकर मुझपर तो आपने अहसान ही किया है; क्योंकि मुझे आगे चलकर कांग्रेसमें काम करना है। उसके काम-काजको समझनेका अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।"

"सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परंतु आजकलके नवयुवक ऐसा नहीं मानते। पर मैं तो कांग्रेसको उसके जन्मसे जानता हूं। उसकी स्थापना करनेमें मि० ह्यूमके साथ मेरा भी हाथ था।" घोषाल बाबू बोले।

हम दोनोंमें खासा संबंध हो गया। दोपहरके खानेके समय वह मुझे साथ रखते। घोषाल बाबूके बटन भी 'बैरा' लगाता। यह देखकर 'बैरा' का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बड़े-बूढ़ोंकी ओर मेरा बड़ा आदर रहता था। जब वह मेरे मनोभावसे परिचित हो गये तब अपनी निजी सेवाका सारा काम मुझे करने देते थे। बटन लगवाते हुए मुंह पिचकाकर मुझसे कहते—"देखो न, कांग्रेसके सेवकको बटन लगानेतककी फुरसत नहीं मिलती। क्योंकि उस समय भी वह काममें लगे रहते हैं।" इस भोलेपनपर मुझे मनमें हंसी तो आई, परंतु ऐसी सेवाके लिए मनमें अरुचि बिलकुल न हुई। उससे जो लाभ मुझे हुआ उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती।

थोड़े दिनोंमें मैं कांग्रेसके तंत्रसे परिचित हो गया। बहुतसे अगुआओंसे भेंट हुई। गोखले, सुरेंद्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते। उनका रंग-ढंग मैं देख सका। कांग्रेसमें समय जिस तरह बरबाद होता था, वह मेरी नजरमें

आया। अंग्रेजी भाषाका दौर-दौरा भी देखा। इससे उस समय भी दुःख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमीके करनेके काममें एकसे अधिक आदमी लग जाते और कुछ जरूरी कामोंको तो कोई भी नहीं करता था।

मेरा मन इन तमाम बातोंकी आलोचना किया करता था। परंतु चित्त उदार था—इसलिए, यह मान लेता कि शायद इससे अधिक सुधार होना असंभव होगा। फलतः किसीके प्रति मनमें दुर्भाव उत्पन्न न हुआ।

१५

कांग्रेसमें

कांग्रेसकी बैठक शुरू हुई। मंडपका भव्य दृश्य, स्वयंसेवकोंकी कतार, मंचपर बड़े-बूढ़ोंके समुदायको देखकर मैं दंग रह गया। इस सभामें भला मेरा क्या पता चलेगा, इस विचारसे मैं बेचैन हुआ।

सभापतिका भाषण एक खासी पुस्तक थी। उसका पूरा पढ़ा जाना मुश्किल था। कोई-कोई अंश ही पढ़े गये।

फिर विषय-निर्वाचिनी समितिके सदस्य चुने गये। गोखले मुझे उसमें ले गये थे।

सर फिरोजशाहने मेरा प्रस्ताव लेना स्वीकार तो कर ही लिया था। मैं यह सोचता हुआ समितिमें बैठा था कि उस प्रस्तावको समितिमें कौन पेश करेगा, कब करेगा, आदि। हर प्रस्तावपर लंबे-लंबे भाषण होते थे और सब-के-सब अंग्रेजीमें। प्रत्येक प्रस्तावके समर्थक कोई-न-कोई प्रसिद्ध पुरुष थे। इस नक्कारखानेमें मुझ तूतीकी आवाज कौन सुनेगा? ज्यों-ज्यों रात जाती थी, त्यों-त्यों मेरा दिल धड़कता था। मुझे याद आता है कि अंतमें रह जानेवाले प्रस्ताव आजकलके वायुयानकी गतिसे चलते थे। सब घर भागनेकी तैयारीमें थे। रातके ११ बजे गये। मेरी बोलनेकी हिम्मत न होती थी। पर मैं गोखलेसे मिल लिया था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुरसीके पास जाकर मैंने धीरेसे कहा—

"मेरी बात न भूलिएगा।"

उन्होंने कहा— "तुम्हारा प्रस्ताव मेरे ध्यानमें है। यहांकी जल्दी तो तुम देख ही रहे हो। पर मैं उसे भूलमें न पड़ने दूंगा।"

"अब सब खतम हुआ न ?" सर फिरोजशाह बोले।

"अभी तो दक्षिण अफ्रीकाका प्रस्ताव बाकी है न ? मि० गांधी बैठे कबके राह देख रहे हैं।" गोखले बोल उठे।

"आपने उस प्रस्तावको देख लिया है ?" सर फिरोजशाहने पूछा।

"हां, जरूर।"

"आपको ठीक जंचा है ?"

"हां, सब ठीक है।"

"तो गांधी, पढ़ो तो।"

मैंने कांपते हुए पढ़ सुनाया।

गोखलेने उसका समर्थन किया।

"सर्वसम्मतिसे पास"—सब बोल उठे।

"गांधी, तुम पांच मिनट बोलना।" वाच्छा बोले।

इस दृश्यसे मुझे खुशी न हुई। किसीने प्रस्तावको समझ लेनेका कष्ट न उठाया। सब भाग-दौड़में थे। गोखलेके देख लेनेसे औरोंने देखने-सुननेकी जरूरत न समझी।

सुबह हुई।

मुझे तो अपने भाषणकी पड़ी थी। पांच मिनटमें क्या कहूंगा ? मैंने अपनी तरफसे तैयारी तो ठीक-ठीक की थी; परंतु आवश्यक शब्द न सूझते थे। इधर यह निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो लिखित भाषण न पढूंगा। पर ऐसा प्रतीत हुआ, मानो दक्षिण अफ्रीकामें बोलनेकी जो निःसंकोचता आ गई थी वह यहां खो गई।

मेरे प्रस्तावका समय आया और सर दीनशाने मेरा नाम पुकारा। मैं खड़ा हुआ; सिर चक्कर खाने लगा। ज्यों-त्यों करके प्रस्ताव पढ़ा। किसी कविने अपनी एक कविता समस्त प्रतिनिधियोंमें बांटी थी। उसमें विदेश जाने और समुद्र-यात्रा करनेकी स्तुति की गई थी। मैंने उसे पढ़ सुनाया और दक्षिण अफ्रीका-

के दुःखोंकी कुछ बात सुनाई। इतनेमें सर दीनशाने घंटी बजाई। मुझे निश्चय था कि अभी पांच मिनट नहीं हुए हैं। पर मैं यह नहीं जानता था कि यह घंटी तो मुझे चेतावनी देनेके लिए दो मिनट पहले ही बजा दी गई थी। मैंने बहुतोंको आध-आध पौन-पौन घंटेतक बोलते सुना था, पर घंटी न बजती थी। इससे दुःख हुआ। घंटी बजते ही मैं बैठ गया। परंतु मेरी अल्प बुद्धिने उस समय मान लिया कि उस कविताके द्वारा सर फिरोजशाहको उत्तर मिल गया था।

प्रस्तावके पास होनेके संबंधमें तो पूछना ही क्या? उस समय प्रेक्षक और प्रतिनिधिका भेद क्वचित् ही था। प्रस्तावोंका विरोध भी कोई न करता था। सब हाथ ऊंचा कर देते थे। तमाम प्रस्ताव एक-मतसे पास होते थे। मेरे प्रस्तावका भी यही हाल हुआ। इस कारण मुझे इस प्रस्तावका महत्त्व न जंचा; फिर भी कांग्रेसमें उस प्रस्तावका होना ही मेरे आनंदके लिए बस था। कांग्रेसकी मुहर जिसपर लग गई उसपर सारे भारतवर्षकी मुहर है—यह ज्ञान किसके लिए काफी नहीं है?

१६

लार्ड कर्जनका दरबार

कांग्रेस तो समाप्त हुई, परंतु मुझे दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए कलकत्तेमें रहकर 'चेंबर ऑव कामर्स' इत्यादि संस्थाओंसे मिलना था, इसलिए मैं एक महीना कलकत्ते ठहर गया। इस बार होटलमें ठहरने के बदले, परिचय प्राप्त करके 'इंडिया क्लब'में रहनेका प्रबंध किया। इसमें मुझे लोभ यह था कि यहीं गण्यमान्य हिंदुस्तानी ठहरा करते हैं, अतएव उनके संपर्कमें आकर दक्षिण अफ्रीका-के काममें उनकी दिलचस्पी पैदा कर सकूंगा। इस क्लबमें गोखले हमेशा नहीं तो कभी-कभी बिलियर्ड खेलने आते थे। उन्हें इस बातकी खबर मिलते ही कि मैं कलकत्तेमें रहनेवाला हूं, उन्होंने मुझे अपने साथ रहनेका निमंत्रण दिया। मैंने उसे सादर स्वीकार किया। परंतु अपने-आप वहां जाना मुझे ठीक न मालूम हुआ। एक-दो दिन राह देखी थी कि गोखले खुद आकर अपने साथ मुझे ले गये।

मेरी संकोचवृत्ति देखकर उन्होंने कहा—

"गांधी, तुम्हें तो इसी देशमें रहना है, इसलिए ऐसी शरमसे काम न चलेगा। जितने लोगोंके संपर्कमें आ सको, तुम्हें आना चाहिए। मुझे तुमसे कांग्रेसका काम लेना है।"

गोखलेके यहां जानेसे पहिलेका, 'इंडिया क्लब'का, एक अनुभव यहां दे देता हूं।

इन्हीं दिनों लार्ड कर्जनका दरबार था। उसमें जानेवाले जो राजा महाराजा इस क्लबमें थे, मैं उन्हें हमेशा क्लबमें उम्दा बंगाली धोती-कुरता पहने तथा चादर डाले देखता था। आज उन्होंने पतलून, चोगा, खानसामा जैसी पगड़ी और चमकीले बूट पहने। यह देखकर मुझे दुःख हुआ और इस वेशांतरका कारण उनसे पूछा।

"हमारा दुःख हम ही जानते हैं। हमारी धन-संपत्ति और उपाधियोंको कायम रखनेके लिए हमें जो-जो अपमान सहन करने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं?" उत्तर मिला।

"परंतु यह खानसामा जैसी पगड़ी और बूट क्यों?"

"हममें और खानसामामें आपने फर्क क्या समझा? वे हमारे खानसामा हैं तो हम लार्ड कर्जनके खानसामा हैं? यदि मैं दरबारमें गैरहाजिर रहूं तो मुझे उसका फल भोगना पड़े। अपने मामूली लिबासमें जाऊं तो वह अपराध समझा जाय। और वहां जाकर भी क्या मैं लार्ड कर्जनसे बात-चीत कर सकूंगा? बिलकुल नहीं।"

मुझे इस शुद्ध-हृदय भाईपर दया आई।

इसी तरहका एक और दरबार याद आता है। जब काशी-हिंदू विश्व-विद्यालयका शिलारोपण लार्ड हार्डिन्जके हाथों हुआ तब उनके लिए एक दरबार किया गया था। उसमें राजा-महाराजा तो थे ही; भारतभूषण मालवीयजीने मुझे भी उसमें उपस्थित रहनेके लिए खास तौरपर आग्रह किया था। मैं वहां गया। राजा-महाराजाओंके वस्त्राभूषणोंको, जो केवल स्त्रियोंको ही शोभा दे सकते थे, देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। रेशमी पाजामे, रेशमी अंगरखे और गलेमें हीरे-मोतियोंकी मालाएं, बांहपर बाजूबंद और पगड़ियोंपर हीरे-मोतियोंकी

लड़ियां और तुर्रे। इन सबके साथ कमरमें सोनेकी मूठकी तलवार लटकती रहती। किसीने कहा—ये इनके राज्याधिकारके नहीं, बल्कि गुलामीके चिह्न हैं। मैं समझता था कि ऐसे नामर्दीके आभूषण वे स्वेच्छासे पहनते होंगे। परंतु मुझे मालूम हुआ कि ऐसे समारोहमें अपने तमाम कीमती वस्त्राभूषण पहनकर आना उनके लिए लाजिमी था। मुझे पता लगा कि कितने ही राजाओंको तो ऐसे वस्त्राभूषणोंसे नफरत थी और ऐसे दरबारके अवसरके अलावा वे कभी उन्हें नहीं पहनते थे। मै नहीं कह सकता कि यह बात कहांतक सच है। दूसरे अवसरोंपर वे चाहे पहनते हों या न पहनते हों, वाइसरायके दरबारमें हों या और कहीं, स्त्रियोचित आभूषण पहनकर उन्हें जाना पड़ता है, यही काफी दुःखदायक है। धन, सत्ता और मान मनुष्यत्वसे क्या-क्या पाप और अनर्थ नहीं कराते ?

१७

गोखलेके साथ एक मास—१

पहले ही दिन गोखलेने मुझे मेहमान न समझने दिया, मुझे अपने छोटे भाईकी तरह रक्खा। मेरी तमाम जरूरतें मालूम कर लीं और उनका प्रबंध कर दिया। खुशकिस्मतीसे मेरी जरूरतें बहुत कम थीं। सब काम खुद कर लेनेकी आदत डाल ली थी, इसलिए औरोंसे मुझे बहुत ही कम काम कराना पड़ता था। स्वावलंबनकी मेरी इस आदतकी, उस समयके मेरे कपड़े-लत्तेकी सुघड़ताकी, मेरी उद्योगशीलता और नियमितताकी बड़ी गहरी छाप उन पर पड़ी और उसकी इतनी स्तुति करने लगे कि मै परेशान हो जाता।

मुझे यह न मालूम हुआ कि उनकी कोई बात मुझसे गुप्त थी। जो कोई बड़े आदमी उनसे मिलने आते उनका परिचय वह मुझसे कराते थे। इन परिचयोंमें जो आज सबसे प्रधानरूपसे मेरी नजरोंके सामने खड़े हो जाते हैं वह हैं डा० प्रफुल्लचंद्र राय। वह गोखलेके मकानके पास ही रहते थे और प्रायः हमेशा आया करते थे।

"यह हैं प्रोफेसर राय, जो ८००) मासिक पाते हैं; पर अपने खर्चके लिए सिर्फ ४०) लेकर बाकी सब लोक-सेवामें लगा देते हैं। इन्होंने शादी नहीं की है, न करना ही चाहते हैं।" इन शब्दोंमें गोखलेने मुझे उनका परिचय कराया।

आजके डा० रायमें और उस समयके प्रो० रायमें मुझे थोड़ा ही भेद दिखाई देता है। जैसे कपड़े उस समय पहनते थे आज भी लगभग वैसे ही पहनते हैं। हां, अब खादी आ गई है। उस समय खादी तो थी ही नहीं। स्वदेशी मिलोंके कपड़े होंगे। गोखले और प्रो० रायकी बातें सुनते हुए मैं न अघाता था; क्योंकि उनकी बातें या तो देश-हितके संबंधमें होतीं या होती ज्ञान-चर्चा। कितनी ही बातें दुःखद भी होतीं; क्योंकि उनमें नेताओंकी आलोचना भी होती थी। जिन्हें मैं महान् योद्धा मानना सीखा था, वे छोटे दिखाई देने लगे।

गोखलेकी काम करनेकी पद्धतिसे मुझे जितना आनंद हुआ उतना ही बहुत-कुछ सीखा भी। वह अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देते थे। मैंने देखा कि उनके तमाम संबंध देश-कार्यके ही लिए होते थे। बातें भी तमाम देश-कार्यके ही निमित्त होती थीं। बातोंमें कहीं भी मलिनता, दंभ या असत्य न दिखाई दिया। हिंदुस्तान की गरीबी और पराधीनता उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग उन्हें अनेक बातोंमें दिलचस्पी कराने आते। वे उन्हें एक ही उत्तर देते—"आप इस कामको कीजिए, मुझे अपना काम करने दीजिए, मुझे देशकी स्वाधीनता प्राप्त करनी है। उसके बाद मुझे दूसरी बातें सूझेंगी। अभी तो इस कामसे मुझे एक क्षण फुरसत नहीं रहती।"

रानडेके प्रति उनका पूज्य भाव बात-बातमें टपक पड़ता था। 'रानडे ऐसा कहते थे', यह तो उनकी बातचीतका मानो 'सूत-उवाच' ही था। मेरे वहां रहते हुए रानडेकी जयंती (या पुण्यतिथि, अब ठीक याद नहीं है) पड़ती थी। ऐसा जान पड़ा, मानो गोखले सर्वदा उसको मनाते हों। उस समय मेरे अलावा उनके मित्र प्रोफेसर काथवटे तथा दूसरे एक सज्जन थे। उन्हें उन्होंने जयंती मनाने के लिए निमंत्रित किया और उस अवसरपर उन्होंने हमें रानडेके कितने ही संस्मरण कह सुनाये। रानडे, तैलंग और मांडलिककी तुलना की थी। ऐसा याद पड़ता है कि तैलंगकी भाषा की स्तुति की थी। मांडलिककी सुधारकके रूपमें प्रशंसा की थी। अपने मवक्किलोंकी वह कितनी चिंता रखते थे, इनका एक उदाहरण दिया। एक बार गाड़ी चूक गई तो मांडलिक स्पेशल ट्रेन करके गये। यह घटना कह सुनाई। रानडेकी सर्वांगीण शक्तिका वर्णन करके बताया कि वह तत्कालीन अग्रगियोंमें सर्वोपरि थे। रानडे अकेले न्यायमूर्ति न थे। वह इति-

हासकर थे, अर्थशास्त्री थे। सरकारी जज होते हुए भी कांग्रेसमें प्रेक्षकके रूपमें निर्भय होकर आते थे। फिर उनकी समझदारीपर लोगों का इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयोंको मानते थे। इन बातोंका वर्णन करते हुए गोखलेके हर्षका टिकाना न रहता था।

गोखले घोड़ा-गाड़ी रखते थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मैं उनकी कठिनाइयां न समझ सका था। "क्या आप सब जगह ट्राममें नहीं जा सकते? क्या इससे नेताओंकी प्रतिष्ठा कम हो जायगी?"

कुछ दुःखित होकर उन्होंने उत्तर दिया—"क्या तुम भी मुझे न पहचान सके? बड़ी धारासभासे जोकुछ मुझे मिलता है उसे मैं अपने काममें नही लेता। तुम्हारी ट्रामके सफर पर मुझे ईर्ष्या होती है। पर मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब तुमको मेरे जितने लोग पहचानने लग जावेंगे तब तुम्हें भी ट्राममें बैठना असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर हो जायगा। नेता लोग जो कुछ करते हैं, केवल आमोद-प्रमोदके ही लिए करते हैं, यह मानने का कोई कारण नहीं। तुम्हारी सादगी मुझे पसंद है। मैं भरसक सादगीसे रहता हूं। पर यह बात निश्चित समझना कि कुछ खर्च तो मुझ जैसोंके लिए अनिवार्य हो जाता है।"

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक तरहसे रद्द हो गई; पर मुझे एक दूसरी शिकायत भी थी और उसका वह संतोषजनक उत्तर न दे सके।

"पर आप घूमने भी तो पूरे नही जाते। ऐसी हालतमें आप बीमार क्यों न रहें? क्या देश-कार्यसे व्यायामके लिए फुरसत नहीं मिल सकती?" मैंने कहा।

"मुझे तुम कब फुरसतमें देखते हो कि जिस समय मैं घूमने जाता?" उत्तर मिला।

गोखलेके प्रति मेरे मनमें इतना आदर-भाव था कि मैं उनकी बातों का जवाब न देता था। इस उत्तरसे मुझे संतोष न हुआ; पर मैं चुप रहा। मैं मानता था और अब भी मानता हूं कि जिस तरह हम भोजन-पानके लिए समय निकालते हैं उसी तरह व्यायामके लिए भी निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र सम्मति है कि उससे देश-सेवा कम नहीं, अधिक होती है।

१८

गोखलेके साथ एक मास——२

गोखलेकी छत्रछायामें रहकर यहां मैंने अपना सारा समय घरमें बैठकर नहीं बिताया ।

मैंने अपने दक्षिण अफ्रीकावाले ईसाई-मित्रोंसे कहा था कि भारतमें मैं अपने देसी ईसाइयोंसे जरूर मिलूंगा और उनकी स्थितिको जानूंगा । कालीचरण बनर्जीका नाम मैंने सुना था । कांग्रेसमें वह आगे बढ़कर काम करते थे, इसलिए उनके प्रति मेरे मनमें आदर-भाव हो गया था । क्योंकि हिंदुस्तानी ईसाई आम तौरपर कांग्रेससे और हिंदुओं तथा मुसलमानोंसे अलग रहते थे, इसलिए जो अविश्वास उनके प्रति था, वह कालीचरण बनर्जीके प्रति न दिखाई दिया । मैंने गोखलेसे कहा कि मैं उनसे मिलना चाहता हूं । उन्होंने कहा——"वहां जाकर तुम क्या करोगे ? वह हैं तो बहुत भले आदमी, परंतु मैं समझता हूं कि उनसे मिलकर तुम्हें संतोष न होगा । मैं उनको खूब जानता हूं । फिर भी तुम जाना चाहो तो खुशीसे जा सकते हो ।"

मैंने कालीबाबूसे मिलनेका समय मांगा । उन्होंने तुरंत समय दिया और मैं मिलने गया । घरमें उनकी धर्मपत्नी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई थी । वहां सर्वत्र सादगी फैली हुई थी । कांग्रेसमें वह कोट-पतलून पहने हुए थ, पर घरमें बंगाली धोती व कुरता पहने हुए देखा । यह सादगी मुझे भाई । उस समय यद्यपि मैं पारसी कोट-पतलून पहने हुए था, तथापि उनकी पोशाक और सादगी मुझे बहुत ही प्रिय लगी । मैंने और बातोंमें उनका समय न लेकर अपनी उलझन उनके सामने पेश की ।

उन्होंने मुझसे पूछा——"आप यह बात मानते हैं या नहीं कि हम अपने पापोंको साथ लेकर जन्म पाते हैं ?"

मैंने उत्तर दिया——"हां, जरूर ।"

"तो इस मूल पापके निवारणका उपाय हिंदू-धर्ममें नहीं, ईसाई-धर्ममें है ।"

यह कहकर उन्होंने कहा—"पापका बदला है मौत। बाइबिल कहती है कि इस मौत से बचनेका मार्ग है ईसाकी शरणमें जाना।"

मैंने भगवद्गीताका भक्ति-मार्ग उनके सामने उपस्थित किया, परंतु मेरा यह उद्योग निरर्थक था। मैंने उनकी सज्जनताके लिए उनको धन्यवाद दिया। मुझे संतोष तो न हुआ, फिर भी इस मुलाकातसे लाभ ही हुआ।

इसी महीनेमें मैंने कलकत्तेकी एक-एक गलीकी खाक छान डाली। प्रायः पैदल ही जाता था। इसी समय मैं न्यायमूर्ति मित्रसे मिला। सर गुरुदास बनर्जीसे भी मिला। इन सज्जनोंकी सहायता दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए आवश्यक थी। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जीके दर्शन भी इसी समय हुए।

कालीचरण बनर्जीने मुझसे काली-मंदिरका जिक्र किया था। उसे देखनेकी प्रबल इच्छा थी। एक पुस्तकमें मैंने वहांका वर्णन भी पढ़ा। सो एक दिन वहां चला गया। न्यायमूर्ति मित्रका मकान उसी मुहल्लेमें था। इस-लिए मैं जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन कालीमंदिर गया। रास्तेमें बलिदानके बकरोंकी क़तार जाती हुई देखी। मंदिरकी गलीमें पहुंचते ही भिखारियोंकी भीड़ दिखाई दी। बाबा बैरागी तो थे ही। उस समय भी मेरा यह नियम था था कि हट्टे-कट्टे भिखारीको कुछ न दिया जाय; पर भिखारी तो बहुत ही पीछे पड़ गये थे।

एक बाबाजी एक चौतरेपर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाया, "क्यों बेटा, कहां जाते हो?" मैंने यथोचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे तथा मेरे साथीको बैठनेके लिए कहा। हम बैठ गये।

मैंने पूछा—"इन बकरोंके बलिदानको आप धर्म समझते हैं?"

उन्होंने कहा—"जीव-हत्याको धर्म कौन मानेगा?"

"तो आप यहां बैठेबैठे लोगोंको उपदेश क्यों नहीं देते?"

"यह हमारा काम नहीं। हम तो यहां बैठकर भगवद्भक्ति करते हैं।"

"पर आपको भक्तिके लिए यही स्थान मिला, दूसरा नहीं?"

"कहीं भी बैठें; हमारे लिए सब जगह एकसी है। लोगोंको क्या, वे तो भेड़-बकरीके झुंडकी तरह हैं, जिधर बड़े हांकें, उधर चले जायं। हम साधुओंको इससे क्या मतलब?" बाबाजी बोले।

मैंने संवाद आगे न बढ़ाया। इसके बाद हम मंदिरमें पहुंचे। सामने लहूकी नदी बह रही थी। दर्शन करनेके लिए खड़े रहने की इच्छा न रही। मेरे मनमें बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। मैं छटपटाने लगा। इस दृश्यको मैं अबतक नहीं भल सका हूं।

उसी समय बंगाली मित्रोंकी एक पार्टीमें मुझे निमंत्रण था। वहां मैंने एक सज्जनसे इस घातक पूजा-विधिके संबंधमें बातचीत की। उन्होंने कहा— "वहां बलिदानके समय खूब नौबत बजती है, जिसकी गूंजमें बकरोंको कुछ मालूम नहीं होता। यह मानते हैं कि ऐसी गूंजमें चाहे जिस तरह मारें, उन्हें तकलीफ नहीं होती।"

मुझे यह बात न जंची। मैंने कहा—"यदि वे बकरे बोल सकें तो इससे भिन्न बात कहेंगे।" मेरे मनने कहा—यह घातक रिवाज बंद होना चाहिए। मुझे बुद्धदेववाली कथा याद आई; परंतु मैंने देखा कि यह काम मेरे सामर्थ्यके बाहर था।

उस समय इस संबंधमें मेरी जो धारणा हुई वह अब भी मौजूद है। मेरे नजदीक बकरेके प्राणकी कीमत मनुष्यके प्राणसे कम नहीं है। मनुष्य-देहको कायम रखनेके लिए बकरेका खून करनेको मैं कभी तैयार न होऊंगा। मैं मानता हूं कि जो प्राणी जितना ही अधिक असहाय होगा, वह मनुष्यकी घातकतासे बचनेके लिए मनुष्यके आश्रयका उतना ही अधिक अधिकारी है। परंतु इसके लिए काफी योग्यता या अधिकार प्राप्त किये बिना मनुष्य आश्रय देनेमें समर्थ नहीं हो सकता। बकरोंको इस क्रूर होमसे बचानेके लिए मुझे जो है उससे बहुत अधिक आत्मशुद्धि और त्यागकी आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तो इस शुद्धि और त्यागका रटन करते-करते ही मुझे यह देह छोड़नी पड़ेगी। परमात्मा करे ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष अथवा कोई तेजस्वी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातकसे मनुष्यको बचाये, निर्दोष जीवोंकी रक्षा करे और मंदिरको शुद्ध करे। मैं निरंतर यह प्रार्थना किया करता हूं। ज्ञानी, बुद्धिमान् त्याग-वृत्ति और भावना-प्रधान बंगाल क्योंकर इस बधको सहन कर रहा है?

१९

गोखलेके साथ एक मास—३

काली-माताके निमित्त यह जो विकराल यज्ञ जो रहा है, उसको देखकर बंगाली-जीवनका अध्ययन करनेकी मेरी इच्छा तीव्र हुई। उसमें ब्रह्म-समाजके विषयमें तो मैंने ठीक तौरपर साहित्य पढ़ा था और सुना भी था। प्रतापचंद्र मजूमदारके जीवन-वृत्तांतसे मैं थोड़ा-बहुत परिचित था। उनके व्याख्यान सुने थे। उनका लिखा केशवचंद्र सेनका जीवन-चरित्र लेकर बड़े चावसे पढ़ा और साधारण ब्रह्म-समाज तथा आदि ब्रह्म-समाजका भेद मालूम किया। पंडित शिवनाथ शास्त्रीके दर्शन किये। महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुरके दर्शन करने प्रो० काथवटे और मैं गये। पर उस समय वह किसीसे मिलते-जुलते न थे। अतएव हम उनके दर्शन न कर सके। उनके यहां ब्रह्मसमाजका उत्सव था। उसमें हम भी निमंत्रित किये गये थे। वहां ऊंचे दर्जेका बंगाली संगीत सुना। तभीसे बंगाली संगीतसे मेरा अनुराग हो गया।

ब्रह्म-समाजका, जितना हो सकता था, अध्ययन करनेके बाद भला यह कैसे हो सकता था कि स्वामी विवेकानंदके दर्शन न करता? बड़ी उत्सुकताके साथ मैं बेलूर-मठ तक लगभग पैदल गया। कितना पैदल चला था, यह अब याद नहीं पड़ता है। मठका एकांत स्थान मुझे बड़ा सुहावना मालूम हुआ। वहां जानेपर मालूम हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं, उनसे मुलाकात नहीं हो सकती और वह अपने कलकत्तेवाले घरमें हैं। यह समाचार सुनकर मैं निराश हुआ। भगिनी निवेदिताके घरका पता पूछा। चौरंगीके एक महलमें उनके दर्शन हुए। उनकी शानको देखकर मैं भौंचक्का रह गया। बातचीतमें भी हमारी पटरी ज्यादा न बैठी। मैंने गोखलेसे इसका जिक्र किया तो उन्होंने कहा—"वह देवी बड़ी तेज है, तुम्हारी उनकी पटरी बैठनी मुश्किल है।"

एक बार और उनसे मेरी भेंट पेस्तनजी पादशाहके यहां हुई थी। जिस समय मैं वहां पहुंचा, वह पेस्तनजीकी वृद्धा माताको उपदेश दे रही थीं, इसलिए मैं अनायास उनका दुभाषिंया बन गया। यद्यपि भगिनीका और मेरा मेल

न बैठता था, तथापि मैं इतना अवश्य देख सका कि हिंदूधर्मके प्रति उनका प्रेम अगाध है। उनकी पुस्तकें मैंने बादको पढ़ीं।

अपने दैनिक कार्यक्रमके मैंने दो विभाग किये थे। आधा दिन दक्षिण अफ्रीकाके कामके सिलसिलेमें कलकत्तेके नेताओं से मिलनेमें बिताता और आधा दिन कलकत्तेकी धार्मिक तथा दूसरी सार्वजनिक संस्थाओंको देखनेमें। एक दिन मैंने डा० मल्लिककी अध्यक्षतामें एक व्याख्यान दिया। उसमें मैंने यह बताया कि बोअर-युद्धके समय हिंदुस्तानियोंके परिचारक-दलने क्या काम किया था। 'इंग्लिशमैन'के साथ जो मेरा परिचय था, वह इस समय भी सहायक साबित हुआ। मि० सांडर्सका स्वास्थ्य इन दिनों खराब रहता था, फिर भी १८९६ की तरह इस समय भी उनसे मुझे उतनी ही मदद मिली। मेरा यह भाषण गोखले-को पसंद आया और जब डा० रायने मेरे व्याख्यानकी तारीफ उनसे की तो उसे सुनकर वह बड़े प्रसन्न हुए थे।

इस तरह गोखलेकी छत्रछाया रहनेके कारण बंगालमें मेरा काम बहुत सरल हो गया। बंगालके अग्रगण्य परिवारोंसे मेरा परिचय आसानीसे हो गया, और बंगालके साथ मेरा निकट संबंध हुआ। इस चिरस्मरणीय महीनेके कितने ही संस्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेंगे। उसी महीनेमें ब्रह्मदेशमें भी गोता लगा आया था। वहांके फुंगियोंसे मिला। उनके आलस्यको देखकर बड़ा दुःख हुआ। सुवर्ण पेगोड़के भी दर्शन किये। मंदिरमें असंख्य छोटी-छोटी मोमबत्तियां जल रही थीं, वे कुछ जंची नहीं। मंदिरके गर्भ-गृहमें चूहोंको दौड़ते हुए देखकर स्वामी दयानंदका अनुभव याद आया। ब्रह्मदेशकी महिलाओंकी स्वतंत्रता और उत्साहको देखकर मुग्ध हो गया और पुरुषोंकी मंदता देखकर दुःख हुआ। उसी समय मैंने देख लिया कि जैसे बंबई हिंदुस्तान नहीं, उसी तरह रंगून ब्रह्मदेश नहीं है; और जिस प्रकार हिंदुस्तानमें हम अंग्रेज व्यापारियोंके कमीशन-एजेंट बन गये हैं, उसी तरह ब्रह्मदेशमें अंग्रेजोंके साथ मिलकर हमने ब्रह्मदेश वासियोंको कमीशन एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेशसे लौटकर मैंने गोखलेसे विदा मांगी। उनका वियोग मेरे लिए दुःसह था; परंतु मेरा बंगालका, अथवा सच पूछिए तो यहां कलकत्तेका, काम समाप्त हो गया था।

मेरा यह विचार था कि काममें लगनेसे पहले मैं थोड़ा-बहुत सफर तीसरे दर्जेमें करूं, जिससे तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंकी हालतको मैं जान लूं और दु:खोंको समझ लूं। गोखलेके सामने मैंने अपना यह विचार रक्खा। पहले-पहल तो उन्होंने इसे हंसीमें टाल दिया; पर जब मैंने यह बताया कि इसमें मैंने क्या-क्या बातें सोच रक्खी हैं तब उन्होंने खुशीसे मेरी योजनाको स्वीकार किया। सबसे पहले मैंने काशी जाकर विदुषी ऐनीबेसेंटके दर्शन करना तै किया। वह उस समय बीमार थीं।

तीसरे दर्जेकी यात्राके लिए मुझे नया साज-सामान जुटाना था। पीतल-का एक डिब्बा गोखलेने खुद ही दिया और उसमें मेरे लिए मगदके लड्डू और पूरी रखवा दीं। बारह आनेका एक केनवासका बैग खरीदा। छाया (पोरबंदरके नजदीकके एक गांव) के ऊनका एक लंबा कोट बनवाया था। बैगमें यह कोट, तौलिया, कुरते और धोती रक्खे। ओढ़नेके लिए एक कंबल साथ लिया। इसके अलावा एक लोटा भी साथ रक्खा था। इतना सामान लेकर मैं रवाना हुआ।

गोखले और डा० राय मुझे स्टेशन पहुंचाने आये। मैंने दोनोंसे अनुरोध किया था कि वे न आवें; पर उन्होंने एक न सुनी। "तुम यदि पहले दर्जेमें सफर करते तो मैं नहीं आता; पर अब तो जरूर चलूंगा।"—गोखले बोले।

प्लेटफार्मपर जाते हुए गोखलेको तो किसीने न रोका। उन्होंने सिरपर अपनी रेशमी पगड़ी बांधी थी और धोती तथा कोट पहना था। डा० राय बंगाली लिबासमें थे, इसलिए टिकट बाबूने अंदर आते हुए पहले तो रोका; पर गोखलेने कहा, "मेरे मित्र हैं।" तब डा० राय भी अंदर आ सके। इस तरह दोनोंने मुझे विदा दी।

२०

काशीमें

यह सफर कलकत्तेसे राजकोट तकका था। इसमें काशी, आगरा, जयपुर और पालनपुर होते हुए राजकोट जाना था। इन स्थानोंको देख लेनेके सिवा अधिक समय नहीं दे सकता था। हरएक जगह मैं एक-एक दिन रहा।

पालनपुरको छोड़कर और सब जगह मैं यात्रियोंकी तरह धर्मशालामें या पंडोंके मकानपर ठहरा था। जहांतक मुझे याद है, इस यात्रामें रेल-किराये सहित इकत्तीस रुपये लगे थे। तीसरे दर्जेमें प्रवास करते हुए भी मै अक्सर डाकगाड़ीमें नहीं जाता था; क्योंकि मै जानता था कि उसमे भीड़ ज्यादा होती है और तीसरे दर्जेके किरायेके हिसाबसे वहां पैसे भी अधिक देने पड़ते थे। मेरे लिए यह अड़चन भी थी ही।

तीसरे दर्जेके डिब्बोंमें जो गंदगी और पाखानोंकी बुरी हालत इस समय है, वही पहले भी थी। शायद इन दिनों कुछ सुधार हो गया हो; पर तीसरे और पहले दर्जेकी सुविधाओंमे जो अंतर है वह इन दर्जोंके किरायेके अंतरकी अपेक्षा बहुत अधिक मालूम हुआ। तीसरे दर्जेके यात्री तो मानो भेड़-बकरी होते हैं, और उनके बैठनेके डिब्बे भी भेड़-बकरियोंके लायक होते हैं। यूरोपमें तो मैंने अपनी सारी यात्रा तीसरे दर्जेमें ही की थी; केवल अनुभवके लिए एक बार मैं पहले दर्जेमे बैठा था; पर वहां मुझे पहले और तीसरे दर्जेके बीच यहांका-सा अंतर न दिखाई दिया। दक्षिण अफ्रीकामें तो तीसरे दर्जेके डिब्बोंके मुसाफिर प्रायः हबशी लोग होते हैं; पर फिर भी वहांके तीसरे दर्जेके डिब्बोंमें अधिक सुविधा रहती है। कहीं-कही तो मुसाफिरोंके लिए तीसरे दर्जेके डिब्बोंमें सोनेका भी प्रबंध है, और बैठकोंपर गद्दी भी लगी रहती है। प्रत्येक खानेमे बैठनेवाले यात्रियोंकी संख्याकी मर्यादा का पालन किया जाता है; पर यहा तो मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि यात्रियोंकी संख्याकी इस मर्यादाका पालन किया जाता हो।

रेलवे-विभागकी इन असुविधाओंके अलावा यात्रियोंकी खराब आदतें सुघड़ यात्रियोंके लिए तीसरे दर्जेकी यात्राको दंड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहां थूक दिया, जहां चाहा कचरा फेंक दिया, जब जीमें आया और जिस तरह चाहा बीड़ी फूंकने लगे, पान और जरदा चबाकर जहां बैठे हों वही पिचकारी लगा दी, जूठन वहीं फर्श पर डाल दी, जोरजोरसे बातें करना, पास बैठे मनुष्यकी परवा न करना और गंदी भाषा वगैरा, यह तीसरे दर्जेका आम अनुभव है।

तीसरे दर्जेकी मेरी १९२०ई०की यात्राके अनुभवमें और १९१५से १९१९ तकके दूसरी बारके अखंड अनुभवमे मुझे कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। इस महा व्याधिका तो मुझे एक ही उपाय दिखाई देता है; वह यही कि

शिक्षित समाज तीसरे दर्जेमें ही यात्रा करके इन लोगोंकी आदतें सुधारनेका यत्न करे। इसके सिवा रेलवेके अधिकारियोंको शिकायतें कर-करके तंग कर डालना, अपने लिए सुविधा प्राप्त करने या सुविधाकी रक्षाके लिए किसी प्रकारकी रिश्वत न देना और खिलाफकानून बातको बर्दाश्त न करना—ये भी उपाय हैं। मेरा अनुभव है कि ऐसा करनेसे बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। अपनी बीमारीके कारण १९२० ई०से मुझे तीसरे दर्जेकी यात्रा प्रायः बंद करनी पड़ी है। इसपर मुझे सर्वदा दुःख और लज्जा मालूम होती रहती है। यह तीसरे दर्जेकी यात्रा मुझे ऐसे समयपर बंद करनी पड़ी, जबकि तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी कठिनाइयां दूर करनेका काम रास्तेपर आता जाता था। रेलवे और जहाजमें यात्रा करनेवाले गरीबोंको जो कष्ट और असुविधाएं होती हैं और जो उनकी निजी कुटेवोंके कारण और भी अधिक हो जाती हैं, साथ ही सरकारकी ओरसे विदेशी व्यापारियोंके लिए अनुचित सुविधाएं की जाती हैं, इत्यादि बातें हमारे सार्वजनिक जीवनमें एक स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन बैठी हैं और इसे हल करनेके लिए यदि एक-दो सुदक्ष और उद्योगी सज्जन अपना सारा समय दे डालें तो वह अधिक नहीं होगा।

अब तीसरे दर्जेकी यात्राकी चर्चा यहीं छोड़कर काशीके अनुभव सुनिए। सुबह मैं काशी उतरा। मैं किसी पंडेके यहां उतरना चाहता था। कई ब्राह्मणोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। उनमेंसे जो मुझे साफ-सुथरा दिखाई दिया, उसके घर जाना मैंने पसंद किया। मेरी पसंदगी ठीक भी निकली। ब्राह्मणके आंगनमें गाय बंधी थी। घर दुमंजिला था। ऊपर मुझे ठहराया। मैं यथाविधि गंगा-स्नान करना चाहता था और तबतक निराहार रहना था। पंडाने सारी तैयारी कर दी। मैंने पहलेसे कह रक्खा था कि १।)से अधिक दक्षिणा मैं नहीं दे सकूंगा, इसलिए उसी योग्य तैयारी करना। पंडेने बिना किसी झगड़ेके मेरी बात मान ली। कहा—"हम तो क्या गरीब और क्या अमीर, सबसे एकही-सी पूजा करवाते हैं। यजमान अपनी इच्छा और श्रद्धाके अनुसार जो दे दे, वही सही।" मुझे ऐसा नहीं मालूम कि पंडेने पूजामें कोई कोर-कसर रक्खी हो। बारह बजेतक पूजा-स्नानसे निवृत्त होकर मैं काशीविश्वनाथके दर्शन करने गया; पर वहां जो कुछ देखा उससे मनमें बड़ा दुःख हुआ।

सन् १८९१ ई०में जब मैं बंबईमें वकालत करता था, एक दिन प्रार्थना-

समाज-मंदिरमें 'काशी-यात्रा' पर एक व्याख्यान सुना था। इससे कुछ निराशाके लिए तो वहींसे तैयार हो गया था; पर प्रत्यक्ष देखनेपर जो निराशा हुई वह तो धारणासे अधिक थी। एक संकड़ी फिसलनी गलीसे होकर जाना पड़ता था। शांतिका कही नाम नहीं। मक्खियां चारों ओर भिनभिना रही थीं। यात्रियों और दुकानदारोंका हो-हल्ला असह्य मालूम हुआ।

जहां मनुष्य ध्यान एवं भगवच्चिंतनकी आशा रखता हो, वहां उनका नामोनिशान नहीं; ध्यान करना हो तो वह अपने अंतरमें ही कर सकते थे। हां, ऐसी भावुक बहनें मैंने जरूर देखीं, जो ऐसी ध्यान-मग्न थीं कि उन्हें अपने आस-पासकी कुछ भी खबर न थी; पर इसका श्रेय मंदिरके संचालकोंको नहीं मिल सकता। संचालकोंका कर्त्तव्य तो यह है कि काशी-विश्वनाथके आस-पास शांत, निर्मल, सुगंधित, स्वच्छ वातावरण—क्या बाह्य और क्या आंतरिक—उत्पन्न करें, और उसे बनाये रक्खें; पर इसकी जगह मैंने देखा कि वहां गुंडे लोगोंका, नये-से-नये तर्जकी मिठाई और खिलौनोंका बाजार लगा हुआ था।

मंदिरपर पहुंचते ही मैंने देखा कि दरवाजेके सामने सड़े हुए फूल पड़े थे और उनमेंसे दुर्गंध निकल रही थी। अंदर बढ़िया संगमरमरी फर्श था। उसपर किसी अंध-श्रद्धालुने रुपये जड़ रक्खे थे और उनमें मैला-कचरा घुसा रहता था।

मैं ज्ञान-वापीके पास गया। यहां मैंने ईश्वरकी खोज की। पर मुझे न मिला। इससे मैं मन-ही-मन घुट रहा था। ज्ञान-वापीके पास भी गंदगी देखी। भेंट रखनेकी मेरी जरा भी इच्छा न हुई। इसलिए मैंने तो सचमुच ही एक पाई वहां चढ़ाई। इसपर पंडाजी उखड़ पड़े। उन्होंने पाई उठाकर फेंक दी और दो-चार गालियां सुनाकर बोले—"तू इस तरह अपमान करेगा तो नरकमें पड़ेगा!"

मैं चुप रहा। मैंने कहा— "महाराज, मेरा तो, जो होना होगा वह होगा; पर आपके मुहसे हलकी बात शोभा नहीं देती। यह पाई लेना हो तो लें, वर्ना इसे भी गंवायेंगे।"

"जा, तेरी पाई मुझे नहीं चाहिए"— कहकर उन्होंने और भी भला-बुरा कहा। मैं पाई लेकर चलता हुआ। मैंने सोचा कि महाराजने पाई गंवाई और मैंने बचा ली। पर महाराज पाई खोनेवाले न थे। उन्होंने मुझे फिर बुलाया

और कहा—"अच्छा रख दे; मैं तेरे-जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूं तो तेरा बुरा होगा।"

मैंने चुपचाप पाई दे दी और एक लंबी सांस लेकर चलता बना। इसके बाद भी दो-एक बार काशी-विश्वनाथ गया; पर वह तो तब, जब 'महात्मा' बन चुका था। इसलिए १९०२के अनुभव भला कैसे मिलते? खुद मेरे ही दर्शन करनेवाले मुझे दर्शन कहांसे करने देते? 'महात्मा'के दुःख तो मुझ-जैसे 'महात्मा' ही जान सकते हैं; किन्तु गंदगी और होहल्ला तो जैसे-के-तैसे ही वहां देखे।

परमात्माकी दया पर जिसे शंका हो, वह ऐसे तीर्थ-क्षेत्रोंको देखे। वह महायोगी अपने नामपर होनेवाले कितने ढोंग, अधर्म और पाखंड इत्यादिको सहन करते हैं। उन्होंने तो कह रक्खा है:—

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात्,—"जैसी करनी वैसी भरनी।" कर्मको कौन मिथ्या कर सकता है? फिर भगवान्‌को बीचमें पड़नेकी क्या जरूरत है? वह तो अपने कानून बतलाकर अलग हो गया।

यह अनुभव लेकर मैं मिसेज बेसेंटके दर्शन करने गया। वह अभी बीमारीसे उठी थीं। यह मैं जानता था। मैंने अपना नाम पहुंचाया। वह तुरंत मिलने आईं। मुझे तो सिर्फ दर्शन ही करने थे। इसलिए मैंने कहा—

"मुझे आपकी नाजुक तबियतका हाल मालूम है, मैं तो सिर्फ आपके दर्शन करने आया हूं। तबियत खराब होते हुए भी आपने मुझे दर्शन दिये, केवल इसीसे मैं संतुष्ट हूं; अधिक कष्ट मैं आपको नहीं देना चाहता।"

यह कहकर मैंने उनसे विदा ली।

२१

बंबईमें स्थिर हुआ

गोखलेकी बड़ी इच्छा थी कि मैं बंबई रह जाऊं, वहीं बैरिस्टरी करूं और उनके साथ सार्वजनिक जीवनमें भाग लूं। उस समय सार्वजनिक जीवनका मतलब था कांग्रेसका काम। उनकी प्रस्थापित संस्थाका खास काम कांग्रेसके

तंत्रका संचालन था ।

मेरी भी यही इच्छा थी; पर यहां काम मिल जानेके विषयमें मुझे आत्म-विश्वास न था । पहले अनुभवकी याद भूला न था और खुशामद करना तो मेरे लिए मानो जहर था ।

इसलिए पहले तो मै राजकोट ही रहा । वहां मेरे पुराने हितैषी और मुझे विलायत भेजनेवाले केवलराम मावजी दवे थे । उन्होंने मुझे तीन मुकदमे दिये । दो अपीलें काठियावाड़के जुडीशियल असिस्टेंटके इजलास में थी और एक खास मुकदमा जामनगरमें था । यह मामला महत्त्वका था । इस मामलेकी जिम्मेदारी लेनेमे मैने आनाकानी की, तब केवलराम बोल उठे--"हारेंगे तो हम हारेंगे न ? तुमसे जितना हो सके करना; और मै भी तुम्हारे साथ ही रहूंगा ।"

इस मामलेमे प्रतिपक्षीकी तरफ स्व० समर्थ थे । मेरी तैयारी भी ठीक थी । वहाके कानूनकी तो मुझे ठीक जानकारी न थी; पर इस संबंधमें मुझे केवल-राम दवेने पूरा तैयार कर दिया था । दक्षिण अफीका जानेसे पहले मित्र लोग मुझे कहा करते थे--"एविडेंस-एक्ट (कानून गवाह) फिरोजशाहकी जबानपर रक्खा है, और यही उनकी सफलताकी चाबी है ।" यह मैने ध्यानमें रक्खा, और दक्षिण अफीका जाते समय मैंने भारतके इस कानूनको टीका-सहित पढ़ लिया था । इसके अतिरिक्त दक्षिण अफीकाका अनुभव तो था ही ।

मुकदमेमे मेरी जीत हुई । इससे मुझे कुछ विश्वास हुआ । पहली दो अपीलोके विषयमे तो मुझे पहलेसे ही भय न था । मनमे सोचा कि अब बंबई जानेमें भी कोई हर्ज नही है ।

इस विषयपर अधिक लिखनेसे पहले जरा अंग्रेज अधिकारियोंके अ-विचार और अज्ञानका अनुभव भी कह डालूं । जुडीशियल असिस्टेंट कही एक जगह नही बैठते थे । उसकी सवारी घूमती रहती थी; और जहां यह साहब जाते, वही वकील और मवक्किलोंको भी जाना ही पड़ता । और वकीलकी फीस जितनी उसके रहनेकी जगहपर हो, बाहर उससे अधिक होती थी । इसलिए मवक्किलको सहज ही दुगना खर्च पड़ता; पर इसका विचार करनेकी जजको क्या जरूरत ?

इस अपीलकी सुनवाई वेरावलमे होनेवाली थी । वेरावलमें उस वक्त

प्लेग जोरोंसे फैल रहा था। जहांतक मुझे याद है, रोज पचास मृत्युएं होती थीं। वहांकी बस्ती साढ़े पांच हजारके लगभग थी। करीब-करीब सारा गांव खाली हो गया था। मेरे ठहरनेका स्थान वहांकी निर्जन धर्मशालामें था। गांवसे वह धर्मशाला कुछ दूरी पर थी; पर मवक्किलोंका क्या हाल? यदि वे गरीब हों तो उनका मालिक बस ईश्वर ही समझिए!

मुझे वकील मित्रोंने तार दिया कि मैं साहबसे प्रार्थना करूं कि प्लेगके कारण अदालतका स्थान बदल दें। प्रार्थना करनेपर साहबने पूछा—"क्या तुम्हें प्लेगसे डर लगता है?"

मैंने कहा—"यह मेरे डरनेका प्रश्न नहीं है। मैं अपनी हिफाजत करना जानता हूं; पर मवक्किलका क्या होगा?"

साहब बोले—"प्लेगने तो हिंदुस्तानमें घर कर लिया है, उससे क्या डरना! वेरावलकी हवा कितनी सुंदर है! (साहब गांवसे दूर दरिया-किनारे महलके समान एक तंबूमें रहते थे) लोगोंको इस प्रकार बाहर रहना सीखना चाहिए।"

इस फिलासफीके सामने मेरी क्या चलने लगी? साहबने सरिश्तेदारसे कहा—"मि० गांधीका कहना ध्यानमें रखना। यदि वकील-मवक्किलोंको ज्यादा तकलीफ मालूम दे, तो मुझे बताना।"

इसमें साहबने तो सचाईसे अपनी मतिके माफिक उचित ही किया; पर उसे कंगाल हिंदुस्तानकी असुविधाओंका अंदाज कैसे हो? वह बेचारा हिंदुस्तानकी आवश्यकताओं, आदतों, कुटेवों और रिवाजोंको क्या समझे? पंद्रह रुपयेकी, मुहरकी गिनती करनेवाला पाईकी गिनती कैसे झट लगा सकता है? अच्छे-से-अच्छा हेतु होनेपर भी जैसे हाथी चींटीके लिए विचार करनेमें असमर्थ होता है उसी प्रकार हाथीके समान जरूरतवाला अंग्रेज भी चींटियोंके समान जरूरतवाले हिंदुस्तानीके लिए विचार करने और नियम-निर्माण करनेमें असमर्थ ही होगा।

अब खास विषयपर आता हूं। इस प्रकार सफलता मिलनेपर भी मैं थोड़े समय राजकोटमें ही रहनेका विचार कर रहा था। इतनेमें एक दिन केवलराम मेरे पास आये और बोले—"अब तुमको यहां न रहने देंगे। तुम्हें तो बंबईमें ही रहना पड़ेगा।"

"पर वहां मेरी पूछ ही ज्यादा न होगी; क्या आप मेरा वहांका खर्च चलायेंगे ?" मैंने कहा ।

"हां, हां, मैं तुम्हारा खर्च चलाऊंगा, तुम्हें बड़े-बड़े बैरिस्टरोंकी तरह किसी वक्त यहां लाऊंगा और लिखने-लिखानेका काम तो तुम्हारे लिए वहीं भेज दिया करूंगा । बैरिस्टरोंको बड़े-छोटे बनानेका काम तो हम वकीलोंका है न ? तुमने जामनगर और वेरावलमें जैसा काम किया है, उससे तुम्हारी नाप हो गई है और मैं बेफिक्र हो गया हूं । तुम जो लोक-सेवा करने के लिए पैदा हुए हो, उसे यहां काठियावाड़में दफन नहीं होने देंगे । बोलो, कब जा रहे हो ?"

"नेटालसे मेरे कुछ रुपये आने बाकी हैं, उनके आनेपर जाऊंगा ।"

दो-एक सप्ताहमें रुपये आ गये और मैं बंबई चला गया । वहां मैंने पेन गिल्बर्ट और सयानीके आफिसमें 'चेंबर्स' किरायेपर लिये और ऐसा लगा मानो वहां स्थिर हो गया ।

२२

धर्म-संकट

आफिसके अलावा मैंने गिरगांवमें घर भी लिया, परंतु ईश्वरने मुझे स्थिर नहीं रहने दिया । घर लिये बहुत दिन नहीं हुए थे कि मेरा दूसरा लड़का सख्त बीमार हो गया । काल-ज्वरने उसे घेर लिया था । बुखार उतरता नहीं था । घबराहट तो थी ही; पर रातको सन्निपातके लक्षण भी दिखाई देने लगे । इस व्याधिसे पहले, बचपनमें, उसे चेचक भी जोरकी निकल चुकी थी ।

डाक्टरकी सलाह ली । डाक्टरने कहा—"इसके लिए दवाका उपयोग नहीं हो सकता । अब तो इसे अंडे और मुर्गीका शोरवा देनेकी जरूरत है ।"

मणिलालकी उम्र दस सालकी थी, अतः उससे तो क्या पूछना था ! मैं उसका पालक था, अतः मुझे ही निर्णय करना था । डाक्टर एक भले पारसी थे । मैंने कहा— "डक्टर, हम तो सब अन्नाहारी हैं । मेरा विचार तो लड़केको इन दोनोंमेंसे एक भी वस्तु देनेका नहीं है । दूसरी ही कोई वस्तु न बतलायेंगे ?"

डाक्टर बोले— "तुम्हारे लड़केकी जान खतरेमें है । दूध और पानी

मिलाकर दिया जा सकता है; पर उससे पूरा पोषण नहीं मिल सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिंदू-परिवारोंमें जाया करता हूं; पर दवाके लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते हैं और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूं कि तुम भी अपने लड़केके साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।"

"आप जो कहते हैं वह तो ठीक है, और आपको ऐसा कहना ही चाहिए; पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता तो जरूर उसकी इच्छा जाननेका प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता; पर यहां तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूं कि मनुष्यके धर्मकी कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो चाहे गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्यको मांसादि न खाना चाहिए। जीवनके साधनोंकी भी सीमा होनी है। जीनेके लिए भी अमुक वस्तुओंको हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे और मेरे लोगोंको भी ऐसे समयपर मांस इत्यादिका उपयोग करनेसे रोकती है। इसलिए आप जिस खतरेको देखते हैं मुझे उसे उठाना होगा। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूं। आपका इलाज तो मैं नहीं करूंगा; पर मुझे इस बालककी नाड़ी और हृदयको देखना नहीं आता है। जल-चिकित्साकी मुझे थोड़ी जानकारी है। उन उपचारोंको मैं करना चाहता हूं; परंतु अगर आप समय-समयपर मणिलालकी तबियत देखनेको आते रहें और उसके शरीरमें होनेवाले फेरफारोंसे मुझे परिचित करते रहेंगे तो मैं आपका उपकार मानूंगा।"

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयोंको समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलालको देखनेके लिए आना मंजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था तो भी डाक्टरके साथ जो मेरी बातचीत हुई थी वह मैंने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करनेको कहा।

"आप खुशीके साथ जल-चिकित्सा कीजिए। मैं शोरवा नहीं पीऊंगा, और न अंडे ही खाऊंगा।" उसके इन वाक्योंसे मैं प्रसन्न हुआ; यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खानेको कहता तो वह खा भी लेता।

मैं कूनेके उपचारोंको जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारीमें

उपवासका स्थान बड़ा है, यह मैं जानता था। कूनेकी पद्धतिके अनुसार मैंने मणिलालको कटि-स्नान कराना शुरू किया। तीन मिनटसे ज्यादा उसे टबमें नहीं रखता। तीन दिन तो सिर्फ नारंगीके रसमें पानी मिलाकर देता रहा और उसीपर रक्खा।

बुखार दूर नहीं होता था और रातको वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता था। बुखार १०४ डिग्री तक हो जाता था। मैं घबराया। यदि बालकको खो बैठा तो जगत्‌मे लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टरोंको क्यों न बुला लू? किसी वैद्यको क्यों न बुलाऊं? मां-बापको अपनी अधूरी अकल आजमानेका क्या हक है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—"जीव! जो तू अपने लिए करता है, वही यदि लड़के के लिए भी करे तो इससे परमेश्वर संतोष मानेंगे। तुझे जल-चिकित्सापर श्रद्धा है, दवापर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो देते नहीं। उनके भी तो आखिरमे प्रयोग ही है न। जीवनकी डोरी तो एकमात्र ईश्वरके ही हाथमे है। ईश्वरका नाम ले और उसपर श्रद्धा रख और अपने मार्गको न छोड़।"

मनमें इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलालको अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैने निश्चय किया कि उसे भीगी चादरकी पट्टीमे रक्खा जाय। मै उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानीमे उसे डुबोया और निचोड़कर उसमे पैरसे लेकर सिर तक उसे लपेट दिया और ऊपरसे दो कम्बल ओढ़ा दिये; सिरपर भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया। शरीर तवेकी तरह तप रहा था, व बिलकुल सूखा था, पसीना तो आता ही न था।

मै खूब थक गया था। मणिलालको उसकी मांको सौंपकर मै आध घंटेके लिए खुली हवामे ताजगी और शांति प्राप्त करनेके इरादेसे चौपाटीकी तरफ गया। रातके दस बजे होंगे। मनुष्योंकी आमद-रफ्त कम हो गई थी; पर मुझे इसका खयाल न था! विचार-सागरमे गोते लगा रहा था—"हे ईश्वर! इस धर्म-संकटमें तू मेरी लाज रखना।" मुहसे 'राम-राम'का रटन तो चल ही रहा था। कुछ देरके बाद मै वापस लौटा। मेरा कलेजा धड़क रहा था। घरमे घुसते ही मणिलालने आवाज दी—"बापू! आगये?"

"हां, भाई।"

"मुझे इसमेंसे निकालिए न! मैं तो मारे आगके मरा जा रहा हूं।"

"क्यों, पसीना छूट रहा है क्या ?"

"अजी, मैं तो पसीनेसे तर हो गया। अब तो मुझे निकालिए।"

मैंने मणिलालका सिर देखा। उसपर मोतीकी तरह पसीनेकी बूंदें चमक रही थीं। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वरको धन्यवाद दिया।

"मणिलाल, घबड़ा मत। अब तेरा बुखार चला जायगा, पर कुछ और पसीना आ जाय तो कैसा ?" मैंने उससे कहा।

उसने कहा—"नहीं बापू! अब तो मुझे छुड़ाइए। फिर देखा जायगा।"

मुझे धैर्य आ गया था, इसीलिए बातोंमें कुछ मिनट गुजार दिये। सिरसे पसीनेकी धारा बह चली। मैंने चद्दरको अलग किया और शरीरको पोंछकर सूखा कर दिया। फिर बाप-बेटे दोनों साथ सो गये। दोनों खूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलालका बुखार बहुत कम हो गया है। दूध, पानी तथा फलोंपर चालीस दिनोंतक रखा। मैं निश्चिन्त हो गया था। बुखार हठीला था; पर वह काबूमें आ गया था। आज मेरे लड़कोंमें मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजीकी कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार अथवा और किसी उपायकी ? भले ही सब अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार करें; पर उस वक्त मेरी तो ईश्वरने ही लाज रक्खी। यही मैंने माना और आज भी मानता हू।

२३

फिर दक्षिण अफ्रीका

मणिलाल तो अच्छा हो गया; पर मैंने देखा कि गिरगांववाला मकान रहने लायक न था। उसमें सील थी। प्रकाश भी काफी न था। इसलिए रेवाशंकरभाईसे सलाह करके हम दोनोंने बंबईके किसी खुली जगहवाले मुहल्लेमें मकान लेनेका निश्चय किया। मैं बांदरा, सांताक्रुज वगैरामें भटका। बांदरामें कसाई-खाना था, इसलिए वहां रहनेकी हमारी इच्छा न हुई। घाटकूपर वगैरा

समुद्रसे दूर मालूम हुए। सांताक्रुजमें एक सुंदर बंगला मिल गया। वहां रहने लगे व हमने समझा कि आरोग्यकी दृष्टिसे हम सुरक्षित हो गये। चर्चगेट जानेके लिए मैने वहांसे पहले दर्जेका पास ले लिया। मुझे स्मरण है कि कई बार पहले दर्जेमें अकेला मैं ही रहता। इसलिए मुझे कुछ अभिमान भी होता। कई बार बांदरासे चर्चगेट जानेवाली खास गाड़ी पकड़नेके लिए सांताक्रुजसे चलकर जाता। मेरा धंधा आर्थिक दृष्टिसे भी मेरी धारणासे ज्यादा ठीक चलता हुआ मालूम होने लगा। दक्षिण अफ्रीकाके मवक्किल भी मुझे कुछ काम देते थे। मुझे लगा कि इससे मेरा खर्च सहूलियतसे निकल सकेगा।

हाईकोर्टका काम तो अभी मुझे नहीं मिलता था; पर उस समय वहांपर जो 'मूट' (चर्चा) चलती रहती थी, उसमें मैं जाया करता था; पर उसमें भाग लेनेकी मेरी हिम्मत नहीं होती थी। मुझे याद है कि उसमें जमीयतराम नानाभाई काफी भाग लेते थे। दूसरे नये बैरिस्टरोंकी भांति मैं भी हाईकोर्टके मुकदमे सुननेके लिए जाने लगा; पर वहां कुछ जाननेके बदले समुद्रकी फर-फर चलने-वाली हवामें झोंके खानेमें अच्छा आनंद मिलता था। दूसरे साथी भी ऊंघते ही थे, इससे मुझे शर्म भी न आती। मैंने देखा कि वहां ऊंघना भी 'फैशन' में शुमार है।

हाईकोर्टके पुस्तकालयका उपयोग शुरू किया और वहां कुछ जान-पहचान भी शुरू की। मुझे लगा कि थोड़े ही समयमें मैं भी हाईकोर्टमें काम करने लगूंगा।

इस प्रकार एक ओर मुझे अपने धंधेके विषयमें कुछ निश्चितता होने लगी, दूसरी तरफ गोखलेकी नजर तो मुझपर थी ही। सप्ताहमें दो-तीन बार चेंबरमें आकर वह मेरी खबर ले जाते और कभी-कभी अपने खास मित्रोंको भी ले आते थे। बीच-बीचमें वह अपने काम करनेके ढंगसे भी मुझे वाकिफ करते जाते थे।

पर मेरे भविष्यके विषयमें यह कहना ठीक होगा कि ईश्वरने ऐसा कोई भी काम नहीं होने दिया, जिसे करनेका मैंने पहले सोच रक्खा हो। जैसे ही मैंने स्थिर होनेका निश्चय किया और स्वस्थताका अनुभव करने लगा, एकाएक दक्षिण अफ्रीकासे तार आ गया—"चैम्बरलेन यहां आ रहे हैं, तुम्हें शीघ्र आना चाहिए।" मेरा वचन मुझे याद ही था। मैंने तार दिया—"खर्च भेजिए,

मैं आनेको तैयार हूं।" उन्होंने तत्काल रुपये भेजे और मैं आफिस समेटकर वहां रवाना हो गया ।

मैंने सोचा था कि मुझे वहा एक वर्ष तो यों ही लग जायगा । अतः बंगला रहने दिया और बाल-बच्चोंको भी वहीं रखना ठीक समझा ।

मैं यह मानता था कि जो युवक देसमें कमाई न करते हो और साहसी हों, उन्हें विदेशोंमें जाना चाहिए । इसलिए मैं अपने साथ चार-पांच युवकोंको भी ले गया । उनमें मगनलाल गांधी भी थे ।

गांधी-कुटुंब बड़ा था, आज भी है । मेरी इच्छा थी कि उसमेंसे जो लोग स्वतंत्र होना चाहें, वे स्वतंत्र हो जायं । मेरे पिता कइयोंका निर्वाह करते थे; पर वह थे रजवाड़ोंकी नौकरीमें; मैं चाहता था कि वह इस नौकरीसे निकल सकें तो ठीक हो । यह हो नहीं सकता था कि मैं उन्हें दूसरी नौकरी दिलवानेका यत्न करता । शक्ति होनेपर भी इच्छा न थी । मेरी धारणा तो यह थी कि वह स्वयं और दूसरे भी स्वावलंबी बनें तो अच्छा । पर अंतमें तो ज्यों-ज्यों मेरे आदर्श आगे बढ़े (यह मैं मानता हूं) त्यों-त्यों उन युवकोंके आदर्शको बनाना भी मैंने आरंभ किया । उनमे मगनलाल गांधीको बनानेमें मुझे बड़ी सफलता मिली——पर इस विषयपर आगे चल कर लिखा जायगा ।

बाल-बच्चोंका वियोग, जमा हुआ काम तोड़ देना, निश्चिततासे अ-निश्चिततामें प्रवेश करना——यह सब क्षणभरके लिए खटका; पर मैं तो अनिश्चित जीवनका आदी हो गया था । इस दुनियामें ईश्वर या सत्य, कुछ भी कहिए, उसके सिवा दूसरी कोई चीज निश्चित नहीं । यहां निश्चितता मानना ही भ्रम है । यह सब जो अपने आसपास हमें दिखाई पड़ता है और बनता रहता है, अ-निश्चित और क्षणिक है; उसमें जो एक परमतत्व निश्चित-रूपसे छिपा हुआ है, उसकी जरा-सी 'झलक' ही मिल जाय और उसपर श्रद्धा बनी रहे, तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकता है । उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है ।

मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुंचा, यह नहीं कहा जा सकता । मेरे लिए तो काम तैयार ही रक्खा था । मि० चेंबरलेनसे मिलनेवाले डेप्यूटेशनकी तारीख तय हो चुकी थी । मुझे उनके सामने पढ़नेके लिए निवेदनपत्र तैयार करना था और डेप्यूटेशनके साथ जाना था ।

चौथा भाग

१

किया-कराया स्वाहा ?

मिस्टर चेंबरलेन तो दक्षिण अफ्रीकासे साढ़े तीन करोड़ पौंड लेनेके लिए तथा अंग्रेजोंका, और हो सके तो बोअरोंका भी मनहरण करनेके लिए आये थे। इसलिए हिंदुस्तानी प्रतिनिधियोंको उनकी ओरसे यह ठंडा जवाब मिला—

"आप तो जानते ही हैं कि उत्तरदायित्व-पूर्ण उपनिवेशोंपर साम्राज्य-सरकारकी सत्ता नाममात्र की है। हां, आपकी शिकायतें अलबत्ता सच मालूम होती हैं, सो मैं अपने बस-भर उनको दूर करनेकी चेष्टा करूंगा; पर आप एक बात न भूलें। जिस तरह हो सके आपको यहांके गोरोंको राजी रखकर ही रहना है।"

इस जवाबको सुनकर प्रतिनिधियोंपर तो मानो पानी पड़ गया। मैंने भी आशा छोड़ दी। मैंने तो इसका तात्पर्य समझ लिया कि अब फिर से 'हरिः ॐ' करना पड़ेगा। और मैंने अपने साथियोंपर भी यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर दी; पर मि० चैंबरलेनका जवाब क्या झूठा था? गोल-मोल कहनेके बदले उन्होंने खरी बात कह दी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम उन्होंने कुछ मधुर शब्दोंमें बता दिया, पर हमारे पास तो लाठी ही कहां थी? लाठी तो दूर, लाठीकी चोट सहनेवाले शरीर भी मुश्किलसे हमारे पास थे।

मि० चैंबरलेन कुछ ही सप्ताह वहां रहनेवाले थे। दक्षिण अफ्रीका कोई छोटा-सा प्रांत नहीं, उसे तो एक देश, एक भूखंड ही कहना चाहिए। अफ्रीका-के पेटमें तो कितने ही उपखंड पड़े हुए हैं। कन्याकुमारीसे श्रीनगर यदि १९०० मील है तो डरबनसे केपटाउन ११०० मीलसे कम नहीं। इस इतने बड़े खंडमें उन्हें 'पवन-वेग'से घूमना था। वह ट्रांसवाल रवाना हुए। मुझे सारी तैयारी करके भारतीयोंका पक्ष उनके सामने उपस्थित करना था। अब यह समस्या

खड़ी हुई कि मैं प्रिटोरिया किस तरह पहुंचूं ? मेरे समयपर पहुंच सकनेकी इजाजत लेनेका काम हमारे लोगोंसे हो नहीं सकता था ।

बोअर-युद्ध के बाद ट्रांसवाल करीब-करीब ऊजड़ हो गया था। वहां न खाने-पीनेके लिए अनाज रह गया था, न पहनने-ओढ़नेके लिए कपड़े ही। बाजार खाली और दुकानें बंद मिलती थीं। उनको फिरसे भरना और खुला करना था और यह काम तो धीरे-ही-धीरे हो सकता था और ज्यों-ज्यों माल आता जाता त्यों-ही-त्यों उन लोगोंको, जो घरबार छोड़कर भाग गये थे, आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रांसवालवासीको परवाना लेना पड़ता था। अब गोरे लोगोंको तो परवाना मांगते ही तुरंत मिल जाता; परंतु हिंदुस्तानियोंको बड़ी मुसीबतका सामना करना पड़ता था ।

लड़ाईके दिनोंमें हिंदुस्तान और लंकासे बहुतेरे अफसर और सिपाही दक्षिण अफ्रीरिकामें आ गये थे। उनमेंसे जो लोग वही बसना चाहते थे उनके लिए सुविधा कर देना ब्रिटिश अधिकारियोंका कर्त्तव्य माना गया था। इधर एक नवीन अधिकारी-मंडलकी रचना उन्हें करनी थी। सो ये अनुभवी कर्मचारी सहज ही उनके काम आ गये। इन कर्मचारियोंकी तीव्र बुद्धिने एक नये महकमेकी ही सृष्टि कर डाली और इस काममें वे अधिक पटु तो थे ही। हब्शियों-के लिए ऐसा एक अलग महकमा पहले ही से था, तो फिर इन लोगोंने अकल भिड़ाई कि एशियावासियोंके लिए भी अलग महकमा क्यों न कर लिया जाय ? सब उनकी इस दलीलके कायल हो गये। यह नया महकमा मेरे जानेसे पहले ही खुल चुका था और धीरे-धीरे अपना जाल फैला रहा था। जो अधिकारी भागे हुए लोगोको परवाना देते थे, वे ही सबको दे सकते थे, परंतु यह उन्हें पता कैसे चल सकता है कि एशियावासी कौन है ? यदि इस नवीन महकमेकी सिफारिश पर ही उसको परवाना दिया जाय तो उस अधिकारीकी जिम्मेदारी कम हो जाय और उसके कामका बोझ भी कुछ घट जाय, यह दलील पेश की गई। बात दरअसल यह थी कि इस नये महकमेको कुछ कामकी और कुछ दामकी (धनकी) जरूरत थी। यदि काम न हो तो इस महकमेकी आवश्यकता सिद्ध नहीं हो सकती और उसे बंद करना पड़ता। तो इसलिए उसे यह काम सहज ही मिल गया ।

तरीका यह था कि हिंदुस्तानी पहले इस महकमेमें अर्जी दें। फिर बहुत

दिनोंमें जाकर उसका जवाब मिलता। इधर ट्रांसवाल जानेकी इच्छा रखनेवालों-की संख्या बहुत थी। फलतः उनके लिए दलालोंका एक दल बन गया। इन दलालों और अधिकारियोंमें बेचारे गरीब हिंदुस्तानियोंके हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया कि बिना किसी जरियेके परवाना नहीं मिलता और जरिया होनेपर भी कितनी ही बार तो सौ-सौ पौंड फी आदमी खर्च हो जाता है। ऐसी हालतमें भला मेरी दाल कैसे गलती ?

तब मैं अपने पुराने मित्र, डरबनके पुलिस सुपरिंटेंडेंटके यहां पहुंचा और उनसे कहा--"आप परवाना देनेवाले अधिकारीसे मेरा परिचय करा दीजिए और मुझे परवाना दिला दीजिए। आप यह तो जानते ही हैं कि मैं ट्रांसवालमें रह चुका हूं।" उन्होंने तुरंत सिरपर टोप रखा और मेरे साथ चलकर परवाना दिला दिया। इस समय ट्रेन छूटनेमें मुश्किलसे एक घंटा था। मैंने अपना सामान वगैरा बांध-बूंधकर पहलेसे ही तैयार रखा था। इस कष्टके लिए मैंने सुपरिंटेंडेंट एलेग्जेंडरको धन्यवाद दिया और प्रिटोरिया जानेके लिए रवाना हो गया।

इस समयतक वहांकी कठिनाइयोंका अंदाज मुझे ठीक-ठीक हो गया था। प्रिटोरिया पहुंचकर मैंने एक दरख्वास्त तैयार की। मुझे यह याद नहीं पड़ता कि डरबनमें किसीसे प्रतिनिधियोंके नाम पूछे गये थे। यहां तो नया ही महकमा काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियोंके नाम मेरे आनेके पहले ही पूछ लिये गये थे। इसका आशय यह था कि मुझे इस मामलेसे दूर रक्खा जाय, पर इस बातका पता प्रिटोरियाके हिंदुस्तानियोंको लग गया था।

यह दुःखदायक किंतु मनोरंजक कहानी अगले प्रकरणमें।

२

एशियाई नवाबशाही

इस नये महकमेके कर्मचारी यह न समझ सके कि मै ट्रांसवालमें किस तरह आ पहुंचा। जो हिंदुस्तानी उसके पास आते-जाते रहते थे उनसे उन्होंने पूछ-ताछ भी की; पर वे बेचारे क्या जानते थे ? तब कर्मचारियोंने अनुमान लगाया कि हो-न-हो अपनी पुरानी जान-पहचानकी वजहसे मैं बिना परवाना लिये ही आ घुसा हूं; और यदि ऐसा ही हो तो, उन्होंने सोचा, इसे हम कैद भी कर सकते है ।

जब कोई भारी लड़ाई लड़ी जाती है तब उसके बाद कुछ समयके लिए राज-कर्मचारियोंको विशेष अधिकार दिये जाते है। यहां दक्षिण अफ्रीकामें भी ऐसा ही हुआ था । शांति-रक्षाके लिए एक कानून बनाया गया था । इसमें एक धारा यह भी थी कि यदि कोई बिना परवानेके ट्रांसवालमें आ जाय तो वह गिरफ्तार और कैद किया जा सकता है । इस धाराके अनुसार मुझे गिरफ्तार करनेके लिए सलाह-मशविरा होने लगा, पर किसीको यह साहस न हुआ कि आकर मुझसे परवाना मांगे ।

इन कर्मचारियोंने डरबन तार भेजकर भी पुछवाया था । वहांसे जब उन्हें खबर पड़ी कि मै तो परवाना लेकर अंदर आया हूं तब बेचारे निराश हो रहे; परंतु इस महकमेके लोग ऐसे न थे जो इस निराशासे थककर बैठ जाते । हालांकि मै ट्रांसवालमें आ चुका था; परंतु फिर भी उनके पास ऐसी तरकीबें थीं जिनसे मेरा मि० चेंबरलेनसे मिलना जरूर रोक सकते थे ।

इस कारण सबसे पहले शिष्टमंडलके प्रतिनिधियोंके नाम मांगे गये । यों तो दक्षिण अफ्रीकामें रंग-द्वेषका अनुभव जहां जाते वहीं हो रहा था; पर यहां तो हिंदुस्तानकी जैसी गंदगी और खटपटकी बदबू आने लगी । दक्षिण अफ्रीकामें आम महकमोंका काम लोक-हितके खयालसे चलाया जाता है । इससे राज-कर्मचारियोंके व्यवहारमें एक प्रकारकी सरलता और नम्रता दिखाई पड़ती थी। इसका लाभ, थोड़े-बहुत अंशमें, काली-पीली चमड़ीवालोंको भी

अपने-आप मिल जाता था। पर अब जबकि यहां एशियाके कर्मचारियोंका दौर-दौरा हुआ तब तो वहांके जैसी 'जो-हुक्मी' और खटपट वगैरा बुराइयां भी उसमें आ घुसीं। दक्षिण अफ्रीकामें एक प्रकारकी प्रजासत्ता थी; पर अब तो एशिया से सोलहों आने नवाबशाही आ गई; क्योंकि एशियामें तो प्रजासत्ता थी नहीं; बल्कि उल्टे सत्ता प्रजापर ही चलाई जाती थी। इसके विपरीत दक्षिण अफ्रीकामें गोरे घर बनाकर बस गये थे, इसलिए वे वहांके प्रजाजन हो गये थे और इसलिए राज-कर्मचारियोंपर उनका अंकुश रहता था, पर अब इसमें आ मिले थे एशियाके निरंकुश राज-कर्मचारी, जिन्होंने बेचारे हिंदुस्तानी लोगोंकी हालत सरौतेमें सुपारीकी तरह करदी थी।

मुझे भी इस सत्ताका खासा अनुभव हो गया। पहले तो मैं इस महकमेके बड़े अफसरके पास तलब किया गया। यह साहब लंकासे आये थे। 'तलब किया गया' मेरे इन शब्दोंमें कहीं अत्युक्तिका आभास न हो; इसलिए अपना आशय जरा ज्यादा स्पष्ट कर देता हूं। मैं चिट्ठी लिखकर नहीं बुलाया गया था। मुझे वहांके प्रमुख हिंदुस्तानियोंके यहां तो निरंतर जाना ही पड़ता था। स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खानमोहम्मद भी ऐसे अगुआओंमेंसे थे। उनसे इन साहबने पूछा—"यह गांधी कौन है? यहां किसलिए आया है?"

तैयब सेठने जवाब दिया, "वह हमारे सलाहकार है और हमारे बुलानेपर यहां आये है।"

"तो फिर हम सब यहां किस कामके लिए है? क्या हमारी जरूरत यहां आपकी रक्षाके लिए नहीं हुई है? गांधी यहांका हाल क्या जाने?" साहब ने कहा। तैयब सेठने जैसे-तैसे करके इस प्रहारका भी जवाब दिया—"हां, आप तो है ही; पर गांधीजी तो हमारे ही अपने ठहरे न? वे हमारी भाषा जानते हैं, हमारे भावोंको, हमारे पहलूको समझते हैं। और आप लोग आखिर हैं तो राज-कर्मचारी ही न?"

इसपर साहबने हुक्म फरमाया— "गांधीको मेरे पास ले आना।"

तैयब सेठ वगैराके साथ मैं साहबसे मिलने गया। वहां हम लोगोंको कुर्सी तो भला मिल ही कैसे सकती थी? सबको खड़े-खड़े ही बातें करनी पड़ीं।

"कहिए, आप यहां किस गरजसे आये हैं ?" साहबने मेरी ओर आंख उठाकर पूछा ।

"मेरे इन भाइयोंके बुलानेसे, इन्हें सलाह देनेके लिए आया हूं।" मैंने उत्तर दिया ।

"पर आप जानते नहीं कि आपको यहां आनेका कतई हक नहीं है ? आपको जो परवाना मिला है वह तो भूलसे दे दिया गया है । आप यहांके बाशिंदा तो हैं नहीं । आपको वापस लौट जाना पड़ेगा । आप मि० चैंबरलेनसे नहीं मिल सकते । यहांके हिंदुस्तानियोंकी हिफाजतके ही लिए तो हमारा यह महकमा खास तौरपर खोला गया है । अच्छा तो, आप जाइए ।"

इतना कहकर साहबने मुझे बिदा किया । और तो ठीक; पर मुझे जवाबतक देनेका अवसर न दिया ।

पर मेरे साथियोंको उन्होंने रोक रक्खा और धमकाया । कहा कि गांधीको ट्रांसवालसे विदा कर दो ।

वे सब अपना-सा मुंह लेकर वापस आये । अब मेरे सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई और सो भी इस तरह अचानक !

३

जहरकी घूंट पीनी पड़ी

इस अपमानसे मेरे दिलको बड़ी चोट पहुंची; पर इससे पहले मैं ऐसे अपमान सहन कर चुका था; सो उसका कुछ आदी हो रहा था । अतएव इस अपमान की परवा न करके तटस्थ-भावसे जो कुछ कर्त्तव्य दिखाई पड़े उसे करनेका निश्चय मैंने किया। इसके बाद पूर्वोक्त अफसरकी सही-से एक चिट्ठी मिली कि डरबनमें मि० चैंबरलेन गांधीजीसे मिल चुके है, इसलिए अब इनका नाम प्रति-निधियोंमेंसे निकाल डालना जरूरी है ।

मेरे साथियोंको यह चिट्ठी बड़ी ही नागवार लगी । उन्होंने कहा—"तो ऐसी हालतमें हमें शिष्ट-मंडल ले जानेकी भी जरूरत नहीं ।" तब मैंने उन्हें यहांके लोगोंकी विषम अवस्थाका भली प्रकार परिचय कराया—

"यदि आप लोग मि० चेंबरलेनसे मिलने न जायंगे तो इसका यह अर्थ किया जायगा कि यहांपर किसी किस्मका जुल्म नहीं है, फिर जबानी तो कुछ कहना है नहीं, लिखा हुआ पढ़ना है सो तैयार है, मैंने पढ़ा क्या, और दूसरोंने पढ़ा क्या ? मि० चेंबरलेन वहां उसपर बहस थोड़े ही करेंगे। मेरा जो कुछ अपमान हुआ है उसे हम पी जायं, बस।"

इतना मैं कह ही रहा था कि तैयब सेठ बोल उठे— "पर आपका अपमान क्या सारी कौमका अपमान नहीं है ? हम यह कैसे भूल सकते हैं कि आप हमारे प्रतिनिधि हैं ?"

मैंने कहा—"आपका कहना तो ठीक है; पर ऐसे अपमान तो कौमको भी पी जाने पड़ेंगे—बताइए, हमारे पास इसका दूसरा इलाज ही क्या है ?"

"जो-कुछ होना होगा, हो जायगा। पर खुद-ब-खुद हम और अपमान क्यों माथे लें ? मामला बिगड़ तो यों भी रहा ही है। और हमें अधिकार भी ऐसे कौन-से मिल गये हैं ?" तैयब सेठने उत्तर दिया।

तैयब सेठका यह जोश मुझे पसंद तो आ रहा था; पर मैं यह भी देख रहा था कि उससे फायदा नहीं उठाया जा सकता। लोगोंकी मर्यादाका अनुभव मुझे था। इसलिए इन साथियोंको मैंने शांत करके उन्हें यह सलाह दी कि मेरे बजाय आप (अब स्वर्गीय) जार्ज गाडफ्रेको साथ ले जाइए। वह हिंदुस्तानी बैरिस्टर थे।

इस तरह श्री गाडफ्रेकी अध्यक्षतामें यह शिष्ट-मंडल मि० चैंबरलेनसे मिलने गया। मेरे बारेमें भी मि० चैंबरलेनने कुछ चर्चा की थी। "एक ही आदमी-की बात दुबारा सुननेकी अपेक्षा नये आदमीकी बात सुनना मैंने ज्यादा मुनासिब समझा—' आदि कहकर उन्होंने जख्मपर मरहमपट्टी करनेकी कोशिश की।

पर इससे मेरा और कौमका काम पूरा होनेके बजाय उलटा बढ़ गया। अब तो फिर 'अ-आ, इ-ई' से शुरूआत करनेकी नौबत आ पहुंची। आपके ही कहनेसे तो हम लोग इस लड़ाई-झगड़ेमें पड़े। और आखिर नतीजा यही निकला ! इस तरह ताना देनेवाले भी आ ही धमके। पर मेरे मनपर इनका कुछ असर न होता था। मैंने कहा— "मुझे तो अपनी सलाहपर पश्चात्ताप नहीं होता। मैं तो अब भी यह मानता हूं कि हम इस काममें पड़े, यह अच्छा ही

हुआ। ऐसा करके हमने अपने कर्त्तव्यका पालन किया है। चाहे इसका फल हम खुद न देख सकें; पर मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि शुभकार्यका फल सदा शुभ ही होता है और होगा। अब तो हमें गई-गुजरी बातोंको छोड़कर इस बातपर विचार करना चाहिए कि अब हमारा कर्त्तव्य क्या है? यही अधिक लाभप्रद है।"

दूसरे मित्रोंने भी इस बातका समर्थन किया।

मैंने कहा—"सच पूछिए तो जिस कामके लिए मै यहां बुलाया गया था वह तो पूरा हो गया समझना चाहिए; पर मेरी अंतरात्मा कहती है कि अब लोग यदि मुझे यहांसे छुट्टी दे भी दें तो भी जहांतक मेरा बस चलेगा, मै ट्रांसवालसे नही हट सकता। मेरा काम अब नेटालसे नही; बल्कि यहींसे चलना चाहिए। अब मुझे कम-से-कम एक सालतक यहांसे लौट जानेका विचार त्याग देना चाहिए और मुझे यहां वकालत करनेकी सनद प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस नये महकमेके मामलेको तय करा लेनेकी हिम्मत मैं अपने अंदर पाता हूं। यदि इस मामलेका तस्फिया न कराया तो कौमके लुट जाने, और ईश्वर न करे, यहांसे उसका नामोनिशान मिट जानेका अंदेशा मुझे है। उसकी हालत तो दिन-दिन गिरती ही जायगी, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं। मि० चैंबरलेनका मुझसे न मिलना, उस अधिकारीका मेरे साथ तिरस्कारका बर्ताव करना—ये बातें तो सारी कौमकी—सारे समाजकी मानहानिके मुकाबिलेमें कुछ भी नहीं है। हम यहां कुत्तेकी तरह दुम हिलाते रहें, यह कैसे बरदाश्त किया जा सकता है?"

मैंने इस तरह अपनी बात लोगोंके सामने रक्खी। प्रिटोरिया और जोहान्सबर्गम रहनेवाले भारतीय अगुओंके साथ सलाह-मशवरा करके अंतमें जोहान्सबर्गमें मैंने अपना दफ्तर खोलनेका निश्चय किया।

ट्रांसवालमें भी मुझे यह तो शक था ही कि वकालतकी सनद मिलेगी भी या नहीं? परंत, ईश्वरने खैर की। यहांके वकील-मंडलकी ओरसे मेरी दरख्वास्तका विरोध नही किया गया और बड़ी अदालतने मेरी दरख्वास्त मंजूर कर ली।

वहां एक भारतवासीके दफ्तरके लिए अच्छी जगह मिलना भी मुश्किल था; परंतु मि० रीचके साथ मेरा खासा परिचय हो गया था। उस समय वह व्यापारी-वर्गमें थे। उनकी जान-पहचानके हाउस-एजेंट— मकानोंके दलाल—के मार्फत दफ्तरके लिए अच्छी जगह मिल गई और मैंने वकालत शुरू कर दी।

४

त्याग-भावकी वृद्धि

ट्रांसवालमें लोगोंके हकोंकी रक्षाके लिए किस तरह लड़ना पड़ा और एशियाई महकमेके अधिकारियोंके साथ किस तरह पेश आना पड़ा; इसका अधिक वर्णन करनेके पहले मेरे जीवनके दूसरे पहलूपर नजर डाल लेनेकी आवश्यकता है।

अबतक कुछ-न-कुछ धन इकट्ठा कर लेनेकी इच्छा मनमें रहा करती थी। मेरे परमार्थके साथ यह स्वार्थका मिश्रण भी रहता था।

बंबईमें जब मैंने अपना दफ्तर खोला था तब एक अमरीकन बीमा-एजेंट मुझसे मिलने आया था। उसका चेहरा खुशनुमा था। उसकी बातें बड़ी मीठी थीं। उसने मुझसे मेरे भावी कल्याणकी बातें इस तरह की, मानो वह मेरा कोई बहुत दिनोंका मित्र हो। "अमरीकामें तो आपकी हैसियतके सब लोग अपनी जिंदगीका बीमा करवाते हैं। आपको भी उनकी तरह अपने भविष्यके लिए निश्चिंत हो जाना चाहिए। जिंदगीका आखिर क्या भरोसा? हम अमरीकावासी तो बीमा कराना एक धर्म समझते हैं, तो क्या आपको मैं एक छोटी-सी पालिसी करानेके लिए भी न ललचा सकूं?"

अबतक क्या हिंदुस्तानमें और क्या दक्षिण अफ्रीकामें कितने ही एजेंट मेरे पास आये; पर मैंने किसीको दाद न दी थी; क्योंकि मैं समझता था कि बीमा कराना मानो अपनी भीरुताका और ईश्वरके प्रति अविश्वासका परिचय देना था; पर इस बार मैं लालचमें आ गया। वह एजेंट ज्यों-ज्यों अपना जादू घुमाता जाता, त्यों-त्यों मेरे सामने अपनी पत्नी और पुत्रोंकी तस्वीर खड़ी होने लगी। मनमें यह भाव उठा कि "अरे, तुमने पत्नीके लगभग सब गहने-पत्ते बेच डाले हैं। अब अगर यह शरीर कुछ-का-कुछ हो जाय तो इन पत्नी और बाल-बच्चोंके भरण-पोषणका भार आखिर तो उसी गरीब भाईपर न जा पड़ेगा जो आज तुम्हारे पिताके स्थानकी पूर्ति कर रहा है, और खूबीके साथ कर रहा है? क्या यह उचित होगा?" इस तरह मैंने अपने मनको समझा कर ₹१०,०००)का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण अफ्रीकामें मेरे मनकी यह हालत न रह गई थी और मेरे विचार भी बदल गये थे। दक्षिण अफ्रीकाकी नई आपत्तिके समय मैंने जो-कुछ किया ईश्वरको साक्षी रखकर ही किया था। मुझे इस बातकी कुछ खबर न थी कि दक्षिण अफ्रीकामें मुझे कितने समय रहना पड़ेगा। मेरी तो यह धारणा हो गई थी कि अब मैं हिंदुस्तानको वापस न लौट पाऊंगा। इसलिए मुझे बाल-बच्चोंको अपने साथ ही रखना चाहिए। उनको अब अपनेसे दूर रखना उचित नहीं। उनके भरण-पोषणका प्रबंध भी दक्षिण अफ्रीकामे ही होना चाहिए। यह विचार मनमें आते ही वह पालिसी उलटे मेरे दुःखका कारण बन गई। मुझे मनमें इस बातपर शर्म आने लगी कि मै उस एजेंटके चक्करमें कैसे आ गया। मैंने इस विचारको अपने मनमें स्थान ही कैसे दिया कि जो भाई मेरे लिए पिताके बराबर हैं उन्हें अपने सगे छोटे भाईकी विधवाका बोझ नागवार होगा? और यह भी कैसे मान लिया कि पहले तुम ही मर जाओगे? आखिर सबका पालन करनेवाला तो वह ईश्वर ही है; न तो तुम हो, न तुम्हारे भाई हैं। बीमा करवाके तुमने अपने बाल-बच्चोंको भी पराधीन बना दिया। वे क्यों स्वावलंबी नहीं हो सकते? इन असंख्य गरीबोंके बाल-बच्चोंका आखिर क्या होता है? तुम अपनेको उन्हींके-जैसा क्यों नही समझ लेते?"

इस प्रकार मनमें विचारोंकी धारा बहने लगी; पर उसके अनुसार व्यवहार सहसा ही नहीं कर डाला। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि बीमेकी एक किस्त तो मैंने दक्षिण अफ्रीकासे भी जमा कराई थी।

परंतु इस विचार-धाराको बाहरी उत्तेजन मिलता गया। दक्षिण अफ्रीका-की पहली यात्राके समय मैं ईसाइयोंके वातावरणमें कुछ आ चुका था और उसके फल-स्वरूप धर्मके विषयमें जाग्रत रहने लगा। इस बार थियॉसफीके वातावरणमें आया। मि० रीच थियॉसफिस्ट थे। उन्होंने जोहान्सबर्गकी सोसाइटीसे मेरा संबंध करा दिया। मेरा थियॉसफीके सिद्धांतोंसे मत-भेद था, इसलिए मैं उसका सदस्य तो नही बना; पर फिर भी लगभग प्रत्येक थियॉसफिस्टसे मेरा गाढ़ा परिचय हो गया था। उनके साथ रोज धर्म-चर्चा हुआ करती। थियॉसफीकी पुस्तकें पढ़ी जातीं और उनके मंडलमें कभी-कभी मुझे बोलना भी पड़ता। थियॉसफीमें भ्रातृ-भाव पैदा करना और बढ़ाना मुख्य बात है। इस विषयपर हम बहुत चर्चा

करते और मैं जहां-जहां इस मान्यता और सभ्योंके आचरणमें भेद देखता तहां उसकी आलोचना भी करता। इस आलोचनाका प्रभाव खुद मुझपर बड़ा अच्छा पड़ा। इससे मुझे आत्म-निरीक्षणकी लगन लग गई।

५

निरीक्षणका परिणाम

जब १८९३में मैं ईसाई-मित्रोंके निकट-परिचयमें आया, तब मैं एक विद्यार्थीकी स्थितिमें था। ईसाई-मित्र मुझे बाइबिलका संदेश सुनाने, समझाने और मुझसे स्वीकार करानेका उद्योग कर रहे थे। मैं नम्रभावसे, एक तटस्थकी तरह, उनकी शिक्षाओंको सुन और समझ रहा था। इसकी बदौलत मैं हिंदू-धर्मका यथाशक्ति अध्ययन कर सका और दूसरे धर्मोंको भी समझने की कोशिश की; पर अब १९०३में स्थिति जरा बदल गई। थियॉसफिस्ट मित्र मुझे अपनी संस्थामें खींचनेकी इच्छा तो जरूर कर रहे थे; परंतु वह एक हिंदूके तौरपर मुझसे कुछ प्राप्त करनेके उद्देश्यसे। थियॉसफीकी पुस्तकोंपर हिंदू-धर्मकी छाया और उसका प्रभाव बहुत-कुछ पड़ा है, इसलिए इन भाइयोंने यह मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूंगा। मैंने उन्हें समझाया कि मेरा संस्कृतका अध्ययन बराय-नाम ही है। मैंने हिंदू-धर्मके प्राचीन ग्रंथोंको संस्कृतमें नहीं पढ़ा है और अनुवादोंके द्वारा भी मेरा पठन कम हुआ है। फिर भी, चूंकि वे संस्कारोंको और पुनर्जन्मको मानते हैं, उन्होंने अपना यह खयाल बना लिया कि मेरी थोड़ी-बहुत मदद तो उन्हें अवश्य ही मिल सकती है। और इस तरह मैं—'रूख नहीं तहां रेंड प्रधान' बन गया। किसीके साथ विवेकानंद का 'राजयोग' पढ़ने लगा तो किसीके साथ मणिलाल न० द्विवेदीका 'राजयोग'। एक मित्रके साथ 'पातंजल योगदर्शन' भी पढ़ना पड़ा। बहुतोंके साथ गीताका अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासुमंडल' भी बनाया गया और नियम-पूर्वक अध्ययन आरंभ हुआ। गीताजीके प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले हीसे थी। अब उसका गहराईके साथ रहस्य समझनेकी आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रक्खे थे। उनकी सहायतासे मूल संस्कृत समझनेका प्रयत्न किया

और नित्य एक या दो श्लोक कंठ करनेका निश्चय किया ।

सुबहका दतौन और स्नानका समय मैं गीताजी कंठ करनेमें लगाता। दतौनमें १५ और स्नानमें २० मिनट लगते । दतौन अंग्रेजी रिवाजके मुताबिक खड़े-खड़े करता । सामने दीवारपर गीताजीके श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख-देखकर रटता रहता । इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करनेतक पक्के हो जाते । बीचमें पिछले श्लोकोंको भी दुहरा जाता । इस प्रकार मुझे याद पड़ता है कि १३ अध्याय तक गीता बर-जबान कर ली थी; पर बादको कामकी झंझटें बढ़ गईं। सत्याग्रहका जन्म हो गया और उस बालककी परवरिशका भार मुझपर आ पड़ा, जिससे विचार करनेका समय भी उसके लालन-पालनमें बीता, और कह सकते हैं कि अब भी बीत रहा है ।

गीता-पाठका असर मेरे सहाध्यायियोंपर तो जो-कुछ पड़ा हो वह वही बता सकते हैं; किंतु मेरे लिए तो गीता आचारकी एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गई है । वह मेरा धार्मिक कोष हो गई है । अपरिचित अंग्रेजी शब्दके हिज्जे या अर्थ-को देखनेके लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोषको खोलता, उसी तरह आचार-संबंधी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियोंको गीताजीके द्वारा सुलझाता । उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दोंने मुझे गिरफ्तार कर लिया । यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूं, कैसे उसका पालन करूं ? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर है, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं, जो कलके साथी हैं, उनमें और उन सज्जनोंमें जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है ? अपरिग्रहका पालन किस तरह मुमकिन है ? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है ? स्त्री-पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं है तो फिर क्या है ? क्या पुस्तकोंसे भरी इन अलमारियोंमें आग लगा दूं ? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ ! अंदरसे तुरंत उत्तर मिला—'हां, घरबारको खाक किये बिना तीर्थ नहीं किया जा सकता ।' इसमें अंग्रेजी कानूनके अध्ययनने मेरी सहायता की । स्नेल-रचित कानूनके सिद्धांतोंकी चर्चा याद आई । 'ट्रस्टी' शब्दका अर्थ, गीताजीके अध्ययनकी बदौलत, अच्छी तरह समझमें आया । कानून-शास्त्रके प्रति मनमें आदर बढ़ा । उसके अंदर भी मुझे धर्मका तत्व दिखाई पड़ा । 'ट्रस्टी' यों करोड़ोंकी संपत्ति रखते हैं, फिर भी उसकी एक पाईपर उनका

अधिकार नहीं होता। इसी तरह मुमुक्षुको अपना आचरण रखना चाहिए— यह पाठ मैंने गीताजीसे सीखा। अपरिग्रही होनेके लिए, सम-भाव रखनेके लिए, हेतुका और हृदयका परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपककी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरंत रेवाशंकर भाईको लिखा कि बीमेकी पालिसी बंद कर दीजिए। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक; नही तो खैर। बाल-बच्चों और गृहिणीकी रक्षा वह ईश्वर करेगा जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्रका था। पिताके समान अपने बड़े भाईको लिखा— "आजतक मैं जो कुछ बचाता रहा आपके अर्पण करता रहा, अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो-कुछ बच रहेगा वह यहींके सार्वजनिक कामोंमें लगेगा।"

इस बातका औचित्य मैं भाई साहबको जल्दी न समझा सका। शुरूमें तो उन्होंने बड़े कड़े शब्दोंमें अपने प्रति मेरे धर्मका उपदेश दिया—"पिताजीसे बढ़कर अक्ल दिखानेकी तुम्हें जरूरत नही। क्या पिताजी अपने कुटुंबका पालन-पोषण नहीं करते थे? तुम्हें भी उसी तरह घर-बार सम्हालना चाहिए।" आदि—मैंने विनय-पूर्वक उत्तर दिया— "मैं तो वही काम कर रहा हूं, जो पिताजी करते थे। यदि कुटुंबकी व्याख्या हम जरा व्यापक कर दें तो मेरे इस कार्यका औचित्य तुरंत आपके खयाल में आ जायगा।"

अब भाई साहबने मेरी आशा छोड़ दी। करीब-करीब अ-बोला ही रक्खा। मुझे इससे दुःख हुआ; परंतु जिस बातको मैंने अपना धर्म मान लिया उसे यदि छोड़ता हूं तो उससे भी अधिक दुःख होता था। अतएव मैंने इस थोड़े दुःखको सहन कर लिया। फिर भी भाई साहबके प्रति मेरी भक्ति उसी तरह निर्मल और प्रचंड रही। मैं जानता था कि भाई साहबके इस दुःखका मूल है उनका प्रेम-भाव। उन्हें रुपये-पैसेकी अपेक्षा मेरे सद्व्यवहारकी अधिक चाह थी।

पर अपने अंतिम दिनोंमें भाई साहब मुझपर पसीज गये थे। जब वह मृत्यु-शय्यापर थे तब उन्होंने मुझे सूचित कराया कि मेरा कार्य ही उचित और धर्म्य था। उनका पत्र बड़ा ही करुणाजनक था। यदि पिता पुत्रसे माफी मांग सकता हो तो उन्होंने उसमें मुझसे माफी मांगी थी। लिखा कि मेरे लड़कोंका तुम अपने ढंगसे लालन-पालन और शिक्षण करना। वह मुझसे मिलनेके लिए बड़े अधीर हो गये थे। मुझे तार दिया। मैंने तार द्वारा उत्तर दिया— 'जरूर आजाइए।'

पर हमारा मिलाप ईश्वरको मंजूर न था ।

अपने पुत्रोंके लिए जो इच्छा उन्होंने प्रदर्शित की थी वह भी पूरी न हुई। भाई साहबने देशमें ही अपना शरीर छोड़ा था। लड़कोंपर उनके पूर्व-जीवनका असर पड़ चुका था। उनके संस्कारोंमें परिवर्तन न हो पाया। मैं उन्हें अपने पास न खींच सका। इसमें उनका दोष नहीं है। स्वभावको कौन बदल सकता है? बलवान संस्कारोंको कौन मिटा सकता है? हम अक्सर यह मानते हैं कि जिस तरह हमारे विचारोंमें परिवर्तन हो जाना है, हमारा विकास हो जाना है, उसी तरह हमारे आश्रित लोगों या साथियोंमें भी हो जाना चाहिए; पर यह मिथ्या है।

माता-पिता होनेवालोंकी जिम्मेदारी कितनी भयंकर है, यह बात इस उदाहरणसे कुछ समझमें आ सकती है।

६

निरामिषाहारकी वेदीपर

जीवनमें ज्यों-ज्यों त्याग और सादगी बढ़ती गई और धर्म-जागृतिकी वृद्धि होती गई; त्यों-त्यों निरामिषाहारका और उसके प्रचारका शौक बढ़ता गया। प्रचार मैं एक ही तरहसे करना जानता हूं—आचारके द्वारा और आचारके साथ-ही-साथ जिज्ञासुके साथ वार्तालाप करके।

जोहान्सबर्गमें एक निरामिषाहारी-गृह था। उसका संचालक एक जर्मन था, जोकि कूनेकी जलचिकित्साका कायल था। मैंने वहां जाना शुरू किया और जितने अंग्रेज मित्रोंको वहां ले जा सकता था, ले जाता था; परंतु मैंने देखा कि यह भोजनालय बहुत दिनों तक नहीं चल सकेगा; क्योंकि रुपये-पैसेकी तंगी उसमें रहा ही करती थी। जितना मुझे वाजिब मालूम हुआ, मैंने उसमें मदद दी। कुछ गंवाया भी। अंतको यह बंद हो गया। थियॉसफिस्ट बहुतेरे निरामिषाहारी होते हैं; कोई पूरे और कोई अधूरे। इस मंडलमें एक बहन साहसी थी। उसने बड़े पैमानेपर एक निरामिष-भोजनालय खोला। यह बहन कला-रसिक थी, शाहखर्च थी, और हिसाब-किताबका भी बहुत खयाल न रखती थी। उसके

मित्र-मंडलकी संख्या अच्छी कही जा सकती थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमाने पर शुरू हुआ; परंतु बादको उसने बढ़ानेका और बड़ी जगह ले जानेका निश्चय किया। इस काममें उसने मेरी सहायता चाही। उस समय उसके हिसाब-किताबकी हालतका मुझे कुछ पता न था। मैंने मान लिया कि उसके हिसाब और अटकलमें कोई भूल न होगी। मेरे पास रुपये-पैसेकी सुविधा रहती थी। बहुतेरे मवक्किलोंके रुपये मेरे पास रहते थे। उनमेंसे एक सज्जनकी इजाजत लेकर लगभग एक हजार पौंड मैंने उसे दे दिया। यह मवक्किल बड़े उदार-हृदय और विश्वासशील थे। वह पहले-पहल गिरमिट आये थे। उन्होंने कहा—"भाई, आपका दिल चाहे तो पैसे दे दो। मैं कुछ नही जानता। मैं तो आप हीको जानता हूं।" उनका नाम था बदरी। उन्होने सत्याग्रहमें बहुत योग दिया था। जेल भी काटी थी। इतनी सम्मति पाकर ही मैंने उसमे रुपये लगा दिये। दो-तीन महीनेमें ही मैं जान गया कि ये रुपये वापस आनेवाले नही है; इतनी बड़ी रकम खो देनेका सामर्थ्य मुझमे न था। मैं इस रकमको दूसरे काममे लगा सकता था। वह रकम आखिर उसीमे डूब गई; परंतु मैं इस बातको कैसे गवारा कर सकता था कि उस विश्वासी बदरीका रुपया चला जाय? वह तो मुझको ही पहचानता था। अपने पाससे मैंने यह रकम भर दी।

एक मवक्किल मित्रसे मैंने रुपयेकी बात की। उन्होंने मुझे मीठा उलाहना देकर सचेत किया—

"भाई, (दक्षिण अफ्रीकामे मैं 'महात्मा' नहीं बन गया था और न 'बापू' ही बना था, मवक्किल मित्र मुझे 'भाई'से ही संबोधन करते थे।) आपको ऐसे झगड़ोंमें न पड़ना चाहिए। हम तो ठहरे आपके विश्वासपर चलने वाले। ये रुपये आपको वापस नही मिलनेके। बदरीको तो आप बचालोगे; पर आपकी रकम बट्टे-खातेमें समझिए। पर ऐसे सुधारके कामोंमें यदि आप मवक्किलोंका रुपया लगाने लगेंगे तो मवक्किल बेचारे पिस जायंगे और आप भिखारी बनकर घर बैठ रहेंगे। इससे आपके सार्वजनिक कामको भी धक्का पहुंचेगा।"

सद्भाग्यसे यह मित्र अभी मौजूद हैं। दक्षिण अफ्रीकामें तथा दूसरी जगह इनसे अधिक स्वच्छ आदमी मैंने दूसरा नहीं देखा। किसीके प्रति यदि उनके मनमें संदेह उत्पन्न होता और बादको उन्हें मालूम हो जाता कि वह बे-

बुनियाद था तो तुरंत जाकर उससे माफी मांगते और अपना दिल साफ कर लेते। मुझे इनकी यह चेतावनी बिलकुल ठीक मालूम हुई। बदरीका रुपया तो मैं चुका सका था, परंतु यदि उस समय और एक हजार पौंड बरबाद किया होता तो उसको चुकानेकी हैसियत मेरी बिलकुल नही थी। और माथे कर्ज ही करना पड़ता। कर्जके चक्करमें मै अपनी जिंदगीमें कभी नहीं पड़ा और उससे मुझे हमेशा अरुचि ही रही है। इससे मैंने यह सबक सीखा कि सुधार-कार्योंके लिए भी हमें अपनी ताकतके बाहर पांव न बढ़ाना चाहिए। मैंने यह भी देखा कि इस कार्यमें गीताके तटस्थ निष्काम कर्मके मुख्य पाठका अनादर किया था। इस भूलने आगेको मेरे लिए प्रकाश-स्तंभका काम दिया।

निरामिषाहारके प्रचारकी वेदीपर इतना बलिदान करना पड़ेगा, इसका अनुमान मुझे न था। मेरे लिए यह जबरदस्तीका पुण्य था।

७

मिट्टी और पानीके प्रयोग

ज्यों-ज्यों मेरे जीवनमें सादगी बढ़ती गई त्यों-त्यों बीमारियोंके लिए दवा लेनेकी ओर जो अरुचि मुझे पहले हीसे थी वह भी बढ़ती गई। जब मैं डरबनमें वकालत करता था तब डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता मुझसे मिलने आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहा करती थी और कभी-कभी बदन सूज भी जाया करता था। उसका इलाज उन्होंने किया था और उससे मुझे लाभ भी हुआ था। इसके बाद देश आ जानेतक मुझे नही याद पड़ता कि मुझे कहने लायक कोई बीमारी हुई हो।

परंतु जोहान्सबर्गमें मुझे कब्ज रहा करता था और जब-तब सिरमें भी दर्द हुआ करता था। इधर-उधरकी दस्तावर दवायें ले-लाकर तबियतको सम्हालता रहता था। खाने-पीनेमें तो मै परहेजगार शुरूसे ही रहा हूं; पर उससे मैं कतई रोग-मुक्त नहीं हुआ। मन बराबर यह कहता रहता था कि इस दवाके जंजालसे छूट जाऊं तो बड़ा काम हो। लगभग इसी समय मैंचेस्टरमें 'नो ब्रेकफास्ट' एसोसिएशन'की स्थापनाके समाचार मैंने पढ़े। उसकी खास

दलील यह थी कि अंग्रेज लोग बहुत बार खाते हैं और बहुतेरा खा जाते हैं, रातके बारह-बारह बजेतक खाया करते है और फिर डाक्टरोंका घर खोजते फिरते हैं। इस बखेड़ेसे यदि कोई अपना पिंड छुड़ाना चाहें तो उन्हें ब्रेक-फास्ट अर्थात् सुबहका नाश्ता छोड़ देना चाहिए। यह बात मुझपर सर्वांशमें तो नहीं पर कुछ अंशमें जरूर घटित होती थी। मैं तीन बार पेट भरकर खाता और दोपहरको चाय भी पीता। मैं कभी अल्पाहारी न था। निरामिषाहारी होते हुए भी और बिना मसालेका खाना खाते हुए भी मै जितनी हो सके चीजोंको स्वादिष्ट बनाकर खाता था। छः-सात बजेके पहले शायद ही कभी उठता। इससे मैंने यह नतीजा निकाला कि यदि मैं भी सुबहका खाना छोड़ दूं तो जरूर मेरे सिरका दर्द जाता रहे। मैंने ऐसा ही किया भी। कुछ दिन जरा मुश्किल तो मालूम पड़ा; पर साथ ही सिरका दर्द बिलकुल चला गया। इससे मुझे निश्चय हो गया कि मेरी खुराक जरूर आवश्यकतासे अधिक थी।

परंतु कब्जकी शिकायत तो इस परिवर्तनसे भी दूर नहीं हुई। कूनेके कटिस्नानका प्रयोग किया। उससे कुछ फर्क पड़ा; पर जितना चाहिए उतना नहीं। इसी अरसेमे उस जर्मन भोजनालयवालेने या किसी दूसरे मित्रने मेरे हाथमें जुस्ट-लिखित 'रिटर्न टू नेचर' (कुदरतकी ओर लौटो) नामक पुस्तक लाकर दी। उसमें मिट्टीके इलाजका वर्णन था। लेखकने इस बातका भी बहुत समर्थन किया है कि हरे और सूखे फल ही मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है। केवल फलाहारका प्रयोग तो मैंने इस समय नहीं किया; पर मिट्टीका इलाज तुरंत शुरू कर दिया। उसका जादूकी तरह मुझपर असर हुआ। उसकी विधि इस प्रकार है—खेतोंकी साफ लाल या काली मिट्टी लाकर उसे आवश्यकतानुसार ठंडे पानीमें भिगो लेना चाहिए। फिर साफ पतले भीगे कपड़ेमें लपेटकर पेटपर रखकर बांध लेना चाहिए। मैं यह पट्टी रातको सोते समय बांधता और सुबह अथवा रातको जब नींद खुल जाती निकाल डालता। इससे मेरा कब्ज निर्मूल हो गया। उसके बाद मैंने मिट्टीके ये प्रयोग खुद अपनेपर तथा अपने साथियोंपर किए है; किंतु मुझे ऐसा याद पड़ता है कि शायद ही कभी उनसे लाभ न पहुंचा हो।

पर, हां, यहां देशमें आनेके बाद ऐसे उपचारोंपरसे मैं आत्म-विश्वास-

खो बैठा हूं। प्रयोग करनेका, एक जगह स्थिर होकर बैठनेका मुझे अवसर भी नहीं मिल सका है। फिर भी मिट्टी और पानीके उपचारोंपर मेरा विश्वास बहुतांशमें उतना ही बना हुआ है, जितना कि आरंभमें था। आज भी एक सीमाके अंदर रहकर, खुद अपनेपर मिट्टीके प्रयोग करता हूं और मौका पड़ जानेपर अपने साथियोंको भी उसकी सलाह देता हूं। मैं अपनी जिंदगीमें दो बार बहुत सख्त बीमार पड़ चुका हूं। फिर भी मेरी यह दृढ़ धारणा है कि मनुष्यको दवा लेनेकी शायद ही आवश्यकता होती है। पथ्य और पानी, मिट्टी इत्यादिके घरेलू उपचारोंसे ही हजारमें नौ-सौ-निन्यानवे बीमारियां अच्छी हो सकती हैं।

बार-बार वैद्य, हकीम या डाक्टरके यहां दौड़-दौड़कर जानेसे और शरीरमें अनेक चूर्ण और रसायन भरनेसे मनुष्य अपने जीवनको कम कर देता है। इतना ही नहीं, बल्कि अपने मनपरसे अपना अधिकार भी खो बैठता है। इससे वह अपने मनुष्यत्वको भी गंवा देता है और शरीरका स्वामी रहनेके बजाय उसका गुलाम बन जाता है।

यह अध्याय मैं रोग-शय्यापर पड़ा हुआ लिख रहा हूं। इससे कोई इन विचारोंकी अवहेलना न करें। अपनी बीमारियोंके कारणोंका मुझे पता है। मैं अपनी ही खराबियोंके कारण बीमार पड़ा हूं, इस बातका ज्ञान और भान मुझे है और मैं इसी कारण अपना धीरज नहीं छोड़ बैठा हूं। इस बीमारीको मैंने ईश्वरका अनुग्रह माना है और दवा-दारू करनेके लालचोंसे दूर रहा हूं। मैं यह भी जानता हूं कि मैं अपनी इस हठधर्मीके कारण अपने डाक्टर-मित्रोंका जी उकता देता हूं; पर वे उदार-भावसे मेरी हठको सहन कर लेते हैं और मुझे छोड़ नहीं देते।

पर मुझे अपनी वर्त्तमान स्थितिका लंबा-चौड़ा वर्णन करनेकी यहां आवश्यकता नहीं। इसलिए अब हम फिर १९०४-५में आ जावें।

परंतु इस विषयमें आगे बढ़नेसे पहले पाठकको एक चेतावनी देना जरूरी है। इसको पढ़कर जो लोग जुस्टकी पुस्तक लें, वे उसकी सब बातोंको वेद-वाक्य न समझ लें। सभी लेखों और पुस्तकोंमें लेखककी दृष्टि प्रायः एकांगी रहती है। मेरे खयालमें हरएक चीज कम-से-कम सात दृष्टिबिंदुओंसे देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टिबिंदुओंके अनुसार वह बात सच भी होती है;

परंतु यह याद रखना चाहिए कि सभी दृष्टिबिंदु एक ही समय और एक ही मुकाम-पर सही नहीं होते । फिर कितनी ही पुस्तकोंमें बिक्रीके और नामके लालचकी बुराई भी रहती है । इसलिए जो सज्जन इस पुस्तकको पढ़ना चाहें वे इसे विवेक-पूर्वक पढ़ें और यदि कोई प्रयोग करना चाहें तो किसी अनुभवीकी सलाहसे करें, या धीरज रखकर विशेष अभ्यास करनेके बाद प्रयोगकी शुरुआत करें ।

८

एक चेतावनी

अपनी इस कथाके धारा-प्रवाहको फिलहाल एक अध्यायतक रोककर पहले इसी विषयपर कुछ और रोशनी डालनेकी आवश्यकता है ।

पिछले अध्यायमें मिट्टीके प्रयोगोंके संबंधमें मैंने जो कुछ लिखा है उसी तरह भोजनके भी प्रयोग मैंने किये हैं । इसलिए उनके संबंधमें भी यहां कुछ लिख डालना उचित है । इस विषयकी और जो-कुछ बातें हैं वे प्रसंग-प्रसंगपर सामने आती जावेंगी ।

भोजन-संबंधी मेरे प्रयोगों और विचारोंका सविस्तार वर्णन यहां नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस विषयपर मैंने अपनी 'आरोग्य संबंधी सामान्यज्ञान' नामक पुस्तकमें विस्तार-पूर्वक लिखा है । यह पुस्तक मैंने 'इंडियन ओपीनियन'के लिए लिखी थी । मेरी छोटी-छोटी पुस्तिकाओंमें यह पुस्तक पश्चिममें तथा यहां भी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई है । इसका कारण मैं आजतक नहीं समझ सका हूं । यह पुस्तक महज 'इंडियन ओपीनियन'के पाठकोंके लिए ही लिखी गई थी; परंतु उसे पढ़कर बहुतेरे भाईबहनोंने अपने जीवनमें परिवर्त्तन किया है और मेरे साथ चिट्ठी-पत्री भी की है, और कर रहे हैं । इसलिए उसके संबंधमें यहां कुछ लिखनेकी आवश्यकता पैदा हो गई है ।

इसका कारण यह है कि यद्यपि उसमें लिखे अपने विचारोंको बदलने-की आवश्यकता मुझे अभीतक नहीं दिखाई पड़ी है, फिर भी अपने आचारमें मैंने बहुत-कुछ परिवर्त्तन कर लिया है, जिसे इस पुस्तकके बहुतेरे पढ़ने वाले नहीं जानते और यह आवश्यक है कि वे जल्दी जान लें ।

इस पुस्तकको मैंने धार्मिक भावनासे प्रेरित होकर लिखा है, जिस तरह कि मैंने और लेख भी लिखे हैं और यही धर्म-भाव मेरे प्रत्येक कार्यमें आज भी वर्तमान है। इसलिए इस बातपर मुझे बड़ा खेद रहता है और बड़ी शर्म मालूम होती है कि आज मैं उसमेंसे कितने ही विचारोंपर पूरा अमल नहीं कर सकता हूं।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य जबतक बालक रहता है तबतक माताका जितना दूध पी लेता है, उसके अलावा फिर उसे दूसरे दूधकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यका भोजन हरे और सूखे वन-पके फलके सिवा और दूसरा नहीं है। बादामादि बीज तथा अंगूरादि फलोंसे उसे शरीर और बुद्धिके पोषणके लिए आवश्यक द्रव्य मिल जाते हैं। जो मनुष्य ऐसे भोजनपर रह सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्म-संयम बहुत आसान हो जाता है। 'जैसा आहार तैसी डकार', 'जैसा भोजन तैसा जीवन' इस कहावतमें बहुत तथ्य है। यह मेरे तथा मेरे साथियोंके अनुभवकी बात है। इन विचारोंका सविस्तर प्रतिपादन मैंने अपनी आरोग्य-संबंधी उपर्युक्त पुस्तकमें किया है।

परंतु मेरी तकदीरमे यह नहीं लिखा था कि हिंदुस्तान में अपने प्रयोगों-को पूर्णतातक पहुंचा दूं। खेड़ा जिलेमें सैन्य भर्तीका काम कर रहा था कि अपनी एक भूलकी बदौलत मृत्यु-शय्यापर जा पड़ा। बिना दूधके जीवित रहनेके लिए मैंने अबतक बहुतेरे निष्फल प्रयत्न किये हैं। जिन-जिन वैद्य-डाक्टरों और रसायनशास्त्रियोंसे मेरी जान-पहचान थी, उन सबसे मैंने मदद मांगी। किसीने मूगका पानी, किसीने महुएका तेल, किसीने बादामका दूध सुझाया। इन तमाम चीजोंका प्रयोग करते हुए मैंने अपने शरीरको निचोड़ डाला; परंतु उनसे मैं रोगशय्यासे न उठ सका।

वैद्योंने तो मुझे चरक इत्यादिसे ऐसे प्रमाण भी खोजकर बताये कि रोग-निवारणके लिए खाद्याखाद्यमें दोष नहीं, और काम पड़नेपर मांसादि भी खा सकते हैं। ये वैद्य भला मुझे दूध त्यागनेपर मजबूत बने रहनेमें कैसे मदद दे सकते थे? जहां 'बीफ टी' और 'बरांडी' भी जायज समझी जाती हो, वहां मुझे दूध-त्यागमें कहां मदद मिल सकती है? गाय-भैंसका दूध तो मैं ले ही नहीं सकता था; क्योंकि मैंने व्रत ले रक्खा था। व्रतका हेतु तो यही था कि दूध-मात्र छोड़ दूं; परंतु व्रत लेते समय मेरे सामने गाय और भैंस माता ही थी, इस कारण तथा जीवित

रहनेकी आशासे मनको ज्यों-त्यों करके फुसला लिया। इससे व्रतके अक्षरार्थको ले बकरीका दूध लेनेका निश्चय किया, यद्यपि बकरी-माताका दूध लेते समय भी मेरा मन कह रहा था कि व्रतकी आत्माका यह हनन है ।

पर मुझे तो रौलट-ऐक्टके खिलाफ आंदोलन खड़ा करना था। यह मोह मुझे नहीं छोड़ रहा था। इससे जीनेकी भी इच्छा बनी रही और जिसे मैं अपने जीवनका महा प्रयोग मानता हूं, वह बात रुक गई ।

'खाने-पीनेके साथ आत्माका कुछ संबंध नहीं। वह न खाती है न पीती है। जो चीज पेटमें जाती है वह नहीं, बल्कि जो वचन अंदरसे निकलते हैं वे लाभ-हानि करते हैं,' इत्यादि दलीलोंको मैं जानता हूं। इनमें तथ्यांश है; परंतु दलीलोंके झगड़ेमें पड़े बिना ही यहां तो मैं अपना निश्चय ही लिख रखना चाहता हूं कि जो मनुष्य ईश्वरसे डरकर चलना चाहता है, जो ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है, उस साधक या मुमुक्षुके लिए अपनी खुराकका चुनाव, त्याग और ग्रहण—उतना ही आवश्यक है जितना कि विचार और वाचाका चुनाव, त्याग और ग्रहण आवश्यक है ।

पर जिन बातोंमें मैं खुद गिर गया हूं उनमें दूसरोंको मैं अपने सहारे चलनेकी सलाह न दूंगा। यही नहीं; बल्कि चलनेसे रोकूंगा। इस कारण 'आरोग्य-संबंधी सामान्य ज्ञान'के आधारपर प्रयोग करनेवाले भाई-बहनोंको मैं सावधान कर देना चाहता हूं। जब दूधका त्याग सर्वांशमें लाभदायक मालूम हो अथवा अनुभवी वैद्य-डाक्टर उसके छोड़नेकी सलाह दें तब तो ठीक, नहीं तो सिर्फ मेरी पुस्तक पढ़कर कोई सज्जन दूध न छोड़ दें। हिंदुस्तानका मेरा अनुभव अबतक तो मुझे यही बताता है कि जिनकी जठराग्नि मंद हो गई हो और जो बिछौनेपर ही पड़े रहने लायक हो गये हैं उनके लिए दूधके बराबर हलका और पोषक पदार्थ दूसरा नहीं। इसलिए पाठकोंसे मेरी विनती और सलाह है कि इस पुस्तकमें जो दूधकी मर्यादा सूचित की गई है, उसपर वे आरूढ़ न रहें ।

इन प्रकरणोंको पढ़नेवाले कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी सज्जन दूधकी एवजमें उतनी ही पोषक और पाचक वनस्पति—केवल अपने अध्ययनके आधारपर नहीं बल्कि; अनुभवके आधारपर—जानते हों तो मुझे सूचित कर उपकृत करें ।

६

जबरदस्तसे मुकाबला

अब एशियाई कर्मचारियोंकी ओर निगाह डालें। इन कर्मचारियोंका सबसे बड़ा थाना जोहान्सबर्ग में था। मैं देखता था कि इन थानोंमें हिंदुस्तानी, चीनी आदि लोगोंका रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आतीं— "जिन लोगोंको आनेका अधिकार है वे तो दाखिल नहीं हो सकते और जिन्हें अधिकार नहीं है वे सौ-सौ पौंड देकर आते रहते हैं। इसका इलाज यदि आप न करेंगे तो कौन करेगा?" मेरा भी मन भीतरसे यही कहता था। वह बुराई यदि दूर न हुई तो मेरा ट्रांसवालमें रहना बेकार समझना चाहिए।

मैं इसके सबूत इकट्ठे करने लगा। जब मेरे पास काफी सबूत जमा हो गए तब मैं पुलिस-कमिश्नरके पास पहुंचा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसमें दया और न्यायका भाव है। मेरी बातोंको एकदम उड़ा देनेके बजाय उसने मन लगाकर सुनीं और कहा कि इनका सबूत पेश कीजिए। मैंने जो गवाह पेश किये उनके बयान उसने खुद लिये। उसे मेरी बात का इतमीनान हो गया; परंतु जैसा कि मैं जानता था वैसे ही वह भी जानता था कि दक्षिण अफ्रीकामें गोरे पंचोंके द्वारा गोरे अपराधियोंको दंड दिलाना मुश्किल था, पर उसने कहा—

"लेकिन फिर भी हमें अपनी तरफसे तो कोशिश करनी चाहिए। इस भयसे कि ये अपराधी ज्यूरीके हाथों छूट जायंगे, उन्हें गिरफ्तार न कराना भी ठीक नहीं। मैं तो उन्हें जरूर पकड़वा लूंगा।"

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अफसरोंके ऊपर भी मुझे शक तो था; लेकिन मेरे पास उनके खिलाफ कोई सबल प्रमाण नहीं था। दोके विषयमें तो मुझे लेशमात्र संदेह न था। इसलिए उन दोनोंके नाम वारंट जारी हुए।

मेरा काम तो ऐसा ही था, जो छिपा नहीं रह सकता था। बहुत-से लोग यह देखते थे कि मैं प्रायः रोज पुलिस-कमिश्नरके पास जाता हूं। इन दो कर्मचारियोंके छोटे-बड़े कुछ जासूस लगे ही रहते थे। वे मेरे दफ्तरके आसपास मंडराया करते और मेरे आने-जानेके समाचार उन कर्मचारियोंको सुनाते रहते।

यहां मुझे यह भी कह देना चाहिए कि उन कर्मचारियोंकी ज्यादती यहांतक बढ़ गई कि उन्हें बहुत जासूस नहीं मिलते थे। हिंदुस्तानियों और चीनियोंकी यदि मुझे मदद न मिलती तो ये कर्मचारी नहीं पकड़े जा सकते थे।

उन दो कर्मचारियोंमें से एक भाग निकला। पुलिस-कमिश्नरने उसके नाम बाहरका वारंट निकालकर उसे पकड़ मंगाया और मुकदमा चला। सबूत भी काफी पहुंच गया था। इधर ज्यूरीके पास एकके भाग जानेका तो प्रमाण भी था। फिर भी वे दोनों बरी हो गये।

इससे मैं स्वभावतः बहुत निराश हुआ। पुलिस-कमिश्नरको भी दुःख हुआ। वकीलोंके रोजगारके प्रति मेरे मनमें घृणा उत्पन्न हुई। बुद्धिका उपयोग अपराधको छिपानेमें देख मुझे यह बुद्धि ही खलने लगी।

उन दोनों कर्मचारियोंके अपराधकी शोहरत इतनी फैल गई थी कि उनके छूट जानेपर भी सरकार उन्हें अपने पदपर न रख सकी। वे दोनों अपनी जगहसे निकाले गये। इससे एशियाई थानेकी गंदगी कुछ कम हुई और लोगोंको भी अब धीरज बंधा और हिम्मत भी आई।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई। मेरी वकालत भी चमकी। लोगोंके जो सैकड़ों पौंड रिश्वतमें जाते थे, वे सबके सब नहीं तो भी बहुत अधिक बच गए। रिश्वतखोर तो अब भी हाथ मार ही लेते थे; पर यह कहा जा सकता है कि ईमानदार लोगोंके लिए अपने ईमानको कायम रखनेकी सुविधा हो गई थी।

वे कर्मचारी इतने अधम थे; लेकिन, मैं कह सकता हूं, उनके प्रति मेरे मनमें कुछ भी व्यक्तिगत दुर्भाव नहीं था। मेरे इस स्वभावको वे जानते थे और जब उनकी असहाय अवस्थामें सहायता करनेका मुझे अवसर मिला तो मैंने उनकी सहायता भी की है। जोहान्सबर्गकी म्युनिसिपैलिटीमें यदि मैं उनका विरोध न करूं तो उन्हें नौकरी मिल सकती थी। इसके लिए उनका एक मित्र मुझसे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलानेमें मदद करना मंजूर किया। और उनकी नौकरी लग भी गई।

इसका यह असर हुआ कि जिन गोरे लोगोंके संपर्कमें मैं आया वे मेरे विषयमें निःशंक होने लगे। यद्यपि उनके महकमोंके विरुद्ध मुझे कई बार लड़ना पड़ता, कठोर शब्द कहने पड़ते, फिर भी वे मेरे साथ मधुर संबंध रखते

थे। ऐसा बर्ताव करना मेरा स्वभाव ही बन गया है, इसका ज्ञान मुझे उस समय न था। ऐसा बर्ताव सत्याग्रहकी जड़ है, यह अहिंसाका ही एक अंग-विशेष है, यह तो मै बादको समझ पाया हूं।

मनुष्य और उसका काम ये दो जुदा चीजे है। अच्छे कामके प्रति मनमें आदर और बुरेके प्रति तिरस्कार अवश्य ही होना चाहिए; पर अच्छे-बुरे काम करनेवालेके प्रति हमेशा मनमें आदर अथवा दयाका भाव होना चाहिए। यह बात समझनेमें तो बड़ी सरल है; लेकिन उसके अनुसार आचरण बहुत ही कम होता है। इसीसे जगत्में हम इतना जहर फैला हुआ देखते हैं।

सत्यकी खोजके मूलमें ऐसी अहिंसा व्याप्त है। यह मै प्रतिक्षण अनुभव करता हूं कि जबतक यह अहिंसा हाथ न लगेगी तबतक सत्य हाथ नही आ सकता। किसी तंत्र या प्रणालीका विरोध तो अच्छा है; लेकिन उसके संचालकका विरोध करना मानो खुद अपना ही विरोध करना है। कारण यह है कि हम सबकी सृष्टि एक ही कूचीके द्वारा हुई है। हम सब एक ही ब्रह्मदेवकी प्रजा है। संचालक अर्थात् उस व्यक्तिके अंदर तो अनंत शक्ति भरी हुई है; इसलिए यदि हम उसका अनादर—तिरस्कार करेंगे तो उसकी शक्तियोंका, गुणोंका भी अनादर होगा। ऐसा करनेसे तो उस संचालकको एवं प्रकारांतरसे सारे जगत्को हानि पहुंचेगी।

१०

एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित्त

मेरे जीवनमें ऐसी अनेक घटनाएं होती रही है, जिनके कारण मैं विविध धर्मियों तथा जातियोंके निकट परिचयमें आ सका हूं। इन सब अनुभवोंपरसे यह कह सकते है कि मैंने घरके या बाहरके, देशी या विदेशी, हिंदू या मुसलमान तथा ईसाई, पारसी या यहूदियोंसे भेद-भावका खयाल तक नहीं किया। मैं कह सकता हूं कि मेरा हृदय इस प्रकारके भेद-भावको जानता ही नहीं। इसको मैं अपना एक गुण नहीं मानता हूं; क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि

यम-नियमोंके अभ्यासका तथा उनके लिए अब भी प्रयत्न करते रहनेका पूर्ण ज्ञान मुझे है उसी प्रकार इस अ-भेद-भावको बढ़ानेके लिए मैंने कोई खास प्रयत्न किया है, ऐसा याद नहीं पड़ता ।

जिस समय डरबनमें मै वकालत करता था उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे । वे हिंदू और ईसाई होते थे, अथवा प्रांतोंके हिसाबसे कहें तो गुजराती और मद्रासी । मुझे याद नहीं आता कि कभी उनके विषयमें मेरे मनमें भेद-भाव पैदा हुआ हो । मै उन्हें बिलकुल घरके ही जैसा समझता और उसमे मेरी धर्मपत्नी की ओरसे यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मैं उससे लड़ता था । मेरा एक कारकुन ईसाई था । उसके मां-बाप पंचम जातिके थे । हमारे घरकी बनावट पश्चिमी ढंगकी थी । इस कारण कमरेमें मोरी नही होती थी— और न होनी चाहिए थी, ऐसा मेरा मत है । इस कारण कमरोंमे मोरियोंकी जगह पेशाबके लिए एक अलग बर्तन होता था । उसे उठाकर रखने-का काम हम दोनों— दंपतीका था, नौकरोका नहीं । हां, जो कारकुन लोग अपने को हमारा कुटुंबी-सा मानने लगने थे वे तो खुद ही उसे साफ कर भी डालते थे; लेकिन पंचम जातिमें जन्मा यह कारकुन नया था । उसका बर्तन हमें ही उठा-कर साफ करना चाहिए था । और बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देती; लेकिन इन भाईका बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ । इससे हम दोनोंमे झगड़ा मचा । यदि मै उठाता हूं तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता था । और खुद उसके लिए उठाना कठिन था । फिर भी आंखोंसे मोतीकी बूंदें टपक रही हैं, एक हाथ में बर्तन लिये अपनी लाल-लाल आंखोंसे उलाहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियोसे उतर रही है ! वह चित्र मै आज भी ज्यों-का-त्यों खींच सकता हूं ।

परंतु मै जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निष्ठुर और कठोर भी था । मै अपनेको उसका शिक्षक मानता था । इससे, अपने अंधप्रेमके अधीन हो, मै उसे खूब सताता था । इस कारण महज उसके बरतन उठा ले जाने-भरसे मुझे संतोष न हुआ । मैंने यह भी चाहा कि वह हंसते और हरखते हुए उसे ले जाय । इसलिए मैंने उसे डांटा-डपटा भी । मैंने उत्तेजित होकर कहा— "देखो, यह बखेड़ा मेरे घरमे न चल सकेगा ।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाईको तीरकी तरह लगा । उसने धधकते दिलसे

कहा—"तो लो, रक्खो यह अपना घर! मैं चली!"

उस समय मैं ईश्वरको भूल गया था। दयाका लेशमात्र मेरे हृदयमें न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ीके सामने ही बाहर जानेका दरवाजा था। मैं उस दीन अबलाका हाथ पकड़कर दरवाजेतक खींचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आंखोंमें गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोलीं—

"तुम्हें तो कुछ शरम है नहीं; पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊं कहां? मां-बाप भी यहां नही कि उनके पास चली जाऊं। मै ठहरी स्त्री-जाति। इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बंद कर लो—कोई देख लेगा तो दोनोंकी फजीहत होगी।"

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रक्खा; पर मनमें शरमा जरूर गया। दरवाजा बंद कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड़ नही सकती थी तब मैं भी उसे छोड़कर कहां जा सकता था? इस तरह हमारे आपसमें लड़ाई-झगड़े कई बार हुए है; परंतु उनका परिणाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमे पत्नीने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा मुझपर विजय प्राप्त की है।

ये घटनाएं हमारे पूर्व-युगकी है, इसलिए उनका वर्णन मै आज अलिप्त-भावसे करता हूं। आज मै तबकी तरह मोहांध पति नही हूं, न उसका शिक्षक ही हूं। यदि चाहें तो कस्तूरबाई आज मुझे धमका सकती है। हम आज एक-दूसरेके भुक्त-भोगी मित्र है, एक-दूसरेके प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई हैं, जो मेरी बीमारियोंमें बिना प्रति-फलकी इच्छा किये सेवा-शुश्रूषा करती है।

यह घटना १८९८की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालनके विषयमें कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जबकि मुझे इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःखकी साथिन है। मैं यह समझकर बरताव करता था कि पत्नी विषय-भोगकी भाजन है, उसका जन्म पतिकी हर तरहकी आज्ञाओंका पालन करनेके लिए हुआ है।

किंतु १९०० ई०से मेरे इन विचारोंमें गहरा परिवर्तन हुआ। १९०६में उसका परिणाम प्रकट हुआ। परंतु इसका वर्णन आगे प्रसंग आनेपर होगा।

यहां तो सिर्फ इतना बताना काफी है कि ज्यों-ज्यों मै निर्विकार होता गया त्यों-त्यों मेरा घर-संसार शांत, निर्मल और सुखी होता गया और अब भी होता जाता है।

इस पुण्य-स्मरणसे कोई यह न समझ लें कि हम आदर्श दंपती हैं, अथवा मेरी धर्म-पत्नीमे किसी किस्मका दोष नहीं है, अथवा हमारे आदर्श अब एक हो गये हैं। कस्तूरबाई अपना स्वतंत्र आदर्श रखती है या नहीं, यह तो वह बेचारी खुद भी शायद न जानती होंगी। बहुत संभव है कि मेरे आचरणकी बहुतेरी बातें उसे अब भी पसंद न आती हों; परंतु अब हम उनके बारेमें एक-दूसरेसे चर्चा नहीं करते, करनेमें कुछ सार भी नहीं है। उसे न तो उसके मां-बापने शिक्षा दी है, न मैंने ही। जब समय था, शिक्षा दे सका; परंतु उसमें एक गुण बहुत बड़े परिमाणमें है, जो दूसरी कितनी ही हिंदू-स्त्रियोंमे थोड़ी-बहुत मात्रामें पाया जाता है। मनसे हो या बे-मनसे, जानमें हो या अनजानमें मेरे पीछे-पीछे चलनेमें उसने अपने जीवनकी सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बितानेके मेरे प्रयत्नमें उसने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनोंकी बुद्धि-शक्तिमें बहुत अंतर है, फिर भी मेरा खयाल है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

११

अंग्रेजोंसे गाढ़ परिचय

इस अध्यायतक पहुंचनेपर, अब ऐसा समय आ गया है जब मुझे पाठकोंको बताना चाहिए कि सत्यके प्रयोगोंकी यह कथा किस तरह लिखी जा रही है। जब कथा लिखनेकी शुरुआत की थी तब मेरे पास उसका कोई ढांचा तैयार न था। न अपने साथ पुस्तकें, डायरी अथवा दूसरे कागज-पत्र रखकर ही इन अध्यायोंको लिख रहा हूं। जिस दिन लिखने बैठता हूं उस दिन अंतरात्मा जैसी प्रेरणा करती है, वैसा लिखता जाता हूं। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि जो क्रिया मेरे अंदर चलती रहती है वह अंतरात्माकी ही प्रेरणा है; परंतु बरसोंसे मैं जो अपने छोटे-छोटे और बड़े-बड़े कहे जानेवाले कार्य करता आया हूं उनकी जब छान-बीन करता हूं तो मुझे यह कहना अनुचित नहीं मालूम होता कि वे अंतरात्माकी

प्रेरणाके ही फल हैं ।

अंतरात्माको न तो मैंने देखा है, न जाना है । संसारकी ईश्वरपर जो श्रद्धा है उसे मैंने अपनी बनाली है । यह श्रद्धा ऐसी नहीं है जो किसी प्रकार मिटाई जा सके । इसलिए अब वह मेरे नजदीक श्रद्धा नहीं; बल्कि अनुभव हो गया है । फिर भी अनुभवके रूपमें उसका परिचय कराना एक प्रकारसे सत्यपर प्रहार करना है । इसलिए यही कहना शायद अधिक उचित होगा कि उसके शुद्ध रूपका परिचय देनेवाला शब्द मेरे पास नहीं है । मेरी यह धारणा है कि इसी अदृष्ट अंतरात्माके वशवर्ती होकर मैं यह कथा लिख रहा हूं ।

पिछला अध्याय जब मैंने शुरू किया तब उसका नाम रक्खा था— 'अंग्रेजोंसे परिचय'; परंतु उस अध्यायको लिखते हुए मैंने देखा कि उस परिचयका वर्णन करनेके पहले मुझे 'पुण्यस्मरण' लिखनेकी आवश्यकता है । तब 'पुण्यस्मरण' लिखा और बादको उसका वह पहला नाम बदलना पड़ा ।

अब इस प्रकरणको लिखते हुए फिर एक नया धर्म-संकट पैदा हो गया है । अंग्रेजोंके परिचयोंका वर्णन करते समय क्या-क्या लिखूं और क्या-क्या न लिखूं, यह महत्त्वका प्रश्न उपस्थित हो गया है । यदि आवश्यक बात न लिखी जाय तो सत्यको दाग लग जानेका अंदेशा है; परंतु संभव है कि इस कथाका लिखना भी आवश्यक न हो— ऐसी दशामें आवश्यक और अनावश्यकके झगड़ेका न्याय सहसा कर देना कठिन हो जाता है ।

आत्मकथाएं इतिहासके रूपमें कितनी अपूर्ण होती हैं और उनके लिखनेमें कितनी कठिनाइयां आती हैं— इसके विषयमें पहले मैंने कहीं पढ़ा था; पर उसका अर्थ मैं आज अधिक अच्छी तरह समझ रहा हूं । सत्यके प्रयोगोंकी इस आत्म-कथामें मैं वे सभी बातें नहीं लिख रहा हूं जिन्हें मैं जानता हूं । कौन कह सकता है कि सत्यको दर्शानेके लिए मुझे कितनी बातें लिखनी चाहिएं । या यों कहें कि एकतर्फा अधूरे सबूतकी न्याय-मंदिरमें क्या कीमत हो सकती है ? इन पिछले प्रकरणोंपर यदि कोई फुरसतवाला आदमी मुझसे जिरह करने लगे तो न जाने कितनी रोशनी इन प्रकरणोंपर पड़ सकती है ? और यदि फिर एक आलोचककी दृष्टिसे कोई उसकी छानबीन करे तो वह कितनी ही 'पोल' खोलकर दुनियाको हँसा सकता है और खुद फूलकर कुप्पा बन सकता है ।

इन बातोंपर जब विचार उठने लगते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि इन अध्यायोंको लिखनेका विचार स्थगित कर दिया जाय तो क्या ठीक न होगा ? परंतु जबतक यह साफ तौरपर न मालूम हो कि स्वीकृत अथवा आरंभित कार्य अनीतिमय है तबतक उसे न छोड़ना चाहिए। इस न्यायके आधारपर जबतक अंतरात्मा मुझे न रोके तबतक इन अध्यायोंको लिखते जानेका निश्चय कायम रखता हूं।

यह कथा टीकाकारोंको संतुष्ट करनेके लिए नहीं लिखी जाती है। सत्यके प्रयोगोंमें इसे भी एक प्रयोग ही समझ लेना चाहिए। फिर इसमें यह दृष्टि तो है ही कि मेरे साथियोंको इसके द्वारा कुछ-न-कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका आरंभ ही उनके संतोषके लिए किया है। स्वामी आनंद और जयरामदास मेरे पीछे न पड़ते तो इसकी शुरूआत भी शायद ही हो पाती ! इस कारण यदि इस कथाके लिखनेमें कुछ बुराई होती हो तो इसके दोष-भागी वे भी हैं।

अब इस अध्यायके मूल विषयपर आता हूं। जिस तरह मैंने हिंदुस्तानी कारकुनों तथा दूसरे लोगोंको अपने घरमें बतौर कुटुंबीके रक्खा था, उसी तरह अंग्रेजोंको भी रखने लगा। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहनेवाले दूसरे लोगोंके लिए अनुकूल न था; परंतु मैंने उसकी परवा न करके उन्हें रक्खा। यह नहीं कहा जा सकता कि सबको इस तरह रखकर मैंने हमेशा बुद्धिमानीका ही काम किया है। कितने ही लोगोंसे ऐसा संबंध बांधनेका कटु अनुभव भी हुआ है; परंतु ऐसे अनुभव तो क्या देशी या क्या विदेशी सबके संबंधमें हुए हैं। उन कटु अनुभवोंपर मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ है। कटु अनुभवोंके होते रहते भी और यह जानते हुए भी कि दूसरे मित्रोंको असुविधा होती है, उन्हें कष्ट सहना पड़ता है, मैंने अपने इस रवैयेको नहीं बदला, और मित्रोंने मेरी इस ज्यादतीको उदारतापूर्वक सहन किया है। नये-नये लोगोंसे बांधे गये ऐसे संबंध जब-जब मित्रोंके लिए कष्टदायी साबित हुए हैं तब-तब उन्हींको मैंने बेखटके कोसा है; क्योंकि मैं यह मानता हूं कि आस्तिक मनुष्य तो अपने अंतरस्थ ईश्वरको सबमें देखना चाहता है और इसलिए उसके अंदर सबके साथ अलिप्ततासे रहनेकी क्षमता अवश्य आनी चाहिए और उस शक्तिको प्राप्त करनेका उपाय ही यह है कि जब-जब ऐसे अनचाहे अवसर आवें तब-तब उनसे दूर न भागते हुए नये-नये संबंधोंमें पड़ें और फिर भी

अपनेको राग-द्वेषसे ऊपर उठाए रक्खें ।

इस कारण जब बोअर-ब्रिटिश-युद्ध शुरू हुआ तब यद्यपि मेरा सारा घर भरा हुआ था, तथापि मैंने जोहान्सबर्गसे आये दो अंग्रेजोंको अपने यहां रक्खा। दोनों थियॉसफिस्ट थे । उनमेंसे एकका नाम था किचन, जिनके बारेमें हमें और आगे जानना होगा । इन मित्रोंके सहवासने भी धर्मपत्नीको रुलाकर छोड़ा था । मेरे निमित्त रोनेके अवसर उसकी तकदीरमें बहुतेरे आये हैं । बिना किसी परदे या परहेजके इतने निकट-संबंधमें अंग्रेजोंको घरमें रखनेका यह पहला अवसर था । हां, इंग्लैंडमें अलबत्ता मैं उनके घरोंमें रहा था; पर वहां तो मैंने अपनेको उनकी रहन-सहनके अनुकूल बना लिया था और वहांका रहना लगभग वैसा ही था जैसा कि होटलमें रहना; पर यहांकी हालत वहांसे उलटी थी । ये मित्र मेरे कुटुंबी बनकर रहे थे । बहुतांशमें उन्होंने भारतीय रहन-सहनको अपना लिया था । मेरे घरका बाहरी साज-सामान यद्यपि अंग्रेजी ढंगका था फिर भी भीतरी रहन-सहन और खान-पान आदि प्रधानतः हिंदुस्तानी था । यद्यपि मुझे याद पड़ता है कि उनके रखनेसे हमें बहुतेरी कठिनाइयां पैदा हुई थीं; फिर भी मैं यह कह सकता हूं कि वे दोनों सज्जन हमारे घरके दूसरे लोगोंके साथ मिल-जुल गये थे । डरबनकी अपेक्षा जोहान्सबर्गके ये संबंध बहुत आगेतक गये थे ।

१२

अंग्रेजोंसे परिचय (चालू)

जोहान्सबर्गमें मेरे पास एक बार चार हिंदुस्तानी मुंशी हो गये थे । उन्हें मुंशी कहूं या बेटा कहूं, यह कहना कठिन है; परंतु इतनेसे मेरा काम न चला । टाइपिंगके बिना काम चल ही नहीं सकता था । हममेंसे सिर्फ मुझको ही टाइपिंगका थोड़ा ज्ञान था । सो इन चार युवकोंमेंसे दोको टाइपिंग सिखाया; परंतु वे अंग्रेजी कम जानते थे । इससे उनका टाइपिंग कभी शुद्ध और अच्छा न हो सका । फिर इन्हींमेंसे मुझे हिसाब लेखक तैयार करना था । इधर नेटालसे मैं अपने मन-माफिक किसीको बुला नहीं सकता था; क्योंकि परवानेके बगैर

कोई हिंदुस्तानी वहां आ नहीं सकता था और अपनी सुविधाके लिए मैं राज-कर्मचारियोंसे कृपा-भिक्षा मांगनेको तैयार न था ।

इससे मै सोचमें पड़ गया । काम इतना बढ़ गया कि पूरी-पूरी मेहनत करनेपर भी इधर वकालतका और उधर सार्वजनिक कामका भार सम्हाल नहीं पाता था ।

अंग्रेज कारकुन—फिर वह स्त्री हो या पुरुष—मिल जानेसे भी मेरा काम चल सकता था; पर शंका यह थी कि 'काले' आदमीके पास भला कोई गोरा कैसे नौकरी करेगा ? परंतु मैंने तय किया कि कम-से-कम कोशिश तो कर देखनी चाहिए । टाइप-राइटरोंके एजेंटसे मेरा कुछ परिचय था । मैं उससे मिला और कहा कि यदि कोई टाइपिस्ट भाई या बहन ऐसा हो जिसे 'काले' आदमीके यहां काम करनेमें कोई उज्र न हो तो मेरे लिए तलाश कर दें । दक्षिण-अफ्रीकामें लघु-लेखन (शोर्टहैंड) अथवा टाइपिंगका काम करनेवाली अधिकांशमें स्त्रियां ही होती हैं । पूर्वोक्त एजेंटने मुझे आश्वासन दिया कि मैं एक शोर्टहैंड-टाइपिस्ट आपको खोज दूंगा । मिस डिक नामक एक स्कॉच कुमारी उसके हाथ लगी । वह हाल ही स्काटलैंडसे आई थी । जहां भी कहीं प्रामाणिक नौकरी मिल जाय वहां करनेमें उसे कोई आपत्ति न थी । उसे काममें लगनेकी भी जल्दी थी । उस एजेंटने उस कुमारिकाको मेरे पास भेजा । उसे देखते ही मेरी नजर उस पर ठहर गई । मैंने उससे पूछा—

"तुमको एक हिंदुस्तानीके यहां काम करनेमें आपत्ति तो नहीं है ?"

उसने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया— "बिलकुल नहीं ।"

"क्या वेतन लोगी ?"

"साढ़े सत्रह पौंड अधिक तो न होंगे ?"

"तुमसे मैं जिस कामकी आशा रखता हूं वह ठीक-ठीक कर दोगी तो इतनी रकम बिलकुल ज्यादा नहीं है । तुम कब कामपर आ सकोगी ?"

"आप चाहें तो अभी ।"

इस बहनको पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और उसी समय उसे अपने सामने बैठकर चिट्ठियां लिखवाने लगा । इस कुमारीने अकेले मेरे कारकुनका ही नहीं; बल्कि सगी लड़की या बहनका भी स्थान मेरे नजदीक सहज ही प्राप्त

कर लिया। मुझे उसे कभी किसी बातपर डांटना-डपटना नहीं पड़ा। शायद ही कभी उसके काममें गलती निकालनी पड़ी हो। हजारों पौंडके देन-लेनका काम एकबार उसके हाथमें था और उसका हिसाब-किताब भी वही रखती थी। वह हर तरहसे मेरे विश्वासकी पात्र हो गई थी। यह तो ठीक; पर मैं उसकी गुह्यतम भावनाओंको जानने योग्य उसका विश्वास प्राप्त कर सका था और यह मेरे नजदीक एक बड़ी बात थी। अपना जीवन-साथी पसंद करनेमें उसने मेरी सलाह ली थी। कन्यादान करनेका सौभाग्य भी मुझीको प्राप्त हुआ था। मिस डिक जब मिसेज मैकडॉनल्ड हो गई तब उन्हें मुझसे अलग होना आवश्यक था। फिर भी, विवाहके बाद भी, जब-जब जरूरत होती, मुझे उनसे सहायता मिलती थी।

परंतु दफ्तरमें एक शोर्टहैंड-राइटरकी जरूरत तो थी ही। वह भी पूरी हो गई। उस बहनका नाम था मिस श्लेशिन। मि० कैलनबेक उसे मेरे पास लाये थे। मि० कैलनबेकका परिचय पाठकोंको आगे मिलेगा। यह बहन आज ट्रांसवालमें किसी हाईस्कूलमें शिक्षिकाका काम करती है। जब मेरे पास यह आई थी तब उसकी उम्र १७ वर्षकी होगी। उसकी कितनी ही विचित्रताओंके आगे मैं और मि० कैलनबेक हार खा जाते। वह नौकरी करने नहीं आई थी। उसे तो अनुभव प्राप्त करना था। उसके रगोरेशेमें कहीं रंग-द्वेषका नाम न था। न उसे किसीकी परवा ही थी। वह किसीका अपमान करनेसे भी नहीं हिचकती थी। अपने मनमें जिसके संबंधमें जो विचार आते हों वह कह डालनेमें जरा संकोच न रखती थी। अपने इस स्वभावके कारण वह कई बार मुझे कठिनाइयोंमें डाल देती थी; परंतु उसका हृदय शुद्ध था, इससे कठिनाइयां दूर भी हो जाती थीं। उसका अंग्रेजी ज्ञान मैंने अपनेसे हमेशा अच्छा माना था, फिर उसकी वफादारीपर भी मेरा पूर्ण विश्वास था। इससे उसके टाइप किये हुए कितने ही पत्रोंपर बिना दोहराये दस्तखत कर दिया करता था।

उसके त्याग-भावकी सीमा न थी। बहुत समयतक तो उसने मुझसे सिर्फ ६ पौंड महीना ही लिया और अंतमें जाकर १० पौंडसे अधिक लेनेसे साफ इन्कार कर दिया। यदि मैं कहता कि ज्यादा ले लो तो मुझे डांट देती और कहती—"मैं यहां वेतन लेने नहीं आई हूं। मुझे तो आपके आदर्श प्रिय हैं। इस कारण मैं आपके साथ रह रही हूं।"

एक बार आवश्यकता पड़नेपर मुझसे उसने ४० पौंड उधार लिये थे—और पिछले साल सारी रकम उसने मुझे लौटा दी ।

त्याग-भाव उसका जैसा तीव्र था वैसी ही उसकी हिम्मत भी जबरदस्त थी ! मुझे स्फटिककी तरह पवित्र और वीरतामें क्षत्रियको भी लज्जित करनेवाली जिन महिलाओंसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमें मैं इस बालिकाकी गिनती करता हूं । आज तो वह प्रौढ़ कुमारिका है । उसकी वर्त्तमान मानसिक स्थितिसे मैं परिचित नहीं हूं; परतु इस बालिकाका अनुभव मेरे लिए सदा एक पुण्य-स्मरण रहेगा और यदि मैं उसके संबंधमें अपना अनुभव न प्रकाशित करूं तो मैं सत्यका द्रोही बनूंगा ।

काम करनेमें वह न दिन देखती थी न रात । रातमें जब भी कभी हो अकेली चली जाती और यदि मैं किसीको साथ भेजना चाहता तो लाल-पीली आंखे दिखाती । हजारों जवामर्द भारतीय उसे आदरकी दृष्टिसे देखते थे और उसकी बात मानते थे । जब हम सब जेलमें थे, जबकि जिम्मेदार आदमी शायद ही कोई बाहर रहा था तब उस अकेली ने सारी लड़ाईका काम सम्हाल लिया था । लाखोंका हिसाब उसके हाथमें, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथमें और 'इंडियन ओपिनियन' भी उसीके हाथमें—ऐसी स्थिति आ पहुंची थी; पर वह थकना नहीं जानती थी ।

मिस श्लेशिनके बारेमें लिखते हुए मैं थक नहीं सकता; पर यहां तो सिर्फ गोखलेका प्रमाणपत्र देकर इस अध्यायको समाप्त करता हूं । गोखलेने मेरे तमाम साथियोंसे परिचय कर लिया था और इस परिचयसे उन्हें बहुतोंसे बहुत संतोष हुआ था । उन्हें सबके चरित्रके बारेमें अंदाज लगानेका शौक था । मेरे तमाम भारतीय और यूरोपीय साथियोंमें उन्होंने मिस श्लेशिनको पहला नंबर दिया था । "इतना त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत कम लोगोंमें देखी है । मेरी नजरमें तो मिस श्लेशिनका नंबर तुम्हारे सब साथियोंमें पहला है ।"

१३

'इंडियन ओपीनियन'

अभी और यूरोपियनोंके गाढ़ परिचयका वर्णन करना बाकी है; किंतु उसके पहले दो-तीन जरूरी बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक है।

एक परिचय तो यहीं देता हूं। अकेली मिस डिकके ही आ जानेसे मेरा काम पूरा नहीं हो सकता था। मि० रीचका जिक्र मैं पहले कर चुका हूं। उसके साथ तो मेरा खासा परिचय था ही। वह एक व्यापारी गद्दीके व्यवस्थापक थे। मैंने उन्हें सुझाया कि वह उस कामको छोड़कर मेरे साथ काम करें। उन्हें यह पसंद हुआ और वह मेरे दफ्तरमें काम करने लगे। इससे मेरे कामका बोझ हलका हुआ।

इसी अरसेमे श्री मदनजीतने 'इंडियन ओपीनियन' नामक अखबार निकालनेका इरादा किया। उन्होंने उसमें मेरी सलाह और मदद मांगी। छापा-खाना तो उनका पहलेसे ही चल रहा था। इसलिए अखबार निकालनेके प्रस्ताव-से मैं सहमत हो गया। बस १९०४मे 'इंडियन ओपीनियन'का जन्म हो गया। मनसुखलाल नाजर उसके संपादक हुए; पर सच पूछिए तो संपादकका असली बोझ मुझपर ही आ पड़ा। मेरे नसीबमें तो हमेशा प्रायः दूर रहकर ही पत्र-संचालनका काम रहा है।

पर यह बात नही कि मनसुखलाल नाजर संपादनका काम नहीं कर सकते थे। वह देसके कितने ही अखबारोंमें लिखा करते थे; परंतु दक्षिण अफ्रीका-के अटपटे प्रश्नोंपर मेरे मौजूद रहते हुए स्वतंत्र-रूपसे लेख लिखनेकी हिम्मत उन्हें न हुई। मेरी विवेकशीलतापर उनका अतिशय विश्वास था। इसलिए जिन-जिन विषयोंपर लिखना आवश्यक होता उनपर लेखादि लिखनेका बोझ वह मुझीपर रख देते।

'इंडियन ओपीनियन' साप्ताहिक था और आज भी है। पहले-पहल वह गुजराती, हिंदी, तमिल और अंग्रेजी इन चार भाषाओंमें निकलता था; परंतु मैंने देखा कि तमिल और हिंदी-विभाग नाम-मात्रके लिए थे। मैंने यह भी

अनुभव किया कि उनके द्वारा भारतीयोंकी सेवा नहीं हो रही थी। इन विभागों को कायम रखनेमें मुझे झूठका आश्रय लेनेका आभास हुआ—इस कारण उन्हें बंद करके शांति प्राप्त की।

मुझे यह खयाल न था कि इस अखबारमें मुझे रुपया भी लगाना पड़ेगा; परंतु थोड़े ही अरसेके बाद मैंने देखा कि यदि मैं उसमें रुपया नहीं लगाता हूं तो वह बिलकुल चल ही नहीं सकता था। यद्यपि उसका संपादक मैं न था फिर भी भारतीय और गोरे सब लोग इस बातको जान गये थे कि उसके लेखोंकी जिम्मेदारी मुझीपर है। फिर अगर अखबार नहीं निकला होता तो एक बात थी; पर निकल चुकनेके बाद उसके बंद होनेसे सारे भारतीय समाजकी बदनामी होती थी और उसे हानि पहुंचनेका भी पूरा भय था। इसलिए मैं उसमें रुपये लगाता गया और अंतको यहांतक नौबत आ गई कि मेरे पास जो कुछ बच जाता था सब उसके अर्पण होता था। ऐसा भी समय मुझे याद है जब उसमें प्रति मास ७५ पौंड मुझे भेजना पड़ता था।

परंतु इतना अरसा हो जानेके बाद मुझे प्रतीत होता है कि इस अखबारके द्वारा भारतीय समाजकी अच्छी सेवा हुई है। उसके द्वारा धन उपार्जन करनेका तो इरादा ठेटसे ही किसीका न था।

जबतक उसका सूत्र मेरे हाथमें था तबतक उसमें जो कुछ परिवर्तन हुए वे मेरे जीवनके परिवर्तनोंके सूचक थे। जिस प्रकार आज 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवनके कितने अंशका निचोड़ है उसी प्रकार 'इंडियन ओपीनियन' भी था। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्माको उंडेलता और उस चीजको समझानेका प्रयत्न करता जिसे मैं सत्याग्रहके नामसे पहचानता था। जेलके दिनोंको छोड़कर दस वर्षतक अर्थात् १९१४तकके 'इंडियन ओपीनियन'का शायद ही कोई अंक ऐसा गया हो जिसमें मैंने एक भी शब्द बिना विचारे, बिना तौले लिखा हो अथवा महज किसीको खुश करनेके लिए लिखा हो या जान-बूझकर अत्युक्ति की हो। यह अखबार मेरे लिए संयमकी तालीमका काम देता था, मित्रोंके लिए मेरे विचार जाननेका साधन हो गया था और टीकाकारोंको उसमें-से टीका करने की सामग्री बहुत थोड़ी मिल सकती थी। मैं जानता हूं कि उसके लेखोंकी बदौलत टीकाकारोंको अपनी कलमपर अंकुश रखना पड़ता था। यदि यह अखबार न होता तो सत्याग्रह-संग्राम न चल सकता। पाठक इसे अपना

पत्र समझते थे और इसमें उन्हें सत्याग्रह-संग्रामका तथा दक्षिण अफ्रीका-स्थित हिंदुस्तानियोंकी दशाका सच्चा चित्र दिखाई पड़ता था ।

इस पत्रके द्वारा मुझे रंग-बिरंगे मनुष्य-स्वभावको परखनेका बहुत अवसर मिला । इसके द्वारा मैं संपादक और ग्राहकके बीच निकट और स्वच्छ संबंध बांधना चाहता था । इसलिए मेरे पास ढेर-की-ढेर चिट्ठियां ऐसी आतीं जिनमें लेखक अपने अंतरको मेरे सामने खोलते थे । इस सिलसिलेमें तीखे, कड़ुए, मीठे तरह-तरहके पत्र और लेख मेरे पास आते । उन्हें पढ़ना, उनपर विचार करना, उनके विचारोंका सार निकालकर उन्हें जवाब देना, यह मेरे लिए बड़ा शिक्षादायक काम हो गया था । इसके द्वारा मुझे ऐसा अनुभव होता था मानो मैं वहांकी बातों और विचारोंको अपने कानोंसे सुनता हूं । इससे मैं संपादककी जिम्मेदारीको खूब समझने लगा और अपने समाजके लोगोंपर जो नियंत्रण मेरा हो सका उसके बदौलत भावी संग्राम शक्य, सुशोभित और प्रबल हुआ ।

'इंडियन ओपीनियन'के प्रथम मासके कार्य-कालमें ही मुझे यह अनुभव हो गया था कि समाचार-पत्रोंका संचालन सेवा-भावसे ही होना चाहिए । समाचार-पत्र एक भारी शक्ति है; परंतु जिस प्रकार निरंकुश जल-प्रवाह कई गांवोंको डुबो देता और फसलको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी प्रकार निरंकुश कलमकी धारा भी सत्यानाश कर देती है । यह अंकुश यदि बाहरी हो तो वह इस निरंकुशतासे भी अधिक जहरीला साबित होता है । अतः लाभदायक तो अंदरका ही अंकुश हो सकता है ।

यदि इस विचार-सरणिमें कोई दोष न हो तो, भला बताइए, संसारके कितने अखबार कायम रह सकते हैं ? परंतु सवाल यह है कि ऐसे फिजूल अखबारोंको बंद भी कौन कर सकता है ? और कौन किसको फिजूल बता सकता है ? सच बात यह है कि कामकी और फिजूल दोनों बातें संसारमें एक साथ चलती रहेंगी । मनुष्यके बसमें तो सिर्फ इतना ही है कि वह अपने लिए पसंदगी कर लिया करे ।

१४

'कुली लोकेशन' या भंगी-टोला?

हिंदुस्तानमें हम उन लोगोंको जो सबसे बड़ी समाज-सेवा करते हैं, भंगी, मेहतर, ढेड़ आदि कहते हैं और उन्हें अछूत मानकर उनके मकान गांवके बाहर बनवाते हैं। उनके निवास-स्थान को भंगी-टोला कहते हैं और उसका नाम लेते ही हमें घिन आने लगती है। इसी तरह ईसाइयोंके यूरोपमें एक जमाना था जब यहूदी लोग अछूत माने जाते थे और उनके लिए जो अलग मुहल्ला बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। यह नाम अमंगल समझा जाता था। इसी प्रकारसे दक्षिण अफ्रीकामें हम हिंदुस्तानी लोग वहांके भंगी––अस्पृश्य––बन गये हैं। अब यह देखना है कि एंडरूज साहबने हमारे लिए वहां जो त्याग किया है और शास्त्रीजी ने जो जादूकी लकड़ी घुमाई है उसके फल-स्वरूप हम वहां अछूत न रहकर सभ्य माने जायंगे या नहीं?

हिंदुओंकी तरह यह भी अपनेको ईश्वरके लाड़ले मानते थे और दूसरोंको हेय समझते थे। अपने इस अपराधकी सजा उन्हें विचित्र और अकल्पित रीतिसे मिली। लगभग इसी तरह हिंदुओंने भी अपनेको संस्कृत अथवा आर्य समझकर खुद अपने ही एक अंगको प्राकृत, अनार्य या अछूत मान रक्खा है। इस पापका फल वे विचित्र रीतिसे––चाहे वह अनुचित रीतिसे क्यों न हो––दक्षिण अफ्रीका इत्यादि उपनिवेशोंमें पा रहे हैं और मैं मानता हूं कि उसमें उनके पड़ौसी मुसलमान और पारसी भी, जोकि उन्हींके रंग और देशके हैं, उनके साथ दुःख भोग रहे हैं।

अब पाठक कुछ समझ सकेंगे कि क्यों यह एक अध्याय जोहान्सबर्गके 'कुली लोकेशन'पर लिखा जा रहा है। दक्षिण अफ्रीकामें हम हिंदुस्तानी लोग 'कुली'के नामसे 'प्रसिद्ध' हैं। भारतमें तो 'कुली' शब्दका अर्थ है सिर्फ मजदूर; परंतु दक्षिण अफ्रीकामें वह तिरस्कारसूचक है और यह तिरस्कार भंगी, चमार, पंचम इत्यादि शब्दोंके द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। दक्षिण अफ्रीकामें जो स्थान 'कुलियों'के रहनेके लिए अलग रक्खा जाता है उसे 'कुली लोकेशन' कहते हैं। ऐसा एक लोकेशन जोहान्सबर्गमें था। दूसरी जगह तो जो 'लोकेशन'

रक्खे गये और अब भी हैं वहां हिंदुस्तानियोंको कोई हक-मिल्कियत नहीं है; परंतु जोहान्सबर्गके इस लोकेशनमें जमीनका ९९ सालका पट्टा कर दिया गया था। इसमें हिंदुस्तानियोंकी बड़ी गिचपिच बस्ती थी। आबादी तो बढ़ती जाती थी; किंतु लोकेशन जितनेका उतना ही बना था। उसके पाखाने तो ज्यों-त्यों करके साफ किये जाते थे; परंतु इसके अलावा म्युनिसिपैलिटीकी तरफसे और कोई देख-भाल नहीं होती थी। ऐसी दशामें सड़क और रोशनीका तो पता ही कैसे चल सकता था ? इस तरह जहां लोगोंके पाखाने-पेशाबकी सफाईके विषयमें ही परवाह नहीं की जाती थी वहां दूसरी सफाईका तो पूछना ही क्या ? फिर जो हिंदुस्तानी वहां रहते थे वे नगर-सुधार, स्वच्छता, आरोग्य इत्यादिके नियमोंके जानकार सुशिक्षित और आदर्श भारतीय नहीं थे कि जिन्हें म्युनिसिपैलिटीकी सहायता की अथवा उनकी रहन-सहनपर देखभाल करनेकी जरूरत न थी। हां, यदि वहां ऐसे भारतवासी जा बसे होते जो जंगलमें मंगल कर सकते है, जो मिट्टीमेंसे मेवा पैदा कर सकते है तब तो उनका इतिहास जुदा ही होता। ऐसे बहु-संख्यक लोग दुनियामें कहीं भी देश छोड़कर विदेशोंमें मारे-मारे फिरते देखे ही नहीं जाते। आम तौरपर लोग धन और धंधेके लिए विदेशोंमें भटकते है; परंतु हिंदुस्तानसे तो वहां अधिकांशमें अपढ़, गरीब, दीन-दुखी मजूर लोग ही गये थे। इन्हें तो कदम-कदमपर रहनुमाई और रक्षणकी आवश्यकता थी। हां, उनके पीछे वहां व्यापारी तथा दूसरी श्रेणियोंके स्वतंत्र भारतवासी भी गये; परंतु वे तो उनके मुकाबिलेमें मुट्ठी-भर थे।

इस तरह स्वच्छता-रक्षक विभागकी अक्षम्य गफलतसे और भारतीय निवासियोंके अज्ञानसे लोकेशनकी स्थिति आरोग्यकी दृष्टिसे अवश्य बहुत खराब थी। उसे सुधारनेकी जरा भी उचित कोशिश सुधार-विभागने नहीं की। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी ही इस गलती से उत्पन्न खराबीका बहाना बनाकर उसने इस लोकेशनको मिटा देनेका निश्चय किया और उस जमीनपर कब्जा कर लेनेकी सत्ता वहांकी धारा-सभासे प्राप्त कर ली। जब मैं जोहान्सबर्गमें रहने गया तब वहांकी यह स्थिति हो रही थी।

वहांके निवासी अपनी-अपनी जमीनके मालिक थे। इसलिए उन्हें कुछ हर्जाना देना जरूरी था। हरजानेकी रकम तय करनेके लिए एक खास

पंचायत बैठाई गई थी। म्युनिसिपैलिटी जितना हरजाना देना चाहती उतनी रकम यदि मकान-मालिक लेना मंजूर न करे तो उसका फैसला यह पंचायत करती और मालिकको वह मंजूर करना पड़ता। यदि पंचायत म्यूनिसिपैलिटीसे ज्यादा रकम देना तय करे तो मकान मालिकके वकीलका खर्च म्यूनिसिपैलिटीको चुकाना पड़ता था।

ऐसे बहुतेरे दावोंमें मकान-मालिकोंने मुझे अपना वकील बनाया था। पर मैं इसके द्वारा रुपया पैदा करना नहीं चाहता था। मैंने उनसे पहले ही कह दिया था—"यदि तुम्हारी जीत होगी तो म्यूनिसिपैलिटीकी ओरसे खर्चकी जो-कुछ रकम मिलेगी उसीपर मैं संतोष कर लूगा। तुम तो मुझे फी पट्टा दस पौंड दे देना, बस। फिर तुम्हारी जीत हो या हार।" इसमेंसे भी लगभग आधी रकम गरीबोंके लिए अस्पताल बनवाने या ऐसे ही किसी सार्वजनिक काममें लगानेका अपना इरादा मैंने उनपर प्रकट कर दिया था। स्वभावतः ही इससे सब लोग बहुत खुश हुए।

लगभग ७० दावोंमें सिर्फ एकमें मेरे मवक्किलकी हार हुई। इससे फीसमें मुझे भारी रकम मिल गई। परंतु इसी समय 'इंडियन ओपीनियन'की मांग मेरे सिरपर सवार ही थी। इसलिए मुझे याद पड़ता है कि लगभग १६०० पौंडका चैक उसीमें काम आ गया था।

इन दावोंकी पैरवीमें मैंने अपने खयालके अनुसार काफी परिश्रम किया था। मवक्किलोंकी तो मेरे आस-पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमेंसे लगभग सब या तो बिहार इत्यादि उत्तर तरफके या तामिल-तेलगू इत्यादि दक्षिण प्रदेशके लोग थे। वे पहली गिरमिटमें आये थे और अब मुक्त होकर स्वतंत्र पेशा कर रहे थे।

इन लोगोंने अपने दुःखोंको मिटानेके लिए, भारतीय व्यापारी-वर्गसे अलग अपना एक मंडल बनाया था। उसमें कितने ही बड़े सच्चे दिलके, उदार-भाव रखनेवाले और सच्चरित्र भारतवासी थे। उनके अध्यक्षका नाम था श्री जेरामसिंह और अध्यक्ष न रहते हुए भी अध्यक्षके जैसे ही दूसरे सज्जन थे श्री बदरी। अब दोनों स्वर्गवासी हो चुके हैं। दोनोंकी तरफसे मुझे अतिशय सहायता मिली थी। श्री बदरीके परिचयमें मैं बहुत ज्यादा आया था और उन्होंने सत्याग्रहमें आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। इन तथा ऐसे भाइयोंके द्वारा मैं उत्तर-दक्षिणके

बहु-संख्यक भारतवासियोंके गाढ़ संपर्कमें आया और मैं केवल उनका वकील ही नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा और उनके तीनों प्रकारके दुःखोंमें उनका साझी हुआ। सेठ अब्दुल्लाने मुझे 'गांधी' नामसे संबोधन करनेसे इन्कार कर दिया। और 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन ? इसलिए उन्होंने एक बड़ा ही प्रिय शब्द ढूंढ निकाला। मुझे वे लोग 'भाई' कहकर पुकारने लगे। यह नाम अंततक दक्षिण अफ्रीकामें चला। पर जब ये गिरमिटमुक्त भारतीय मुझे 'भाई' कहकर बुलाते तब मुझे उसमें एक खास मिठास मालूम होती थी।

१५

महामारी—१

इस लोकेशनका कब्जा म्यूनिसिपैलिटीने ले तो लिया; परंतु तुरंत ही हिंदुस्तानियोंको वहांसे हटाया नहीं था। हां, यह तय जरूर होगया था कि उन्हें दूसरी अनुकूल जगह दे दी जायगी। अबतक म्यूनिसिपैलिटी वह जगह निश्चित न कर पाई थी। इस कारण भारतीय लोग उसी 'गंदे' लोकेशनमें रहते थे। इससे दो बातोंमे फर्क हुआ। एक तो यह कि भारतवासी मालिक न रहकर सुधार-विभागके किरायेदार बने, और दूसरे गंदगी पहलेसे अधिक बढ़ गई। इससे पहले तो भारतीय लोग मालिक समझे जाते थे, इससे वे अपनी राजीसे नहीं तो डरसे ही पर कुछ-न-कुछ तो सफाई रखते थे; किंतु अब 'सुधार'का किसे डर था ? मकानोंमे किरायेदारोंकी भी तादाद बढ़ी और उसके साथ ही गंदगी और अव्यवस्था-की भी बढ़ती हुई।

यह हालत हो रही थी, भारतवासी अपने मनमें झल्ला रहे थे कि एकाएक 'काला प्लेग' फैल निकला। यह महामारी मारक थी। यह फेफड़ेका प्लेग था और गांठवाले प्लेगकी अपेक्षा भयंकर समझा जाता था। किंतु खुशकिस्मतीसे इस प्लेगका कारण यह लोकेशन न था, बल्कि एक सोनेकी खान थी। जोहान्सबर्ग-के आसपास सोनेकी अनेक खानें है। उनमें अधिकांश हब्शी लोग काम करते हैं। उनकी सफाईकी जिम्मेदारी थी सिर्फ गोरे मालिकोंके सिर। इन खानोंपर कितने ही हिंदुस्तानी भी कांम करते थे। उनमेंसे तेईस आदमी एकाएक प्लेगके

शिकार हुए और अपनी भयंकर अवस्था लेकर वे लोकेशनमें अपने घर आये ।

इन दिनों भाई मदनजीत 'इंडियन ओपीनियन'के ग्राहक बनाने और चंदा वसूल करने यहां आये हुए थे । वह लोकेशनमें चक्कर लगा रहे थे । वह काफी हिम्मतवर थे । इन बीमारोंको देखते ही उनका दिल टूक-टूक होने लगा । उन्होंने मुझे पेंसिलमें लिखकर एक चिट भेजी, जिसका भावार्थ यह था—

"यहां एकाएक काला प्लेग फैल गया है । आपको तुरंत यहां आकर कुछ सहायता करनी चाहिए, नहीं तो बड़ी खराबी होगी । तुरंत आइए ।"

मदनजीतने बेधड़क होकर एक खाली मकानका ताला तोड़ डाला और उसमें इन बीमारोंको लाकर रक्खा । मैं साइकिलपर चढ़कर 'लोकेशन'में पहुंचा । वहांसे टाउन-क्लर्कको खबर भेजी और कहलाया कि किस हालतमें मकानका ताला तोड़ लेना पड़ा ।

डाक्टर विलियम गाडफ्रे जोहान्सबर्गमें डाक्टरी करते थे । वह खबर मिलते ही दौड़े आये और बीमारोंके डाक्टर और परिचारक दोनों बन गय । परंतु बीमार थे तेईस और सेवक थे हम तीन । इतनेसे काम चलना कठिन था ।

अनुभवोंके आधारपर मेरा यह विश्वास बन गया है कि यदि नीयत साफ हो तो संकटके समय सेवक और साधन कहीं-न-कहींसे आ जुटते हैं । मेरे दफ्तरमें कल्याणदास, माणिकलाल और दूसरे दो हिंदुस्तानी थे । आखिरी दोके नाम इस समय मुझे याद नहीं हैं । कल्याणदासको उसके बापने मुझे सौंप रक्खा था । उनके जैसे परोपकारी और केवल आज्ञा-पालनसे काम रखनेवाले सेवक मैंने वहां बहुत थोड़े देखे होंगे । सौभाग्यसे कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे । इसलिए उन्हें मैं कैसे भी खतरेका काम सौंपते हुए कभी न हिचकता । दूसरे व्यक्ति माणिक-लाल मुझे जोहान्सबर्गमें ही मिले थे । मेरा खयाल है कि वह भी कुंवारे ही थे । इन चारोंको चाहे कारकुन कहिए, चाहे साथी या पुत्र कहिए, मैंने इसमें होम देनेका निश्चय कर लिया । कल्याणदाससे तो पूछनेकी जरूरत ही नहीं थी, और दूसरे लोग पूछते ही तैयार हो गये । "जहां आप तहां हम" यह उनका संक्षिप्त और मीठा जवाब था ।

मि० रीचका परिवार बड़ा था । वह खुद तो कूद पड़नेके लिए तैयार थे; किंतु मैंने ही उन्हें ऐसा करनेसे रोका । उन्हें इस खतरेमें डालनेके लिए मैं

बिलकुल तैयार न था, मेरी हिम्मत ही नहीं होती थी। अतएव उन्होंने ऊपरका सब काम सम्हाला।

शुश्रूषाकी यह रात भयानक थी। मै इससे पहले बहुत-से रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर चुका था। परंतु प्लेगके रोगीकी सेवा करनेका अवसर मुझे कभी न मिला था। डाक्टरोंकी हिम्मतने हमें निडर बना दिया था। रोगियोंकी शुश्रूषाका काम बहुत न था। उन्हें दवा देना, दिलासा देना, पानी-वानी दे देना, उनका मैला वगैरा साफ कर देना—इसके सिवा अधिक काम न था।

इन चारों नवयुवकोंके प्राण-पणसे किये गये परिश्रम और ऐसे साहस और निडरताको देखकर मेरे हर्षकी सीमा न रही।

डाक्टर गाडफ्रेकी हिम्मत समझमें आ सकती है, मदनजीतकी भी समझमें आ जाती है—पर इन युवकोंकी हिम्मतपर आश्चर्य होता है। ज्यों-त्यों करके रात बीती। जहांतक मुझे याद पड़ता है, उस रात तो हमने एक भी बीमारको नही खोया।

परंतु यह प्रसंग जितना ही करुणाजनक है उतना ही मनोरंजक और मेरी दृष्टिमें धार्मिक भी है। इस कारण इसके लिए अभी दो और अध्यायोंकी आवश्यकता होगी।

१६

महामारी—२

इस प्रकार एकाएक मकानका ताला तोड़कर बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए टाउन-क्लर्कने हमारा उपकार माना और सच्चे दिलसे कबूल किया—"ऐसी हालतका एकाएक सामना और प्रबंध करनेकी सहूलियत हमारे पास नहीं। आपको जिस किसी प्रकारकी सहायताकी आवश्यकता हो, आप अवश्य कहिएगा; टाउन-कौंसिल अपने बस-भर जरूर आपकी सहायता करेगी।" परंतु वहांकी म्यूनिसिपैलिटीने उचित प्रबंध करनेमें अपनी तरफसे विलंब न होने दिया।

दूसरे दिन एक खाली गोदाम हमारे हवाले किया गया और कहा गया कि

उसमें सब बीमार रक्खे जायं। परंतु उसे साफ करनेकी जिम्मेदारी म्युनिसिपैलिटीने न ली। मकान बड़ा मैला और गंदा था। हम लोगोंने खुद लगकर उसे साफ किया। उदारचेता भारतीयोंकी सहायतासे चारपाई इत्यादि मिल गईं और उस समय काम चलानेके लिए एक खासा अस्पताल बन गया। म्युनिसिपैलिटीने एक नर्स—परिचारिका—भेजी और उनके साथ बरांडीकी बोतल और बीमारोंके लिए अन्य आवश्यक चीजें दीं। डाक्टर गाडफ्रे ज्यों-के-त्यों तैनात रहे।

नर्सको हम शायद ही कहीं रोगियोंको छूने देते थे। उसे खुद तो छूनेसे परहेज न था; वह थी भी भलीमानस। किंतु हमारी कोशिश यही रही कि जहांतक हो वह खतरेमें न पड़े। तजवीज यह हुई थी कि बीमारोंको समय-समयपर बरांडी पिलाई जाय। हमसे भी नर्स कहती कि बीमारीसे अपनेको बचानेके लिए आप लोग थोड़ी-थोड़ी बरांडी पिया करो। वह खुद तो पीती ही थी। पर मेरा मन गवाही नहीं देता था कि बीमारोंको भी बरांडी पिलाई जाय। तीन बीमार ऐसे थे जो बिना बरांडीके रहनेको तैयार थे। डा० गाडफ्रेकी इजाजतसे मैंने उनपर मिट्टीके प्रयोग किये। छातीमें जहां-तहां दर्द होता था वहां-वहां मैंने मिट्टीकी पट्टी बंधवाई। इनमेंसे दो बच गये और शेष सब चल बसे। बीस रोगी तो इस गोदाममें ही मर गये।

म्युनिसिपैलिटीकी ओर से दूसरे प्रबंध भी जारी थे। जोहान्सबर्गसे सात मील दूर एक लेजरेटो अर्थात् संक्रामक रोगियोंका अस्पताल था, वहां तंबू खड़ा किया गया था और उसमें ये तीन रोगी ले जाये गये थे। प्लेगके दूसरे रोगी हों तो उन्हें भी वहीं ले जानेका इंतजाम करके हम इस कार्यसे मुक्त हो गये। थोड़े ही दिन बाद हमें मालूम हुआ कि उस भली नर्सको भी प्लेग हो गया और उसीमें बेचारीका देहांत हो गया। यह कहना कठिन है कि ये रोगी क्यों बच गये और हम लोग प्लेगके शिकार क्यों न हो सके? पर इससे मिट्टीके उपचारपर मेरा विश्वास और दवाके तौरपर भी बरांडीका उपयोग करनेमें मेरी अश्रद्धा बहुत बढ़ गई। मैं जानता हूं कि इस श्रद्धा और अश्रद्धाको निराधार कह सकते हैं। पर उस समय इन दो बातोंकी जो छाप मेरे दिलपर पड़ी और जो अबतक कायम है, उसे मैं मिटा नहीं सकता और इस मौकेपर उसका जिक्र कर देना आवश्यक

समझता हूं ।

इस महामारीके फैल निकलते ही मैंने एक कड़ा पत्र अखबारोंमें लिखा था। उसमें यह बताया गया था कि लोकेशनके म्यूनिसिपैलिटीके कब्जेमें आनेके बाद जो लापरवाही वहां दिखाई गई उसकी तथा जो प्लेग फैला उसकी जिम्मेदार म्यूनिसिपैलिटी है। इस पत्रके बदौलत मि० हेनरी पोलकसे मेरी मुलाकात हुई और वही स्वर्गीय जोसेफ डोकसे भी मुलाकात होनेका एक कारण बन गया था।

पिछले अध्यायमें मैं इस बातका जिक्र कर चुका हूं कि मैं एक निरामिष भोजनालयमें भोजन करने जाता था। वहां मिस्टर आल्बर्ट वेस्टसे मेरी भेंट हुई थी। रोज हम साथ ही भोजनालयमें जाते और खानेके बाद साथ ही घूमने निकलते। मि० वेस्ट एक छोटेसे छापेखानेमें साझीदार थे। उन्होंने अखबारोंमें प्लेग-संबंधी मेरा वह पत्र पढ़ा और जब भोजनके समय भोजनालयमें मुझे नहीं पाया तो बेचैन हो उठे।

मैंने तथा मेरे साथी सेवकोंने प्लेगके दिनोंमें अपनी खुराक कम कर ली थी। बहुत समयसे मैंने यह नियम बना रक्खा था कि जबतक किसी संक्रामक रोगका प्रकोप हो तबतक पेट जितना हल्का रक्खा जा सके उतना ही अच्छा। इसलिए मैंने शामका खाना बंद कर दिया था और दोपहरको भी ऐसे समय जाकर वहां भोजन कर आता जबकि इस तरहके खतरोंसे अपनेको बचानेकी इच्छा करनेवाले कोई भोजनालयमें न आते हों। भोजनालयके मालिकके साथ तो मेरा घनिष्ट परिचय था ही। उससे मैंने यह बात कह रक्खी थी कि मैं इन दिनों प्लेगके रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगा हुआ हूं, इसलिए औरोंको अपनी छूतसे दूर रखना चाहता हूं।

इस तरह भोजनालयमें मुझे न देख कर मि० वेस्ट दूसरे या तीसरे ही दिन सुबह मेरे यहां आ धमके। मैं अभी बाहर निकलनेकी तैयारी कर ही रहा था कि उन्होंने आकर मेरे कमरेका दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वेस्ट बोले—

"आपको भोजनालयमें न देखकर मैं चिंतित हो उठा कि कहीं आप भी प्लेगके सपाटेमें न आ गये हों! इसलिए इस समय इसी विश्वाससे आया हूं कि आपसे अवश्य भेंट हो जायगी। मेरी किसी मददकी जरूरत हो तो जरूर

कहिएगा। मैं रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषाके लिए भी तैयार हूं।. आप जानते ही हैं कि मुझपर सिवा अपना पेट भरनेके और किसी तरहकी जिम्मेदारी नहीं है।"

मैंने मि० वेस्टको इसके लिए धन्यवाद दिया। मुझे नहीं याद पड़ता कि मैंने एक मिनट भी विचार किया होगा। मैंने कहा—

"नर्सका काम तो मैं आपसे नहीं लेना चाहता। यदि और लोग बीमार न हों तो हमारा काम एक-दो दिनमें ही पूरा हो जायगा। पर एक काम आपके लायक जरूर है।"

"सो क्या है?"

"आप डरबन जाकर 'इंडियन ओपीनियन' प्रेसका काम देख सकेंगे? मदनजीत तो अभी यहां रुके हुए हैं। वहां किसी-न-किसीके जानेकी आवश्यकता तो है ही। यदि आप वहां चले जायं तो वहांके कामसे मैं बिलकुल निश्चित हो जाऊं।"

वेस्टने जवाब दिया—"आप जानते हैं कि मेरे खुद एक छापाखाना है। बहुत करके तो मैं वहां जानेके लिए तैयार हो सकूंगा, पर निश्चित उत्तर आज शामको दे सकूं तो हर्ज तो नहीं है? आज शामको घूमने चल सकें तो बातें कर लेंगे।"

उनके आश्वासनसे मुझे आनंद हुआ। उसी दिन शामको कुछ बातचीत हुई। यह तय पाया कि वेस्टको १० पौंड मासिक वेतन और छापाखानेके मुनाफेका कुछ अंश दिया जाय। महज वेतनके लिए वेस्ट वहां नहीं जा रहे थे। इसलिए यह सवाल उनके सामने नहीं था। अपनी उगाही मुझे सौंपकर दूसरे ही दिन रातकी मेलसे वेस्ट डरबन रवाना हो गये। तबसे लेकर मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़नेतक वह मेरे दुःख-सुखके साथी रहे। वेस्टका जन्म विलायतके लाउथ नामक गांवमें एक किसान-कुटुम्बमें हुआ था। पाठशालामें उन्होंने बहुत मामूली शिक्षा प्राप्त की थी। वह अपने ही परिश्रमसे अनुभवकी पाठशालामें पढ़कर और तालीम पाकर होशियार हुए थे। मेरी दृष्टिमें वह एक शुद्ध, संयमी, ईश्वर-भीरु, साहसी और परोपकारी अंग्रेज थे। उनका व उनके कुटुंबका परिचय अभी हमें इन अध्यायोंमें और होगा।

१७

लोकेशनकी होली

रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषासे यद्यपि मै और मेरे साथी फारिग हो गये थे, तथापि इस प्लेग-प्रकरणके बदौलत दूसरे नये काम भी हमारे लिए पैदा हो गये थे।

वहांकी म्यूनिसिपैलिटी लोकेशनके संबंधमें भले ही लापरवाही रखती हो; किंतु गोरे-निवासियोंके आरोग्यके विषयमें तो उसे चौबीसों घंटे सतर्क रहना पड़ता था। उनके आरोग्यकी रक्षाके लिए रुपया फूकनेमें भी उसने कोताही नहीं की थी। और इस समय तो प्लेगको वहां न फैलने देनेके लिए उसने पानीकी तरह पैसा बहाया। भारतीयोंके प्रति इस म्यूनिसिपैलिटीके व्यवहारकी मुझे बहुत शिकायत थी, फिर भी गोरोंकी रक्षाके लिए वह जितनी चिंता कर रही थी उसके प्रति अपना आदर प्रदर्शित किये बिना मै न रह सका और उसके इस शुभ प्रयत्नमें मुझसे जितनी मदद हो सकी मैंने की। मैं मानता हूं कि यदि वह मदद मैंने न की होती तो म्यूनिसिपैलिटीको दिक्कत पड़ती और शायद उसे बंदूकके बलका प्रयोग करना पड़ता और अपनी इष्ट-सिद्धिके लिए ऐसा करनेमें वह बिलकुल न हिचकती।

परंतु ऐसा करनेकी नौबत न आने पाई। उस समय भारतीयोंके व्यवहार से म्यूनिसिपैलिटीके अधिकारी संतुष्ट हो गये और उसके बादका काम बहुत सरल हो गया। म्यूनिसिपैलिटीकी मागको हिदुस्तानियोसे पूरा करानेमें मैंने अपना सारा प्रभाव खर्च कर डाला था। यह काम भारतीयोंके लिए था तो बड़ा दुष्कर; परंतु मुझे याद नही पड़ता कि किसी एकने भी मेरे वचनको टाला हो।

लोकेशनके चारों ओर पहरा बैठा दिया गया था। बिना इजाजत न कोई अंदर जा पाता था, न बाहर आ सकता था। मुझे तथा मेरे साथियोंको बिना रुकावट वहां आने-जानेके लिए पास दे दिये गये थे। म्यूनिसिपैलिटीकी तजवीज यह थी कि लोकेशनके सब लोगोंको जोहान्सबर्गसे तेरह मील खुले मैदानमें तंबुओंमें रक्खा जाय और लोकेशनमें आग लगा दी जाय। डेरे-तंबुओंका ही क्यों न हो, पर वह एक नया गांव बसाना पड़ा था और वहां खाद्य आदि सामग्रीका प्रबंध

करनेमें कुछ समय लगना स्वाभाविक था। तबतकके लिए यह पहरेका प्रबंध किया गया था।

इससे लोगोंमें बड़ी चिंता फैली, परंतु मैं उनके साथ उनका सहायक था--इससे उन्हें बहुत तस्कीन थी। इनमें कितने ही ऐसे गरीब लोग भी थे, जो अपना रुपया-पैसा घरमें गाड़कर रखते थे। अब उसे खोदकर उन्हें कहीं रखना था। वे न बैंकको जानते थे, न बैंक उन्हें। मै उनका बैंक बना। मेरे घर रुपयोंका ढेर हो गया। ऐसे समयमें मै भला मेहनताना क्या ले सकता था? किसी तरह मुश्किलसे इसका प्रबंध कर पाया। हमारे बैंकके मैनेजरके साथ मेरा अच्छा परिचय था। मैंने उन्हें कहलाया कि मुझे बैंकमें बहुतेरे रुपये जमा कराने हैं। बैंक आम तौरपर तांबे या चांदीके सिक्के लेनेके लिए तैयार नहीं होते। फिर यह भी अंदेशा था कि प्लेग-स्थानोंसे आये सिक्कोंको छूनेमें क्लर्क लोग आनाकानी करें। किंतु मैनेजरने मेरे लिए सब तरहकी सुविधा कर दी। यह बात तय पाई कि रुपये-पैसे जंतु-नाशक पानीमें धोकर बैंकमें जमा कराये जायं। इस तरह मुझे याद पड़ता है कि लगभग ६०,००० पौंड बैंकमें जमा हुए थे। मेरे जिन मवक्किलोंके पास अधिक रकम थी उन्हें मैंने एक निश्चित अवधिके लिए बैंकमे जमा करानेकी सलाह दी, जिससे उन्हें अधिक ब्याज मिल सके। इससे कितने ही रुपये उन मवक्किलों के नामसे बैंकमें जमा हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि कितने ही लोगोंको बैंकोंमें रखनेकी आदत पड़ी।

जोहान्सबर्गके पास 'क्लिप्सप्रुट फार्म' नामक एक स्थान है। लोकेशन-निवासियोंको वहां एक स्पेशल ट्रेनसे ले गये। यहां म्यूनिसिपैलिटीने उनके लिए अपने खर्चसे घर बैठे पानी पहुंचाया। इस तंबूके गांवका नजारा सैनिकोंके पड़ावकी तरह था। लोग ऐसी स्थितिमें रहनेके आदी नहीं थे, इससे इन्हें मानसिक दुःख तो हुआ। नई जगह अटपटी मालूम हुई, किंतु उन्हें कोई खास कष्ट नहीं उठाना पड़ा। मैं रोज बाइसिकलपर जाकर वहां एक चक्कर लगा आता। तीन सप्ताह-तक इस तरह खुली हवामें लोगोंकी तंदुरुस्तीपर जरूर अच्छा असर हुआ। और मानसिक दुःख तो प्रथम चौबीस घंटे पूरे होनेके पहले ही चला गया था। फिर तो वे आनंदसे रहने लगे। मैं जहां जाता वहां कहीं भजन-कीर्तन और कहीं खेल-कूद आदि होते हुए देखता।

जहांतक मुझे याद है, लोकेशन जिस दिन खाली कराया गया, या तो उसी दिन या उसके दूसरे दिन उसमें आग लगा दी गई। एक भी चीजको वहांसे बचा लानेका लोभ म्यूनिसिपैलिटीने नहीं किया। इन्हीं दिनों और इसी कारण म्यूनिसिपैलिटीने अपने मार्केटकी सारी लकड़ीकी इमारतें भी जला डालीं, जिससे उसे कोई १० हजार पौंडकी हानि सहनी पड़ी। मार्केटमें मरे चूहे पाये गये थे—इसलिए म्यूनिसिपैलिटीको इतने साहसका काम करना पड़ा। इसमें नुकसान तो बहुत बरदाश्त करना पड़ा, किंतु यह फल जरूर हुआ कि प्लेग आगे न बढ़ पाया और नगरवासी निःशंक हो गये।

१८

एक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव

इस प्लेगके बदौलत गरीब भारतवासियोंपर मेरा प्रभाव बढ़ा और उसके साथ मेरी वकालत और मेरी जिम्मेदारी भी बहुत बढ़ गई। फिर यूरोपियन लोगोंसे जो मेरा परिचय था वह भी इतना निकट होता गया कि उससे भी मेरी नैतिक जवाबदेही बढ़ने लगी।

जिस तरह वेस्टसे मेरी मुलाकात निरामिष भोजनालयमें हुई, उसी तरह पोलकसे भी हो गई। एक दिन मेरे खानेकी मेजसे दूरकी मेजपर एक नवयुवक भोजन कर रहा था। उसने मुझसे मिलनेकी इच्छासे अपना नाम मुझतक पहुंचाया। मैंने उन्हें अपनी मेजपर खानेके लिए बुलाया और वह आये।

"मैं 'क्रिटिक'का उप-संपादक हूं। प्लेग-संबंधी आपका पत्र पढ़नेके बाद आपसे मिलनेकी मुझे बड़ी उत्कंठा हुई। आज आपसे मिलनेका अवसर मिला है।"

मि० पोलकके शुद्ध भावने मुझे उनकी ओर खींचा। उस रातको हमारा एक-दूसरेसे परिचय हो गया और जीवन-संबंधी अपने विचारोंमें हम दोनोंको बहुत साम्य दिखाई दिया। सादा जीवन उन्हें पसंद था। किसी बातके पट जानेके बाद तुरंत उसपर अमल करनेकी उनकी शक्ति आश्चर्यजनक मालूम हुई। उन्होंने अपने जीवनमें कितने ही परिवर्तन तो एकदम कर डाले।

'इंडियन ओपीनियन'का खर्च बढ़ता जाता था। वेस्टने जो विवरण वहांका पहली ही बार भेजा उसने मेरे कान खड़े कर दिये। उन्होंने लिखा कि जैसा आपने कहा था वैसा मुनाफा इस काममें नहीं है। मुझे तो उल्टा नुकसान दिखाई पड़ता है। हिसाब-किताबकी व्यवस्था ठीक नहीं है। लेना बहुत है, और वह बेसिर-पैरका है। बहुतेरा रद्दोबदल करना होगा। परंतु यह हाल पढ़कर आप चिंता न करें; मुझसे जितना हो सकेगा अच्छा प्रबंध करूंगा। मुनाफा न होनेके कारण मैं इस कामको छोड़ न दूंगा।

जबकि मुनाफा नहीं दिखाई नहीं दिया था तब वेस्ट चाहते तो वहांके कामको छोड़ सकते थे और मैं उन्हें किसी तरह दोष नहीं दे सकता था। इतना ही नहीं, उल्टा उन्हें अधिकार था कि वह मुझे बिना पूछ-ताछ किये उस काममें मुनाफा बतानेका दोष-भागी ठहराते। इतना होते हुए भी उन्होंने मुझे कभी इसका उलहना तक न दिया; पर मैं समझता हूं कि इस बातके मालूम होनेपर वेस्टकी नजरमें मैं एक जल्दीमें विश्वास कर लेनेवाला आदमी जंचा होऊंगा। मदनजीतकी रायको मानकर बिना पूछ-ताछ किये ही मैंने वेस्टसे मुनाफेका जिक्र किया था। पर मेरी यह राय है कि सार्वजनिक कार्यकर्ताओंको वही बात दूसरेसे कहनी चाहिए, जिसकी खुद उन्होंने जांच कर ली हो। सत्यके पुजारीको तो बहुत सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। बिना अपना इत्मीनान किये किसीके दिलपर आवश्यकतासे अधिक असर डालना भी सत्यको दाग लगाना है। मुझे यह कहते हुए बहुत दुःख होता है कि इस बातको जानते हुए भी जल्दीमें विश्वास रखकर काम लेनेकी अपनी प्रकृतिको मैं पूरा-पूरा सुधार नहीं सका। इसका कारण है शक्तिसे अधिक काम करनेका लोभ। यह दोष है। इस लोभसे कई बार मुझे दुःख हुआ है और मेरे साथियोंको तो मुझसे भी अधिक मनःक्लेश सहना पड़ा है।

वेस्टका ऐसा पत्र पाकर मैं नेटालके लिए रवाना हुआ। पोलक मेरी सब बातोंको जान गये थे। स्टेशनपर मुझे पहुंचाने आये और रस्किन-रचित 'अंटु दिस लास्ट' नामक पुस्तक मेरे हाथोंमें रखकर कहा—"यह पुस्तक रास्तेमें पढ़ने लायक है। आपको जरूर पसंद आयेगी।"

पुस्तकको जो मैंने एक बार पढ़ना शुरू किया तो खतम किये बिना न छोड़

सका। उसने तो बस मुझे पकड़ ही लिया। जोहान्सबर्गसे नेटाल २४ घंटेका रास्ता है। ट्रेन शामको डरबन पहुंचती थी। पहुंचनेके बाद रात-भर नींद न आई। इस पुस्तकके विचारोंके अनुसार जीवन बनानेकी धुन लग रही थी।

इससे पहले मैंने रस्किनकी एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। विद्यार्थी-जीवनमें पाठ्य-पुस्तकोंके अलावा मेरा वाचन नहींके बराबर समझना चाहिए और कर्म-भूमिमें प्रवेश करनेके बाद तो समय ही बहुत कम रहता है। इस कारण आजतक भी मेरा पुस्तक-ज्ञान बहुत ही थोड़ा है। मै मानता हूं कि इस अनायासके अथवा जबर्दस्तीके संयमसे मुझे कुछ भी नुकसान नही पहुंचा है। पर, हां, यह कह सकता हूं कि जो-कुछ थोड़ी पुस्तकें मैंने पढ़ी है उन्हें ठीक तौरपर हजम करनेकी कोशिश अलबत्ता मैंने की है। और मेरे जीवनमें यदि किसी पुस्तकने तत्काल महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला हो तो वह यही पुस्तक है। बादको मैंने इसका गुजरातीमे अनुवाद किया था और वह 'सर्वोदय'के नामसे प्रकाशित भी हुआ है।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अंतरतरमें बसी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिब मैंने रस्किनके इस ग्रंथ-रत्नमें देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया एवं अपने विचारोंके अनुसार मुझसे आचरण करवाया। हमारी अन्तस्थ सुप्त भावनाओंको जाग्रत करनेका सामर्थ्य जिसमें होता है वह कवि है। सब कवियोंका प्रभाव सबपर एकसा नहीं होता; क्योंकि सब लोगोंमें सभी अच्छी भावनाएं एक मात्रामें नहीं होती।

'सर्वोदय'के सिद्धांतको मै इस प्रकार समझा—

१—सबके भलेमें अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनोंके कामकी कीमत एकसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविकाका हक दोनोंको एकसा है।

३—सादा, मजदूर और किसानका जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली बात तो मैं जानता था। दूसरीका मुझे आभास हुआ करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्रमें आई तक न थी। पहली बातमें पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात 'सर्वोदय'से मुझे सूर्य-प्रकाशकी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवनको बनानेकी चितामें लगा।

१६

फिनिक्सकी स्थापना

सुबह होते ही मैंने सबसे पहले वेस्टसे इस संबंधमें बातें कीं। 'सर्वोदय'-का जो प्रभाव मेरे मनपर पड़ा वह मैंने उन्हें कह सुनाया और सुझाया कि 'इंडियन ओपीनियन'को एक खेतपर ले जायं तो कैसा ? वहां सब एक साथ रहें, एकसा भोजन-खर्च लें, अपने लिए सब खेती कर लिया करें और बचतके समयमें 'इंडियन ओपीनियन'का काम करें। वेस्टको यह बात पसंद हुई। भोजन-खर्चका हिसाब लगाया गया तो कम-से-कम तीन पौंड प्रति मनुष्य आया। उसमें काले-गोरे का भेद-भाव नहीं रक्खा गया था।

परंतु प्रेसमें काम करनेवाले तो कुल ८-१० आदमी थे। फिर सवाल यह था कि जंगलमे जाकर बसनेमें सबको सुविधा होगी या नहीं ? दूसरा सवाल यह था कि सब एकसा भोजन-खर्च लेनेके लिए तैयार होंगे या नहीं ? आखिर हम दोनोंने तो यही तय किया कि जो इस तजवीजमें शरीक न हो सकें वे अपना वेतन ले लिया करें— किंतु आदर्श यही रक्खा जाय कि धीरे-धीरे सब कार्यकर्त्ता संस्थावासी हो जायं।

इसी दृष्टिसे मैंने समस्त कार्य-कर्त्ताओंसे बातचीत शुरू की। मदनजीतको यह बात बिलकुल पसंद न हुई। उन्हें अंदेशा हुआ कि जिस चीजमें उन्होंने अपना जी-जान लगाया उसे मैं कहीं अपनी मूर्खतासे एकाध महीनेमें ही मिट्टीमें न मिला दूं। उन्हें भय हुआ कि इस तरह 'इंडियन ओपीनियन' बंद हो जायगा, प्रेस भी टूट जायगा और सब कार्यकर्त्ता भाग खड़े होंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गांधी उस प्रेसमें काम करते थे। उनसे भी मैंने वेस्टके साथ ही बात की थी। उनपर परिवारका बोझ था; किंतु बचपनसे ही उन्होंने मेरे नीचे तालीम लेना और काम करना पसंद किया था। मुझपर उनका बहुत विश्वास था। इसलिए उन्होंने तो बिना दलील और हुज्जतके ही 'हां' कर ली और तबसे आजतक वह मेरे साथ ही हैं।

तीसरे थे गोविंद सामी मशीनमैन। वह भी शामिल हो गये। दूसरे

लोग यद्यपि संस्थावासी न बनें, पर फिर भी उन्होंने जहां प्रेस जाय वहां जाना स्वीकार किया ।

इस तरह कार्यकर्ताओंके साथ बातचीत करनेमें दोसे अधिक दिन गये हों, ऐसा याद नहीं पड़ता । तुरंत ही मैंने अखबारमें विज्ञापन दिया कि डरबनके नजदीक किसी भी स्टेशनके पास जमीनकी आवश्यकता है । उत्तरमें फिनिक्सकी जमीनका संदेशा आया । वेस्ट और मैं जमीन देखने गये और सात दिनके अंदर २० एकड़ जमीन ले ली । उसमें एक छोटा-सा पानीका झरना भी था । कुछ आमके और नारंगीके पेड़ थे । पास ही ८० एकड़का एक और टुकड़ा था । उसमें फलोंके पेड़ ज्यादा थे और एक झोंपड़ा भी था । कुछ समय बाद उसे भी खरीद लिया । दोनोंके मिलकर १००० पौंड लगे ।

सेठ पारसी रुस्तमजी मेरे ऐसे तमाम साहसके कामोंमें मेरे साथी होते थे । उन्हें मेरी यह तजवीज पसंद आई । इसलिए उन्होंने अपने एक गोदामके टीन वगैरा, जो उनके पास पड़े थे, मुफ्तमें हमें दे दिये । कितने ही हिंदुस्तानी बढ़ई और राज, जो मेरे साथ लड़ाईमें थे, इसमें मदद देने लगे और कारखाना बनने लगा । एक महीनेमें मकान तैयार हो गया । वह ७५ फीट लंबा और ५० फीट चौड़ा था । वेस्ट वगैरा अपने शरीरको खतरेमें डालकर भी बढ़ई आदिके साथ रहने लगे ।

फिनिक्समें घास खूब थी और आबादी बिलकुल नहीं थी । इससे सांप आदिका उपद्रव रहता था और खतरा भी था । शुरूमें तो हम तंबू तानकर ही रहने लगे ।

मुख्य मकान तैयार होते ही हम लोग एक सप्ताहमें बहुतेरा सामान गाड़ियोंपर लादकर फिनिक्स चले गये । डरबन और फिनिक्समें तेरह मीलका फासला था । फिनिक्स स्टेशनसे ढाई मील दूर था । इस स्थान-परिवर्तनके कारण सिर्फ एक ही सप्ताह 'इंडियन ओपीनियन'को मरक्यूरी प्रेसमें छपाना पड़ा था ।

मेरे साथ मेरे जो-जो रिश्तेदार वगैरा वहां गये और व्यापार आदि में लग गये थे उन्हें अपने मतमें मिलानेका और फिनिक्समें दाखिल करनेका प्रयत्न मैंने शुरू किया । वे सब तो धन जमा करनेकी उमंगसे दक्षिण अफ्रीका आये थे ।

उनको राजी कर लेना बड़ा कठिन काम था। परंतु कितने ही लोगोंको मेरी बात जंच गई। इन सबमें से आज तो मगनलाल गांधीका नाम मैं चुनकर पाठकोंके सामने रखता हूं, क्योंकि दूसरे लोग जो राजी हुए थे, वे थोड़े-बहुत समय फिनिक्समें रहकर फिर धन-संचयके फेरमें पड़ गये। मगनलाल गांधी तो अपना काम छोड़कर जो मेरे साथ आये, सो अबतक रह रहे हैं और अपने बुद्धि-बलसे, त्यागसे, शक्तिसे एवं अनन्य भक्ति भावसे मेरे आंतरिक प्रयोगोंमें मेरा साथ देते हैं एवं मेरे मूल साथियोंमें आज उनका स्थान सबमें प्रधान है। फिर एक स्वयं-शिक्षित कारीगरके रूपमें तो उनका स्थान मेरी दृष्टिमें अद्वितीय है।

इस तरह १९०४ ईस्वीमें फिनिक्सकी स्थापना हुई और विघ्नों और कठिनाइयोंके रहते हुए भी फिनिक्स-संस्था एवं 'इंडियन ओपीनियन' दोनों आजतक चल रहे हैं। परंतु इस संस्थाके आरंभ-कालकी मुसीबतें और उस समयकी आशा-निराशाएं जानने लायक है। उनपर हम अगले अध्यायमें विचार करेंगे।

२०

पहली रात

फिनिक्समें 'इंडियन ओपीनियन'का पहला अंक प्रकाशित करना आसान साबित न हुआ। यदि दो बातोंमें मैंने पहले हीसे सावधानी न रक्खी होती तो अंक एक सप्ताह बंद रहता या देरसे निकलता। इस संस्थामें मेरी यह इच्छा कम ही रही थी कि एंजिनसे चलने वाले यंत्रादि मंगाये जायं। मेरी भावना यह थी कि जब हम खेती भी खुद हाथोंसे ही करनेकी चाह रखते है तब फिर छापेकी कल भी ऐसी ही लाई जाय जो हाथसे चल सके। पर उस समय यह अनुभव हुआ कि यह बात सध न सकेगी। इसलिए ऑयल एंजिन मंगाया गया था। परंतु मुझे यह खटका रहा कि कहीं वहांपर यह एंजिन बंद न हो जाय। सो मैंने वेस्टको सुझाया कि ऐसे समयके लिए कोई ऐसे काम-चलाऊ साधन भी हम अभीसे जुटा रक्खें तो अच्छा। इसलिए उन्होंने हाथसे चलानेका भी एक पहिया मंगा रक्खा था और ऐसी तजवीज कर रक्खी थी कि मौका पड़नेपर उससे छापेकी कल चलाई जा सके। फिर 'इंडियन ओपीनियन'का आकार दैनिकपत्रके बराबर लंबा-चौड़ा

था। और यदि बड़ी कल अड़ जाय तो ऐसी सुविधा वहां नहीं थी कि इतने बड़े आकारका पत्र तुरंत छापा जा सके। इससे पत्रके उस अंकके बंद रहनेका ही अंदेशा था। इस दिक्कतको दूर करनेके लिए अखबारका आकार छोटा कर दिया कि कठिनाईके समयपर छोटी कलको भी पांवसे चलाकर अखबार, थोड़े ही पन्नेका क्यों न हो, प्रकाशित हो सके।

आरंभ-कालमें 'इंडियन ओपीनियन'की प्रकाशन-तिथिकी अगली रातको सबको थोड़ा-बहुत जागरण करना ही पड़ता था। पत्रोंको भांजनेमें छोटे-बड़े सब लग जाते और रातको दस-बारह बजे यह काम खतम होता। परंतु पहली रात तो इस प्रकार की बीती जिसे कभी नहीं भूल सकते। पन्नोंका चौखटा तो मशीनपर कस गया, पर एंजिन अड़ गया; उसने चलनेसे इन्कार कर दिया। एंजिनको जमाने और चलानेके लिए एक इंजिनियर बुलाया गया था। उसने और वेस्टने खूब माथा-पच्ची की; पर एंजिन टस-से-मस न हुआ। तब सब चिंतामें अपना-सा मुंह लेकर बैठ गये। अंतको वेस्ट निराश होकर मेरे पास आये। उनकी आंखें आंसुओंसे छलछला रही थीं। उन्होंने कहा, "अब आज तो एंजिनके चलनेकी आशा नहीं और इस सप्ताह हम अखबार समयपर न निकाल सकेंगे।"

"अगर यही बात है तब तो अपना कुछ बस नहीं, पर इस तरह आंसू बहानेकी कोई आवश्यकता नहीं। और कुछ कोशिश कर सकते हों तो कर देखें। हां, वह हाथसे चलानेका पहिया जो हमारे पास रक्खा है, वह किस दिन काम आयेगा ?" यह कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया।

वेस्टने कहा-- "पर उस पहियेको चलानेवाले आदमी हमारे पास कहां हैं ? हम लोग जितने हैं उनसे यह नहीं चल सकता। उसे चलानेके लिए बारी-बारीसे चार-चार आदमियोंकी जरूरत है। और इधर हम लोग थक भी चुके हैं।"

बढ़ई लोगोंका काम अभी पूरा नहीं हुआ था, इससे वे लोग अभी छापेखानेमें ही सो रहे थे। उनकी तरफ इशारा करके मैंने कहा-- "ये मिस्त्री लोग मौजूद हैं। इनकी मदद क्यों न लें ? और आजकी रातभर हम सब जागकर छापनेकी कोशिश करेंगे। बस इतनी ही कर्तव्य हमारा और बाकी रह जाता है।"

"मिस्त्रियोंको जगानेकी और उनसे मदद मांगनेकी मेरी हिम्मत नहीं होती। और हमारे जो लोग थक गये हैं उन्हें भी कैसे कहूं ?"

"यह काम मेरे जिम्मे रहा।" मैंने कहा।

"तब तो मुमकिन है कि सफलता मिल जाय।"

मैंने मिस्त्रियोंको जगाया और उनकी मदद मांगी। मुझे उनकी मिन्नत-खुशामद नहीं करनी पड़ी। उन्होंने कहा— "वाह! ऐसे वक्त हम यदि काम न आयें तो हम आदमी ही क्या ? आप आराम कीजिए, हम लोग पहिया चला देंगे। हमें इसमें कुछ मिहनत नहीं है।" और इधर छापेखानेके लोग तैयार थे ही।

अब तो वेस्टके हर्षकी सीमा न रही। वह काम करते-करते भजन गाने लगे। घोड़ा चलानेमें मैंने भी मिस्त्रियोंका साथ दिया और दूसरे लोग भी बारी-बारीसे चलाने लगे। साथ ही पन्ने भी छपने लगे।

सुबहके सात बजे होंगे। मैंने देखा कि अभी बहुत काम बाकी पड़ा है। मैंने वेस्टसे कहा— "अब हम इंजिनियरको क्यों न जगा लें ? अब दिनकी रोशनीमें वह और सिर खपाकर देखे तो अच्छा हो। अगर एंजिन चल जाय तो अपना काम समयपर पूरा हो सकता है।"

वेस्टने इंजिनियरको जगाया। वह उठ खड़ा हुआ और एंजिनके कमरेमें गया। शुरू करते ही एंजिन चल निकला। प्रेस हर्षनादसे गूंज उठा। सब कहने लगे, "यह कैसे हो गया ? रातको इतनी मिहनत करनेपर भी नहीं चला और अब हाथ लगते ही इस तरह चल पड़ा, मानो कुछ बिगड़ा ही न था।"

वेस्टने या इंजिनियरने जवाब दिया— "इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है, मानो यंत्र भी हमारी तरह आराम चाहते हैं। कभी-कभी तो उनकी हालत ऐसी ही देखी जाती है।"

मैंने तो यह माना कि एंजिनका न चलना हमारी परीक्षा थी और ऐन मौकेपर उसका चल जाना हमारी शुद्ध मिहनतका शुभ फल था।

इसका परिणाम यह हुआ कि 'इंडियन ओपीनियन' नियत समयपर स्टेशन पहुंच गया और हम सब निश्चिंत हुए।

हमारे इस आग्रहका फल यह हुआ कि 'इंडियन ओपीनियन'की नियमितताकी छाप लोगोंके दिलपर पड़ी और फिनिक्समें मेहनतका वातावरण

फैला। इस संस्थाके जीवनमें ऐसा भी एक युग आगया था, जब जानबूझकर एंजिन बंद रक्खा गया था और दृढ़तापूर्वक हाथके पहियेसे ही काम चलाया गया था। मैं कह सकता हूं कि फिनिक्सके जीवनमें यह ऊंचे-से-ऊंचा नैतिक काल था।

२१

पोलक भी कूद पड़े

फिनिक्स जैसी संस्था स्थापित करनेके बाद मैं खुद थोड़े ही समय उसमें रह सका। इस बातपर मुझे हमेशा बड़ा दुःख रहा है। उसकी स्थापनाके समय मेरी यह कल्पना थी कि मैं भी वहीं बसूंगा। वहीं रहकर जो-कुछ सेवा हो सकेगी वह करूंगा और फिनिक्सकी सफलताको ही अपनी सेवा समझूंगा। परंतु इन विचारोंके अनुसार निश्चित व्यवहार न हो सका। अपने अनुभवमें मैंने यह बहुत बार देखा है कि हम सोचते कुछ हैं और हो कुछ और जाता है। परंतु इसके साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया है कि जहां सत्यकी ही चाह और उपासना है वहां परिणाम चाहे हमारी धारणाके अनुसार न निकले, कुछ और ही निकले, परंतु वह अनिष्ट—बुरा—नहीं होता और कभी-कभी तो आशासे भी अधिक अच्छा हो जाता है। फिनिक्समें जो अकल्पित परिणाम पैदा हुए और फिनिक्सको जो अकल्पित रूप प्राप्त हुआ, वह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि अनिष्ट नहीं। हां, यह बात अलबत्ता निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि उन्हें अधिक अच्छा कह सकते हैं या नहीं।

हमारी धारणा यह थी कि हम लोग खुद मिहनत करके अपनी रोजी कमायेंगे, इसलिए छापेखानेके आसपास हरएक निवासीको तीन-तीन एकड़ जमीनका टुकड़ा दिया गया। इसमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी नापा गया। हम सब लोगोंकी इच्छा के खिलाफ उनपर टीनके घर बनाये गये। इच्छा तो हमारी यह थी कि हम मिट्टी और फूसके, किसानों के लायक, अथवा ईंटके मकान बनावें; पर वह न हो सका। उसमें अधिक रुपया लगता था और अधिक समय भी जाता था। फिर सब लोग इस बातके लिए आतुर थे कि कब अपने घर बसा लें और काममें लग जायं।

यद्यपि 'इंडियन ओपीनियन'के संपादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे, तथापि वह इस योजनामें सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका घर डरबनमें ही था। डरबनमें 'इंडियन ओपीनियन'की एक छोटी-सी शाखा भी थी।

छापेखानेमें कंपोज करने यानी अक्षर जमानेके लिए यद्यपि वैतनिक कार्यकर्त्ता थे, फिर भी उसमें दृष्टि यह रक्खी गई थी कि अक्षर जमानेकी क्रिया सब संस्थावासी जान लें और करें; क्योंकि यह है तो आसान, पर इसमें समय बहुत जाता है; इसलिए जो लोग कंपोज करना नहीं जानते थे वे सब तैयार हो गये। मैं इस काममें अंततक सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे निकल गये। मेरा हमेशा यह मत रहा है कि उन्हें खुद अपनी शक्तिकी जानकारी नहीं रहती थी। उन्होंने इससे पहले छापेखानेका कोई काम नहीं किया था, फिर भी वह एक कुशल कंपोजीटर बन गये और अपनी गति भी बहुत बढ़ा ली। इतना ही नहीं, बल्कि थोड़े ही समयमें छापेखानेकी सब क्रियाओंमें काफी प्रवीणता प्राप्त करके उन्होंने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया।

यह काम अभी ठिकाने लगा ही न था, मकान भी अभी तैयार न हुए थे कि इतनेमें ही इस नये रचे कुटुबको छोड़कर मुझे जोहान्सबर्ग भागना पड़ा। ऐसी हालत न थी कि मैं वहांका काम बहुत समयतक यों ही पटक रखता।

जोहान्सबर्ग आकर मैंने पोलकको इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी सूचना दी। अपनी दी हुई पुस्तकका यह परिणाम देखकर उनके आनंदकी सीमा न रही। उन्होंने बड़ी उमंगके साथ पूछा— "तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह योग नहीं दे सकता ?"

मैंने कहा— "हां, क्यों नहीं, अवश्य दे सकते हैं। आप चाहें तो इस योजनामें भी शरीक हो सकते हैं।"

"मुझे आप शामिल कर लें तो मुझे तैयार ही समझिए।" पोलकने जवाब दिया।

उनकी इस दृढ़ताने मुझे मुग्ध कर लिया। पोलकने 'क्रिटिक'के मालिकको एक महीनेका नोटिस देकर अपना इस्तीफा पेश कर दिया और मियाद खतम होनेपर फिनिक्स आ पहुंचे। अपनी मिलनसारीसे उन्होंने सबका मन हर लिया और हमारे कुटुंबी बनकर वहां बस गये। सादगी तो उनके रगोरेशमें भरी

हुई थी, इसलिए उन्हें फिनिक्सका जीवन जरा भी अटपटा या कठिन न मालूम हुआ, बल्कि स्वाभाविक और रुचिकर जान पड़ा।

पर खुद मैं ही उन्हें वहां अधिक समयतक नहीं रख सका। मि० रीचने विलायतमें रहकर कानूनके अध्ययनको पूरा करनेका निश्चय किया। दफ्तरके कामका बोझा मुझ अकेलेके बसका न था। इसलिए मैंने पोलकसे दफ्तरमें रहने और वकालत करनेके लिए कहा। इसमें मैंने यह सोचा था कि उनके वकील हो जानेके बाद अंतको हम दोनों फिनिक्समें आ पहुंचेंगे।

हमारी ये सब कल्पनाएं अंतको झूठी साबित हुईं; परंतु पोलकके स्वभावमें एक प्रकारकी ऐसी सरलता थी कि जिसपर उनका विश्वास बैठ जाता उसके साथ वह हुज्जत न करते और उसकी सम्मतिके अनुकूल चलने का प्रयत्न करते। पोलकने मुझे लिखा— "मुझे तो यही जीवन पसंद है और मैं यहीं सुखी हूं। मुझे आशा है कि हम इस संस्थाका खूब विकास कर सकेंगे। परंतु यदि आपका यह खयाल हो कि मेरे वहां आनेसे हमारे आदर्श जल्दी सफल होंगे, तो मैं आनेको भी तैयार हूं।"

मैंने इस पत्रका स्वागत किया और पोलक फिनिक्स छोड़कर जोहान्सबर्ग आये और मेरे दफ्तरमें मेरे सहायकका काम करने लगे। इसी समय मेकिनटायर नामक एक स्कॉच युवक हमारे साथ शरीक हुआ। वह थियॉसफिस्ट था और उसे मैं कानूनकी परीक्षाकी तैयारीमें मदद करता था। मैंने उसे पोलकका अनुकरण करनेका निमंत्रण दिया था।

इस तरह फिनिक्सके आदर्शको शीघ्र प्राप्त कर लेनेके शुभ उद्देश्यसे मैं उसके विरोधक जीवनमें दिन-दिन गहरा पैठता गया और यदि ईश्वरीय संकेत दूसरा न होता तो सादे जीवनके बहाने फैलाये इस मोहजालमें मैं खुद ही फंस जाता।

परंतु हमारे आदर्शकी रक्षा इस तरह हुई कि जिसकी हममेंसे किसीने कल्पना भी नहीं की थी। लेकिन उस प्रसंगका वर्णन करनेके पहले अभी कुछ और अध्याय लिखने पड़ेंगे।

२२

'जाको राखे साइयां'

इस समय तो मैंने निकट भविष्यमें देश जानेकी अथवा वहां जाकर स्थिर होनेकी आशा छोड़ दी थी। इधर मैं पत्नीको एक सालका दिलासा देकर दक्षिण अफ्रीका आया था; परंतु साल तो बीत गया और मैं लौट न सका; इसलिए निश्चय किया कि बाल-बच्चोंको यहीं बुलवा लूं।

बाल-बच्चे आ गये। उनमें मेरा तीसरा पुत्र रामदास भी था। रास्तेमें जहाजके कप्तानके साथ वह खूब हिल-मिल गया था और उनके साथ खिलवाड़ करते हुए उसका हाथ टूट गया था। कप्तानने उसकी खूब सेवा की थी। डाक्टरने हड्डी जोड़ दी थी और जब वह जोहान्सबर्ग पहुंचा तो उसका हाथ लकड़ीकी पट्टीसे बांधकर रूमालमें लटकाया हुआ अधर रक्खा गया था। जहाजके डाक्टर की हिदायत थी कि जख्मका इलाज किसी डाक्टरसे ही कराना चाहिए।

परंतु यह जमाना मेरे मिट्टीके प्रयोगोंके दौर-दौरेका था। अपने जिन मवक्किलोंका विश्वास मुझ अनाड़ी वैद्यपर था उनसे भी मैं मिट्टी और पानीका प्रयोग कराता था। तब रामदासके लिए दूसरा क्या इलाज हो सकता था? रामदासकी उम्र उस समय आठ वर्षकी थी। मैंने उससे पूछा— "मैं तुम्हारे जख्मकी मरहम-पट्टी खुद करूं तो तुम डरोगे तो नहीं?" रामदासने हंसकर मुझे प्रयोग करनेकी छुट्टी दे दी। इस उम्रमें उसे अच्छे-बुरेकी पहचान नहीं हो सकती थी, फिर भी डाक्टर और 'नीम-हकीम'का भेद वह अच्छी तरह जानता था। इसके अलावा उसे मेरे प्रयोगोंका हाल मालूम था और मुझपर उसका विश्वास था। इसलिए उसको कुछ डर नहीं मालूम हुआ।

मैंने उसकी पट्टी खोली। पर उस समय मेरे हाथ कांप रहे थे और दिल धड़क रहा था। मैंने जख्मको धोया और साफ मिट्टीकी पट्टी रखकर पूर्ववत् पट्टी बांध दी। इस तरह रोज मैं जख्म साफ करके मिट्टीकी पट्टी चढ़ा देता। कोई महीने भरमें घाव सूख गया। किसी भी दिन उसमें कोई खराबी पैदा न हुई और दिन-दिन वह सूखता ही गया। जहाजके डाक्टरने भी कहा था कि डाक्टरी

मरहम-पट्टीसे भी इतना समय तो लग ही जायगा ।

इससे घरेलू इलाजपर मेरा विश्वास और उसके प्रयोग करनेका मेरा साहस बढ़ गया । इसके बाद तो मैंने अपने प्रयोगोंकी सीमा बहुत बढ़ा दी थी । जख्म, बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि रोगोंपर मिट्टी, पानी और उपवासके प्रयोग कई छोटे-बड़े स्त्री-पुरुषोंपर किये और उनमें अधिकांशमें सफलता मिली । इतनेपर भी जो हिम्मत इस विषयमें मुझे दक्षिण अफ्रीकामें थी वह अब नहीं रही और अनुभवसे ऐसा भी देखा गया है कि इन प्रयोगोंमें खतरा तो है ही ।

इन प्रयोगोंके वर्णनमें मेरा हेतु यह नहीं है कि इनकी सफलता सिद्ध करूं । मैं ऐसा दावा नहीं कर सकता कि इनमेंसे एक भी प्रयोग सर्वांशमें सफल हुआ हो, पर कोई डाक्टर भी तो अपने प्रयोगोंके लिए ऐसा दावा नहीं कर सकता । मेरे कहनेका भाव सिर्फ यही है कि जो लोग नये अपरिचित प्रयोग करना चाहते हैं उन्हें अपनेसे ही उसकी शुरूआत करनी चाहिए । ऐसा करनेसे सत्य जल्दी प्रकाशित होता है और ऐसे प्रयोग करनेवालेको ईश्वर खतरोंसे बचा लेता है ।

मिट्टीके प्रयोगोंमें जो जोखिम थी वही यूरोपियन लोगोंके निकट समागममें भी थी । भेद सिर्फ दोनोंके प्रकारका था । परंतु इन खतरोंका तो मेरे मनमें विचारतक नहीं आया ।

पोलकको मैंने अपने साथ रहनेका निमंत्रण दिया और हम सगे भाईकी तरह रहने लगे । पोलकका विवाह जिस देवीके साथ हुआ उससे उनकी मैत्री बहुत समयसे थी । उचित समयपर विवाह कर लेनेका निश्चय दोनोंने कर रक्खा था; परंतु मुझे याद पड़ता है कि पोलक कुछ रुपया जुटा लेनेकी फिराकमें थे । रस्किनके ग्रंथोंका अध्ययन और विचारोंका मनन उन्होंने मुझसे बहुत अधिक कर रक्खा था; परंतु पश्चिमके वातावरणमें रस्किनके विचारोंके अनुसार जीवन बितानेकी कल्पना मुश्किलसे ही हो सकती थी । एक रोज मैंने उनसे कहा, "जिसके साथ प्रेम-गांठ बंध गई है उसका वियोग केवल धनाभावसे सहना उचित नहीं है । इस तरह अगर विचार किया जाय तब तो कोई गरीब बेचारा विवाह कर ही नहीं सकता । फिर आप तो मेरे साथ रहते हैं । इसलिए घर-खर्चका खयाल ही नहीं है । सो मुझे तो यही उचित मालूम पड़ता है कि आप शादी कर लें ।"

पोलकसे मुझे कभी कोई बात दुबारा कहनेका मौका नहीं आया । उन्हें

तुरंत मेरी दलील पट गई। भावी श्रीमती पोलक विलायतमें थीं, उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। वह सहमत हुईं और थोड़े ही महीनोंमें वह विवाहके लिए जोहान्सबर्ग आ गईं।

विवाहमें खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ा। विवाहके लिए खास कपड़ेतक नहीं बनाये गये और धर्म-विधिकी भी कोई आवश्यकता नहीं समझी। श्रीमती पोलक जन्मतः ईसाई और पोलक यहूदी थे। दोनों नीति-धर्मके मानने वाले थे।

परंतु इस विवाहके समय एक मनोरंजक घटना होगई थी। ट्रांसवालमें जो कर्मचारी गोरोंके विवाहकी रजिस्ट्री करता वह कालेके विवाहकी नहीं करता था। इस विवाहमें दोनोंका पुरोहित या साक्षी मैं ही था। हम चाहते तो किसी गोरे-मित्रकी भी तजवीज कर सकते थे; परंतु पोलक इस बातको बरदाश्त नहीं कर सकते थे, इसलिए हम तीनों उस कर्मचारीके पास गये। जिस विवाहका मध्यस्थ एक काला आदमी हो उसमें वर-वधू दोनों गोरे ही होंगे, इस बातका विश्वास सहसा उस कर्मचारीको कैसे हो सकता था? उसने कहा कि मैं जांच करनेके बाद विवाह रजिस्टर करूंगा। दूसरे दिन बड़े दिनका त्यौहार था। विवाहकी सारी तैयारी किये हुए वर-वधूके विवाहकी रजिस्ट्रीकी तारीखका इस तरह बदला जाना सबको बड़ा नागवार गुजरा। बड़े मजिस्ट्रेटसे मेरा परिचय था। वह इस विभागका अफसर था। मैं इस दंपतीको लेकर उनके पास गया। किस्सा सुनकर वह हंसे और चिट्ठी लिख दी। तब जाकर वह विवाह रजिस्टर हुआ।

आजतक तो थोड़े-बहुत परिचित गोरे पुरुष ही हम लोगोंके साथ रहे थे; पर अब एक अपरिचित अंग्रेज महिला हमारे परिवारमें दाखिल हुई। मुझे तो बिलकुल याद नहीं पड़ता कि खुद मेरा कभी उनके साथ कोई झगड़ा हुआ हो; परंतु जहां अनेक जातिके और प्रकृतिके हिंदुस्तानी आया-जाया करते थे और जहां मेरी पत्नीको अभी ऐसे जीवनका अनुभव थोड़ा था, वहां उन दोनोंको कभी-कभी उद्वेगके अवसर मिले हों तो आश्चर्य नहीं; परंतु मैं कह सकता हूं कि एक ही जाति और कुटुंबके लोगोंमें कटु अनुभव जितने होते हैं, उनसे तो अधिक इस विजातीय कुटुंबमें नहीं हुए; बल्कि ऐसे जिन प्रसंगोंका स्मरण मुझे है वे बहुत मामूली कहे जा सकते हैं। बात यह है कि सजातीय-विजातीय यह तो

हमारे मनकी तरंगें हैं, वास्तवमें तो हम सब एक ही परिवारके लोग हैं ।

अब, वेस्टका विवाह भी यहीं क्यों न मना लूं ? उस समय ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व नहीं हुए थे । इसलिए कुंवारे मित्रोंका विवाह करा देना उन दिनों मेरा एक पेशा हो बैठा था । वेस्ट जब अपनी जन्मभूमिमें माता-पितासे मिलनेके लिए गये तो मैंने उन्हें सलाह दी थी कि जहांतक हो सके विवाह करके ही लौटना; क्योंकि फिनिक्स हम सबका घर हो गया था और हम सब किसान बन बैठे थे, इसलिए विवाह या वंश-वृद्धि हमारे लिए भयका विषय नहीं था ।

वेस्ट लेस्टरकी एक सुंदरी विवाह लाये । इस कुमारिकाके परिवारके लोग लेस्टरके जूतेके एक बड़े कारखानेमें काम करते थे । श्रीमती वेस्ट भी कुछ समयतक उस जूतेके कारखानेमें काम कर चुकी थीं । उसे मैंने सुंदरी कहा है, क्योंकि मैं उसके गुणोंका पुजारी हूं, और सच्चा सौंदर्य तो मनुष्यका गुण ही होता है । वेस्ट अपनी सासको भी साथ लाये थे । यह भली बुढ़िया अभी जिंदा है । अपनी उद्यमशीलता और हंसमुख स्वभावसे वह हम सबको शर्माया करती थी ।

इधर तो मैंने गोरे मित्रोंका विवाह कराया, उधर हिंदुस्तानी मित्रोंको अपने बाल-बच्चोंको बुलवा लेनेके लिए उत्साहित किया । इससे फिनिक्स एक छोटा-सा गांव बन गया था । वहां पांच-सात हिंदुस्तानी-कुटुंब रहने और वृद्धि पाने लगे थे ।

२३

घरमें फेरफार और बाल-शिक्षा

डरबनमें जो घर बनाया था उसमें भी कितने ही फेरफार कर डाले थे । पर यहां खर्च बहुत रक्खा था; फिर भी झुकाव सादगीकी ही तरफ था । परंतु जोहान्सबर्गमें 'सर्वोदय'के आदर्श और विचारोंने बहुत परिवर्तन कराया ।

एक बैरिस्टरके घरमें जितनी सादगी रक्खी जा सकती थी उतनी तो रक्खी ही गई थी; फिर भी कितनी ही सामग्रीके बिना काम चलाना कठिन था । सच्ची सादगी तो मन की बढ़ी । हर काम हाथसे करनेका शौक बढ़ा

और उसमें बालकोंको भी शामिल करनेका उद्योग किया गया।

बाजारसे रोटी (डबल रोटी) खरीदनेके बदले घरमें हाथसे बिना खमीरकी रोटी, कूनेकी बताई पद्धतिसे, बनाना शुरू किया। ऐसी रोटीमें मिलका आटा काम नहीं दे सकता। फिर मिलके आटेके बजाय हाथका आटा इस्तेमाल करनेमें सादगी, तंदुरुस्ती और धन, सबकी अधिक रक्षा होती थी। इसलिए ७ पौंड खर्च करके हाथसे आटा पीसनेकी एक चक्की खरीदी। इसका पहिया भारी था। इसलिए चलानेमें एकको दिक्कत होती थी और दो आदमी उसे आसानीसे चला सकते थे। चक्की चलानेका काम खासकर पोलक, मैं और बच्चे करते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी आ जातीं। हालांकि वह प्रायः उस समय रसोई करनेमें लगी रहतीं। श्रीमती पोलकके आनेपर वह भी उसमें जुट जाती। यह कसरत बालकोंके लिए बहुत अच्छी साबित हुई। उनसे मैंने यह अथवा कोई दूसरा काम जबरदस्ती कभी नहीं करवाया; परंतु वे एक खेल समझ कर उसका पहिया घुमाते रहते। थक जानेपर पहिया छोड़ देनेकी उन्हें छुट्टी थी। मैं नहीं कह सकता, क्या बात है कि क्या बालक और क्या दूसरे लोग, जिनका परिचय हम आगे करेंगे, किसीने कभी मुझे निराश नहीं किया है।

यह नहीं कह सकते कि मंद और ढीठ लड़के मेरे नसीबमें न हों; परंतु इनमेंसे बहुतेरे अपने जिम्मेका काम बड़ी उमंगसे करते। इस युगके ऐसे थोड़े ही बालक मुझे याद पड़ते हैं, जिन्होंने कामसे जी चुराया हो या कहा हो कि 'अब थक गये।'

घर साफ रखनेके लिए एक नौकर था। वह कुटुंबीकी तरह रहता था और बच्चे उसके काममें पूरी-पूरी मदद करते थे। पाखाना उठा ले जानेके लिए म्युनिसिपैलिटीका नौकर आता था; परंतु पाखानेका कमरा साफ रखना, बैठक धोना वगैरा काम नौकरसे नहीं लिया जाता था और न इसकी आशा ही रक्खी जाती थी। यह काम हम लोग खुद करते थे; क्योंकि उसमें भी बच्चोंको तालीम मिलती थी। इसका फल यह हुआ कि मेरे किसी भी लड़केको शुरूसे ही पाखाना साफ करनेकी घिन न रही और आरोग्यके सामान्य नियम भी वे सहज ही सीख गये। जोहान्सबर्गमें कोई बीमार तो शायद ही पड़ते; परंतु यदि कोई बीमार होता तो उसकी सेवा आदिमें बालक अवश्य शामिल होते और वे इस कामको

बड़ी खुशीसे करते ।

यह तो नहीं कह सकते कि उनके अक्षर-ज्ञान अर्थात् पुस्तकी शिक्षाकी मैंने कोई परवाह नहीं की; परंतु हां, मैंने उसका त्याग करनेमें कुछ संकोच नहीं किया । इस कमीके लिए मेरे लड़के मेरी शिकायत कर सकते हैं और कई बार उन्होंने अपना असंतोष प्रदर्शित भी किया है । मैं मानता हूं कि उसमें कुछ अंशतक मेरा दोष है । उन्हें पुस्तकी शिक्षा देनेकी इच्छा मुझे बहुत हुआ करती, कोशिश भी करता; परंतु इस काममें हमेशा कुछ-न-कुछ विघ्न आ खड़ा होता । उनके लिए घरपर दूसरी शिक्षाका प्रबंध नहीं किया था । इसलिए मैं उन्हें अपने साथ पैदल दफ्तर ले जाता । दफ्तर ढाई मील था । इसलिए सुबह-शाम मिलकर पांच मीलकी कसरत उनको और मुझे हो जाया करती । रास्ते चलते हुए उन्हें कुछ सिखानेकी कोशिश करता; पर वह भी जब दूसरे कोई साथ चलनेवाले न होते । दफ्तरमें मवक्किलों और मुंशियोंके संपर्कमें वे आते, मैं बता देता था तो कुछ पढ़ते, इधर-उधर घूमते, बाजारसे कोई सामान-सौदा लाना हो तो लाते । सबसे जेठे हरिलालको छोड़कर सब बच्चे इसी तरह परवरिश पाये । हरिलाल देशमें रह गया था । यदि मैं अक्षर-ज्ञानके लिए एक घंटा भी नियमित रूपसे दे पाता तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षण मिला है; किंतु मैं यह नियम न रख सका, इसका दुःख उनको और मुझको रह गया है । सबसे बड़े बेटेने तो अपने जीकी जलन मेरे तथा सर्वसाधारणके सामने प्रकट की है । दूसरोंने अपने हृदयकी उदारतासे काम लेकर, इस दोषको अनिवार्य समझकर उसको सहन कर लिया है । पर इस कमीके लिए मुझे पछतावा नहीं होता और यदि कुछ है भी तो इतना ही कि मैं एक आदर्श पिता साबित न हुआ । परंतु यह मेरा मत है कि मैंने अक्षर-ज्ञानकी आहुति भी लोक-सेवाके लिए दी है । हो सकता है कि उसके मूलमें अज्ञान हो; पर मैं इतना कह सकता हूं कि वह सद्भावपूर्ण थी । उनके चरित्र और जीवनके निर्माण करनेके लिए जो-कुछ उचित और आवश्यक था, उसमें मैंने कोई कसर नहीं रहने दी है और मैं मानता हूं कि प्रत्येक माता-पिताका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है । मेरी इतनी कोशिशके बावजूद मेरे बालकोंके जीवनमें जो खामियां दिखाई दी हैं, मेरा यह दृढ़ मत है कि वे हम दंपतीकी खामियोंका प्रतिबिंब हैं ।

बालकोंको जिस तरह मां-बापकी आकृति विरासतमें मिलती है, उसी तरह उनके गुण-दोष भी विरासतमें अवश्य मिलते हैं। हां, आस-पासके वातावरणके कारण तरह-तरहकी घटा-बढ़ी जरूर हो जाती है; परंतु मूल पूंजी तो वही रहती है, जो उन्हें बाप-दादोंसे मिली होती है। यह भी मैंने देखा है कि कितने ही बालक दोषोंकी इस विरासतसे अपनेको बचा लेते हैं; पर यह तो आत्माका मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है।

मेरे और पोलकके दरमियान इन लड़कोंके अंग्रेजी-शिक्षणके विषयमें गरमागरम बातचीत होती रही है। मैंने शुरूसे ही यह माना है कि जो हिंदुस्तानी माता-पिता अपने बालकोंको बचपनसे ही अंग्रेजी पढ़ना और बोलना सिखा देते हैं वे उनका और देशका द्रोह करते हैं। मेरा यह भी मत है कि इससे बालक अपने देश की धार्मिक और सामाजिक विरासतसे वंचित रह जाते हैं और उस अंशतक देशकी और जगत्की सेवा करनेके कम योग्य अपनेको बनाते हैं। इस कारण मैं हमेशा जान-बूझकर बालकोंके साथ गुजरातीमें ही बातचीत करता। पोलकको यह पसंद न आता। वह कहते— 'आप बालकोंके भविष्यको बिगाड़ते हैं।' वह मुझे बड़े आग्रह और प्रेमसे समझाते कि अंग्रेजी-जैसी व्यापक भाषाको यदि बच्चे बचपनसे ही सीख लें तो संसारमे जो आज जीवन-संघर्ष चल रहा है उसकी एक बड़ी मंजिल वे सहजमें ही तय कर लेंगे। मुझे यह दलील न पटी। अब मुझे याद नहीं पड़ता कि अंतको मेरा जवाब उन्हें जंच गया या मेरी हठको देखकर वह खामोश हो रहे। यह बातचीत कोई बीस बरस पहलेकी है। अब तो मेरे उस समयके ये विचार अनुभवसे और भी दृढ़ हो गये हैं और भले ही मेरे बालक अक्षर-ज्ञानमें कच्चे रह गये हो, फिर भी उन्हें मातृ-भाषाका जो सामान्य ज्ञान सहज ही मिल गया है उससे उनको और देशको लाभ ही हुआ है और आज वे परदेशी-जैसे नहीं हो रहे हैं। वे दुभाषिया तो आसानीसे हो गये थे; क्योंकि बड़े अंग्रेज मित्र-मंडलके सहवासमे आनेसे और ऐसे देशमें रहनेसे जहां अंग्रेजी विशेषरूप से बोली जाती है, वे अंग्रेजी बोलना और मामूली लिखना सीख गये थे।

२४

जुलू 'बलवा'

घर बनाकर बैठनेके बाद जमकर एक जगह बैठना मेरे नसीबमें लिखा ही नहीं। जोहान्सबर्गमें जमने लगा था कि एक ऐसी घटना हो गई जिसकी कल्पना भी नहीं थी। समाचार आये कि नेटालमें जुलू लोगोंने 'बलवा' खड़ा कर दिया है। मुझे जुलू लोगोंसे कोई दुश्मनी नहीं थी। उन्होंने एक भी हिंदुस्तानी-को नुकसान नहीं पहुंचाया था। स्वयं 'बलवे'के बारेमें भी मुझे शंका थी; परंतु मैं उस समय अंग्रेजी सल्तनतको संसारके लिए कल्याण-कारी मानता था। मैं हृदयसे उसका वफादार था। उसका क्षय मैं नहीं चाहता था। इसलिए बल-प्रयोग विषयक नीति-अनीतिके विचार मुझे अपने इरादेसे रोक नहीं सकते थे। नेटालपर आपत्ति आवे तो उसके पास रक्षाके लिए स्वयंसेवक-सेना थी और आपत्तिके समय उसमें जरूरतके लायक और भरती भी हो सकती थी। मैंने अखबारोंमें पढ़ा कि स्वयंसेवक-सेना इस 'बलवे'को शांत करनेके लिए चल पड़ी थी।

मैं अपनेको नेटालवासी मानता था और नेटालके साथ मेरा निकट संबंध था ही। इसलिए मैंने वहांके गवर्नरको पत्र लिखा कि यदि जरूरत हो तो मैं घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए हिंदुस्तानियोंकी एक टुकड़ी लेकर जानेको तैयार हूं। गवर्नरने तुरंत ही इसको स्वीकार कर लिया। मैंने अनुकूल उत्तरकी अथवा इतनी जल्दी उत्तर आ जानेकी आशा नहीं की थी। फिर भी यह पत्र लिखनेके पहले मैंने अपना इंतजाम कर ही लिया था कि यदि गवर्नर हमारे प्रस्तावको स्वीकार कर ले तो जोहान्सबर्गका घर तोड़ दें। पोलक एक अलग छोटा घर लेकर रहें और कस्तूरबाई फिनिक्स जाकर रहें। कस्तूरबाई इस योजनासे पूर्ण सहमत हुईं। ऐसे कामोंमें उसकी तरफसे कभी कोई रुकावट आनेका स्मरण मुझे नहीं होता। गवर्नरका जवाब आते ही मैंने मकान-मालिकको घर खाली करनेका एक महीनेका बाकायदा नोटिस दे दिया। कुछ सामान फिनिक्स गया और कुछ पोलकके पास रह गया।

डरबन पहुंचकर मैंने आदमी मांगे। बहुत लोगोंको जरूरत न थी। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। उनमें मेरे अलावा चार गुजराती थे। शेष मदरास प्रांतके गिरमिट-मुक्त हिंदुस्तानी थे और एक पठान था।

मुझे औषधि-विभागके मुख्य अधिकारीने इन टुकड़ीमें 'सारजंट मेजर'का स्थायी पद दिया और मेरे पसंद किये दूसरे दो सज्जनोंको 'सारजंट'की और एक को 'कारपोरल'की पदवियां दीं। वर्दी भी सरकारकी तरफसे मिली। इसका कारण यह था कि एक तो काम करनेवालोंके आत्म-सम्मानकी रक्षा हो, दूसरे काम सुविधा-पूर्वक हो, और तीसरे ऐसी पदवी देनेका वहां रिवाज भी था। इस टुकड़ीने छः सप्ताहतक सतत सेवा की।

'बलवे'के स्थलपर जाकर मैंने देखा कि वहां 'बलवा' जैसा कुछ नहीं था। कोई सामना करता हुआ दिखाई नहीं पड़ा। उसे 'बलवा' माननेका कारण यह था कि एक जुलू सरदारने जुलू लोगोंपर बैठाये नये करको न देनेकी सलाह उन्हें दी थी और एक सारजंटको, जो वहां कर वसूल करनेके लिए गया था, मार डाला था। जो भी हो, मेरा हृदय तो इन जुलूओंकी तरफ था और अपनी छावनीमें पहुंचनेपर जब हमें खासकरके जुलू घायलोंकी ही शुश्रूषाका काम दिया गया तब तो मुझे बड़ी खुशी हुई। उस डाक्टर अधिकारीने हमारी इस सेवाका स्वागत करते हुए कहा— "गोरे लोग इन घायलोंकी सेवा करनेके लिए तैयार नहीं होते। मैं अकेला क्या करता? इनके घाव खराब हो रहे हैं। आप आ गये, यह अच्छा हुआ। इसे मैं इन निरपराध लोगोंपर ईश्वरकी कृपा ही समझता हूं।" यह कहकर मुझे पट्टियां और जंतु-नाशक पानी दिया और उन घायलोंके पास ले गये। घायल हमें देखकर बड़े आनंदित हुए। गोरे सिपाही जंगलमेंसे झांक-झांककर हमको घाव धोनेसे रोकनेकी चेष्टा करते और हमारे न सुननेपर वे जुलू लोगोंको जो बुरी-बुरी गालियां देते उन्हें सुनकर हमें कानोंमें उंगलियां देनी पड़तीं।

धीरे-धीरे इन गोरे सिपाहियोंके साथ भी मेरा परिचय हुआ और फिर उन्होंने मुझे रोकना बंद कर दिया। इस सेनामें कर्नल स्पाक्स और कर्नल वायली थे, जिन्होंने १८९६में मेरा घोर विरोध किया था। वे मुझे इस काममें सम्मिलित देखकर चकित हो गये। मुझे खास तौरपर बुलाकर उन्होंने धन्यवाद दिया और जनरल मैकेंजीके पास ले जाकर उनसे मेरी मुलाकात करवाई।

पाठक यह न समझ लें कि ये लोग पेशेवर सैनिक थे। कर्नल वायलीका पेशा था वकालत। कर्नल स्पाक्स कसाईखानेके एक प्रसिद्ध मालिक थे। जनरल मैकेंजी नेटालके एक मशहूर किसान थे। ये सब स्वयं-सेवक थे और स्वयं-सेवक के रूपमें ही उन्होंने सैनिक शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

जिन रोगियोंकी शुश्रूषाका काम हमें सौंपा गया था, वे लड़ाईमें घायल लोग न थे। उनमें एक हिस्सा तो था उन कैदियोंका जो शुबहपर पकड़े गये थे। जनरलने उन्हें कोड़े मारनेकी सजा दी थी। इससे उन्हें जख्म पड़ गये थे और उनका इलाज न होनेके कारण पक गये थे। दूसरा हिस्सा था उन लोगोंका, जो जुलू-मित्र कहलाते थे। ये मित्रतादर्शक चिह्न पहने हुए थे। फिर भी इन्हें सिपाहियोंने भूलसे जख्मी कर दिया था।

इसके उपरांत खुद मुझे गोरे सिपाहियोंके लिए दवा लानेका और उन्हें दवा देनेका काम सौंपा गया था। पाठकोंको याद होगा कि डाक्टर बूथके छोटे-से अस्पतालमें मैंने एक सालतक इसकी तालीम हासिल की थी। इसलिए यहां मुझे दिक्कत न पड़ी। इसकी बदौलत बहुतेरे गोरोंसे मेरा परिचय हो गया।

परंतु युद्ध-स्थलपर गई हुई सेना एक ही जगह नहीं पड़ी रहती। जहां-जहांसे खतरेके समाचार आते वहीं जा दौड़ती। उनमें बहुतेरे तो घुड़-सवार थे।

हमारी फौज अपने पड़ावसे चली। उसके पीछे-पीछे हमें भी डोलियां कंधोंपर रखकर चलना था। दो-तीन बार तो एक दिनमें चालीस मीलतक चलनेका प्रसंग आ गया था। यहां भी हमें तो बस वही प्रभुका काम मिला। जो जुलू-मित्र भूलसे घायल हो गये थे उन्हें डोलियोंमें उठाकर पड़ावपर लेजाना था और वहां उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी थी।

२५

हृदय-मंथन

'जुलू-विद्रोह'में मुझे बहुतेरे अनुभव हुए और विचार करनेकी बहुत सामग्री मिली। बोअर-संग्राममें युद्धकी भयंकरता मुझे उतनी नहीं मालूम हुई जितनी इस बार। यह लड़ाई नहीं, मनुष्यका शिकार था। अकेले मेरा ही नहीं,

बल्कि दूसरे अंग्रेजोंका भी यही खयाल था। सुबह होते ही हमें सैनिकोंकी गोले-बारीकी आवाज पटाखेकी तरह सुनाई पड़ती, जो गांवोंमें जाकर गोलियां झाड़ते। इन शब्दोंको सुनना और ऐसी स्थितिमें रहना मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ। परंतु मै इस कड़ुई घूंटको पीकर रह गया और ईश्वर-कृपासे काम भी जो मुझे मिला वह भी जुलू लोगोंकी सेवाका ही। मैंने यह तो देख लिया था कि यदि हमने इस कामके लिए कदम न बढ़ाया होता तो दूसरे कोई इसके लिए तैयार न होते। इस बातको स्मरण करके मैंने अंतरात्माको शांत किया।

इस विभागमें आबादी बहुत कम थी। पहाड़ों और कंदराओंमें भले, सादे और जंगली कहलानेवाले जुलू लोगोंके कूबों(झोंपड़े)के सिवा वहां कुछ नहीं था। इससे वहांका दृश्य बड़ा भव्य दिखाई पड़ता था। मीलोंतक जब हम बिना बस्तीके प्रदेशमें लगातार किसी घायलको लेकर अथवा खाली हाथ मंजिल तय करते तब मेरा मन तरह-तरहके विचारोंमें डूब जाता।

यहां ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व हुए। अपने साथियोंके साथ भी मैंने उसकी चर्चा की। हां, यह बात अभी मुझे स्पष्ट नही दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शनके लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। परंतु यह बात मै अच्छी तरह जान गया कि सेवाके लिए उसकी बहुत आवश्यकता है। मै जानता था कि इस प्रकारकी सेवाएं मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेगी और यदि मैं भोग-विलासमें, प्रजोत्पत्तिमें, और संतति-पालनमें लगा रहा तो मै पूरी तरह सेवा न कर सकूंगा। मैं दो घोड़ोंपर सवारी नही कर सकता। यदि पत्नी इस समय गर्भवती होती तो मै निश्चित होकर आज इस सेवा-कार्यमें नही कूद सकता था। यदि ब्रह्मचर्यका पालन न किया जाय तो कुटुंब-वृद्धि मनुष्यके उस प्रयत्नकी विरोधक हो जाय, जो उसे समाजके अभ्युदयके लिए करना चाहिए; पर यदि विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्यका पालन हो सके तो कुटुंब-सेवा समाज-सेवाकी विरोधक नहीं हो सकती। मै इन विचारोंके भंवरमें पड़ गया और ब्रह्मचर्यका व्रत ले लेनेके लिए कुछ अधीर हो उठा। इन विचारोंसे मुझे एक प्रकारका आनंद हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। इस समय कल्पनाने मेरे सामने सेवाका क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया था।

ये विचार अभी मैं अपने मनमें गढ़ रहा था और शरीरको कस ही रहा था

कि इतनेमें कोई यह अफवाह लाया कि 'बलवा' शान्त हो गया है और अब हमें छुट्टी मिल जायगी। दूसरे ही दिन हमें घर जानेका हुक्म हुआ और थोड़े ही दिनों बाद हम सब अपने-अपने घर पहुंच गये। इसके कुछ ही दिन बाद गवर्नरने इस सेवाके निमित्त मेरे नाम धन्यवाद का एक खास पत्र भेजा।

फिनिक्समें पहुंचकर मैंने ब्रह्मचर्य-विषयक अपने विचार बड़ी तत्परतासे छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादिके सामने रक्खे। सबको वे पसंद आये। सबने ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता समझी। परंतु सबको उसका पालन बड़ा कठिन मालूम हुआ। कितनोंने ही प्रयत्न करनेका साहस भी किया और मैं मानता हूं कि कुछ तो उसमें अवश्य सफल हुए हैं।

मैंने तो उसी समय व्रत ले लिया कि आजसे जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्यका पालन करूंगा। इस व्रतका महत्त्व और उसकी कठिनता मैं उस समय पूरी न समझ सका था। कठिनाइयोंका अनुभव तो मैं आज तक भी करता रहता हूं। साथ ही उस व्रतका महत्त्व भी दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूं। ब्रह्मचर्य-हीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत् मालूम होता है। पशु-स्वभावतः निरंकुश है, मनुष्यका मनुष्यत्व इसी बातमें है कि वह स्वेच्छासे अपनेको अंकुशमें रक्खे। ब्रह्मचर्यकी जो स्तुति धर्मग्रंथोंमें की गई है उसमें पहले मुझे अत्युक्ति मालूम होती थी। परंतु अब दिन-दिन वह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह बहुत ही उचित और अनुभव-सिद्ध है।

वह ब्रह्मचर्य जिसके ऐसे महान् फल प्रकट होते है, कोई हंसी-खेल नहीं है, केवल शारीरिक वस्तु नहीं है।

शारीरिक अंकुशसे तो ब्रह्मचर्यका श्रीगणेश होता है। परंतु शुद्ध ब्रह्म-चर्यमें तो विचार तककी मलिनता न होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्नमें भी बुरे विचार नहीं करता। जबतक बुरे सपने आया करते है, स्वप्नमें भी विकार-प्रबल होता रहता है तबतक यह मानना चाहिए कि अभी ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे तो कायिक ब्रह्मचर्यके पालनमें भी महाकष्ट सहना पड़ा। इस समय तो यह कह सकता हूं कि मैं इसके विषयमें निर्भय हो गया हूं; परंतु अपने विचारोंपर अभी पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सका हूं। मैं नहीं समझता कि

मेरे प्रयत्नमें कहीं कसर हो रही है; परंतु मैं अब तक नहीं जान सका कि ऐसे-ऐसे विचार, जिन्हें हम नहीं चाहते हैं, कहांसे और किस तरह हमपर चढ़ाई कर देते हैं। हां, इस बातमें मुझे कुछ भी संदेह नहीं है कि विचारोंको भी रोक लेनेकी कुंजी मनुष्यके पास है। पर अभी तो मैं इस निर्णयपर पहुंचा हूं कि वह चाबी प्रत्येकको अपने लिए खोजनी पड़ती है। महापुरुष जो अनुभव अपने पीछे छोड़ गये हैं वे हमारे लिए मार्ग-दर्शक हैं, उन्हें हम पूर्ण नहीं कह सकते। पूर्णता मेरी समझमें केवल प्रभु-प्रसादी है और इसीलिए भक्त लोग अपनी तपश्चर्यासे पुनीत करके रामनामादि मंत्र हमारे लिए छोड़ गये हैं। मुझे विश्वास होता है कि अपनेको पूर्णरूपसे ईश्वरार्पण किये बिना विचारोंपर पूरी विजय कभी नहीं मिल सकती। समस्त धर्म-पुस्तकोंमें मैंने ऐसे वचन पढ़े हैं और अपने ब्रह्मचर्यके सूक्ष्मतम पालनके प्रयत्नके संबंधमें मैं उनकी सत्यताका अनुभव भी कर रहा हूं।

परंतु मेरी इस छटपटाहटका थोड़ा-बहुत इतिहास अगले अध्यायोंमें आने ही वाला है, इसलिए इस प्रकरणके अंतमें तो इतना ही कह देता हूं कि अपने उत्साहके आवेगमें पहले-पहल तो मुझे इस व्रतका पालन सरल मालूम हुआ। परंतु एक बात तो मैंने व्रत लेते ही शुरू कर दी थी। पत्नीके साथ एक शय्या अथवा एकांत-सेवनका त्याग कर दिया था। इस तरह इच्छा या अनिच्छासे जिस ब्रह्मचर्यका पालन मैं १९००से करता आया हूं उसका आरंभ व्रतके रूपमें १९०६के मध्यमें हुआ।

२६

सत्याग्रहकी उत्पत्ति

जोहान्सबर्गमें मेरे लिए ऐसी रचना तैयार हो रही थी कि मेरी यह एक प्रकारकी आत्म-शुद्धि मानो सत्याग्रहके ही निमित्त हुई हो। ब्रह्मचर्यका व्रत ले लेनेतक मेरे जीवनकी तमाम मुख्य घटनाएं मुझे छिपे-छिपे सत्याग्रहके लिए ही तैयार कर रही थीं, ऐसा अब दिखाई पड़ता है।

'सत्याग्रह' शब्दकी उत्पत्ति होनेके पहले सत्याग्रह वस्तुकी उत्पत्ति हुई है। जिस समय उसकी उत्पत्ति हुई उस समय तो मैं खुद भी नहीं जान सका कि यह

चीज दरअसल क्या है ।

गुजरातीमें हम उसे 'पैसिव रेजिस्टेंस' इस अंग्रेजी नामसे पहचानने लगे; पर जब गोरोंकी एक सभामें मैंने देखा कि 'पैसिव रेजिस्टेंस'का संकुचित अर्थ किया जाता है, वह निर्बलका हथियार समझा जाता है, उसमें द्वेषके अस्तित्वकी भी संभावना है और उसका अंतिम रूप हिंसामें परिणत हो सकता है तब मुझे इस शब्दका विरोध करना पड़ा और भारतीयोंके संग्रामका सच्चा रूप लोगोंको समझाना पड़ा—और उस समय हिंदुस्तानियोंको अपने संग्रामका परिचय करानेके लिए एक नया शब्द गढ़नेकी जरूरत पड़ी ।

परंतु मुझे इसके लिए कोई स्वतंत्र शब्द सूझ नहीं पड़ता था । अतएव उसके नामके लिए एक इनाम रक्खा गया और 'इंडियन ओपीनियन'के पाठकोंमें उसके लिए एक होड़ शुरू कराई । इसके फलस्वरूप मगनलाल गांधीने 'सत्+आग्रह=सदाग्रह' शब्द बनाकर भेजा । उन्हें इनाम मिला; परंतु सदाग्रह शब्द को अधिक स्पष्ट करनेके लिए मैंने बीचमें 'य' जोड़कर सत्याग्रह शब्द बनाया; और फिर इस नामसे वह संग्राम पुकारा जाने लगा ।

इस युद्धके इतिहासको दक्षिण अफ्रीकाके मेरे जीवनका और विशेष करके मेरे सत्यके प्रयोगोंका इतिहास कह सकते हैं । इस युद्धका इतिहास मैंने बहुत-कुछ यरवदा-जेलमें लिख डाला था और शेषांश बाहर निकलनेपर पूरा कर डाला । वह सब 'नवजीवन'में क्रमशः प्रकाशित हुआ है और बादको 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' नामसे पुस्तक-रूपमें भी प्रकाशित हुआ है ।[1]

जिन सज्जनोंने उसे न पढ़ा हो उनसे मैं पढ़ जानेकी सिफारिश करता हूं । उस इतिहासमें जिन बातोंका उल्लेख हो चुका है उनको छोड़कर दक्षिण अफ्रीकाके मेरे जीवनके कुछ खानगी प्रसंग जो उसमें रह गये हैं वही इन अध्यायोंमें देनेका विचार करता हूं और उनके पूरा हो जानेके बाद ही हिंदुस्तानके प्रयोगोंका परिचय पाठकोंको करानेकी इच्छा है ।

---

[1] हिंदीमें यह 'सस्ता-साहित्य मण्डल,' नई दिल्लीसे प्रकाशित हुआ है । —अनुवादक

इसलिए इन प्रयोगोंके प्रसंगोंके क्रमको जो सज्जन अविच्छिन रखना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे अब अपने सामने 'दक्षिण अफ्रीकाके इतिहास'के उन अध्यायोंको रख लें।

२७

भोजनके और प्रयोग

अब मुझे एक फिक्र तो यह लगी कि मन, कर्म और वचनमे ब्रह्मचर्यका पालन किस प्रकार हो और दूसरी यह कि सत्याग्रह-संग्रामके लिए अधिक-से-अधिक समय किस तरह बचाया जाय और अधिक शुद्धि कैसे हो। इन दो फिक्रोंने मुझे अपने भोजनमे अधिक संयम और अधिक परिवर्तनकी प्रेरणा की। फिर जो परिवर्तन मै पहले मुख्यत. आरोग्यकी दृष्टिसे करता था वे अब धार्मिक दृष्टिसे होने लगे।

इसमे उपवास और अल्पाहारने अधिक स्थान लिया। जिनके अंदर विषय-वासना रहती है उनकी जीभ बहुत स्वाद-लोलुप रहती है। यही स्थिति मेरी भी थी। जननेंद्रिय और स्वादेंद्रियपर कब्जा करते हुए मुझे बहुत विडंबनाएं सहनी पड़ी है और अब भी मै यह दावा नहीं कर सकता कि इन दोनोंपर मैंने पूरी विजय प्राप्त कर ली है। मैंने अपनेको अत्याहारी माना है। मित्रोंने जिसे मेरा संयम माना है उसे मैंने कभी वैसा नही माना। जितना अंकुश मै अपनेपर रख सका हूं उतना यदि न रख सका होता तो मै पशुसे भी गया-बीता होकर अबतक कभीका नाशको प्राप्त हो गया होता। मै अपनी खामियोंको ठीक-ठीक जानता हूं और कह सकता हूं कि उन्हें दूर करनेके लिए मैंने भारी प्रयत्न किये हैं। और उसीसे मैं इतने सालतक इस शरीरको टिका सका हूं और उससे कुछ काम ले सका हूं।

इस बातका भान होनेके कारण और इस प्रकारकी संगति अनायास मिल जानेके कारण मैंने एकादशीके दिन फलाहार अथवा उपवास शुरू किये। जन्माष्टमी इत्यादि दूसरी तिथियोंपर भी उपवास करने लगा; परंतु संयमकी दृष्टिसे फलाहार और अन्नाहारमें मुझे बहुत भेद दिखाई न दिया। अनाजके नामसे हम जिन वस्तुओंको जानते हैं उनमेंसे जो रस मिलता है वही फलाहारसे

भी मिलता है और आदत पड़नेके बाद तो मैंने देखा कि उनसे अधिक ही रस मिलता है। इस कारण इन तिथियोंके दिन सूखा उपवास अथवा एकासने[1] को अधिक महत्त्व देता गया। फिर प्रायश्चित्त आदिका भी कोई निमित्त मिल जाता तो उस दिन भी एकासना कर डालता। इससे मैंने यह अनुभव किया कि शरीरके अधिक स्वच्छ हो जानेसे रसोंकी वृद्धि हुई, भूख बढ़ी और मैंने देखा कि उपवासादि जहां एक ओर संयमके साधन हैं वहीं दूसरी ओर वे भोगके साधन भी बन सकते हैं। यह ज्ञान हो जानेपर इसके समर्थनमें उसी प्रकारके मेरे तथा दूसरोंके कितने ही अनुभव हुए हैं। मुझे तो यद्यपि अपना शरीर अधिक अच्छा और सुगठित बनाना था तथापि अब तो मुख्य हेतु था संयमको साधना और रसोंको जीतना। इसलिए भोजनकी चीजोंमें और उनकी मात्रामें परिवर्तन करने लगा, परंतु रस तो हाथ धोकर पीछे ही पड़े रहते। एक वस्तुको छोड़कर जब उसकी जगह दूसरी वस्तु लेता तो उसमेंसे भी नये और अधिक रस उत्पन्न होने लगते।

इन प्रयोगोंमें मेरे साथ और साथी भी थे। हरमन केलनबेक इनमें मुख्य थे। इनका परिचय 'दक्षिण-अफ्रीकाके सत्याग्रहके इतिहास' में दे चुका हूं। इसलिए फिर यहां देनेका इरादा छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवासमें, एकासनेमें एवं दूसरे परिवर्त्तनोंमें, मेरा साथ दिया था। जब हमारे आंदोलनका रंग खूब जमा था तब तो मैं उन्हींके घरमें रहता था। हम दोनों अपने इन परिवर्तनोंके विषयमें चर्चा करते और नये परिवर्त्तनोंमें पुराने रसोंसे भी अधिक रस पीते। उस समय तो ये संवाद बड़े मीठे भी लगते थे। यह नहीं मालूम होता था कि उनमें कोई बात अनुचित होती थी। पर अनुभवने सिखाया कि ऐसे रसोंमें गोते खाना भी अनुचित था। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यको रसके लिए नहीं; बल्कि शरीरको कायम रखनेके लिए ही भोजन करना चाहिए। प्रत्येक इंद्रियां जब केवल शरीरके और शरीरके द्वारा आत्माके दर्शनके ही लिए काम करती है तब उसके रस शून्यवत् हो जाते है और तभी कह सकते हैं कि वह स्वाभाविक रूपमें अपना काम करती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करनेके लिए जितने प्रयोग किये जायं उतने

---

[1] दिनमें एक बार भोजन करना।

ही कम हैं और ऐसा करते हुए यदि अनेक शरीरोंकी आहुति देना पड़े तो भी हमें उसकी परवा न करनी चाहिए। पर अभी आज-कल उलटी गंगा बह रही है। नाशवान् शरीरको सुशोभित करने और उसकी आयुको बढ़ानेके लिए हम अनेक प्राणियोंका बलिदान करते हैं। पर यह नहीं समझते कि उससे शरीर और आत्मा दोनोंका हनन होता है। एक रोगको मिटाते हुए, इंद्रियोंके भोगोंको भोगनेका उद्योग करते हुए, हम नये-नये रोग पैदा करते है और अंतको भोग भोगनेकी शक्ति भी खो बैठते हैं। सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस क्रियाको अपनी आंखोंके सामने होते हुए देखकर भी हम उसे देखना नहीं चाहते।

भोजनके प्रयोगोंका अभी मैं और वर्णन करना चाहता हूं; इसलिए उसका उद्देश्य और तद्विषयक मेरी विचार-सरणि पाठकोंके सामने रख देना आवश्यक था।

२८

पत्नीकी दृढ़ता

कस्तूरबाईपर तीन घातें हुई और तीनोंमें वह महज घरेलू इलाजसे बच गई। पहली घटना तो तबकी है जब सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था। उसको बार-बार रक्तस्राव हुआ करता। एक डाक्टर मित्रने नश्तर लगवानेकी सलाह दी थी। बड़ी आनाकानीके बाद वह नश्तरके लिए राजी हुई। शरीर बहुत क्षीण हो गया था। डाक्टरने बिना बेहोश किये ही नश्तर लगाया। उस समय उसे दर्द तो बहुत हो रहा था; पर जिस धीरजसे कस्तूरबाईने उसे सहन किया है उसे देखकर मैं दांतों तले अंगुली देने लगा। नश्तर अच्छी तरह लग गया। डाक्टर और उसकी धर्मपत्नीने कस्तूरबाईकी बहुत अच्छी तरह शुश्रूषा की।

यह घटना डरबनकी है। दो या तीन दिन बाद डाक्टरने मुझे निश्चित होकर जोहान्सबर्ग जानेकी छुट्टी दे दी। मैं चला भी गया; पर थोड़े ही दिनमें समाचार मिले कि कस्तूरबाईका शरीर बिलकुल सिमटता नहीं है और वह बिछौनेसे उठ-बैठ भी नहीं सकती। एक बार बेहोश भी हो गई थी। डाक्टर जानते थे कि मझसे पूछे बिना कस्तूरबाईको शराब या मांस—दवामें अथवा

भोजनमें—नहीं दिया जा सकता था। सो उन्होंने मुझे जोहान्सबर्ग टेलीफोन किया—

"आपकी पत्नीको मैं मांसका शोरवा और 'बीफ टी' देनेकी जरूरत समझता हूं। मुझे इजाजत दीजिए।"

मैंने जवाब दिया, "मैं तो इजाजत नहीं दे सकता। परंतु कस्तूरबाई आजाद है। उसकी हालत पूछने लायक हो तो पूछ देखिए और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिए।"

"बीमारसे मैं ऐसी बातें नहीं पूछना चाहता। आप खुद यहां आ जाइए। जो चीजें मैं बताता हूं उनके खानेकी इजाजत यदि आप न दें तो मैं आपकी पत्नीकी जिंदगीके लिए जिम्मेदार नहीं हूं।"

यह सुनकर मैं उसी दिन डरबन रवाना हुआ। डाक्टरसे मिलनेपर उन्होंने कहा— "मैंने तो शोरवा पिलाकर आपको टेलीफोन किया था।"

मैंने कहा— "डाक्टर, यह तो विश्वासघात है।"

"इलाज करते वक्त मैं दगा-वगा कुछ नहीं समझता। हम डाक्टर लोग ऐसे समय बीमारको, उसके रिश्तेदारोंको, धोखा देना पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो है जिस तरह हो सके रोगीको बचाना।" डाक्टरने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया।

यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। पर मैंने शांति धारण की। डाक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उनका और उनकी पत्नीका मुझपर बड़ा अहसान था। पर मैं उनके इस व्यवहारको बर्दाश्त करनेके लिए तैयार न था।

"डाक्टर, अब साफ-साफ बातें कर लीजिए। बताइए, आप क्या करना चाहते हैं? मेरी पत्नीको बिना उसकी इच्छाके मांस नहीं देने दूंगा, उसके न लेनेसे यदि वह मरती हो तो इसे सहन करनेके लिए मैं तैयार हूं।"

डाक्टर बोले—"आपका यह सिद्धांत मेरे घर नहीं चल सकता। मैं तो आपसे कहता हूं कि आपकी पत्नी जबतक मेरे यहां है तबतक मैं मांस अथवा जो कुछ देना मुनासिब समझूंगा जरूर दूंगा। अगर आपको यह मंजूर नहीं है तो आप अपनी पत्नीको यहांसे ले जाइए। अपने ही घरमें मैं इस तरह उन्हें नहीं मरने दूंगा।"

"तो क्या आपका यह मतलब है कि मैं पत्नीको अभी ले जाऊं ?"

"मैं कहां कहता हूं कि ले जाओ। मैं तो यह कहता हूं कि मुझपर कोई शर्त न लादो तो हम दोनोंसे इनकी जितनी सेवा हो सकेगी करेंगे और आप आरामसे जाइए। जो यह सीधी-सी बात समझमें न आती हो तो मुझे मजबूरीसे कहना होगा कि आप अपनी पत्नीको मेरे घरसे ले जाइए।"

मेरा खयाल है कि मेरा एक लड़का उस समय मेरे साथ था। उससे मैंने पूछा तो उसने कहा— "हां, आपका कहना ठीक है। बा को मांस कैसे दे सकते हैं ?"

फिर मैं कस्तूरबाईके पास गया। वह बहुत कमजोर हो गई थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुःखदायी था। पर अपना धर्म समझकर मैंने ऊपरकी बातचीत उसे थोड़ेमें समझा दी। उसने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया— "मैं मांसका शोरबा नहीं लूंगी। यह मनुष्य-देह बार-बार नहीं मिला करती। आपकी गोदीमें मैं मर जाऊं तो परवाह नहीं; पर अपनी देहको मैं भ्रष्ट नहीं होने दूंगी।"

मैंने उसे बहुतेरा समझाया और कहा कि तुम मेरे विचारोंके अनुसार चलनेके लिए बाध्य नहीं हो। मैंने उसे यह भी बता दिया कि कितने ही अपने परिचित हिंदू भी दवाके लिए शराब और मांस लेनेमें परहेज नहीं करते। पर वह अपनी बातसे बिलकुल न डिगी और मुझसे कहा— "मुझे यहांसे ले चलो।"

यह देखकर मैं बड़ा खुश हुआ। किंतु ले जाते हुए बड़ी चिंता हुई। पर मैंने तो निश्चय कर ही डाला और डाक्टरको भी पत्नीका निश्चय सुना दिया।

वह बिगड़कर बोले— "आप तो बड़े घातक पति मालूम होते हैं। ऐसी नाजुक हालतमें उस बेचारीसे ऐसी बात करते हुए आपको शरम नहीं मालूम हुई ? मैं कहता हूं कि आपकी पत्नीकी हालत यहांसे ले जानेके लायक नहीं है। उनके शरीरकी हालत ऐसी नहीं है कि जरा भी धक्का सहन कर सके। रास्ते हीमें दम निकल जाय तो ताज्जुब नहीं। फिर भी आप हठ-धर्मीसे न मानें तो आप जानें। यदि शोरबा न देने दे तो एक रात भी उन्हें मेरे घरमें रखनेकी जोखिम मैं नहीं लेता।"

रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डरबनसे फिनिक्सतक रेल रास्ते और फिनिक्ससे लगभग ढाई मीलतक पैदल जाना था।

खतरा पूरा-पूरा था। पर मैंने यही सोच लिया कि ईश्वर सब तरह मदद करेगा। पहले एक आदमीको फिनिक्स भेज दिया। फिनिक्समें हमारे यहां एक हैमक था। हैमक कहते हैं जालीदार कपड़े की झोली अथवा पालनेको। उसके सिरोंको बांससे बांध देनेपर बीमार उसमें आराममे झूला करता है। मैंने वेस्टको कहलाया कि वह हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छः आदमियोंको लेकर फिनिक्स स्टेशनपर आ जायं।

जब दूसरी ट्रेन चलनेका समय हुआ तब मैंने रिक्शा मंगाई और उस भयंकर स्थितिमें पत्नीको लेकर चल दिया।

पत्नीकी हिम्मत दिलानेकी मुझे जरूरत नही पड़ी, उलटा मुझीको हिम्मत दिलाते हुए उसने कहा—"मुझे कुछ नुकसान न होगा, आप चिंता न करें।"

इस ठठरीमें वजन तो कुछ रही नही गया था। खाना पेटमें जाता ही न था। ट्रेनके डब्बेतक पहुचनेके लिए स्टेशनके लंबे-चौड़े प्लेटफार्मपर दूरतक चलकर जाना था; क्योंकि रिक्शा वहांतक पहुंच नही सकती थी। मै उसे सहारा देकर डब्बेतक ले गया। फिनिक्स स्टेशनपर तो वह झोली आ गई थी, उसमें हम रोगीको आरामसे घरतक ले गये। वहा केवल पानीके उपचारसे धीरे-धीरे उसका शरीर बनने लगा। फिनिक्स पहुंचनेके दो-तीन दिन बाद एक स्वामीजी हमारे यहा पधारे। जब हमारी हठ-धर्मीकी कथा उन्होने सुनी तो हमपर उनको बड़ा तरस आया और वह हम दोनोंको समझाने लगे।

मुझे जहांतक याद आता है, मणिलाल और रामदास भी उस समय मौजूद थे। स्वामीजीने मांसाहारकी निर्दोषतापर एक व्याख्यान झाड़ा; मनुस्मृति के श्लोक सुनाये। पत्नीके सामने जो इसकी बहस उन्होंने छेड़ी, यह मुझे अच्छा न मालूम हुआ; परंतु शिष्टाचारकी खातिर मैंने उसमे दखल न दिया। मुझे मांसाहारके समर्थनमे मनुस्मृतिके प्रमाणोकी आवश्यकता न थी। उनका पता मुझे था। मै यह भी जानता था कि ऐसे लोग भी हैं जो उन्हें प्रक्षिप्त समझते हैं। यदि वे प्रक्षिप्त न हों तो भी अन्नाहार-संबंधी मेरे विचार स्वतंत्र-रूपसे बन चुके थे; पर कस्तूरबाई की तो श्रद्धा ही काम कर रही थी, वह बेचारी शास्त्रोंके प्रमाणोंको क्या जानती? उसके नजदीक तो परम्परागत रूढ़ि ही धर्म था। लड़कोंको अपने पिताके धर्मपर विश्वास था, इससे वे स्वामीजीके साथ विनोद करते जाते

थे। अंतको कस्तूरबाईने यह कहकर इस बहसको बंद कर दिया—

"स्वामीजी, आप कुछ भी कहिए, मैं मांसका शोरबा खाकर चंगी होना नहीं चाहती। अब बड़ी दया होगी, अगर आप मेरा सिर न खपावें। मैंने तो अपना निश्चय आपसे कह दिया। अब और बातें रह गई हों तो आप इन लड़कोंके बापसे जाकर कीजिएगा।"

२९

घरमें सत्याग्रह

१९०८में मुझे पहली बार जेलका अनुभव हुआ। उस समय मुझे यह बात मालूम हुई कि जेलमें जो कितने ही नियम कैदियोंसे पालन कराये जाते है, वे एक संयमीको अथवा ब्रह्मचारीको स्वेच्छा-पूर्वक पालन करना चाहिए।[1] जैसे कि कैदियोंको सूर्यास्तके पहले पांच बजेतक भोजन कर लेना चाहिए। उन्हें—फिर वे हब्शी हों या हिंदुस्तानी— चाय या काफी न दी जाय, नमक खाना हो तो अलहदा लें, स्वादके लिए कोई चीज न खिलाई जाय। जब मैंने जेलके डाक्टरसे हिंदुस्तानी कैदियोंके लिए 'करी पाउडर' मांगा और नमक रसोई पकाते वक्त ही डालनेके लिए कहा तब उन्होंने जवाब दिया कि "आप लोग यहां स्वादिष्ट चीजें खानेके लिए नहीं आये हैं। आरोग्यके लिए 'करी पाउडर'की बिलकुल जरूरत नहीं। आरोग्यके लिए नमक चाहे ऊपरसे लिया जाय, चाहे पकाते वक्त डाल दिया जाय, एक ही बात है।"

खैर, वहां तो बड़ी मुश्किलसे हम लोग भोजनमें आवश्यक परिवर्तन करा पाये थे, परंतु संयमकी दृष्टिसे जब उनपर विचार करते हैं तो मालूम होता कि ये दोनों प्रतिबंध अच्छे ही थे। किसीकी जबरदस्तीसे नियमोंका पालन करनेसे उसका फल नहीं मिलता। परंतु स्वेच्छासे ऐसे प्रतिबंधका पालन

---

[1] ये अनुभव हिन्दीमें 'मेरे जेलके अनुभव' के नामसे प्रताप-प्रेस, कानपुर, से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। १९१६-१७ में मैंने इनका अनुवाद प्रताप-प्रेसके लिए किया था।—अनुवादक

किया जाय तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। अतएव जेलसे निकलनेके बाद मैंने तुरंत इन बातोंका पालन शुरू कर दिया। जहांतक हो सके चाय पीना बंद कर दिया और शामके पहले भोजन करनेकी आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो बैठी है।

परंतु ऐसी भी एक घटना घटी, जिसकी बदौलत मैंने नमक भी छोड़ दिया था। वह क्रम लगभग दस बरसतक नियमित रूपसे जारी रहा। अन्नाहार-संबंधी कुछ पुस्तकोंमें मैंने पढ़ा था कि मनुष्यके लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है। जो नमक नहीं खाता है आरोग्यकी दृष्टिसे उसे लाभ ही होता है और मेरी तो यह भी कल्पना दौड़ गई थी कि ब्रह्मचारीको भी उससे लाभ होगा। जिसका शरीर निर्बल हो उसे दाल न खानी चाहिए, यह मैंने पढ़ा था और अनुभव भी किया था। परंतु मैं उसी समय उन्हें छोड़ न सका था; क्योंकि दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

नश्तर लगानेके बाद यद्यपि कस्तूरबाईका रक्तस्राव कुछ समयके लिए बंद हो गया था, तथापि बादको वह फिर जारी हो गया। अबकी वह किसी तरह मिटाये न मिटा। पानीके इलाज बेकार साबित हुए। मेरे इन उपचारों-पर पत्नीकी बहुत श्रद्धा न थी; पर साथ ही तिरस्कार भी न था। दूसरा इलाज करनेका भी उसे आग्रह न था; इसलिए जब मेरे दूसरे उपचारोंमें सफलता न मिली तब मैंने उसको समझाया कि दाल और नमक छोड़ दो। मैंने उसे समझानेकी हद कर दी, अपनी बातके समर्थनमें कुछ साहित्य भी पढ़कर सुनाया, पर वह नहीं मानती थी। अंतको उसने झुंझलाकर कहा— "दाल और नमक छोड़नेके लिए तो आपसे भी कोई कहे तो आप भी न छोड़ेंगे।"

इस जवाबको सुनकर, एक ओर जहां मुझे दुःख हुआ तहां दूसरी ओर हर्ष भी हुआ; क्योंकि इससे मुझे अपने प्रेमका परिचय देनेका अवसर मिला। उस हर्षसे मैंने तुरंत कहा, "तुम्हारा खयाल गलत है, मैं यदि बीमार होऊं और मुझे यदि वैद्य इन चीजोंको छोड़नेके लिए कहें तो जरूर छोड़ दूं। पर ऐसा क्यों? लो, तुम्हारे लिए मैं आज हीसे दाल और नमक एक सालतक छोड़े देता हूं। तुम छोड़ो या न छोड़ो, मैंने तो छोड़ दिया।"

यह देखकर पत्नीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी—"माफ

करो, आपका मिजाज जानते हुए भी यह बात मेरे मुंहसे निकल गई। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊंगी, पर आप अपना वचन वापस ले लीजिए। यह तो मुझे भारी सजा दे दी।"

मैंने कहा— "तुम दाल और नमक छोड़ दो तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ ही होगा, परंतु मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका हूं वह नहीं टूट सकती। मुझे भी उससे लाभ ही होगा। हर किसी निमित्तसे मनुष्य यदि संयमका पालन करता है तो इससे उसे लाभ ही होना है। इसलिए तुम इस बातपर जोर न दो; क्योंकि इससे मुझे भी अपनी आजमाइश कर लेनेका मौका मिलेगा और तुमने जो इनको छोड़नेका निश्चिय किया है, उसपर दृढ़ रहनेमें भी तुम्हें मदद मिलेगी।" इतना कहनेके बाद तो मुझे मनानेकी आवश्यकता रह नहीं गई थी। "आप तो बड़े हठी हैं, किसीका कहा मानना आपने सीखा ही नहीं।" यह कहकर वह आंसू बहाती हुई चुप हो रही।

इसको मैं पाठकोंके सामने सत्याग्रहके तौरपर पेश करना चाहता हूं और मैं कहना चाहता हूं कि मैं इसे अपने जीवनकी मीठी स्मृतियोंमें गिनता हूं।

इसके बाद तो कस्तूरबाईका स्वास्थ्य खूब सम्हलने लगा। अब यह नमक और दालके त्यागका फल है, या उस त्यागसे हुए भोजनके छोटे-बड़े परिवर्तनोंका फल था, या उसके बाद दूसरे नियमोंका पालन करानेकी मेरी जागरूकताका फल था, या इस घटनाके कारण जो मानसिक उल्लास हुआ उसका फल था, यह मैं नहीं कह सकता। परंतु यह बात जरूर हुई कि कस्तूरबाईका सूखा शरीर फिर पनपने लगा। रक्तस्राव बंद हो गया और 'वैद्यराज'के नामसे मेरी साख कुछ बढ़ गई।

खुद मुझपर भी इन दोनो चीजोंको छोड़ देनेका अच्छा ही असर हुआ। छोड़ देनेके बाद तो नमक या दाल खानेकी इच्छातक न रही। यों एक साल बीतते देर न लगी। इससे इंद्रियोंकी शांतिका अधिक अनुभव होने लगा और संयमकी वृद्धि की तरफ मन अधिक दौड़ने लगा। एक वर्ष पूरा हो जानेपर भी दाल और नमकका त्याग तो ठेठ देशमें आनेतक जारी रहा। हां, बीचमें सिर्फ एक ही बार विलायतमें १९१४में, दाल और नमक खाया था; पर इस घटनाका तथा देशमें आनेके बाद इन चीजोंको शुरू करनेके कारणों का वर्णन पीछे करूंगा।

नमक और दाल छुड़ानेके प्रयोग मैंने साथियोंपर खूब किये हैं और दक्षिण अफ्रीकामें तो उसके परिणाम अच्छे ही आये थे। वैद्यककी दृष्टिसे इन दोनों चीजोंके त्यागके संबंधमें दो मत हो सकते है। पर संयमकी दृष्टिसे तो इनके त्यागमें लाभ ही है, इसमें संदेह नहीं। भोगी और संयमीका भोजन और मार्ग अवश्य ही जुदा-जुदा होना चाहिए। ब्रह्मचर्य पालन करनेकी इच्छा करनेवाले लोग भोगीका जीवन बिताकर ब्रह्मचर्यको कठिन और कितनी ही बार प्रायः अशक्य कर डालते है।

३०

संयमकी ओर

पिछले अध्यायमे यह बात कह चुका हूं कि भोजनमें कितने ही परिवर्तन कस्तूरबाईकी बीमारीकी बदौलत हुए। पर अब तो दिन-दिन उसमें ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे परिवर्तन करता गया।

पहला परिवर्तन हुआ दूधका त्याग। दूधसे इंद्रिय-विकार पैदा होते है, यह बात मै पहले-पहल रायचंदभाईसे समझा था। अन्नाहार-संबंधी अंग्रेजी पुस्तकें पढ़नेसे इस विचारमें वृद्धि हुई। परंतु जबतक ब्रह्मचर्यका व्रत नहीं लिया था तबतक दूध छोड़नेका इरादा खास तौरपर नहीं कर सका था। यह बात तो मै कभीसे समझ गया था कि शरीर-रक्षाके लिए दूधकी आवश्यकता नहीं है, पर उसका सहसा छूट जाना कठिन था। एक ओर मै यह बात अधिकाधिक समझता ही जा रहा था कि इंद्रियदमनके लिए दूध छोड़ देना चाहिए कि दूसरी ओर कलकत्ता-से ऐसा साहित्य मेरे पास पहुंचा जिसमें ग्वाले लोगोंके द्वारा गाय-भैंसोंपर होने-वाले अत्याचारों का वर्णन था। इस साहित्यका मुझपर बड़ा बुरा असर हुआ और उसके संबंधमे मैंने मि० केलनबेकसे भी बातचीत की।

हालांकि मि० केलनबेकका परिचय मैं 'सत्याग्रहके इतिहास'में करा चुका हूं और पिछले एक अध्यायमे भी उनका उल्लेख कर गया हूं; परंतु यहां उनके संबंध में दो शब्द अधिक कहनेकी आवश्यकता है। उनकी मेरी मुलाकात अनायास होगई थी। मि० खानके वह मित्र थे। मि० खानने देखा कि उनके अंदर गहरा

वैराग्यभाव था। इसलिए मेरा खयाल है कि उन्होंने उनसे मेरी मुलाकात कराई। जिन दिनों उनसे मेरा परिचय हुआ उन दिनोंके उनके शौक और शाह-खर्चीको देखकर मैं चौंक उठा था; परंतु पहली ही मुलाकातमें मुझसे उन्होंने धर्मके विषयमें प्रश्न किया। उसमें बुद्ध भगवान्की बात सहज ही निकल पड़ी। तबसे हमारा संपर्क बढ़ता गया। वह इस हदतक कि उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि जो काम मैं करूं वह उन्हें भी अवश्य करना चाहिए। वह अकेले थे। अकेलेके लिए मकान-खर्चके अलावा लगभग १२००) रुपये मासिक खर्च करते थे। ठेठ यहांसे अंतको इतनी सादगीपर आ गये कि उनका मासिक खर्च १२०) रुपये हो गया। मेरे घर-बार बिखेर देने और जेलसे आनेके बाद तो हम दोनों एक साथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनों अपना जीवन अपेक्षाकृत बहुत कड़ाईके साथ बिता रहे थे।

दूधके संबंधमें जब मेरा उनसे वार्त्तालाप हुआ तब हम शामिल रहते थे। एक बार मि० केलनबेकने कहा कि "जब हम दूधमें इतने दोष बताते हैं तो फिर उसे छोड़ क्यों न दें? वह अनिवार्य तो है ही नहीं।" उनकी इस रायको सुनकर मुझे बड़ा आनंद और आश्चर्य हुआ। मैंने तुरंत उनकी बातका स्वागत किया और हम दोनोंने टाल्स्टाय-फार्ममें उसी क्षण दूधका त्याग कर दिया। यह बात १९१२ की है।

पर हमें इतने त्यागसे शांति न हुई। दूध छोड़ देनेके थोड़े ही समय बाद केवल फलपर रहनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। फलाहारमें भी धारणा यह रक्खी गई थी कि सस्ते-से-सस्ते फलसे काम चलाया जाय। हम दोनोंकी आकांक्षा यह थी कि गरीब लोगोंके अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। हमने अनुभव किया कि फलाहारमें सुविधा भी बहुत होती है। बहुतांशमें चूल्हा सुलगानेकी जरूरत नहीं होती। इसलिए कच्ची मूंगफली, केले, खजूर, नींबू और जैतून का तेल, यह हमारा मामूली खाना हो गया था।

जो लोग ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखते हैं उनके लिए एक चेतावनी देनेकी आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्यके साथ भोजन और उपवास-का निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार है हमारा मन। मलिन मन उपवाससे शुद्ध नहीं होता, भोजनका उसपर असर

नहीं होता। मनकी मलिनता विचारसे, ईश्वर-ध्यानसे, और अंतको ईश्वर-प्रसादसे मिटती है; परंतु मनका शरीरके साथ निकट संबंध है और विकार-युक्त मन अपने अनुकूल भोजनकी तलाशमें रहता है। सविकार मन अनेक प्रकारके स्वाद और भोगोंको खोजता रहता है और फिर उस भोजन और भोगोंका असर मनपर होता है। इस अंशतक भोजनपर अंकुश रखनेकी और निराहारकी आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

विकार-युक्त मन शरीर और इंद्रियोंपर अपना अधिकार करनेके बदले शरीर और इंद्रियोंके अधीन चलता है। इस कारण भी शरीरके लिए शुद्ध और कम विकारोत्पादक भोजनकी मर्यादाकी और प्रसंगोपात्त निराहारकी, उपवासकी, आवश्यकता रहती है। इसलिए जो यह कहते हैं कि एक संयमीके लिए भोजन-संबंधी मर्यादाकी या उपवासकी आवश्यकता नहीं, वे उतने ही भ्रममें पड़े हुए हैं, जितना कि भोजन और निराहारको सब-कुछ समझनेवाले पड़े हुए हैं। मेरा तो अनुभव यह सिखलाता है कि जिसका मन संयमकी ओर जा रहा है उसके लिए भोजनकी मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हैं। उसकी मददके बिना मनकी निर्विकारता असंभव मालूम होती है।

३१

उपवास

जिन दिनों दूध और अनाजको छोड़कर फलाहारका प्रयोग शुरू किया उन्हीं दिनों संयमके उद्देश्यसे उपवास भी शुरू किया। इसमें भी मि० केलनबेक मेरे साथी हुए। पहले जो उपवास करता था वह केवल आरोग्यकी दृष्टिसे। देह-दमनके लिए उपवास करनेकी आवश्यकता है, यह बात मैं एक मित्रकी प्रेरणा से समझा। वैष्णव-कुटुंबमें जन्म होनेके कारण मेरी माता कठिन-कठिन व्रत किया करती थी। इससे एकादशी इत्यादि व्रत मैंने देशमें किये थे; परंतु वह तो देखा-देखी अथवा माता-पिताको खुश करनेके हेतुसे। उस समय मैं यह नहीं समझा था, कि ऐसे व्रतोंसे कुछ लाभ होता है; परंतु इन मित्रको देखकर तथा अपने ब्रह्मचर्य-व्रतके सहारेके लिए, मैं उनका अनुकरण करने लगा और एकादशीके

दिन उपवास करनेका निश्चय किया। आम तौरपर लोग एकादशीके दिन दूध और फल खाकर मानते हैं कि एकादशी कर ली; परंतु मैं तो यह फलाहारवाला उपवास नित्य ही करता था। इसलिए पानी पीनेकी छुट्टी रखकर मैंने निराहार उपवास शुरू किया।

जिन दिनों इन उपवासके प्रयोगोंका आरंभ हुआ, श्रावण मास पड़ता था। उस साल रमजान और श्रावण मास एक साथ आये थे। गांधी-कुटुंबमें वैष्णव व्रतोंके साथ शैव व्रतोंका भी पालन किया जाता था। हमारे परिवारके लोग जिस प्रकार वैष्णव देवालयोंमें जाते उसी प्रकार शिवालयोंमें भी जाते। श्रावण-मासमें प्रदोष तो हर साल कुटुंबमें कोई-न-कोई रखता ही था। इसलिए मैंने इस बार श्रावण मास के व्रत रखनेका इरादा किया।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोगका आरंभ टॉल्स्टाय-आश्रममें हुआ। वहां सत्याग्रही कैदियोंके कुटुंबोंको एकत्रकर मै और केलनबेक रहते थे। उसमें बालक और नवयुवक भी थे। उनके लिए एक पाठशाला रक्खी थी। इन नवयुवकोंमें चार-पांच मुसलमान भी थे। उन्हें मैं इस्लामके नियम पालनेमें मदद करता और उत्तेजन देता। नमाज वगैराकी सहूलियत कर देता। आश्रममें पारसी और ईसाई भी थे। नियम यह था कि सबको अपने-अपने धर्मोके अनुसार चलनेके लिए प्रोत्साहन दिया जाय। इसलिए मुसलमान नवयुवकोंको मैंने रोजा रखनेमें उत्तेजन दिया और मुझे तो प्रदोष रखने ही थे। परन्तु हिन्दुओं, पारसियों और ईसाइयों को भी मैंने मुसलमान नवयुवकोंका साथ देनेकी सलाह दी। मैने उन्हें समझाया कि संयम-पालनमें सबका साथ देना स्तुत्य है। बहुतेरे आश्रम-वासियोंने मेरी बात पसंद की। हिंदू और पारसी लोग मुसलमान साथियोंका पूरा-पूरा अनुकरण नहीं करते थे, करनेकी आवश्यकता भी नहीं थी। मुसलमान इधर सूरज डूबनेकी राह देखते तबतक दूसरे लोग उनसे पहले भोजन कर लेते कि जिससे वे मुसलमानों-को परोस सकें और उनके लिए खास चीजें तैयार कर सकें। इसके अलावा मुसल-मान सरगहीं करते— अर्थात् व्रतके दिनोंमें सवेरे सूर्योदयके पहले भोजन करते थे; पर दूसरे लोग उसमें शरीक नहीं होते थे। इधर मुसलमान तो दिन में भी पानी नहीं पीते थे; पर दूसरे लोग जब चाहते पी लिया करते।

इस प्रयोगका एक फल यह निकला कि उपवास और एकासनेका महत्त्व

सब लोग समझने लगे। एक-दूसरेके प्रति उदारता और प्रेमका भाव बढ़ा। आश्रममें अन्नाहारका ही नियम था; पर मुझे यह बात इस स्थानपर प्रसन्नताके साथ स्वीकार करनी चाहिए कि इस नियमको दूसरे मित्रोंने मांसके प्रति मेरे मनोभावों का ही खयाल करके स्वीकार किया था। रोजेके दिनोंमें मुसलमानोंको मांस न खाना जरूर कठिन पड़ा होगा; परंतु उन नवयुवकोंमेंसे किसीने मुझे इस बातका अनुभव न होने दिया। वे बड़े आनंद और स्वादके साथ अन्नाहार करते। हिंदू बालक ऐसी स्वादिष्ट चीजे भी उनके लिए तैयार करते, जो आश्रम-जीवनके प्रतिकूल न होती।

अपने उपवासका वर्णन करते हुए यह विषयांतर मैंने जान-बूझकर किया है; क्योंकि मै इस मधुर प्रसंगका वर्णन दूसरी जगह नहीं कर सकता था और इस विषयांतरके द्वारा मैंने अपनी एक टेवका वर्णन भी यहां कर डाला है। जब मुझे यह मालूम होता कि जो काम मै कर रहा हूं वह अच्छा है तो मै अपने साथियों-को भी हमेशा उसमें शामिल करनेका प्रयत्न करता हूं। यह उपवास और एकासने-के प्रयोग यद्यपि एक नई चीज थी, फिर भी प्रदोष और रमजानके बहाने मैंने उसमें सबको घसीट मारा।

इस प्रकार आश्रममें संयमका वातावरण अनायास बढ़ा। दूसरे उपवास और एकासनेमें भी आश्रमवासी शामिल होने लगे और मै मानता हूं कि इसका परिणाम भी अच्छा ही निकला। यह बात मैं निश्चय-पूर्वक नही कह सकता कि संयमका असर सबके हृदयपर कितना हुआ, सबकी विषयेच्छाको रोकनेमें कितना भाग उपवास आदिका था; पर मेरा तो यही अनुभव है कि मुझपर तो आरोग्य और इंद्रिय-दमन दोनों दृष्टियोंसे उसका अच्छा असर हुआ है। फिर भी मैं यह जानता हूं कि उपवास आदिका असर सब पर अवश्य हो, यह अनिवार्य नियम नहीं है। हां, जो उपवास इंद्रिय-दमनके उद्देश्यसे किये जाते है उनसे विषये-च्छामें रुकावट हो सकती है। कितने ही मित्रोंका तो यह भी अनुभव है कि उपवास-के अंतमें विषयेच्छा और स्वादेच्छा तीव्र हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि उपवासके दिनोंमें विषयेच्छाको रोकनेकी और स्वादको जीतनेकी सतत भावना रहे तभी शुभ फल होता है। बिना इस हेतु के और बिना मनके किये शारीरिक उपवासका फल ऐसा होगा कि जिससे विषयोंका वेग रुक जाय, यह

मानना बिलकुल भ्रमपूर्ण है। गीताके दूसरे अध्याय का यह श्लोक इस प्रसंग-पर बहुत विचार करने योग्य है——

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

उपवासी के विषय (उपवासके दिनोंमें) शमन हो जाते हैं; परंतु उनका रस नहीं जाता। रस तो ईश्वर-दर्शन से ही——ईश्वर प्रसादसे ही शमन होते हैं।

इससे हम इस नतीजेपर पहुंचे कि उपवास आदि संयमीके मार्गमें एक साधनके रूपमें आवश्यक हैं; परंतु वही सब-कुछ नहीं है। और यदि शारीरिक उपवासके साथ मनका उपवास न हो तो उसकी परिणति दंभमें हो सकती है और वह हानिकारक साबित हो सकती है।

३२

मास्टर साहब

सत्याग्रहके इतिहासमें जो बात नहीं आ सकी अथवा आंशिक रूपमें आई है वही इन अध्यायोंमें लिखी जा रही है। इस बातको पाठक याद रक्खेंगे तो इन अध्यायोंका पूर्वापर संबंध वे समझ सकेंगे।

टॉल्स्टाय-आश्रममें लड़कों और लड़कियोंके लिए कुछ शिक्षण-प्रबंध आवश्यक था। मेरे साथ हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे, और कुछ हिंदू लड़कियां भी थीं। इनके लिए खास शिक्षक रखना असंभव था और मुझे अनावश्यक भी मालूम हुआ। असंभव तो इसलिए था कि सुयोग्य हिंदुस्तानी शिक्षकोंका वहां अभाव था, और मिले भी तो काफी वेतनके बिना डरबनसे २१ मील दूर कौन आने लगा? मेरे पास रुपयोंकी बहुतायत नहीं थी और बाहरसे शिक्षक बुलाना अनावश्यक माना; क्योंकि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मुझे पसंद न थी और वास्तविक पद्धति क्या है, इसका मैंने अनुभव नहीं कर देखा था। इतना जानता था कि आदर्श स्थितिमें सच्ची शिक्षा माता-पिताकी देख-रेखमें ही मिल सकती है। आदर्श स्थितिमें बाह्य सहायता कम-से-कम होनी चाहिए। टॉल्स्टाय-आश्रम एक कुटुंब था और मैं उसमें पिताके स्थानपर था।

इसलिए मैंने सोचा कि इन नवयुवकोंके जीवन-निर्माणकी जवाब-देही भरसक मुझीको उठानी चाहिए ।

मेरी इस कल्पनामें तो बहुतेरे दोष तो थे ही । ये सब नवयुवक जन्म हीसे मेरे पास नहीं रहे थे । सब अलग-अलग वातावरणमे परवरिश पाये हुए थे । फिर सब एक-धर्मके भी नहीं थे । ऐसी स्थितिमें जो बालक-बालिका रह रहे थे उनका पिता अपनेको मानकर भी मै उनके साथ कैसे न्याय कर सकता था ?

परंतु मैने हृदयकी शिक्षाको अर्थात् चरित्रके विकासको हमेशा प्रथम स्थान दिया है, और वह यह विचार करके कि ऐसी शिक्षाका परिचय चाहे जिस उम्रमें और चाहे जैसे वातावरणमें परवरिश पाये बालक-बालिकाओंको थोड़ा-बहुत कराया जा सकता है, इन लड़के-लड़कियोंके साथ मै दिन-रात पिताके रूपमें रहता था । सच्चरित्रताको मैंने उनकी शिक्षाका आधार-स्तंभ माना था । बुनियाद यदि मजबूत है तो दूसरी बातें बालकोंको समय पाकर खुद अथवा दूसरोंकी सहायतासे मिल जाती हैं । फिर भी मै यह समझता था कि थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान भी जरूर कराना चाहिए । इसलिए पढ़ाई शुरू की और उसमें मैंने मि० केलनबेक तथा प्रागजी देसाईकी सहायता ली ।

मै शारीरिक शिक्षाकी भी आवश्यकता समझता था; परंतु वह शिक्षा तो उन्हें अपने-आप ही मिल रही थी; क्योंकि आश्रममे नौकर तो रक्खे ही नहीं गये थे । पाखानेसे लेकर खाना पकानेतकके सब काम आश्रमवासी ही करते थे । आश्रममे फलोंके वृक्ष बहुत थे । नई खेती भी करनी थी । आश्रममें मि० केलनबेक-को खेती का शौक था । वह खुद सरकारी आदर्श खेतोंमे कुछ समय रहकर खेतीका काम सीखे हुए थे । रोज कुछ समयतक उन सब छोटे-बड़े लोगोंको, जो रसोईके काम में लगे न होते, बगीचेमें काम करने जाना पड़ता था । इनमें बालकोंका एक बड़ा भाग था । बड़े गड्ढे खोदना, कलम करना, बोझ उठाकर ले जाना इत्यादि कामोंमें उनका शरीर सुगठित होता रहता । उसमें उनको आनंद भी आता था, जिससे उन्हें दूसरी कसरत या खेल की आवश्यकता नहीं रहती थी । काम करने में कुछ विद्यार्थी और कभी-कभी सब विद्यार्थी नखरे करते, काहिली भी कर जाते । बहुत बार मैं इन बातोंकी ओर आंखें मूंद लिया करता । कितनी ही बार उनसे सख्तीसे भी काम लेता । जब सख्ती करता और उन्हें देखता कि वे उकता उठे

तो भी मुझे नहीं याद पड़ता कि सख्तीका विरोध कभी उन्होंने किया हो। जब-जब मैं उनपर सख्ती करता तभी तब उन्हें समझाता और उन्हींसे कबूल करवाता कि कामके समय खेलना अच्छी आदत नहीं। वे उस समय तो समझ जाते; पर दूसरे ही क्षण भूल जाते। इस तरह काम चलता रहता; परंतु उनके शरीर बनते जाते थे।

आश्रममें शायद ही कोई बीमार होता। कहना होगा कि इसका बड़ा कारण था यहांकी आबहवा और अच्छा तथा नियमित भोजन। शारीरिक शिक्षाके सिलसिलेमें ही शारीरिक व्यवसायकी शिक्षाका भी समावेश कर लेता हूं। इरादा यह था कि सबको कुछ-न-कुछ उपयोगी धंधा सिखाना चाहिए। इसलिए मि० केलनबेक 'ट्रेपिस्ट मठ'में चप्पल गांठना सीख आये थे। उनसे मैंने सीखा और मैंने उन बालकोंको सिखाया, जो इस हुनरको सीखनेके लिए तैयार थे। मि० केलनबेकको बढ़ईगीरीका भी कुछ अनुभव था और आश्रममें बढ़ईका काम जाननेवाला एक साथी भी था। इसलिए यह काम भी थोड़े-बहुत अंशमें सिखाया जाता। रसोई बनाना तो लगभग सब ही लड़के सीख गये थे।

ये सब काम इन बालकोंके लिए नये थे। उन्होंने तो कभी स्वप्नमें भी यह न सोचा होगा कि ऐसा काम सीखना पड़ेगा, दक्षिण अफ्रीकामें हिंदुस्तानी बालकोंको केवल प्राथमिक अक्षर-ज्ञानकी ही शिक्षा दी जाती थी। टॉल्स्टाय-आश्रममें पहलेसे ही यह रिवाज डाला था कि जिन कामको हम शिक्षित लोग न करें वह बालकोंसे न कराया जाय और हमेशा उनके साथ-साथ कोई-न-कोई शिक्षक काम करता। इससे वे बड़ी उमंगके साथ सीख सके।

चारित्र्य और अक्षर-ज्ञानके संबंधमें अब इसके बाद।

३३

अक्षर-शिक्षा

पिछले अध्यायमें हमने यह देख लिया कि शारीरिक शिक्षा और उसके साथ कुछ हुनर सिखानेका काम टॉल्स्टाय-आश्रममें किस तरह शुरू हुआ। यद्यपि इस कामको मैं इस तरह नहीं कर सका कि जिससे मुझे संतोष होता फिर

भी उसमें थोड़ी-बहुत सफलता मिल गई थी; परंतु अक्षर-ज्ञान देना तो कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके प्रबंधके लिए आवश्यक सामग्री न थी। मेरे पास उतना समय भी नहीं था, जितना मैं देना चाहता था और न इस विषयका ज्ञान ही था। दिन-भर शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस समय जरा आराम करनेकी इच्छा होती उसी समय पढ़ाना पड़ता। इससे मैं तरोताजा रहनेके बदले ठोक-पीटकर सचेत भर रह सकता था। सुबहका समय खेती और घरके काममें जाता था, इसलिए दोपहरको भोजनके बाद ही पाठशाला शुरू होती। इसके सिवा दूसरा समय अनुकूल नहीं था। अक्षर-ज्ञानके लिए अधिक-से-अधिक तीन घंटे रक्खे थे। फिर वर्गोंमें हिंदी, तामिल, गुजराती और उर्दू इतनी भाषाएं सिखानी पड़तीं; क्योंकि यह नियम रक्खा गया था कि शिक्षण प्रत्येक बालकको उसकी भाषाके द्वारा ही दिया जाय, फिर अंग्रेजी भी सबको सिखाई ही जाती थी। इसके अलावा गुजराती, हिंदू बालकोंको कुछ संस्कृतका और सब लड़कोंको हिंदीका परिचय कराना, इतिहास, भूगोल और गणित सबको सिखाना, यह क्रम रक्खा गया था। तामिल और उर्दू पढ़ाना मेरे जिम्मे थे।

मुझे तामिलका ज्ञान जहाजों और जेलोंमें मिला था। उसमें भी पोप-कृत उत्तम 'तामिल-स्वयं-शिक्षक'से आगे मैं नहीं बढ़ सका था। उर्दू-लिपिका ज्ञान तो उतना ही था, जितना जहाजमें प्राप्त कर सका था। और खासकर अरबी-फारसी शब्दोंका ज्ञान भी उतना ही था, जितना कि मुसलमान मित्रोंके परिचयसे मैं प्राप्त कर चुका था। संस्कृत उतनी ही जानता था, जितनी कि मैंने हाईस्कूलमें पढ़ी थी और गुजराती भी स्कूली ही थी।

इतनी पूंजीसे मुझे अपना काम चलाना था और इसमें जो मेरे सहायक थे वे मुझसे भी कम जानते थे; परंतु देशी भाषाओंपर मेरा प्रेम, अपनी शिक्षा-शक्तिपर मेरा विश्वास, विद्यार्थियोंका अज्ञान और उससे भी बढ़कर उनकी उदारता, ये मेरे काममें सहायक साबित हुए।

इन तामिल विद्यार्थियोंका जन्म दक्षिण अफ्रीकामें ही हुआ था, इससे वे तामिल बहुत कम जानते थे। लिपिका तो उन्हें बिलकुल ही ज्ञान न था, इसलिए मेरा काम था उन्हें लिपि सिखाना और व्याकरणके मूलतत्त्वोंका ज्ञान कराना। यह सहज काम था। विद्यार्थी लोग इस बातको जानते थे कि तामिल बातचीतमें

वे मुझे सहज ही हरा सकते हैं और जब कोई तामिलभाषी मुझसे मिलने आते तो वे मेरे दुभाषियाका काम देते थे । परंतु मेरा काम चल निकला; क्योंकि विद्यार्थियोंसे मैंने कभी अपने अज्ञानको छिपानेका प्रयत्न नहीं किया । वे मुझे सब बातोंमें वैसा ही जान गये थे, जैसा कि वास्तवमें था । इससे पुस्तक-ज्ञानकी भारी कमी रहते हुए भी मैंने उनके प्रेम और आदरको कभी न हटने दिया था ।

परंतु मुसलमान बालकोंको उर्दू पढ़ाना इससे आसान था; क्योंकि वे लिपि जानते थे । उनके साथ तो मेरा इतना ही काम था कि उन्हें पढ़नेका शौक बढ़ा दूं और उनका खत अच्छा करवा दूं ।

मुख्यत: ये सब बालक निरक्षर थे और किसी पाठशालामें पढ़े न थे । पढ़ाते-पढ़ाते मैंने देखा कि उन्हें पढ़ानेका काम तो कम ही होता था । उनका आलस्य छुड़वाना, उनसे अपने-आप पढ़वाना, उनके सबक याद करनेकी चौकीदारी करना, यही काम ज्यादा था; पर इतनेसे मैं संतोष पाता था, और यही कारण है जो मैं भिन्न-भिन्न अवस्था और भिन्न-भिन्न विषयवाले विद्यार्थियोंको एक ही कमरेमें बैठाकर पढ़ा सकता था ।

पाठ्य-पुस्तकोंकी पुकार चारों ओरसे सुनाई पड़ा करती है; किंतु मुझे उनकी भी जरूरत न पड़ी । जो पुस्तकें थीं भी, मुझे नहीं याद पड़ता कि उनसे भी बहुत काम लिया गया हो । प्रत्येक बालकको बहुतेरी पुस्तकें देनेकी जरूरत मुझे नहीं दिखाई दी ।

मेरा यह खयाल रहा कि शिक्षक ही विद्यार्थियोंकी पाठ्य-पुस्तक है । शिक्षकोंने पुस्तकों द्वारा मुझे जो-कुछ पढ़ाया उसका बहुत थोड़ा अंश मुझे आज याद है; परंतु जबानी शिक्षा जिन लोगोंने दी है वह आज भी याद रह गई है । बालक आंखके द्वारा जितना ग्रहण करते हैं उससे अधिक कानसे सुना हुआ, और सो भी थोड़े परिश्रमसे ग्रहण कर सकते हैं । मुझे याद नहीं कि बालकोंको मैंने एक भी पुस्तक शुरूसे आखीरतक पढ़ाई हो ।

मैंने तो खुद जो-कुछ बहुतेरी पुस्तकोंको पढ़कर हजम किया था वही उन्हें अपनी भाषामें बताया और मैं मानता हूं कि वह उन्हें आज भी याद होगा । मैंने देखा कि पुस्तकपरसे पढ़ाया हुआ याद रखनेमें उन्हें दिक्कत होती थी; परंतु मेरा जबानी कहा हुआ याद रखकर वे मुझे फिर सुना देते थे । पुस्तक

पढ़नेमें उनका जी नहीं लगता था। जिस किसी दिन थकावटके कारण अथवा किसी दूसरी वजहसे मैं मंद न होता, अथवा मेरी पढ़ाई नीरस न होती, तो वे मेरी कही और सुनाई बातोंको चावसे सुनते और उसमें रस लेते। बीच-बीचमें जो शंकाएं उनके मनमें उठतीं उनसे मुझे उनकी ग्रहण-शक्तिका अंदाजा लग जाता।

३४

आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियोंके शरीर और मनकी तालीम देनेकी अपेक्षा आत्मापर संस्कार डालनेमें मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। उनकी आत्माका विकास करनेके लिए मैंने धार्मिक पुस्तकोंका बहुत कम सहारा लिया था। मैं यह जानता था कि विद्यार्थियोंको अपने-अपने धर्मोके मूल तत्वोंको समझ लेना चाहिए, अपने-अपने धर्म-ग्रंथोंका साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेकी यथाशक्ति सुविधा कर दी थी; परंतु उसे मैं बौद्धिक शिक्षाका अंग मानता हूं। आत्माकी शिक्षा एक अलग ही बात है और यह बात मैंने टॉल्स्टाय-आश्रममें बालकोंको पढ़ाना शुरू करनेसे पहले ही जान ली थी। आत्माके विकास करनेका अर्थ है 'चरित्र-निर्माण करना', 'ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना', 'आत्म-ज्ञान संपादन करना'। इस ज्ञानको प्राप्त करनेमें बालकोंको बहुत सहायता की आवश्यकता है और मैं मानता था कि उसके बिना दूसरा सब ज्ञान व्यर्थ है और हानिकारक भी हो सकता है।

हमारे समाजमें एक यह वहम घुस गया है कि आत्म-ज्ञान तो मनुष्यको चौथे आश्रम यानी संन्यास आश्रममें मिलता है; परंतु मेरी समझमें जो लोग चौथे आश्रमतक इस अमूल्य वस्तुको रोक सकते हैं उन्हे आत्म-ज्ञान तो नहीं मिलता, उलटे बुढ़ापा, और दूसरे रूपमें इससे भी अधिक दया-जनक बचपन प्राप्त करके, वे पृथ्वीपर भार-रूप होकर जीते हैं; ऐसा अनुभव सब जगह पाया जाता है। १९११–१२में शायद इन विचारोंको मैं प्रदर्शित न कर सकता; परंतु मुझे यह बात अच्छी तरहसे मालूम है कि उस समय मेरे विचार इसी तरहके थे।

अब सवाल यह है कि आत्मिक शिक्षा दी किस तरह जाय? इसके

लिए मैं बालकोंसे भजन गवाता था, नीतिकी पुस्तकें पढ़कर सुनाता था; परंतु उससे मनको संतोष नहीं होता था। ज्यों-ज्यों मैं उनके अधिक संपर्कमें आता गया त्यों-त्यों मैंने देखा कि वह ज्ञान पुस्तकों द्वारा नहीं दिया जा सकता। शारीरिक शिक्षा शरीरकी कसरत द्वारा दी जा सकती है और बौद्धिक शिक्षा बुद्धिकी कसरत द्वारा। उसी प्रकार आत्मिक शिक्षा आत्माकी कसरतके द्वारा ही दी जा सकती है और आत्माकी कसरत तो बालक शिक्षकके आचरणसे ही सीखते हैं। अतएव युवक विद्यार्थी चाहे हाजिर हों या न हों शिक्षकको तो सदा सावधान ही रहना चाहिए। लंकामें बैठा हुआ शिक्षक अपने आचरणके द्वारा अपने शिष्योंकी आत्मा-को हिला सकता है। यदि मैं खुद तो झूठ बोलूं, पर अपने शिष्योंको सच्चा बनानेका प्रयत्न करूं तो वह फिजूल होगा। डरपोक शिक्षक अपने शिष्योंको वीरता नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्योंको संयमकी शिक्षा कैसे दे सकता है? इसलिए मैंने देखा कि मुझे तो अपने साथ रहनेवाले युवक-युवतियोंके सामन एक पदार्थ-पाठ बन कर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य ही मेरे शिक्षक बन गये। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि इनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए और यह कहा जा सकता है कि टॉल्स्टाय-आश्रमके समयका मेरा बहुतेरा संयम इन युवक और युवतियोंका कृतज्ञ है।

आश्रममें एक ऐसा युवक था जो बहुत ऊधम करता था, झूठ बोलता था, किसीकी सुनता नहीं था, औरोंसे लड़ता था। एक दिन उसने बड़ा उपद्रव मचाया, मुझे बड़ी चिंता हुई; क्योंकि मैं विद्यार्थियोंको कभी सजा नहीं देता था, पर इस समय मुझे बहुत गुस्सा चढ़ रहा था। मैं उसके पास गया। किसी तरह वह समझाये नहीं समझता था। खुद मेरी आंखमें भी धूल झोंकनेकी कोशिश की। मेरे पास रूल पड़ी हुई थी, उठाकर उसके हाथपर दे मारी; पर मारते हुए मेरा शरीर कांप रहा था। मेरा यह खयाल है कि उसने यह देख लिया होगा। इससे पहले विद्यार्थियोंको मेरी तरफसे ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था। वह विद्यार्थी रो पड़ा, माफी मांगी; पर उसके रोनेका कारण यह नहीं कि उसपर मार पड़ी थी। वह मेरा मुकाबला करना चाहता तो इतनी ताकत उसमें थी। उसकी उमर १७ सालकी होगी, शरीर हट्टा-कट्टा था; पर मेरे उस रूल मारनेमें मेरे दुःखका अनुभव उसे हो गया था। इस घटनाके बाद वह मेरे सामने कभी नहीं हुआ; परंतु मुझे

इस प्रकार रूल मारनेका पश्चात्ताप आजतक होता रहता है ।

मैं समझता हूं कि उसे पीटकर मैंने उसे अपनी आत्माकी सात्विकता का नहीं, बल्कि अपनी पशुताका दर्शन कराया था ।

मैंने बच्चोंको पीट-पीटकर सिखानेका हमेशा विरोध किया है । सारी जिंदगीमें एक ही अवसर मुझे याद पड़ता है जब मैंने अपने एक लड़केको पीटा था । मेरा यह रूल मार देना उचित था या नहीं, इसका निर्णय मैं आजतक नहीं कर सका । इस दंडके औचित्यके विषयमें अब भी मुझे संदेह है; क्योंकि उसके मूल में क्रोध भरा हुआ था और मनमें सजा देनेका भाव था । यदि उसमें केवल मेरे दुःखका ही प्रदर्शन होता तो मैं उस दंडको उचित समझता; परंतु उसमें मिली-जुली भावनाएं थीं । इस घटनाके बाद तो मैं विद्यार्थियोंको सुधारनेकी और भी अच्छी तरकीब जान गया । यदि इस मौकेपर उस कलासे काम लिया होता तो क्या फल निकलता, यह मैं नहीं कह सकता । वह युवक तो इस बातको उसी समय भूल गया । मैं नहीं कह सकता कि वह बहुत सुधर गया होगा; परंतु इस प्रसंगने मेरे इन विचारोंको बहुत गति दे दी कि विद्यार्थीके प्रति शिक्षकका क्या धर्म है । उसके बाद भी युवकोंसे ऐसा ही कसूर हुआ है; परंतु मैंने दंडनीतिका प्रयोग कभी नहीं किया । इस तरह आत्मिक ज्ञान देनेका प्रयत्न करते हुए मैं खुद आत्माके गुणको अधिक जान सका ।

३५

अच्छे-बुरेका मेल

टॉल्स्टाय-आश्रममें मि० केलनबेकने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा कर दिया था । इसके पहले मैंने उसपर कभी विचार नहीं किया था । आश्रममें कितने ही लड़के बड़े ऊधमी और वाहियात थे, कई आवारा भी थे । उन्हींके साथ मेरे तीन लड़के रहते थे । दूसरे लड़के भी थे, जिनका कि लालन-पालन मेरे लड़कोंकी तरह हुआ था; परंतु मि० केलनबेकका ध्यान तो इसी बातकी तरफ था कि वे आवारा लड़के और मेरे लड़के एक साथ इस तरह नहीं रह सकते । एक दिन उन्होंने कहा— "आपका यह सिलसिला मुझे बिलकुल ठीक नहीं मालूम

होता। इन लड़कोंके साथ आपके लड़के रहेंगे तो इसका बुरा नतीजा होगा। उन आवारा लड़कोंकी सोहबत इनको लगेगी तो ये बिगड़े बिना कैसे रहेंगे ?"

इनको सुनकर मैं थोड़ी देरके लिए सोचमें पड़ा या नहीं, यह तो मुझे इस समय याद नहीं; परंतु अपना उत्तर मुझे याद है। मैंने जवाब दिया—"अपने लड़कों और इन आवारा लड़कोंमें मैं भेद-भाव कैसे रख सकता हूं? अभी तो दोनोंकी जिम्मेदारी मुझपर है। ये युवक मेरे बुलाये यहां आये हैं। यदि मैं रुपये दे दूं तो ये आज ही जोहान्सबर्ग जाकर पहलेकी तरह रहने लग जायंगे। आश्चर्य नहीं, यदि उनके माता-पिता यह समझते हों कि उन लड़कोंने यहां आकर मुझपर बहुत मिहरबानी की है। यहां आकर वे असुविधा उठाते हैं, यह तो आप और मैं दोनों देख रहे हैं। सो इस संबंधमें मेरा धर्म मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। मुझे उन्हें यहीं रखना चाहिए। मेरे लड़के भी उन्हीके साथ रहेंगे। फिर क्या आजसे ही मेरे लड़कोंको यह भेद-भाव सिखावें कि वे औरोंसे ऊंचे दर्जेके हैं? ऐसा विचार उनके दिमागमें डालना मानो उन्हें उलटे रास्ते ले जाना है। इस स्थितिमें रहनेसे उनका जीवन बनेगा, खुद-ब-खुद सारासारकी परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यों न माने कि उनमें यदि सचमुच कोई गुण होगा तो उलटा उसीका असर उनके साथियोंपर होगा? जो-कुछ भी हो; पर मैं तो उन्हें यहांसे नहीं हटा सकता और ऐसा करनेमें यदि कुछ जोखम है तो उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए।" इसपर मि० केलनबेक सिर हिलाकर रह गये।

यह नहीं कह सकते कि इस प्रयोगका नतीजा बुरा हुआ। मैं नहीं मानता था कि मेरे लड़कोंको इससे कुछ नुकसान हुआ। हां, लाभ होता हुआ तो अलबत्ता मैंने देखा है। उनमें बड़प्पनका यदि कुछ अंश रहा होगा तो वह सर्वथा चला गया, वे सबके साथ मिल-जुलकर रहना सीखे, वे तपकर ठीक हो गये।

इससे तथा ऐसे दूसरे अनुभवोंपरसे मेरा यह खयाल बना कि यदि मां-बाप ठीक-ठीक निगरानी रख सकें तो उनके भले और बुरे लड़कोंके एक साथ रहने और पढ़नेसे अच्छे लड़कोंका किसी प्रकार नुकसान नहीं हो सकता। अपने लड़कोंको संदूकमें बंदकर रखनेसे वे शुद्ध ही रहते हैं और बाहर निकलनेसे वे बिगड़ जाते हैं, यह कोई नियम नहीं है। हां, यह बात जरूर है कि जहां अनेक प्रकारके

बालक और बालिकाएं एक साथ रहते और पढ़ते हों, वहां मां-बापकी और शिक्षककी कड़ी जांच हो जाती है। उन्हें बहुत सावधान और जागरूक रहना पड़ता है।

३६

प्रायश्चित्तके रूपमें उपवास

इस तरह लड़के-लड़कियोंको सच्चाई और ईमानदारीके साथ परवरिश करने और पढ़ाने-लिखानेमें कितनी और कैसी कठिनाइयां हैं, इसका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और पालककी हैसियतसे मुझे उनके हृदयोंमें प्रवेश करना था। उनके सुख-दुखमें हाथ बंटाना था। उनके जीवनकी गुत्थियां सुलझानी थी। उनकी चढ़ती जवानीकी तरंगोंको सीधे रास्ते ले जाना था।

कितने ही कैदियोंके छुट जानेके बाद टॉल्स्टाय-आश्रममें थोड़े ही लोग रह गये। ये खासकरके फिनिक्स-वासी थे। इसलिए मैं आश्रमको फिनिक्स ले गया। फिनिक्समें मेरी कड़ी परीक्षा हुई। इन बचे हुए आश्रम-वासियोंको टॉल्स्टाय-आश्रमसे फिनिक्स-पहुंचाकर मैं जोहान्सबर्ग गया। थोड़े ही दिन जोहान्सबर्ग रहा होऊंगा कि मुझे दो व्यक्तियोंके भयंकर पतनके समाचार मिले। सत्याग्रह जैसे महान् संग्राममें यदि कहीं भी असफलता जैसा कुछ दिखाई देता तो उससे मेरे दिलको चोट नहीं पहुंचती थी, परंतु इस घटनाने तो मुझपर वज्र-प्रहार ही कर दिया! मेरे दिलमें घाव हो गया! उसी दिन मैं फिनिक्स रवाना हो गया। मि० केलनबेकने मेरे साथ आनेकी जिद पकड़ी। वह मेरी दयनीय स्थितिको समझ गये थे; उन्होंने साफ इन्कार कर दिया कि मैं आपको अकेला नहीं जाने दूंगा। इस पतनकी खबर मुझे उन्हींके द्वारा मिली थी।

रास्तेमें ही मैंने सोच लिया, अथवा यों कहूं कि मैंने ऐसा मान लिया कि इस अवस्थामें मेरा धर्म क्या है? मेरे मनने कहा कि जो लोग हमारी रक्षामें हैं उनके पतनके लिए पालक या शिक्षक किसी-न-किसी अंशमें जरूर जिम्मेदार हैं और इस दुर्घटनाके संबंधमें तो मुझे अपनी जिम्मेदारी साफ-साफ दिखाई दी। मेरी पत्नीने मुझे पहले ही चेताया था; पर मैं स्वभावत: विश्वासशील हूं, इससे मैंने उसकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया था। फिर मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि

ये पतित लोग मेरी व्यथाको तभी समझ सकेंगे, जब मैं इस पतनके लिए कुछ प्राय-श्चित्त करूंगा । इसीसे इन्हें अपने दोषोंका ज्ञान होगा और उसकी गंभीरताका कुछ अंदाज मिलेगा । इस कारण मैंने सात दिनके उपवास और साढ़े चार मासतक एकासना करनेका विचार किया । मि० केलनबेकने मुझे रोकनेकी बहुत कोशिश की, पर उनकी न चली । अंतको उन्होंने प्रायश्चित्तके औचित्यको माना और अपने लिए भी मेरे साथ व्रत रखनेपर जोर दिया । उनके निर्मल प्रेमको मैं न रोक सका । इस निश्चयके बाद ही तुरंत मेरा हृदय हलका हो गया, मुझे शांति मिली । दोष करनेवालोंपर जो-कुछ गुस्सा आया था वह दूर हुआ और उनपर मनमें दया ही आती रही ।

इस तरह ट्रेनमें ही अपने हृदयको हलका करके मैं फिनिक्स पहुंचा । पूछ-ताछकर जो-कुछ और बातें जाननी थीं वे जान लीं । यद्यपि इस मेरे उपवाससे सबको बहुत कष्ट हुआ, पर उससे वातावरण शुद्ध हुआ । पापकी भयंकरताको सबने समझा और विद्यार्थी-विद्यार्थिनियोंका और मेरा संबंध अधिक मजबूत और सरल हुआ ।

इस दुर्घटनाके सिलसिलेमें ही, कुछ समयके बाद, मुझे फिर चौदह उपवास करनेकी नौबत आई थी और मैं मानता हूं कि उसका परिणाम आशासे भी अधिक अच्छा निकला । परंतु इन उदाहरणोंसे मैं यह नहीं सिद्ध करना चाहता कि शिष्योंके प्रत्येक दोषके लिए हमेशा शिक्षकोंको उपवासादि करना ही चाहिए । पर मैं यह जरूर मानता हूं कि मौके-मौकेपर ऐसे प्रायश्चित्त-रूप उपवासके लिए अवश्य स्थान है । किंतु उसके लिए विवेक और अधिकारकी आवश्यकता है । जहां शिक्षक और शिष्य में शुद्ध प्रेम-बंधन नहीं, जहां शिक्षकको अपने शिष्यके दोषोंसे सच्ची चोट नहीं पहुंचती, जहां शिष्यके मनमें शिक्षकके प्रति आदर नहीं, वहां उपवास निरर्थक है और शायद हानिकारक भी हो । परंतु ऐसे उपवास या एकासनेके विषयमें भले ही कुछ शंका हो; किंतु शिष्यके दोषोंके लिए शिक्षक थोड़ा-बहुत जिम्मेदार जरूर है, इस विषयमें कुछ भी संदेह नहीं ।

ये सात उपवास और साढ़े चार मासके एकासने हमें कठिन न मालूम हुए । उन दिनों मेरा कोई भी काम बंद या मंद नहीं हुआ था । उस समय मैं केवल फलाहार ही करता था । चौदह उपवासका अंतिम भाग मुझे खूब कठिन

मालूम हुआ था। उस समय मैं रामनामका पूरा चमत्कार नहीं समझा था। इसलिए दुःख सहन करनेकी सामर्थ्य कम थी। उपवासके दिनोंमें जिस किसी तरह भी हो पानी खूब पीना चाहिए। इस बाह्य कलाका ज्ञान मुझे न था। इस कारण भी यह उपवास मेरे लिए भारी हुए। फिर पहलेके उपवास सुख-शांतिसे बीते थे, इसलिए चौदह उपवासके समय कुछ लापरवाह भी रहा था। पहले उपवासके समय हमेशा कूनेके कटि-स्नान करता; चौदह उपवासके समय दो-तीन दिन बाद वे बंद कर दिये गये। कुछ ऐसा हो गया था कि पानीका स्वाद ही अच्छा नहीं मालूम होता था, और पानी पीते ही जी मिचलाने लगता था, जिससे पानी बहुत कम पिया जाता था। इससे गला सूख गया, शरीर क्षीण हो गया और अंतके दिनोंमें बहुत धीमे बोल सकता था। इतना होते हुए भी लिखने-लिखानेका आवश्यक काम मैं आखिरी दिनतक कर सका था और रामायण इत्यादि अंततक सुनता था। कुछ प्रश्नों और विषयोंपर राय इत्यादि देनेका आवश्यक कार्य भी कर सकता था।

३७

गोखलेसे मिलने

यहां दक्षिण अफ्रीकाके कितने ही संस्मरण छोड़ देने पड़ते हैं। १९१४ ई०में जब सत्याग्रह-संग्रामका अंत हुआ तब गोखलेकी इच्छासे मैंने इंग्लैंड होकर देश आनेका विचार किया था। इसलिए जुलाई महीनेमें कस्तूरबाई, केलनबेक और मैं, तीनों विलायतके लिए रवाना हुए। सत्याग्रह-संग्रामके दिनोंमें मैंने रेलमें तीसरे दर्जेमें सफर शुरू कर दिया था। इस कारण जहाजमें भी तीसरे दर्जेके ही टिकट खरीदे, परंतु इस तीसरे दर्जेमें और हमारे तीसरे दर्जेमें बहुत अंतर है। हमारे यहां तो सोने-बैठनेकी जगह भी मुश्किलसे मिलती है और सफाईकी तो बात ही क्या पूछना! किंतु इसके विपरीत यहांके जहाजोंमें जगह काफी रहती थी और सफाईका भी अच्छा खयाल रक्खा जाता था। कंपनीने हमारे लिए कुछ और भी सुविधाएं कर दी थीं। कोई हमको दिक न करने पाये, इस खयालसे एक पाखानेमें ताला लगाकर उसकी ताली हमें सौंप दी गई थी; और

हम फलाहारी थे, इसलिए हमको ताजे और सूखे फल देनेकी आज्ञा भी जहाजके खजांचीको दे दी गई थी। मामूली तौरपर तीसरे दर्जेके यात्रियोंको फल कम ही मिलते हैं और मेवा तो कतई नहीं मिलता। पर इस सुविधाकी बदौलत हम लोग समुद्रपर बहुत शांतिसे १८ दिन बिता सके।

इस यात्राके कितने ही संस्मरण जानने योग्य हैं। मि० केलनबेकको दूरबीनोंका बड़ा शौक था। दो-एक कीमती दूरबीनें उन्होंने अपने साथ रक्खी थीं। इसके विषयमें रोज हमारे आपसमें बहस होती। मैं उन्हें यह जंचानेकी कोशिश करता कि यह हमारे आदर्शके और जिस सादगीको हम पहुंचना चाहते हैं उसके अनुकूल नहीं है। एक रोज तो हम दोनोंमें इस विषयपर गरमागरम बहस हो गई। हम दोनों अपनी कैबिनकी खिड़कीके पास खड़े थे।

मैंने कहा— "आपके और मेरे बीच ऐसे झगड़े होनेसे तो क्या यह बेहतर नहीं है कि इस दूरबीनको समुद्रमें फेंक दें और इसकी चर्चा ही न करें ?"

मि० केलनबेकने तुरंत उत्तर दिया— "जरूर इस झगड़ेकी जड़को फेंक ही दीजिए।"

मैंने कहा— "देखो, मैं फेंक देता हूं !"

उन्होंने बे-रोक उत्तर दिया— "मैं सचमुच कहता हूं, फेंक दीजिए।"

और मैंने दूरबीन फेंक दी। उसका दाम कोई सात पौंड था। परंतु उसकी कीमत उसके दामकी अपेक्षा मि० केलनबेकके उसके प्रति मोहमें थी। फिर भी मि० केलनबेकने अपने मनको कभी इस बातका दुःख न होने दिया। उनके मेरे बीच तो ऐसी कितनी ही बात हुआ करती थीं—यह तो उसका एक नमूना पाठकोंको दिखाया है।

हम दोनों सत्यको सामने रखकर ही चलनेका प्रयत्न करते थे। इस-लिए मेरे उनके इस संबंधके फलस्वरूप हम रोज कुछ-न-कुछ नई बात सीखते। सत्यका अनुसरण करते हुए हमारे क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही शमन हो जाते थे और यदि न होते तो सत्यकी प्राप्ति न होती थी। भले ही राग-द्वेषादिसे भरा मनुष्य सरल हो सकता है, वह वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध सत्यकी शोध करनेके मानी हैं रागद्वेषादि द्वंद्वसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।

जिन दिनों हमने यह यात्रा आरंभ की, पूर्वोक्त उपवासोंको पूरा किये मुझे बहुत समय नहीं बीता था। अभी मुझमें पूरी ताकत नहीं आई थी। जहाज-में डेकपर खूब घूमकर काफी खानेका और उसे पचानेका यत्न करता। पर ज्यों-ज्यों मैं अधिक घूमने लगा त्यों-त्यों पिंडलियोंमें ज्यादा दर्द होने लगा। विलायत पहुंचनेके बाद तो उलटा यह दर्द और बढ़ गया। वहां डाक्टर जीवराज मेहतासे मुलाकात हो गई थी। उपवास और इस दर्दका इतिहास सुनकर उन्होंने कहा कि "यदि आप थोड़े समयतक आराम नहीं करेंगे तो आपके पैरोंके सदाके लिए सुन्न पड़ जानेका अंदेशा है।" अब जाकर मुझे पता लगा कि बहुत दिनोंके उपवाससे गई ताकत जल्दी लानेका या बहुत खानेका लोभ नहीं रखना चाहिए। उपवास करनेकी अपेक्षा छोड़ते समय अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद इसमें अधिक संयम भी होना है।

मदीरामें हमें समाचार मिले कि लड़ाई अब छिड़ने ही वाली है। इंग्लैंडकी खाड़ीमें पहुंचते-पहुंचते खबर मिली कि लड़ाई शुरू हो गई और हम रोक लिये गये। पानीमें जगह-जगह गुप्त मार्ग बनाये गये थे और उनमेंसे होकर हमें साउ-देम्प्टन पहुंचते हुए एक-दो दिनकी देरी हो गई। युद्धकी घोषणा ४ अगस्तको हुई; हम लोग ६ अगस्तको विलायत पहुंचे।

३८

लड़ाईमें भाग

विलायत पहुंचनेपर खबर मिली कि गोखले तो पेरिसमें रह गये हैं, पेरिसके साथ आवागमनका संबंध बंद हो गया है और यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधारके लिए फ्रांस गये थे; किंतु बीचमें युद्ध छिड़ जानेसे वहीं अटक रहे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नहीं था और वह कब आवेंगे, यह कोई कह नहीं सकता था।

अब सवाल यह खड़ा हुआ कि इस दरमियान करें क्या? इस लड़ाईके संबंधमें मेरा धर्म क्या है? जेलके मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायतमें बैरिस्टरीका अध्ययन कर रहे थे। सोराबजी को एक श्रेष्ठ सत्याग्रही

के तौरपर इंग्लैंडमें बैरिस्टरीकी तालीमके लिए भेजा था कि जिससे दक्षिण अफ्रीका में आकर मेरा स्थान ले लें। उनका खर्च डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनके और उनके मार्फत डॉक्टर जीवराज मेहता इत्यादिके साथ, जो विलायतमें पढ़ रहे थे, इस विषयपर सलाह-मशवरा किया। विलायतमें उस समय जो हिंदुस्तानी लोग रहते थे उनकी एक सभा की गई और उसमें मैंने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा यह मत हुआ कि विलायतमें रहनेवाले हिंदुस्तानियोंको इस लड़ाईमें अपना हिस्सा देना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थी लड़ाईमें सेवा करनेका अपना निश्चय प्रकाशित कर चुके हैं। हम हिंदुस्तानियोंको भी इससे कम सहयोग न देना चाहिए। मेरी इस बातके विरोधमें इस सभामें बहुतेरी दलीलें पेशकी गईं। कहा गया कि हमारी और अंग्रेजोंकी परिस्थितिमें हाथी-घोड़े जितना अंतर है—एक गुलाम दूसरा सरदार। ऐसी स्थितिमें गुलाम अपने प्रभुकी विपत्तिमें उसे स्वेच्छा-पूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामीमेंसे छूटना चाहता है उसका धर्म क्या यह नहीं कि प्रभुकी विपत्तिसे लाभ उठाकर अपना छुटकारा कर लेनेकी कोशिश करे? पर यह दलील मुझे उस समय कैसे पट सकती थी? यद्यपि मैं दोनों की स्थितिका महान् अंतर समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिल्कुल गुलामकी स्थिति नहीं मालूम होती थी। उस समय मैं यह समझे हुए था कि अंग्रेजी शासन-पद्धतिकी अपेक्षा कितने ही अंग्रेज अधिकारियोंका दोष अधिक था और उस दोषको हम प्रेमसे दूर कर सकते हैं। मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजोंके द्वारा और उनकी सहायतासे हम अपनी स्थितिका सुधार चाहते हों तो हमें उनकी विपत्तिके समय सहायता पहुंचाकर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। ब्रिटिश शासन-पद्धतिको मैं दोषमय तो मानता था, परंतु आजकी तरह वह उस समय असह्य नहीं मालूम होती थी। अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धतिपरसे मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्यकी सहायता नहीं कर सकता, इसी तरह उस समय जिन लोगोंका विश्वास इस पद्धतिपरसे ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी अधिकारियोंपरसे भी उठ चुका था, वे मदद करनेके लिए कैसे तैयार हो सकते थे?

उन्होंने इस समयको प्रजाकी मांगें जोरके साथ पेश करने और शासनमें सुधार करनेकी आवाज उठानेके लिए बहुत अनुकूल पाया। किंतु मैंने इसे अंग्रेजों-

की आपत्तिका समय समझकर मांगें पेश करना उचित न समझा और जबतक लड़ाई चल रही है तबतक हक मांगना मुल्तवी रखनेके संयममें सभ्यता और दीर्घ-दृष्टि समझी। इसलिए मै अपनी सलाहपर मजबूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वयं-सेवकोंमें नाम लिखाना हो वे लिखा दें। नाम अच्छी संख्यामें आये। उनमें लगभग सब प्रांतों और सब धर्मोंके लोगोंके नाम थे।

फिर लार्ड क्रूके नाम एक पत्र भेजा गया। उसमें हम लोगोंने अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हिंदुस्तानियोंके लिए घायल सिपाहियोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेकी तालीमकी यदि आवश्यकता दिखाई दे तो उसके लिए हम तैयार हैं। कुछ सलाह-मशवरा करनेके बाद लार्ड क्रूने हम लोगोंका प्रस्ताव स्वीकार किया और इस बातके लिए हमारा अहसान माना कि हमने ऐसे ऐन मौकेपर साम्राज्यकी सहायता करनेकी तैयारी दिखाई।

जिन-जिन लोगोंने अपने नाम लिखवाये थे उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टर कैंटली-की देख-रेखमें घायलोंकी शुश्रूषा करनेकी प्राथमिक तालीम लेना शुरू किया। छः सप्ताहका छोटासा शिक्षा-क्रम रक्खा गया था और इतने समयमें घायलोंको प्राथमिक सहायता करनेकी सब विधियां सिखा दी जाती थीं। हम कोई ८० स्वयंसेवक इस शिक्षा-क्रममें सम्मिलित हुए। छः सप्ताहके बाद परीक्षा ली गई तो उसमें सिर्फ एक ही शख्स फेल हुआ। जो लोग पास हो गये उनके लिए सरकार-की ओरसे कवायद वगैरा सिखानेका प्रबंध हुआ। कवायद सिखानेका भार कर्नल बेकरको सौंपा गया और वह इस टुकड़ीके मुखिया बनाये गये।

इस समय विलायतका दृश्य देखने लायक था। युद्धसे लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब उसमें यथाशक्ति मदद करनेके लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था, वे नवयुवक सैनिक शिक्षा ग्रहण करने लगे। परंतु अशक्त बूढ़े और स्त्री आदि भी खाली हाथ न बैठे रहे। उनके लिए भी वे चाहें तो काम था ही। वे युद्धमें घायल सनिकके लिए कपड़ा इत्यादि सीने-काटनेका काम करने लगे। वहां स्त्रियोंका 'लाइसियम' नामक एक क्लब है। उसके सभ्योंने सैनिक-विभागके लिए आवश्यक कपड़े यथा-शक्ति बनानेका जिम्मा ले लिया। सरोजिनी देवी भी इसकी सभ्य थीं। उन्होंने इसमें खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा यह प्रथम ही परिचय था। उन्होंने कपड़े ब्योंत व काटकर मेरे

सामने उनका एक ढेर रख दिया और कहा कि जितने सिला सको, उतने सिलाकर मुझे दे देना। मैंने उनकी इच्छाका स्वागत करते हुए घायलोंकी शुश्रूषाकी उस तालीमके दिनोंमें जितने कपड़े तैयार हो सके उतने करके दे दिये।

३६

धर्मकी समस्या

युद्धमें काम करनेके लिए हम कुछ लोगोंने सभा करके जो अपने नाम सरकारको भेजे, इसकी खबर दक्षिण अफ्रीका पहुंचते ही वहांसे दो तार मेरे नाम आये। उनमेंसे एक पोलकका था। उन्होंने पूछा था— "आपका यह कार्य अहिंसा-सिद्धांतके खिलाफ तो नहीं है ?"

मैं ऐसे तार की आशंका कर ही रहा था; क्योंकि 'हिंद स्वराज्य'में मैंने इस विषयकी चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रीकामें तो मित्रोंके साथ उसकी चर्चा निरंतर हुआ ही करती थी। हम सब इस बातको मानते थे कि युद्ध अनीति-मय है। ऐसी हालतमें और जबकि मैं अपनेपर हमला करनेवालेपर भी मुकदमा चलानेके लिए तैयार नहीं हुआ था तो फिर जहां दो राज्योंमें युद्ध चल रहा हो और जिसके भले या बुरे होनेका मुझे पता न हो उसमें मैं सहायता कैसे कर सकता हूं, यह प्रश्न था। हालांकि मित्र लोग यह जानते थे कि मैंने बोअर-संग्राममें योग दिया था तो भी उन्होंने यह मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारोंमें परिवर्तन हो गया होगा।

और बात दरअसल यह थी कि जिस विचार-सरणिके अनुसार मै बोअर-युद्धमें सम्मिलित हुआ था उसीका अनुसरण इस समय भी किया गया था। मैं ठीक-ठीक देख रहा था कि युद्धमें शरीक होना अहिंसाके सिद्धांतके अनुकूल नहीं है; परंतु बात यह है कि कर्त्तव्यका भान मनुष्यको हमेशा दिनकी तरह स्पष्ट नहीं दिखाई देता। सत्यके पुजारीको बहुत बार इस तरह गोते खाने पड़ते हैं।

अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसाकी होलीमें फंसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते, बैठते-उठते, तमाम

क्रियाओंमें इच्छासे या अनिच्छासे कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसासे छूट जानेके वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावनामें केवल अनुकंपा हो, वह सूक्ष्म जंतुका भी नाश न चाहता हो और उसे बचानेका यथाशक्ति प्रयास करता हो तो समझना चाहिए कि वह अहिंसाका पुजारी है। उसकी प्रवृत्तिमें निरंतर संयमकी वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरंतर बढ़ती रहेगी, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि कोई भी देवधारी बाह्य हिंसासे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता ।

फिर अहिंसाके पेटमें ही अद्वैत भावनाका भी समावेश है। और यदि प्राणिमात्रमें भेद-भाव हो तो एकके पापका असर दूसरेपर होता है और इस कारण भी मनुष्य हिंसासे सोलहों आना अछूता नहीं रह सकता। जो मनुष्य समाजमें रहता है वह, अनिच्छासे ही क्यों न हो, मनुष्य-समाजकी हिंसाका हिस्सेदार बनता है। ऐसी दशामें जब दो राष्ट्रोंमें युद्ध हो तो अहिंसाके अनुयायी व्यक्तिका यह धर्म है कि वह उस युद्धको रुकवाये। परंतु जो इस धर्मका पालन न कर सके, जिसे विरोध करनेकी सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करनेका अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्यमें शामिल हो सकता है और ऐसा करते हुए भी उसमेंसे अपनेको, अपने देशको और संसारको निकालनेकी हार्दिक कोशिश करता है ।

मैं चाहता था कि अंग्रेजी राज्यके द्वारा अपनी, अर्थात् अपने राष्ट्रकी, स्थितिका सुधार करूं। पर मैं तो इंग्लैंडमें बैठा हुआ इंग्लैंडकी नौ-सेनासे सुरक्षित था। उस बलका लाभ इस तरह उठाकर मैं उसकी हिंसकतामें सीधे-सीधे भागी हो रहा था। इसलिए यदि मुझे इस राज्यके साथ किसी तरह संबंध रखना हो, इस साम्राज्यके झंडेके नीचे रहना हो तो या तो मुझे युद्धका खुल्लमखुल्ला विरोध करके जबतक उस राज्यकी युद्ध-नीति नहीं बदल जाय तबतक सत्याग्रह-शास्त्रके अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए, अथवा भंग करने योग्य कानूनोंका सविनय भंग करके जेलका रास्ता लेना चाहिए, या उसके युद्ध-कार्यमें शरीक होकर उसका मुकाबला करनेकी सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। विरोधकी शक्ति मेरे अंदर थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्धमें शरीक होनेका एक रास्ता ही मेरे लिए खुला था ।

जो मनुष्य बंदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनोंमें अहिंसाकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता । जो आदमी डाकुओंकी टोलीमें उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करनेका काम करता है, वह उस डकैतीके लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू । इस दृष्टिसे जो मनुष्य युद्धमें घायलोंकी सेवा करता है, वह युद्धके दोषोंसे मुक्त नहीं रह सकता ।

पोलकका तार आनेके पहले ही मेरे मनमें यह सब विचार उठ चुके थे । उनका तार आते ही मैंने कुछ मित्रोंसे इसकी चर्चा की । मैंने अपना धर्म समझकर युद्धमें योग दिया था और आज भी मैं विचार करता हूं तो इस विचार-सरणिमें मुझे दोष नहीं दिखाई पड़ता । ब्रिटिश-साम्राज्यके संबंधमें उस समय जो विचार मेरे थे उनके अनुसार ही मैं युद्धमें शरीक हुआ था और इसलिए मुझे उसका कुछ भी पश्चात्ताप नहीं है ।

मैं जानता हूं कि अपने इन विचारोंका औचित्य मैं अपने समस्त मित्रोंके सामने उस समय भी सिद्ध नहीं कर सका था । यह प्रश्न सूक्ष्म है । इसमें मत-भेदके लिए गुंजाइश है । इसीलिए अहिंसा-धर्मको माननेवाले और सूक्ष्म रीतिसे उसका पालन करनेवालोंके सामने जितनी हो सकती है खोलकर मैंने अपनी राय पेश की है । सत्यका आग्रही व्यक्ति रूढ़िका अनुसरण करके ही हमेशा कार्य नहीं करता, न वह अपने विचारोंपर हठ-पूर्वक आरूढ़ रहता है । वह हमेशा उसमें दोष होनेकी संभावना मानता है और उस दोषका ज्ञान हो जानेपर हर तरहकी जोखिम उठाकर भी उसको मंजूर करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है ।

४०

सत्याग्रहकी चकमक

इस तरह अपना धर्म समझकर मैं युद्धमें पड़ा तो सही, पर मेरे नसीबम यह नहीं बदा था कि उसमें सीधा भाग लूं, बल्कि ऐसे नाजुक मौकेपर सत्याग्रहतक

करनेकी नौबत आ गई।

मैं लिख चुका हूं कि जब हमारे नाम मंजूर हो गये और लिखे जा चुके तब हमें पूरी कवायद सिखानेके लिए एक अधिकारी नियुक्त किया गया। हम सबकी यह समझ थी कि यह अधिकारी महज युद्धकी तालीम देनेके लिए हमारे मुखिया थे, शेष सब बातोंमें टुकड़ीका मुखिया मैं था। मेरे साथियोंके प्रति मेरी जवाबदेही थी और उनकी मेरे प्रति। अर्थात् हम लोगोंका खयाल था कि उस अधिकारीको सारा काम मेरी मार्फत लेना चाहिए। परंतु जिस तरह 'पूतके पांव पालनेमें ही नजर आ जाते हैं' उसी तरह उस अधिकारीकी आंख हमें पहले ही दिन कुछ और ही दिखाई दी। सोराबजी बहुत होशियार आदमी थे। उन्होंने मुझे चेताया, "भाई साहब, सम्हल कर रहना। यह आदमी तो मालूम होता है अपनी जहांगीरी चलाना चाहता है। हमें उसका हुक्म उठानेकी जरूरत नहीं है। हम उसे अपना एक शिक्षक समझते हैं। पर जो यह नौजवान आये हैं वे तो हमपर हुक्म चलाने आये हैं ऐसा मैं देखता हूं।" यह नवयुवक आक्सफोर्डके विद्यार्थी थे और हमें सिखानेके लिए आये थे। उन्हें बड़े अफसरने हमारे ऊपर नायब अफसर मुकर्रर किया था। मै भी सोराबजीकी बताई बात देख चुका था। मैंने सोराबजी को तसल्ली दिलाई और कहा— "कुछ फिकर मत करो।" परंतु सोराबजी ऐसे आदमी नहीं थे, जो झट मान जाते।

"आप तो हैं भोले-भंडारी। ये लोग मीठी-मीठी बातें बनाकर आप-को धोखा देंगे और जब आपकी आंखें खुलेंगी तब कहोगे— 'चलो, अब सत्याग्रह करो।' और फिर आप हमें परेशान करेंगे।" सोराबजीने हंसते हुए कहा।

मैंने जवाब दिया— "मेरा साथ करनेमें सिवा परेशानीके और क्या अनुभव हुआ है? और सत्याग्रहीका जन्म तो धोखा खानेके लिए ही हुआ है। इसलिए परवा नहीं, अगर ये साहब मुझे धोखा दे दें। मैंने आपसे बीसों बार नहीं कहा है कि अंतको वही धोखा खाता है, जो दूसरोंको धोखा देता है?"

यह सुनकर सोराबजीने कहकहा लगाया— "तो अच्छी बात है। लो, धोखा खाया करो। इस तरह किसी दिन सत्याग्रहमें मर मिटोगे और साथ-साथ हमको भी ले डूबोगे।"

इन शब्दोंको लिखते हुए मुझे स्वर्गीय मिस हाबहाउसके असहयोगके

दिनोंमें लिखे शब्द याद आते हैं— "आपको सत्यके लिए किसी दिन फांसी-पर लटकना पड़े तो आश्चर्य नहीं। ईश्वर आपको सन्मार्ग दिखावे और आपकी रक्षा करे।" सोराबजीके साथ यह बातचीत तो उस समय हुई थी जब उस अधिकारी-की नियुक्तिका आरंभ-काल था। परंतु उस आरंभ और अंतका अंतर थोड़े ही दिनका था। इसी बीच मुझे पसलीमें वरमकी बीमारी जोरके साथ पैदा हो गई थी।

चौदह दिनके उपवासके बाद अभी मेरा शरीर पनपा नहीं था, फिर भी मैं कबायदमें पीछे नहीं रहता था। और कई बार घरसे कबायदके मैदानतक पैदल जाता था। कोई दो मील दूर वह जगह थी और उसीके फलस्वरूप अन्तमें मुझे खटिया पकड़नी पड़ी थी।

इसी स्थितिमें मुझे कैंपमें जाना पड़ता था। दूसरे लोग तो वहां रह जाते थे और मैं शामको घर वापस आ जाता। यहीं सत्याग्रहका अफसर खड़ा हो गया था। उस अफसरने अपनी हुकूमत चलाई। उसने हमें साफ-साफ कह दिया कि हर बातमें मैं ही आपका मुखिया हूं। उसने अपनी अफसरीके दो-चार पदार्थ पाठ (नमूने) भी हमें बताये। सोराबजी मेरे पास पहुंचे। वह इस 'जहां-गीरी'को बरदाश्त करनेके लिए तैयार न थे। उन्होंने कहा— "हमें सब हुक्म आपकी मार्फत ही मिलने चाहिए। अभी तो हम तालीमी छावनीमें हैं; पर अभीसे देखते हैं कि बेहूदे हुक्म छूटने लगे हैं। उन जवानोंमें और हममें बहुतेरी बातोंमें भेद-भाव रक्खा जाता है। यह हमें बरदाश्त नहीं हो सकता। इसकी व्यवस्था तुरंत होनी चाहिए, नहीं तो हमारा सब काम बिगड़ जायगा। ये सब विद्यार्थी तथा दूसरे लोग, जो इस काममें शरीक हुए हैं, एक भी बेहूदा हुक्म बरदाश्त न करेंगे। स्वाभिमानकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे जो काम हमने अंगीकार किया है, उसमें यदि हमें अपमान ही सहन करना पड़े तो यह नहीं हो सकता।"

मैं उस अफसरके पास गया और मेरे पास जितनी शिकायतें आई थीं, सब उसे सुना दीं। उसने कहा— "ये सब शिकायतें मुझे लिखकर दे दो।" साथ ही उसने अपना अधिकार भी जताया। कहा— "शिकायत आपके मार्फत नहीं हो सकती। उन नायब अफसरोंके मार्फत मेरे पास आनी चाहिए।" मैंने उत्तरमें कहा— "मुझे अफसरी नहीं करना है। फौजी रूपमें तो मैं एक मामूली सिपाही ही हूं। परंतु हमारी टुकड़ीके मुखियाकी हैसियतसे आपको

मुझे उनका प्रतिनिधि मंजूर करना चाहिए।" मैंने अपने पास आई शिकायतें भी पेश कीं— "नायब अफसर हमारी टुकड़ीसे बिना पूछे ही मुकर्रर किये गये हैं और उनके व्यवहारसे हमारे अंदर बहुत असंतोष फैल गया है। इसलिए उनको वहांसे हटा दिया जाय और हमारी टुकड़ीको अपना मुखिया चुननेका अधिकार दिया जाय।"

पर यह बात उनको जंची नहीं। उन्होंने मुझसे कहा कि टुकड़ीका अपने अफसरोंको चुनना ही फौजी कानूनके खिलाफ है और यदि उस अफसरको हटा दिया जाय तो टुकड़ीमें आज्ञा-पालनका नाम-निशान न रह जायगा।

इसपर हमने अपनी टुकड़ीकी सभा की और उसमें सत्याग्रहके गंभीर परिणामोंकी ओर सबका ध्यान दिलाया। लगभग सबने सत्याग्रहकी सौगंध खाई। हमारी सभाने प्रस्ताव किया कि यदि ये वर्तमान अफसर नहीं हटाये गये और टुकड़ीको अपना मुखिया पसंद न करने दिया गया तो हमारी टुकड़ी कवायदमें और कैंपमें जाना बंद कर देगी।

अब मैंने अफसरको एक पत्र लिखकर उसमें उनके रवैयेपर अपना घोर असंतोष प्रकट किया और कहा कि मुझे अधिकारकी जरूरत नहीं है। मैं तो केवल सेवा करके इस कामको सांगोपांग पूरा करना चाहता हूं। मैंने उन्हें यह भी बताया कि बोअर-संग्राममें मैंने कभी अधिकार नहीं पाया था। फिर भी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ीमें कभी झगड़ेका मौका नहीं आया था और वह मेरे द्वारा ही मेरी टुकड़ीकी इच्छा जानकर सब काम करते थे। इस पत्रके साथ उस प्रस्तावकी नकल भी भेज दी थी।

किंतु उस अफसरपर इसका कुछ भी असर न हुआ। उसका तो उलटा यह खयाल हुआ कि सभा करके हमारी टुकड़ीने जो यह प्रस्ताव पास किया है, वह भी सैनिक नियम और मर्यादाका भारी उल्लंघन था।

उसके बाद भारत-मंत्रीको मैंने एक पत्रमें ये सब बातें लिख दीं और हमारी सभाका प्रस्तावभी उनके पास भेज दिया।

भारत-मंत्रीने मुझे उत्तरमें सूचित किया कि दक्षिण अफ्रीकाकी हालत दूसरी थी। यहां तो टुकड़ीके बड़े अफसरको नायब अफसर मुकर्रर करनेका हक है। फिर भी भविष्यमें वे अफसर आपकी सिफारिशोंपर ध्यान दिया करेंगे।

उसके बाद तो उनके-मेरे बीच बहुत पत्र-व्यवहार हुआ है। परंतु उन सब कड़ुए अनुभवोंका वर्णन यहां करके इस अध्यायको में लंबा करना नहीं चाहता।

परंतु इतना तो कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि वे अनुभव वैसे ही थे, जैसे कि रोज हमें हिंदुस्तानमें होते रहते हैं। अफसरोंने कहीं धमकाकर, कहीं तरकीबसे काम लेकर, हमारे अंदर फूट डाल दी। कसम खानेके बाद भी कितने ही लोग छल और बलके शिकार हो गये।

इसी बीच नेटली अस्पतालमें एकाएक घायल सिपाही अकल्पित संख्यामें आ पहुंचे और इनकी शुश्रूषाके लिए हमारी सारी टुकड़ीकी जरूरत पड़ी। अफसर जिनको अपनी ओर कर सके थे वे तो नेटली पहुंच गये पर दूसरे लोग न गये। इंडिया आफिसको यह बात अच्छी न लगी। मैं था तो बीमार और बिछौनेपर पड़ा रहता था; परंतु टुकड़ीके लोगोंसे मिलता रहता था। मि० राबर्ट्‌ससे मेरा काफी परिचय हो गया था। वह मुझसे मिलने आ पहुंचे और जो लोग बाकी रह गये थे उन्हें भी भेजनेका आग्रह करने लगे। उनका सुझाव यह था कि वे एक अलग टुकड़ी बनाकर जावें। नेटली अस्पतालमें तो टुकड़ीको वहींके अफसरके अधीन रहना होगा, इसलिए आपकी मानहानिका भी सवाल नहीं रहेगा। इधर सरकारको उनके जानेसे संतोष हो जायगा और उधर जो बहुतेरे जख्मी एकाएक आ गये हैं, उनकी भी शुश्रूषा हो जायगी। मेरे साथियों और मुझको यह तजवीज पसंद हुई और जो विद्यार्थी रह गये थे वे भी नेटली चले गये। अकेला मैं ही दांत पीसता बिछौनेमें पड़ा रहा।

४१

गोखलेकी उदारता

ऊपर मैं लिख आया हूं कि विलायतमें मुझे पसलीके वरमकी शिकायत हो गई थी। इस बीमारीके वक्त गोखले विलायतमें आ पहुंचे थे। उनके पास मैं व केलनबेक हमेशा जाया करते। उनसे अधिकांशमें युद्धकी ही बातें हुआ करतीं। जर्मनीका भूगोल केलनबेककी जबानपर था, यूरोपकी यात्रा भी उन्होंने बहुत की थी, इसलिए वह नक्शा फैलाकर गोखलेको लड़ाईकी छावनियां दिखाते।

जब मैं बीमार हुआ था तब मेरी बीमारी भी हमारी चर्चाका एक विषय हो गई थी। मेरे भोजनके प्रयोग तो उस समय भी चल ही रहे थे। उस समय मैं मूंगफली, कच्चे और पक्के केले, नीबू, जैतूनका तेल, टमाटर, अंगूर इत्यादि चीजें खाता था। दूध, अनाज, दाल वगैरा चीजें बिलकुल न लेता था। मेरी देखभाल जीवराज मेहता करते थे। उन्होंने मुझे दूध और अनाज लेनेपर बड़ा जोर दिया। इसकी शिकायत ठेठ गोखलेतक पहुंची। फलाहार-संबंधी मेरी दलीलोंके वह बहुत कायल न थे। तंदुरुस्तीकी हिफाजतके लिए डॉक्टर जो-जो बतावे वह लेना चाहिए, यही उनका मत था।

गोखलेके आग्रहको न मानना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी। जब उन्होंने बहुत ही जोर दिया तब मैंने उनसे २४ घंटेतक विचार करनेकी इजाजत मांगी। केलनबेक और मैं घर आये। रास्तेमें मैंने उनके साथ चर्चा की कि इस समय मेरा क्या धर्म है। मेरे प्रयोगमें वह मेरे साथ थे। उन्हें यह प्रयोग पसंद भी था। परंतु उनका रुख इस बातकी तरफ था कि यदि स्वास्थ्यके लिए मैं इस प्रयोगको छोड़ दूं तो ठीक होगा। इसलिए अब अपनी अंतरात्माकी आवाजका फैसला लेना ही बाकी रह गया था।

सारी रात मैं विचारमें डूबा रहा। अब यदि मैं अपना सारा प्रयोग छोड़ दूं तो मेरे सारे विचार और मंतव्य धूलमें मिल जाते थे। फिर उन विचारोंमें मुझे कहीं भी भूल न मालूम होती थी। इसलिए प्रश्न यह था कि किस अंशतक गोखलेके प्रेमके अधीन होना मेरा धर्म है, अथवा शरीर-रक्षाके लिए ऐसे प्रयोग किस तरह छोड़ देना चाहिए। अंतको मैंने यह निश्चय किया कि धार्मिक दृष्टिसे प्रयोगका जितना अंश आवश्यक है उतना रक्खा जाय और शेष बातोंमें डाक्टरकी आज्ञाका पालन किया जाय। मेरे दूध त्यागनेमें धर्म-भावनाकी प्रधानता थी। कलकत्तेमें गाय-भैंसका दूध जिन घातक विधियों द्वारा निकाला जाता है उसका दृश्य मेरी आंखोके सामने था। फिर यह विचार भी मेरे सामने था कि मांसकी तरह पशुका दूध भी मनुष्यकी खूराक नहीं हो सकती। इसलिए दूध-त्यागका दृढ़ निश्चय करके मैं सुबह उठा। इस निश्चयसे मेरा दिल बहुत हलका हो गया था, किंतु फिर भी गोखलेका भय तो था ही। लेकिन साथ ही मुझे यह भी विश्वास था कि वह मेरे निश्चयको उलटनेका उद्योग न करेंगे।

शामको 'नेशनल लिबरल क्लब'में हम उनसे मिलने गये। उन्होंने तुरंत पूछा— "क्यों डाक्टरकी सलाहके अनुसार ही चलनेका निश्चय किया है न ?"

मैंने धीरेसे जवाब दिया— "और सब बातें मैं मान लूंगा, परंतु आप एक बातपर जोर न दीजिएगा। दूध और दूधकी बनी चीजें और मांस इतनी चीजें मैं न लूंगा। और इनके न लेनेसे यदि मौत भी आती हो तो मैं समझता हूं उसका स्वागत कर लेना मेरा धर्म है।"

"आपने यह अंतिम निर्णय कर लिया है ?" गोखलेने पूछा।

"मै समझता हूं कि इसके सिवा मैं आपको दूसरा उत्तर नहीं दे सकता। मैं जानता हूं कि इससे आपको दुःख होगा। परंतु मुझे क्षमा कीजिएगा।" मैंने जवाब दिया।

गोखलेने कुछ दुःखसे, परंतु बड़े ही प्रेमसे कहा— "आपका यह निश्चय मुझे पसंद नहीं। मुझे इसमें धर्मकी कोई बात नहीं दिखाई देती। पर अब मैं इस बातपर जोर न दूंगा।" यह कहते हुए जीवराज मेहताकी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा— "अब गांधीको ज्यादा दिक न करो। उन्होंने जो मर्यादा बांध ली है उसके अंदर इन्हें जो-जो चीजें दी जा सकती हैं वही देनी चाहिए।"

डाक्टरने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; पर वह लाचार थे। मुझे मूंगका पानी लेनेकी सलाह दी। कहा— "उसमें हींगका बघार दे लेना।" मैंने इसे मंजूर कर लिया। एक-दो दिन मैंने वह पानी लिया भी; परंतु इससे उलटे मेरा दर्द बढ़ गया। मुझे वह मुआफिक नहीं हुआ। इससे मैं फिर फलाहार पर आ गया। ऊपरके इलाज तो डाक्टरने जो मुनासिब समझे किये ही। उससे अलबत्ता कुछ आराम था। परंतु मेरी इन मर्यादाओंपर वह बहुत बिगड़ते। इसी बीच गोखले देस (भारतवर्ष) को रवाना हुए, क्योंकि वह लंदनका अक्तूबर-नवंबरका कोहरा सहन नहीं कर सके।

४२

इलाज क्या किया ?

पसलीका दर्द मिट नहीं रहा था। इससे मेरी चिंता बढ़ी। पर मैं इतना जरूर जानता था कि दवा-दारूसे नहीं, बल्कि भोजनमें परिवर्तन करनेसे

और कुछ बाह्य उपचारसे बीमारी जरूर अच्छी हो जानी चाहिए ।

१८९० ई०में मैं डाक्टर एलिन्सनसे मिला था, जोकि फलाहारी थे और भोजनके परिवर्तन द्वारा ही बीमारियोंका इलाज करते थे । मैंने उन्हें बुलाया । उन्होंने आकर मेरा शरीर देखा । तब मैंने उनसे अपने दूधके विरोधका जिक्र किया । उन्होंने मुझे दिलासा दिया और कहा, "दूधकी कोई जरूरत नहीं । मैं तो आपको कुछ दिन ऐसी ही खुराकपर रखना चाहता हूं, जिसमें किसी तरह चर्बीका अंश न हो ।" यह कहकर पहले तो मुझे सिर्फ सूखी रोटी, कच्चे शाक और फलपर ही रहनेको कहा । कच्चे शाकोंमें मूली, प्याज तथा इसी तरहकी दूसरी चीजें और सब्जी एवं फलोंमें खासकर नारंगी । इन शाकोंको कीसकर या पीसकर खानेकी विधि बताई थी । कोई तीनेक दिन इसपर रहा होऊंगा । परंतु कच्चे शाक मुझे बहुत मुआफिक नहीं हुए । मेरे शरीरकी हालत ऐसी नहीं थी कि वह प्रयोग विधि-पूर्वक किया जा सके, और न उस समय मेरा इस बातपर विश्वास ही था । इसके अलावा उन्होंने इतनी बातें और बताई— चौबीसों घंटे खिड़की खुली रखना, रोज गुनगुने पानीमें नहाना, दर्दकी जगहपर तेल मलना और पाव-आध घंटेतक खुली हवामें घूमना । यह सब मुझे पसंद आया । घरमें खिड़कियां फ्रेंच-तर्जकी थीं । उनको सारा खोल देनेसे अंदर वर्षाका पानी आता था । ऊपरका रोशनदान ऐसा नहीं था जो खुल सकता । इसलिए उसके कांच तुड़वाकर वहांसे चौबीसों घंटे हवा आनेका रास्ता कर लिया । फ्रेंच खिड़कियां इतनी खुली रखता था कि जिससे पानीकी बौछारें भीतर न आने पावें ।

इतना सब करनेसे स्वास्थ्य कुछ सुधरा जरूर । अभी बिलकुल अच्छा तो नहीं हो पाया था । कभी-कभी लेडी सिसिलिया राबर्ट्स मुझे देखने आतीं । उनसे मेरा अच्छा परिचय हो गया था । उसकी प्रबल इच्छा थी कि मैं दूध पिया करूं । सो तो मैं करता नहीं था । इसलिए उन्होंने दूधके गुणवाले पदार्थोंकी छानबीन शरू की । उनके किसी मित्रने 'माल्टेड मिल्क' बताया और अनजानमें ही उन्होंने कह दिया कि इसमें दूधका लेशमात्र नहीं है, बल्कि रासायनिक विधिसे बनाई दूधके गुण रखनेवाली वस्तुओंकी बुकनी है । मैं यह जान चुका था कि लेडी राबर्ट्स मेरी धार्मिक भावनाओंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखती थी । इस कारण मैंने उस बुकनीको पानी में डालकर पिया

तो मुझे उसमें दूध जैसा ही स्वाद आया। अब मैंने 'पानी पीकर जात पूछने,' जैसी बात की। पी चुकनेके बाद बोतलपर लगी चिटको पढ़ा तो मालूम हुआ कि यह तो दूधकी ही बनावट है। इसलिए एक ही बार पीकर उसे छोड़ देना पड़ा। लेडी राबर्ट्सको मैंने इसकी खबर की और लिखा कि आप जरा भी चिंता न करें। सुनते ही वह मेरे घर दौड़ आईं और इस भूलपर बड़ा अफसोस प्रकट किया। उनके मित्रने बोतलवाली चिट पढ़ी ही नहीं थी। मैंने इस भली बहनको तसल्ली दी और इस बातके लिए उनसे माफी मांगी कि जो चीज इतने कष्टके साथ आपने भिजवाई, उसे मैं ग्रहण न कर सका। और मैंने उनसे यह भी कह दिया कि मैंने तो अनजानमें यह बुकनी ली है, सो इसके लिए मुझे पश्चा-त्ताप या प्रायश्चित्त करनेका कोई कारण नहीं है।

लेडी राबर्ट्सके साथके और भी मधुर संस्मरण हैं तो, पर उन्हें मैं यहां छोड़ ही देना चाहता हूं। ऐसे तो बहुत-से संस्मरण हैं जिनका महान् आनंद मुझे बहुत विपत्तियों और विरोधमें भी मिल सका है। श्रद्धावान् मनुष्य ऐसे मीठे संस्मरणोंमें यह देखता है कि ईश्वर जिस तरह दुःख रूपी कड़ई औषध देता है उसी तरह वह मैत्रीके मीठे अनुपान भी उसके साथ देता है।

दूसरी बार जब डाक्टर एलिन्सन देखने आये तो उन्होंने और भी चीजोंके खानेकी छुट्टी दी और शरीरमें चर्बी बढ़ानेके लिए मूंगफली आदि सूखे मेवोंकी चीजोंका मक्खन अथवा जैतूनका तेल लेनेके लिए कहा। कच्चे शाक मुआफिक न हों तो उन्हें पकाकर चावलके साथ लेनेकी सलाह दी। यह तजवीज मुझे बहुत मुआफिक हुई।

परंतु बीमारी अभी निर्मूल न हुई थी। सम्हाल रखनेकी जरूरत तो अभी थी ही। अभी बिछौनेपर ही पड़ा रहना पड़ता था। डाक्टर मेहता बीच-बीचमें आकर देख जाया करते थे और जब आते तभी कहा करते—अगर मेरा इलाज कराओ तो देखते-देखते आराम हो जाय।

यह सब हो रहा था कि एक रोज मि० राबर्ट्स मेरे घर आये और मुझे जोर देकर कहा कि आप देस चले जाओ। उन्होंने कहा, "ऐसी हालतमें आप नेटली हर्गिज नहीं जा सकते। कड़ाकेका जाड़ा तो अभी आगे आनेवाला है। मैं तो आग्रहके साथ कहता हूं कि आप देस चले जायं और वहां जाकर चंगे हो

जायंगे । तबतक यदि युद्ध जारी रहा तो उसमें मदद करनेके और भी बहुत अवसर मिल जायंगे । नहीं तो जो कुछ आपने यहां किया है उसे भी मैं कम नहीं समझता ।"

मुझे उनकी यह सलाह अच्छी मालूम हुई और मैंने देस जानेकी तैयारी की ।

४३

बिदा

मि० केलनबेक देस जानेके निश्चयसे हमारे साथ रवाना हुए थे । विलायतमें हम साथ ही रहते थे । युद्ध शुरू हो जानेके कारण जर्मन लोगोंपर खूब कड़ी देखरेख थी और हम सबको इस बातपर शक था कि केलनबेक हमारे साथ आ सकेंगे या नहीं । उनके लिए पास प्राप्त करनेका मैंने बहुत प्रयत्न किया । मि० राबर्ट्स खुद उन्हें पास दिला देनेके लिए रजामंद थे । उन्होंने सारा हाल तार द्वारा वाइसरायको लिखा, परंतु लार्ड हार्डिंजका सीधा और सूखा जवाब आया— "हमें अफसोस है, हम इस समय किसी तरह जोखिम उठानेके लिए तैयार नहीं हैं ।" हम सबने इस जवाबके औचित्यको समझा । केलनबेकके वियोगका दुःख तो मुझे हुआ ही, परंतु मैंने देखा कि मेरी अपेक्षा उनको ज्यादा हुआ । यदि वह भारतवर्षमें आ सके होते तो आज एक बढ़िया किसान और बुनकरका सादा जीवन व्यतीत करते होते । अब वह दक्षिण अफ्रीकामें अपना वही असली जीवन व्यतीत करते हैं और स्थपति (मकान बनानेवाले) का धंधा मजेसे कर रहे हैं ।

हमने तीसरे दरजेका टिकट लेनेकी कोशिश की; परंतु 'पी एंड ओ'के जहाजमें तीसरे दरजेका टिकट नहीं मिलता था, इसलिए दूसरे दरजेका लेना पड़ा । दक्षिण अफ्रीकासे हम कितना ही ऐसा फलाहार साथ बांध लाये थे जो जहाजोंमें नहीं मिल सकता । वह हमने साथ रख लिया था और दूसरी चीजें जहाजमें मिलती ही थीं ।

डाक्टर मेहताने मेरे शरीरको मीड्स प्लास्टरके पट्टेसे बांध दिया था और मुझे कहा था कि पट्टा बंधा रहने देना । दो दिनके बाद वह मुझे सहन न हो

सका और बड़ी मुश्किलके बाद मैंने उसे उतारा और नहाना-धोने भी लगा। मुख्यतः फल और मेवेके सिवाय और कुछ नहीं खाता था। इससे तबियत दिन-दिन सुधरने लगी और स्वेजकी खाड़ीमें पहुंचनेतक तो अच्छी हो गई। यद्यपि इससे शरीर कमजोर हो गया था फिर भी बीमारीका भय मिट गया था। और मैं रोज धीरे-धीरे कसरत बढ़ाता गया। स्वास्थ्यमें यह शुभ परिवर्तन तो मेरा यह खयाल है कि समशीतोष्ण हवाके बदौलत ही हुआ।

पुराने अनुभव अथवा और किसी कारणसे हो, अंग्रेज यात्रियों और हमारे अंदर जो अंतर मैं यहां देख पाया वह दक्षिण अफ्रीकासे आते हुए भी नहीं देखा था। वहां भी अंतर तो था, परंतु यहां उससे और ही प्रकारका भेद दिखाई दिया। किसी-किसी अंग्रेजके साथ बातचीत होती; परंतु वह भी 'साहब-सलामत'-से आगे नहीं। हार्दिक भेंट नहीं होती थी। किंतु दक्षिण अफ्रीकाके जहाजमें और दक्षिण अफ्रीकामें हार्दिक भेंट हो सकती थी। इस भेदका कारण तो मैं यही समझा कि इधरके जहाजोंमें अंग्रेजोंके मनमें यह भाव कि 'हम शासक हैं' और हिंदुस्तानियोंके मनमें यह भाव कि 'हम गैरोंके गुलाम हैं' जानमें या अनजानमें काम कर रहा था।

ऐसे वातावरणमेंसे जल्दी छूटकर देस पहुंचनेके लिए मैं आतुर हो रहा था। अदन पहुंचनेपर ऐसा भास हुआ मानो थोड़े-बहुत घर आ गये हैं। अदन-वालोंके साथ दक्षिण अफ्रीकामें ही हमारा अच्छा संबंध बंध गया था; क्योंकि भाई कैकोवाद कावसजी दीनशा डरबन आ गये थे और उनके तथा उनकी पत्नीके साथ मेरा अच्छा परिचय हो चुका था। थोड़े ही दिनमें हम बंबई आ पहुंचे। जिस देशमें मैं १९०५में लौटनेकी आशा रखता था वहां १० वर्ष बाद पहुंचनेसे मेरे मनको बड़ा आनंद हो रहा था। बंबईमें गोखलेने सभा वगैराका प्रबंध कर ही डाला था। उनकी तबियत नाजुक थी। फिर भी वह बंबई आ पहुंचे थे। उनकी मुलाकात करके उनके जीवनमें मिल जाकर अपने सिरका बोझ उतार डालनेकी उमंगसे मैं बंबई पहुंचा था, परंतु विधाताने कुछ और ही रचना रच रक्खी थी।

'मेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।'

४४

वकालतकी कुछ स्मृतियां

हिंदुस्तानमें आनेके बाद मेरे जीवनका प्रवाह किस ओर किस तरह बहा—इसका वर्णन करनेके पहले कुछ ऐसी बातोंका वर्णन करनेकी जरूरत मालूम होती है, जो मैंने जान-बूझकर छोड़ दी थीं। कितने ही वकील मित्रोंने चाहा है कि मैं अपने वकालतके दिनोंके और एक वकीलकी हैसियतसे अपने कुछ अनुभव सुनाऊं। अनुभव इतने ज्यादा हैं कि यदि सबको लिखने बैठूं तो उन्हींसे एक पुस्तक भर जायगी। परंतु ऐसे वर्णन इस पुस्तकके विषयकी मर्यादाके बाहर चले जाते हैं। इसलिए यहां केवल उन्हीं अनुभवोंका वर्णन करना कदाचित् अनुचित न न होगा, जिनका संबंध सत्यसे है।

जहांतक मुझे याद है, मैं यह बता चुका हूं कि वकालत करते हुए मैंने कभी असत्यका प्रयोग नहीं किया और वकालतका एक बड़ा हिस्सा केवल लोक-सेवाके लिए ही अर्पित कर दिया था एवं उसके लिए मैं जेब-खर्चसे अधिक कुछ नहीं लेता था और कभी-कभी तो वह भी छोड़ देता था। मैं यह मानकर चला था कि इतनी प्रतिज्ञा इस विभागके लिए काफी है। परंतु मित्र लोग चाहते हैं कि इससे भी कुछ आगेकी बातें लिखूं, क्योंकि उनका खयाल है कि यदि मैं ऐसे प्रसंगोंका थोड़ा-बहुत भी वर्णन करूं कि जिनमें मैं सत्यकी रक्षा कर सका तो उससे वकीलोंको कुछ जानने योग्य बातें मिल जायंगी।

मैं अपने विद्यार्थी-जीवनसे ही यह बात सुनता आ रहा हूं कि वकालतमें बिना झूठ बोले काम नहीं चल सकता। परंतु मुझे तो झूठ बोलकर न तो कोई पद प्राप्त करना था, न कुछ धन जुटाना था। इसलिए इन बातोंका मुझपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

दक्षिण अफ्रीकामें इसकी कसौटीके मौके बहुत बार आये। मैं जानता था कि हमारे विपक्षके गवाह सिखा-पढ़ाकर लाये गये हैं और मैं यदि थोड़ा भी अपने मवक्किलको या गवाहको झूठ बोलनेमें उत्साहित करूं तो मेरा मवक्किल जीत सकता है; परंतु मैंने हमेशा इस लालचको पास नहीं फटकने दिया। ऐसे

एक ही प्रसंगका स्मरण मुझे होता है कि जब मेरे मवक्किलकी जीत हो जानेके बाद मुझे ऐसा शक हुआ कि उसने मुझे धोखा दिया। मेरे अंतःकरणमें भी हमेशा यही भाव रहा करता कि यदि मेरे मवक्किलका पक्ष सच्चा हो तो उसकी जीत हो और झूठा हो तो उसकी हार हो। मुझे यह नहीं याद पड़ता कि मैंने अपनी फीसकी दर मामलेकी हार-जीतपर निश्चित की हो। मवक्किलकी हार हो या जीत, मैं तो हमेशा मिहनताना ही मांगता और जीत होनेके बाद भी उसीकी आशा रखता। मवक्किलको भी पहले ही कह देता कि यदि मामला झूठा हो तो मेरे पास न आना। गवाहोंको बनानेका काम करनेकी आशा मुझसे न रखना। आगे जाकर तो मेरी ऐसी साख बढ़ गई थी कि कोई झूठा मामला मेरे पास लाता ही नहीं था। ऐसे मवक्किल भी मेरे पास थे जो अपने सच्चे मामले ही मेरे पास लाते और जिनमें जरा भी गंदगी होती तो वे दूसरे वकीलके पास ले जाते।

एक ऐसा समय भी आया था कि जिसमें मेरी बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। एक मेरे अच्छे-से-अच्छे मवक्किलका मामला था। उसमें जमाखर्चकी बहुतेरी उलझनें थीं। बहुत समयसे मामला चल रहा था। कितनी ही अदालतोंमें उसके कुछ-कुछ हिस्से गये थे। अंतको अदालत द्वारा नियुक्त हिसाब-परीक्षक पंचोंके जिम्मे उसका हिसाब सौंपा गया था। पंचके ठहरावके अनुसार मेरे मवक्किल-की पूरी जीत होती थी; परंतु उसके हिसाबमें एक छोटी-सी परंतु भारी भूल रह गई थी। जमानामेकी रकम पंचकी भूलसे उलटी लिख दी गई थी। विपक्षीने इस पंचके फैसलेको रद्द करनेकी दरख्वास्त दी थी। मेरे मवक्किलकी तरफसे मैं छोटा वकील था। बड़े वकीलने पंचकी भूल देख ली थी; परंतु उनकी राय यह थी कि पंचकी भूल कबूल करनेके लिए मवक्किल बाध्य नहीं था; उनकी यह साफ राय थी कि अपने खिलाफ जानेवाली किसी बातको मंजूर करनेके लिए कोई वकील बाध्य नहीं है। पर मैंने कहा, इस मामलेकी भूल तो हमें कबूल करनी ही चाहिए।

बड़े वकीलने कहा—"यदि ऐसा करें तो इस बातका पूरा अंदेशा है कि अदालत इस सारे फैसलेको रद्द कर दे और कोई भी समझदार वकील अपने मवक्किलको ऐसी जोखिममें नहीं डालेगा। मैं तो ऐसी जोखिम उठानेके लिए कभी तैयार न होऊंगा। यदि मामला उलट जाय तो मवक्किलको कितना खर्च

उठाना पड़े और अंतको कौन कह सकता है कि नतीजा क्या हो ? "

इस बातचीतके समय हमारे मवक्किल भी मौजूद थे ।

मैंने कहा, " मैं तो समझता हूं कि मवक्किलको और हम लोगोंको ऐसी जोखिम जरूर उठानी चाहिए । फिर इस बातका भी क्या भरोसा कि अदालतको भूल मालूम हो जाय और हम उसे मंजूर न करें तो भी वह भूल-भरा फैसला कायम ही रहेगा और यदि भूल सुधारते हुए मवक्किलको नुकसान सहना पड़े तो क्या हर्ज है ? "

" पर यह तो तभी न होगा जब हम भूल कबूल करें ? " बड़े वकील बोले ।

" हम यदि मंजूर न करें तो भी अदालत उसे न पकड़ लेगी अथवा विपक्षी भी उसको न देख लेंगे इस बातका क्या निश्चय ? " मैंने उत्तर दिया ।

" तो इस मुकदमेमें आप बहस करने जायंगे ? भूल मंजूर करनेकी शर्तपर मैं बहस करनेके लिए तैयार नहीं । " बड़े वकीलने दृढ़ताके साथ कहा ।

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, " यदि आप न जायंगे और मवक्किल चाहेंगे तो मैं जानेके लिए तैयार हूं । यदि भूल कबूल न की जाय तो इस मुकदमेमें मेरे लिए काम करना असंभव है । "

इतना कहकर मैंने मवक्किलके मुंहकी ओर देखा । वह जरा चितामें पड़े ; क्योंकि इस मुकदमेमें मैं शुरूसे ही था और उनका मुझपर पूरा-पूरा विश्वास था । वह मेरी प्रकृतिसे भी पूरे-पूरे वाकिफ थे । इसलिए उन्होंने कहा— " तो अच्छी बात है, आप ही बहस करने जाइए । शौकसे भूल मान लीजिए । हार ही नसीबमें लिखी होगी तो हार जायंगे । आखिर सांचको आंच क्या ? "

यह देखकर मुझे बड़ा आनंद हुआ । मैंने दूसरे उत्तरकी आशा ही नहीं रक्खी थी । बड़े वकीलने मुझे खूब चेताया और मेरी 'हठधर्मी'के लिए मुझपर तरस खाया और साथ ही धन्यवाद भी दिया ।

अब अदालतमें क्या हुआ सो अगले अध्यायमें ।

४५

चालाकी ?

मेरी इस सलाहके औचित्यके विषयमें मेरे मनमें बिलकुल संदेह न था ; परंतु इस बातकी मेरे मनमें जरूर हिचकिचाहट थी कि मैं इस मुकदमेमें योग्यतापूर्वक बहस कर सकूंगा या नहीं। ऐसे जोखिमवाले मुकदमेमें बड़ी अदालतमें मेरा बहस करनेके लिए जाना मुझे बहुत भयावह मालूम हुआ। मैं मनमें बहुत डरते और कांपते हुए न्यायाधीशोंके सामने खड़ा रहा। ज्योंही इस भूलकी बात निकली त्योंही एक न्यायाधीश कह बैठे--

"क्या यह चालाकी नहीं है ?"

यह सुनकर मेरी त्यौरी बदली। जहां चालाकीकी बूतक नहीं थी वहां उसका शक आना मुझे असह्य मालूम हुआ। मैंने मनमें सोचा कि जहां पहलेसे ही न्यायाधीशका खयाल खराब है, वहां इस कठिन मामलेमें कैसे जीत होगी ?

पर मैंने अपने गुस्सेको दबाया और शांत होकर जवाब दिया--

"मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बातें सुननेसे पहले ही चालाकीका इलजाम लगाते हैं।"

"मैं इलजाम नहीं लगाता, सिर्फ अपनी शंका प्रकट करता हूं।" वह न्यायाधीश बोले।

"आपकी यह शंका ही मुझे तो इलजाम जैसी मालूम होती है। मेरी सब बातें पहले सुन लीजिए और फिर यदि कहीं शंकाके लिए जगह हो तो आप अवश्य शंका उठावें"-- मैंने उत्तर दिया।

"मुझे अफसोस है कि मैंने आपके बीचमें बाधा डाली। आप अपना स्पष्टीकरण कीजिए।" शांत होकर न्यायाधीश बोले।

मेरे पास स्पष्टीकरणके लिए पूरा-पूरा मसाला था। मामलेकी शुरूआतमें ही शंका उठ खड़ी हुई और मैं जजको अपनी दलीलका कायल कर सका। इससे मेरा हौसला बढ़ गया। मैंने उसे सब बातें ब्यौरेवार समझाईं। जजने मेरी बात धीरजके साथ सुनी और अंतको वह समझ गये कि यह भूल महज भूल ही थी

और बड़े परिश्रमसे तैयार किये इस हिसाबको रद्द करना उन्हें अच्छा न मालूम हुआ ।

विपक्षके वकीलको तो यह विश्वास ही था कि इस भूलके मान लिये जानेपर तो उन्हें बहुत बहस करनेकी जरूरत न रहेगी । परंतु न्यायाधीश ऐसी भूलके लिए, जो स्पष्ट हो गई है और सुधर सकती है, पंचके फैसलेको रद्द करनेके लिए बिलकुल तैयार न थे । विपक्षके वकीलने बहुत माथा-पच्ची की, परंतु जिस जजने शंका उठाई थी वही मेरे हिमायती हो बैठे ।

"मि० गांधीने भूल न कबूल की होती तो आप क्या करते ? " न्यायाधीशने पूछा ।

"जिन हिसाब-विशारदोंको हमने नियुक्त किया उनसे अधिक होशियार या ईमानदार विशेषज्ञोंको हम कहांसे ला सकते हैं ? "

" हमें मानना होगा कि आप अपने मुकदमेकी असलियत अच्छी तरह जानते हैं । बड़े-से-बड़े हिसाबके अनुभवी भूल कर सकते हैं । और इस भूलके अलावा यदि कोई दूसरी भूल बता सके तो फिर कानूनकी कमजोर बातोंका सहारा लेकर अदालत दोनों फरीकैनको फिरसे खर्चमें डालनेके लिए तैयार नहीं हो सकती । और यदि आप कहें कि अदालत ही फिर नये सिरेसे इस मुकदमेकी सुनवाई करे तो यह नहीं हो सकता ।"

इस तथा इस तरहकी दूसरी दलीलोंसे वकीलको शांत करके उस भूलको सुधारकर फिर अपना फैसला भेजनेका हुक्म पंचके नाम लिखकर न्यायाधीशने उस सुधारे हुए फैसले को कायम रक्खा ।

इससे मेरे हर्षका पार न रहा । क्या मेरे मवक्किल और क्या बड़े वकील दोनों खुश हुए और मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि वकालतमें भी सत्यका पालन करके सफलता मिल सकती है ।

परंतु पाठक इस बातको न भूलें कि जो वकालत पेशेके तौरपर की जाती है उसकी मूलभूत बुराइयोंको यह सत्यकी रक्षा छिपा नहीं सकती ।

४६

मवक्किल साथी बने

नेटाल और ट्रांसवालकी वकालतमें भेद था। नेटालमें एडवोकेट और अटर्नी ये दो विभाग होते हुए भी दोनों तमाम अदालतोंमें एकसाथ वकालतकर सकते थे। परंतु ट्रांसवालमें बंबईकी तरह भेद था। वहां एडवोकेट मवक्किल-संबंधी सारा काम अटर्नीके मार्फत ही कर सकता था। जो बैरिस्टर हो गया हो वह एडवोकेट अथवा अटर्नी किसी भी एकके कामकी सनद ले सकता है और फिर वही एक काम कर सकता था। नेटालमें मैंने एडवोकेटकी सनद ली थी और ट्रांसवालमें अटर्नी की। यदि एडवोकेटकी ली होती तो मैं वहांके हिंदुस्तानियोंके सीधे संपर्कमें न आ पाता और दक्षिण अफ्रीकामें ऐसा वातावरण भी नहीं था कि गोरे अटर्नी मुझे मुकदमे ला-लाकर देते।

ट्रांसवालमें इस तरह वकालत करते हुए मजिस्ट्रेटकी अदालतमें मैं बहुत बार जा सकता था। ऐसा करते हुए एक मौका ऐसा आया कि मुकदमेकी सुनवाईके बीचमें मुझे पता चला कि मवक्किलने मुझे धोखा दिया है। उसका मुकदमा झूठा था। वह कटघरेमें खड़ा हुआ तो मानो गिरा पड़ता था। इससे मैं मजिस्ट्रेटको यह कहकर बैठ गया कि आप मेरे मवक्किलके खिलाफ फैसला दीजिए। विपक्षका वकील यह देखकर दंग रह गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मैंने मवक्किलको बड़ा उलाहना दिया ; क्योंकि उसे पता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता था। उसने भी यह बात मंजूर की और मैं समझता हूं कि उसके खिलाफ फैसला होनेसे वह नाराज नहीं हुआ। जो हो ; पर इतना जरूर है कि मेरे सत्य व्यवहारका कोई बुरा असर मेरे पेशेपर नहीं हुआ और अदालतमें मेरा काम बड़ा सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्य-पूजाकी बदौलत वकील-बंधुओंमें भी मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी और परिस्थितिकी विचित्रताके रहते हुए भी मैं उनमेंसे कितनोंकी ही प्रीति संपादन कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने अपनी एक ऐसी आदत भी डाल ली थी कि मैं अपना अज्ञान न मवक्किलसे छिपाता, न वकीलोंसे। जहां बात मेरी समझमें

नहीं आती वहां मैं मवक्किलको दूसरे वकीलोंके पास जानेको कहता अथवा यदि वे मुझे ही वकील बनाते तो अधिक अनुभवी वकीलकी सलाह लेकर काम करने की प्रेरणा करता। अपने इस शुद्ध भावकी बदौलत मैं मवक्किलका अखूट प्रेम और विश्वास संपादन कर सका था। बड़े वकीलोंकी फीस भी वे खुशी-खुशी देते थे।

इस विश्वास और प्रेमका पूरा-पूरा लाभ मुझे सार्वजनिक कामों में मिला।

पिछले अध्यायोंमें मैं यह बता चुका हूं कि दक्षिण अफ्रीकामें वकालत करनेमें मेरा हेतु केवल लोक-सेवा था। इससे सेवा-कार्यके लिए भी मुझे लोगोंका विश्वास प्राप्त कर लेनेकी आवश्यकता थी। परंतु वहांके उदार-हृदय भारतीय भाइयोंने फीस लेकर की हुई वकालतको भी सेवाका ही गौरव प्रदान किया और जब उन्हें उनके हकोंके लिए जेल जाने और वहांके कष्टोंके सहन करनेकी सलाह मैंने दी तब उसका अंगीकार उनमेंसे बहुतोंने ज्ञानपूर्वक करनेकी अपेक्षा मेरे प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेमके कारण ही अधिक किया था।

यह लिखते हुए वकालतके समयकी कितनी ही मीठी बातें कलममें भर रही हैं। सैकड़ों मवक्किल मित्र बन गये, सार्वजनिक सेवामें मेरे सच्चे साथी बने और उन्होंने मेरे कठिन जीवनको रस-मय बना डाला था।

४७

मवक्किल जेलसे कैसे बचा ?

पारसी रुस्तमजीके नामसे इन अध्यायोंके पाठक भलीभांति परिचित हैं। पारसी रुस्तमजी मेरे मवक्किल और सार्वजनिक कार्यमें साथी, एक ही साथ बने; बल्कि यह कहना चाहिए कि पहले साथी बने और बादको मवक्किल। उनका विश्वास तो मैंने इस हदतक प्राप्त कर लिया था कि वह अपनी घरू और खानगी बातोंमें भी मेरी सलाह मांगते और उसका पालन करते। उन्हें यदि कोई बीमारी भी हो तो वह मेरी सलाहकी जरूरत समझते और उनकी और मेरी रहन-सहनमें बहुत-कुछ भेद रहनेपर भी वह खुद मेरे उपचार करते।

मेरे इस साथीपर एक बार बड़ी भारी विपत्ति आ गई थी। हालांकि

वह अपनी व्यापार-संबंधी भी बहुत-सी बातें मुझसे किया करते थे, फिर भी एक बात मुझसे छिपा रक्खी थी। वह चुंगी चुरा लिया करते थे। बंबई-कलकत्तेसे जो माल मंगाते उसकी चुंगीमें चोरी कर लिया करते थे। तमाम अधिकारियोंसे उनका राह-रसूक अच्छा था। इसलिए किसीको उनपर शक नहीं होता था। जो बीजक वह पेश करते उसीपरसे चुंगीकी रकम जोड़ ली जाती। शायद कुछ कर्मचारी ऐसे भी होंगे, जो उनकी चोरीकी ओरसे आंखें मूंद लेते हों।

परंतु आखा भगतकी यह वाणी कहीं झूठी हो सकती है ? —

"काचो पारो खावो अन्न, तेवुं छे चोरी नुं धन।"

(यानी कच्चा पारा खाना और चोरीका धन खाना बराबर है।)

एक बार पारसी रुस्तमजीकी चोरी पकड़ी गई। तब वह मेरे पास दौड़े आये। उनकी आंखोंसे आंसू निकल रहे थे। मुझसे कहा— "भाई, मैंने तुमको धोखा दिया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैं चुंगीकी चोरी करता रहा हूं। अब तो मुझे जेल भोगनेके सिवा दूसरी गति नहीं है। बस, अब मैं बरबाद हो गया। इस आफतमेंसे तो आप ही मुझे बचा सकते हैं। मैंने वैसे आपसे कोई बात छिपा नहीं रक्खी है; परंतु यह समझकर कि यह व्यापारकी चोरी है, इसका जिक्र आपसे क्या करूं, यह बात मैंने आपसे छिपाई थी। अब इसके लिए पछताता हूं।"

मैंने उन्हें धीरज और दिलासा देकर कहा— "मेरा तरीका तो आप जानते ही हैं। छुड़ाना-न-छुड़ाना तो खुदाके हाथ है। मैं तो आपको उसी हालतमें छुड़ा सकता हूं जब आप अपना गुनाह कबूल कर लें।"

यह सुनकर इस भले पारसीका चेहरा उतर गया।

"परंतु मैंने आपके सामने कबूल कर लिया, इतना ही क्या काफी नहीं है ?" रुस्तमजी सेठने पूछा।

"आपने कसूर तो सरकारका किया है, तो मेरे सामने कबूल करनेसे क्या होगा ?" मैंने धीरेसे उत्तर दिया।

"अंतको तो मैं वही करूंगा, जो आप बतावेंगे; परंतु मेरे पुराने वकील-की भी तो सलाह ले लें, वह मेरे मित्र भी हैं।" पारसी रुस्तमजी ने कहा।

अधिक पूछ-ताछ करनेसे मालूम हुआ कि यह चोरी बहुत दिनोंसे होती आ रही थी। जो चोरी पकड़ी गई थी वह तो थोड़ी ही थी। पुराने वकीलके पास हम लोग गये। उन्होंने सारी बात सुनकर कहा कि "यह मामला जूरी के पास जायगा। यहांके जूरी हिंदुस्तानीको क्यों छोड़ने लगे ? पर मैं निराश होना नहीं चाहता।"

इन वकीलके साथ मेरा गाढ़ा परिचय न था। इसलिए पारसी रुस्तमजी-ने ही जवाब दिया— "इसके लिए आपको धन्यवाद है। परंतु इस मुकदमेमें मुझे मि० गांधीकी सलाहके अनुसार काम करना है। वह मेरी बातोंको अधिक जानते हैं। आप जो कुछ सलाह देना मुनासिब समझें हमें देते रहिएगा।"

इस तरह थोड़ेमें समेटकर हम रुस्तमजी सेठकी दूकानपर गये।

मैंने उन्हें समझाया— "मुझे यह मामला अदालतमें जाने लायक नहीं दिखाई देता। मुकदमा चलाना न चलाना चुंगी-अफसरके हाथ में है। उसे भी सरकारके प्रधान वकीलकी सलाहसे काम करना होगा। मैं इन दोनोंसे मिलनेके लिए तैयार हूं, परंतु मुझे तो उनके सामने यह चोरीकी बात कबूल करना पड़ेगी, जोकि वे अभीतक नहीं जानते हैं। मैं तो यह सोचता हूं कि जो जुरमाना वे तजवीज कर दें उसे मंजूर कर लेना चाहिए। बहुत मुमकिन है कि वे मान जायंगे। परंतु यदि न मानें तो फिर आपको जेल जानेके लिए तैयार रहना होगा। मेरी राय तो यह है कि लज्जा जेल जानेमें नहीं, बल्कि चोरी करनेमें है। अब लज्जाका काम तो हो चुका; यदि जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त ही समझना चाहिए। सच्चा प्रायश्चित्त तो यह है कि अब आगेसे ऐसी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए।" मैं यह नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इन सब बातोंको ठीक-ठीक समझ गये हों। वह बहादुर आदमी थे। पर इस समय हिम्मत हार गये थे। उनकी इज्जत बिगड़ जाने का मौका आ गया था और उन्हें यह भी डर था कि खुद मिहनत करके जो यह इमारत खड़ी की थी वह कहीं सारी-की-सारी न ढह जाय।

उन्होंने कहा— "मैं तो आपसे कह चुका हूं कि मेरी गर्दन आपके हाथमें है। जैसा आप मुनासिब समझें वैसा करें।"

मैंने इस मामलेमें अपनी सारी कला और सौजन्य खर्च कर डाला।

चुंगीके अफसरसे मिला, चोरीकी सारी बात मैंने निःशंक होकर उनसे कहदी, यह भी कह दिया कि "आप चाहें तो सब कागज-पत्र देख लीजिए। पारसी रुस्तमजीको इस घटनापर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है।"

अफसरने कहा— "मैं इस पुराने पारसीको चाहता हूं। उसने की तो यह बेवकूफी है; पर इस मामलेमें मेरा फर्ज क्या है, सो आप जानते हैं। मुझे तो प्रधान वकीलकी आज्ञाके अनुसार करना होगा। इसलिए आप अपनी समझाने-की सारी कलाका जितना उपयोग कर सकें वहां करें।"

"यदि पारसी रुस्तमजीको अदालतमें घसीट ले जानेपर जोर न दिया जाय तो मेरे लिए बस है।"

इस अफसरसे अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकीलके साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया और उनसे मिला भी। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्य-प्रियताको उन्होंने देख लिया और उनके सामने मैं यह सिद्ध कर सका कि मैं कोई बात उनसे छिपाता नहीं था। इस अथवा किसी दूसरे मामलेमें उनसे साबका पड़ा तो उन्होंने मुझे यह प्रमाण-पत्र दिया था— "मै देखता हूं कि आप जवाबमें 'ना' तो लेना ही नहीं जानते।"

रुस्तमजीपर मुकदमा नहीं चलाया गया। हुक्म हुआ कि जितनी चोरी पारसी रुस्तमजीने कबूल की है उसके दूने रुपये उनसे ले लिये जायं और उनपर मुकदमा न चलाया जाय।

रुस्तमजीने अपनी इस चुंगी-चोरीका किस्सा लिखकर कांचमें जड़ाकर अपने दफ्तरमें टांग दिया और अपने वारिसों तथा साथी व्यापारियोंको ऐसा न करनेके लिए खबरदार कर दिया। रुस्तमजी सेठके व्यापारी मित्रोंने मुझे सावधान किया कि यह सच्चा वैराग्य नहीं, स्मशान वैराग्य है।

पर मैं नहीं कह सकता कि इस बातमें कितनी सत्यता होगी। जब मैंने यह बात रुस्तमजी सेठसे कही तो उन्होंने जवाब दिया कि आपको धोखा देकर मैं कहां जाऊंगा।

पांचवां भाग

१

पहला अनुभव

मेरे देश पहुंचनेसे पहले ही फिनिक्ससे देश पहुंचनेवाले लोग वहां पहुंच चुके थे। हिसाब तो हम लोगोंने यह लगाया था कि मै उनसे पहले पहुंच जाऊंगा; परंतु मै महायुद्धके कारण लंदनमें रुक गया था, इसलिए मेरे सामने सवाल यह था कि फिनिक्स-वासियोंको रक्खूं कहां? मैं चाहता तो यह था कि सब एक साथ ही रह सकें और फिनिक्स-आश्रमका जीवन बिता सकें तो अच्छा। किसी आश्रमके संचालकसे मेरा परिचय भी नहीं था कि जिससे मैं उन्हें वहां जानेके लिए लिख देता। इसलिए मैने उन्हें लिखा था कि वे एंड्रूज साहबसे मिलकर उनकी सलाहके मुताबिक काम करें।

पहले वे कांगड़ी-गुरुकुलमें रक्खे गये। वहां स्वर्गीय श्रद्धानंदजीने उन्हें अपने बच्चोंकी तरह रक्खा। उसके बाद वे शांति-निकेतनमें रक्खे गये, जहां कविवरने और उनके समाजने उनपर उतनी ही प्रेम-दृष्टि की। इन दो स्थानोंपर जो अनुभव उन्हें मिला वह उनके तथा मेरे लिए बड़ा उपयोगी साबित हुआ।

कविवर, श्रद्धानंदजी और श्री सुशील रुद्रको मैं एंड्रूजकी 'त्रिमूर्ति' मानता था। दक्षिण अफ्रीकामें वह इन तीनोंकी स्तुति करते हुए थकते नहीं थे। दक्षिण अफ्रीकामें हमारे स्नेह-सम्मेलनकी बहुत-सी स्मृतियोंमें यह सदा मेरी आंखोंके सामने नाचा करती है कि इन तीन महापुरुषोंके नाम तो उनके हृदयमें और ओठोंपर रहते ही थे। सुशील रुद्रके परिचयमें भी एंड्रूजने मेरे बच्चोंको ला दिया था। रुद्रके पास कोई आश्रम नहीं था, उनका अपना घर ही था; परंतु उस घरका कब्जा उन्होंने मेरे इस परिवारको दे दिया था। उनके बाल-बच्चे इनके साथ एक ही दिनमें इतने हिल-मिल गये थे कि ये फिनिक्सको भूल गये।

जिस समय मैं बंबई बंदरपर उतरा तो वहां मुझे खबर हुई कि उन दिनों यह परिवार शांति-निकेतनमें था। इसलिए गोखलेसे मिलकर मैं वहां जानेके लिए अधीर हो रहा था।

बंबईमें स्वागत-सत्कारके समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था। मि० पेटिटके यहां मेरे निमित्त स्वागत-सभा की गई थी। वहां तो स्वागतका उत्तर गुजरातीमें देनेकी मेरी हिम्मत न हुई। इस महलमें और आंखोंको चौंधिया देनेवाले वहांके ठाट-बाटमें, मैं जो गिरमिटियोंके सहवासमें रहा था, देहातके एक गंवारकी तरह मालूम होता था। आज जिस तरहकी वेष-भूषा मेरी है, उससे तो उस समयका अंगरखा, साफा इत्यादि अधिक सभ्य पहनावा कहा जा सकता है। फिर भी उस अलंकृत समाजमें मैं एक बिलकुल अलग आदमी मालूम होता था; परंतु वहां तो मैंने ज्यों-त्यों करके अपना काम चलाया और फिरोजशाह मेहताकी छायामें जैसे-तैसे आश्रय लिया।

ऐसे अवसरपर गुजराती लोग भला मुझे क्यों छोड़ने लगे? स्वर्गीय उत्तमलाल त्रिवेदीने भी एक सभा निमंत्रित की थी। इस सभाके संबंधमें कुछ बातें मैंने पहले ही जान ली थीं। गुजराती होनेके कारण मि० जिन्ना भी उसमें आये थे। वह सभापति थे या प्रधान वक्ता थे, यह बात मैं भूल गया हूं। उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेजीमें किया और मुझे ऐसा याद पड़ता है कि और लोगोंके भाषण भी अंग्रेजीमें ही हुए थे; परंतु जब मेरे बोलनेका अवसर आया तब मैंने अपना जवाब गुजरातीमें ही दिया और गुजराती तथा हिंदुस्तानी भाषा-विषयक अपना पक्षपात मैंने वहां थोड़े शब्दोंमें प्रकट किया। इस प्रकार गुजरातियोंकी सभामें अंग्रेजी भाषाके प्रयोगके प्रति मैंने अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया। ऐसा करते हुए मेरे मनमें संकोच तो बड़ा होता था। बहुत समयतक देससे बाहर रहनेके बाद जो शख्स स्वदेशको लौटता है वह, देसकी बातोंसे अपरिचित आदमी, यदि प्रचलित प्रथाके विपरीत आचरण करे, तो यह अविवेक तो न होगा, यह शंका मनमें बराबर आया करती थी; परंतु गुजरातीमें जो मैंने उत्तर देनेका साहस किया उसका किसीने उल्टा अर्थ नहीं लगाया और मेरे विरोधको सबने सहन कर लिया, यह देखकर मुझे आनंद हुआ और इस परसे मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरे दूसरे, नये-से प्रतीत होनेवाले, विचार भी यदि मैं लोगोंके सामने रक्खूं

तो इसमें कोई कठिनाई नहीं आवेगी ।

इस तरह बंबईमें दो-एक दिन रहकर देसका आरंभिक अनुभव ले गोखलेकी आज्ञासे मैं पूना गया ।

२

गोखलेके साथ पूनामें

मेरे बंबई पहुंचते ही गोखलेने मुझे तुरंत खबर दी कि बंबईके गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आनेके पहले आप उनसे मिल आवें तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने गया। मामूली बातचीत होनेके बाद उन्होंने मुझसे कहा—

"आपसे मैं एक वचन लेना चाहता हूं। मैं यह चाहता हूं कि सरकारके संबंधमें यदि आपको कहीं कुछ आंदोलन करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातचीत कर लें।"

मैंने उत्तर दिया कि यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है; क्योंकि सत्याग्रहीकी हैसियतसे मेरा यह नियम ही है कि किसीके खिलाफ कुछ करनेके पहले उसका दृष्टि-बिंदु खुद उसीसे समझ लूं और अपनेसे जहांतक हो सके उसके अनुकूल होनेका यत्न करूं। मैंने हमेशा दक्षिण अफ्रीकामें इस नियमका पालन किया है और यहां भी मैं ऐसा ही करनेका विचार करता हूं।

लार्ड विलिंग्डनने इसपर मुझे धन्यवाद दिया और कहा—

"आप जब कभी मिलना चाहें, मुझसे तुरंत मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुराई करना नहीं चाहती।"

मैंने जवाब दिया— "इसी विश्वासपर तो मैं जी रहा हूं।"

अब मैं पूना पहुंचा। वहांके तमाम संस्मरण लिखना मेरी सामर्थ्यके बाहर है। गोखलेने और भारत-सेवक-समितिके सदस्योंने मुझे प्रेमसे पाग दिया। जहांतक मुझे याद है उन्होंने तमाम सदस्योंको पूना बुलाया था। सबके साथ दिल खोलकर मेरी बातें हुईं। गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी समितिमें आजाऊं। इधर मेरी तो इच्छा थी ही; परंतु उसके सदस्योंकी यह धारणा हुई

कि समितिके आदर्श और उसकी कार्यप्रणाली मुझसे भिन्न थी। इसलिए वे दुविधामें थे कि मुझे सदस्य होना चाहिए या नहीं। गोखलेकी यह मान्यता थी कि अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेकी जितनी प्रवृत्ति मेरी थी उतनी ही दूसरोंके आदर्शकी रक्षा करने और उनके साथ मिल जानेका स्वभाव भी था। उन्होंने कहा— "परंतु हमारे साथी आपके दूसरोंको निभा लेनेके इस गुणको नहीं पहचान पाये हैं। वे अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेवाले स्वतंत्र और निश्चित विचारके लोग हैं। मैं आशा तो यही रखता हूं कि वे आपको सदस्य बनाना मंजूर कर लेंगे; परंतु यदि न भी करें तो आप इससे यह तो हर्गिज न समझेंगे कि आपके प्रति उनका प्रेम या आदर कम है। अपने इस प्रेमको अखंडित रहने देनेके लिए ही वे किसी तरहकी जोखिम उठानेसे डरते हैं; परंतु आप समितिके बाकायदा सदस्य हों, या न हों, मैं तो आपको सदस्य मानकर ही चलूंगा।"

मैंने अपना संकल्प उनपर प्रकट कर दिया था। समितिका सदस्य बनूं या न बनूं, एक आश्रमकी स्थापना करके फिनिक्सके साथियोंको उसमें रखकर मैं बैठ जाना चाहता था। गुजराती होनेके कारण गुजरातके द्वारा सेवा करनेकी पूंजी मेरे पास अधिक होनी चाहिए, इस विचारसे गुजरातमें ही कहीं स्थिर होनेकी इच्छा थी। गोखलेको यह विचार पसंद आया और उन्होंने कहा—

"जरूर आश्रम स्थापित करो। सदस्योंके साथ जो बातचीत हुई है उसका फल कुछ भी निकलता रहे, परंतु आपको आश्रमके लिए धन तो मुझ हीसे लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूंगा।"

यह सुनकर मेरा हृदय फूल उठा। चंदा मांगनेकी झंझटसे बचा, यह समझकर बड़ी खुशी हुई और इस विश्वाससे कि अब मुझे अकेले अपनी जिम्मेदारी-पर कुछ न करना पड़ेगा, बल्कि हरेक उलझनके समय मेरे लिए एक पथदर्शक यहां हैं, ऐसा मालूम हुआ मानो मेरे सिरका बोझ उतर गया।

गोखलेने स्वर्गीय डाक्टर देवको बुलाकर कह दिया— "गांधीका खाता अपनी समितिमें डाल लो और उनको अपने आश्रमके लिए तथा सार्वजनिक कामोंके लिए जो कुछ रुपया चाहिए, वह देते जाना।"

अब मैं पूना छोड़कर शांति-निकेतन जानेकी तैयारी कर रहा था। अंतिम रातको गोखलेने खास मित्रोंकी एक पार्टी इस विधिसे की, जो मुझे रुचिकर होती।

उसमें वही चीजें अर्थात् फल और मेवे मंगाये थे, जो मैं खाया करता था। पार्टी उनके कमरेसे कुछ ही दूरपर थी। उनकी हालत ऐसी न थी कि वे वहांतक भी आ सकते; परंतु उनका प्रेम उन्हें कैसे रुकने देता ? वह जिद करके आये थे; परंतु उन्हें गश आ गया और वापस लौट जाना पड़ा। ऐसा गश उन्हें बार-बार आ जाया करता था, इसलिए उन्होंने कहलवाया कि पार्टीमें किसी प्रकारकी गड़बड़ न होनी चाहिए। पार्टी क्या थी, समितिके आश्रममें अतिथि-घरके पासके मैदानमें जाजम बिछाकर हम लोग बैठ गये थे और मूंगफली, खजूर वगैरा खाते हुए प्रेम-वार्त्ता करते थे एवं एक-दूसरेके हृदयको अधिक जाननेका उद्योग करते थे।

किंतु उनकी यह मूर्छा मेरे जीवनके लिए कोई मामूली अनुभव नहीं था।

३

धमकी ?

बंबईसे मुझे अपनी विधवा भौजाई और दूसरे कुटुंबियोंसे मिलनेके लिए राजकोट और पोरबंदर जाना था। इसलिए मैं राजकोट गया। दक्षिण अफ्रीकामें सत्याग्रह-आंदोलनके सिलसिलेमें मैंने अपना पहनावा लगभग गिरमिटिया मजूरकी तरह कर लिया था। विलायतमें भी यही लिबास रक्खा था। देसमें आकर मैं काठियावाड़का पहनावा पहनना चाहता था, दक्षिण अफ्रीकामें काठियावाड़ी कपड़े मेरे पास थे। इससे बंबईमें मैं काठियावाड़ी लिबासमें अर्थात् कुरता, अंगरखा, धोती और सफेद साफा पहने हुए उतर सका था। ये सब कपड़े देसी मिलके बने हुए थे। बंबईसे काठियावाड़तक तीसरे दरजेमें सफर करनेका निश्चय था। सो वह साफा और अंगरखा मुझे एक जंजाल मालूम हुए। इसलिए सिर्फ एक कुरता, धोती और आठ-दस आनेकी कश्मीरी टोपी साथ रक्खे थे। ऐसे कपड़े पहननेवाला आम तौरपर गरीब आदमियोंमें ही गिना जाता है। इस समय वीरमगाम और बढ़वाणमें, प्लेगके कारण, तीसरे दरजेके मुसाफिरोंकी जांच-पड़ताल होती थी। मुझे उस समय हलका-सा बुखार था। जांच करनेवाले अफसरने मेरा हाथ देखा तो उसे वह

गरम मालूम हुआ, इसलिए उसने हुक्म दिया कि राजकोट जाकर डाक्टरसे मिलो और मेरा नाम लिख लिया ।

बंबईसे शायद किसीने तार या चिट्ठी भेज दी होगी, इस कारण बढवाण स्टेशनपर दर्जी मोतीलाल, जो वहांके एक प्रसिद्ध प्रजा-सेवक माने जाते थे, मुझसे मिलने आये । उन्होंने मुझसे वीरमगामकी जकातकी जांचका तथा उसके संबंधमें होनेवाली तकलीफोंका जिक्र किया । मुझे बुखार चढ़ रहा था, इसलिए बात करनेकी इच्छा कम ही थी । मैंने उन्हें थोड़ेमें ही उत्तर दिया--

"आप जेल जानेके लिए तैयार हैं ?"

इस समय मैंने मोतीलालको वैसा ही एक युवक समझा, जो बिना विचारे उत्साहमें 'हां' कर लेते है, परंतु उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ उत्तर दिया--

"हां, जरूर जेल जायंगे; पर आपको हमारा अगुआ बनना पड़ेगा । काठियावाड़ीकी हैसियतसे आपपर हमारा पहला हक है । अभी तो हम आपको नहीं रोक सकते, परंतु वापस लौटते समय आपको बढवाण जरूर उतरना पड़ेगा । यहांके युवकोंका काम और उत्साह देखकर आप खुश होंगे । आप जब चाहें तब अपनी सेनामें हमें भरती कर सकेंगे ।"

उस दिनसे मोतीलालपर मेरी नजर ठहर गई । उनके साथियोंने उनकी स्तुति करते हुए कहा-- "यह भाई दर्जी है । पर अपने हुनरमें बड़े तेज हैं । रोज एक घंटा काम करके, प्रतिमास कोई पंद्रह रुपये अपने खर्चके लायक पैदा कर लेते हैं; शेष सारा समय सार्वजनिक सेवामें लगाते हैं और हम सब पढ़े-लिखे लोगोंको राह दिखाते हैं और शर्मिंदा करते है ।"

बादको भाई मोतीलालसे मेरा बहुत साबका पड़ा था और मैंने देखा कि उनकी इस स्तुतिमें अत्युक्ति न थी । सत्याग्रह-आश्रमकी स्थापनाके बाद वह हर महीने कुछ दिन आकर वहां रह जाते । बच्चोंको सीना सिखाते और आश्रममें सीनेका काम भी कर जाते । वीरमगामकी कुछ-न-कुछ बातें वह रोज सुनाते । मुसाफिरोंको उससे जो कष्ट होते थे वह इन्हें नागवार हो रहे थे । इन मोतीलालको बीमारी भर-जवानीमें ही खा गई और बढवाण उनके बिना सूना हो गया ।

राजकोट पहुंचते ही मैं दूसरे दिन सुबह पूर्वोक्त हुक्मके अनुसार अस्पताल

गया। वहां तो मैं किसीके लिए अजनबी था नहीं। डाक्टर मुझे देखकर शर्माये और उस जांच-कर्मचारीपर गुस्सा होने लगे। मुझे इसमें गुस्सेकी कोई वजह मालूम नहीं होती थी। उसने तो अपना फर्ज अदा किया था। एक तो वह मुझ पहचानता नहीं था और दूसरे पहचाननेपर भी उसका तो फज यही था कि जो हुक्म मिला उसकी तामील करे; परंतु मैं था मशहूर आदमी। इसलिए राजकोटमें मुझे कहीं जांच करनेके लिए जानेके बदले लोग घर आकर मेरी पूछ-ताछ करन लगे।

तीसरे दरजेके मुसाफिरोंकी जांच ऐसे मामलोंमें आवश्यक है। जो लोग बड़े समझे जाते हैं वे भी अगर तीसरे दर्जेमें सफर करें तो उन्हें उन नियमोंका पालन, जो गरीबोंपर लगाये जाते हैं, खुद-ब-खुद करना चाहिए और कर्मचारियोंको भी उनका पक्षपात न करना चाहिए; परंतु मेरा तो अनुभव यह है कि कमचारी लोग तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंको आदमी नहीं, बल्कि जानवर समझते हैं। अबे-तबेके सिवाय उनसे बोलते नहीं हैं। तीसरे दर्जेका मुसाफिर न तो सामने जवाब दे सकता है, न कोई बात कह सकता है। बेचारोंको इस तरह पेश आना पड़ता है, मानो वह उच्च कर्मचारीका कोई नौकर हो। रेलके नौकर उसे पीट देते हैं, रुपये-पैसे छीन लेते हैं, उसकी ट्रेन चुका देते हैं। टिकट देते समय उनको बहुत रुलाते हैं। ये सब बातें मैंने खुद अनुभव की हैं। इस बुराईका सुधार उसी हालतमें हो सकता है, जबकि पढ़े-लिखे और धनी लोग गरीबकी तरह रहने लगें और तीसरे दर्जेमें सफर करके ऐसी एक भी सुविधाका लाभ न उठावें जो गरीब मुसाफिरको न मिलती हो और वहांकी असुविधा, अविवेक, अन्याय और वीभत्सता-को चुपचाप न सहन करते हुए उसका विरोध करें और उसको मिटा दें।

काठियावाड़में मैं जहां-जहां गया, वहां-वहां वीरमगामकी जकातकी जांचसे होनेवाली तकलीफोंकी शिकायतें मैंने सुनीं।

इसलिए लार्ड विलिंग्डनने जो निमंत्रण मझे दे रक्खा था उसका मैंने तुरंत उपयोग किया। इस संबंधमें जितने कागज-पत्र मिल सकते थे सब मैंने पढ़े। मैंने देखा कि इन शिकायतोंमें बहुत तथ्य था। उसको दूर करनेके लिए मैंने बंबई-सरकारसे लिखा-पढ़ी की। उसके सेक्रेटरीसे मिला। लार्ड विलिंग्डनसे भी मिला। उन्होंने सहानुभूति दिखाई; परंतु कहा कि दिल्लीकी तरफसे ढील

४

शांति-निकेतन

राजकोटसे मैं शांति-निकेतन गया । वहांके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने मुझपर बड़ी प्रेम-वृष्टि की । स्वागतकी विधिमें सादगी, कला और प्रेमका सुंदर मिश्रण था । वहां काका साहब कालेलकरसे मेरी पहली बार मुलाकात हुई ।

कालेलकर 'काका साहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था; पर बादको मालूम हुआ कि केशवराव देशपांडे, जो विलायतमें मेरे सम-कालीन थे और जिनके साथ विलायतमें मेरा बहुत परिचय हो गया था, बड़ौदा राज्यमें 'गंगनाथ विद्यालय'का संचालन कर रहे थे । उनकी बहुतेरी भावनाओंमें एक यह भी थी कि विद्यालयमें कुटुंबभाव होना चाहिए । इस कारण वहां तमाम अध्यापकोंके कौटुंबिक नाम रखे गये थे । इसमें कालेलकरको 'काका' नाम दिया था । फड़के 'मामा' हुए । हरिहर शर्मा 'अण्णा' बने । इसी तरह और भी नाम रखे गये । आगे चलकर इस कुटुंबमें आनंदानंद (स्वामी) काकाके साथीके रूपमें और पटवर्धन (अप्पा) मामाके मित्रके रूपमें इस कुटुंबमें शामिल हुए । इस कुटुंबके ये पांचों सज्जन एक-के-बाद एक मेरे साथी हुए । देशपांडे 'साहेब'के नामसे विख्यात हुए । साहेबका विद्यालय बंद होनेके बाद यह कुटुंब तितर-बितर हो गया; परंतु इन लोगोंने अपना आध्यात्मिक संबंध नहीं छोड़ा । काका साहब तरह-तरहके अनुभव लेने लगे और इसी क्रममें वह शांति-निकेतनमें रह रहे थे । उसी मंडलके एक और सज्जन चिंतामणि शास्त्री भी वहां रहते थे । ये दोनों संस्कृत पढ़ानेमें सहायता देते थे ।

शांति-निकेतनमें मेरे मंडलको अलग स्थानमें ठहराया गया था । वहां मगनलाल गांधी उस मंडलकी देखभाल कर रहे थे और फिनिक्स आश्रमके तमाम नियमोंका बारीकीसे पालन कराते थे । मैंने देखा कि उन्होंने शांति-निकेतनमें अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योग-शीलताके कारण अपनी सुगंध फैला रक्खी थी । एंड्रूज तो वहां थे ही । पीयर्सन भी थे । जगदानंद बाबू, संतोष बाबू, क्षितिज मोहन बाबू, नगीन बाबू, शरद बाबू, और काली बाबूसे उनका अच्छा परिचय हो गया था ।

अपने स्वभावके अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकोंमें मिल-जुल गया और शारीरिक श्रम तथा काम करनेके बारेमें वहां चर्चा करने लगा। मैंने सूचित किया कि वैतनिक रसोइयाकी जगह यदि शिक्षक और विद्यार्थी ही अपनी रसोई पका लें तो अच्छा हो। रसोई-घरपर आरोग्य और नीतिकी दृष्टिसे शिक्षक-गण देख-भाल करें और विद्यार्थी स्वावलंबन और स्वयंपाकका पदार्थ-पाठ लें। यह बात मैंने वहांके शिक्षकोंके सामने उपस्थित की। एक-दो शिक्षकोंने तो इसपर सिर हिला दिया; परंतु कुछ लोगोंको मेरी बात बहुत पसंद भी आई। बालकोंको तो वह बहुत ही जंच गई; क्योंकि उनको तो स्वभावसे ही हरेक नई बात आ जाया करती है। बस, फिर क्या था, प्रयोग शुरू हुआ। जब कविवरतक यह बात पहुंची तो उन्होंने कहा, यदि शिक्षक लोगोंको यह बात पसंद आ जाय तो मुझे यह जरूर प्रिय है। उन्होंने विद्यार्थियोंसे कहा कि यह स्वराज्यकी कुंजी है।

पीयर्सनने इस प्रयोगको सफल करनेमें जी-जानसे मिहनत की। उनको यह बात बहुत ही पसंद आई थी। एक ओर शाक काटनेवालोंका जमघट हो गया, दूसरी ओर अनाज साफ करनेवाली मंडली बैठ गई। रसोई-घरके आसपास शास्त्रीय शुद्धि करनेमें नगीन बाबू आदि डट गये। उनको कुदाली-फावड़े लेकर काम करते हुए देख मेरा हृदय बासों उछलने लगा।

परंतु यह शारीरिक श्रमका काम ऐसा नहीं था कि सवा-सौ लड़के और शिक्षक एकाएक बरदाश्त कर सकें। इसलिए रोज इसपर बहस होती। कितने ही लोग थक भी जाते; किंतु पीयर्सन क्यों थकने लगे? वह हमेशा हंसमुख रहकर रसोईके किसी-न-किसी काममें लगे ही रहते। बड़े-बड़े बर्तनोंको मांजना उन्हींका काम था। बर्तन मांजनेवाली टुकड़ीकी थकावट उतारनेके लिए कितने ही विद्यार्थी वहां सितार बजाते। हर कामको विद्यार्थी बड़े उत्साहके साथ करने लगे और सारा शांति-निकेतन शहदके छत्तेकी तरह गूंजने लगा।

इस तरहके परिवर्त्तन जो एक बार आरंभ होते हैं तो फिर वे रुकते नहीं। फिनिक्सका रसोई-घर केवल स्वावलंबी ही नहीं था; बल्कि उसमें रसोई भी बहुत सादा बनती थी। मसाले वगैरा काममें नहीं लाये जाते थे। इसलिए भात, दाल, शाक और गेहूंकी चीजें भाफमें पका ली जाती थीं। बंगाली भोजनमें सुधार करनेके इरादेसे इस प्रकारकी एक पाकशाला रक्खी गई थी। इसमें

एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी शामिल हुए थे। ऐसे प्रयोगोंके फलस्वरूप सार्वजनिक अर्थात् बड़े भोजनालयको स्वावलंबी रखनेका प्रयोग शुरू हो सका था।

परंतु अंतको कुछ कारणोंसे यह प्रयोग बंद हो गया। मेरा यह निश्चित मत है कि थोड़े समयके लिए भी इस जग-विख्यात संस्थाने इस प्रयोगको करके कुछ खोया नहीं है और उससे जो-कुछ अनुभव हुए हैं वे उसके लिए उपयोगी साबित हुए थे।

मेरा इरादा शांति-निकेतनमें कुछ दिन रहनेका था; परंतु मुझे विधाता जबर्दस्ती वहांसे घसीट ले गया। मैं मुश्किलसे वहां एक सप्ताह रहा होऊंगा कि पूनासे गोखलेके अवसानका तार मिला। सारा शांति-निकेतन शोकमें डूब गया। मेरे पास सब मातम-पुरसीके लिए आये। वहांके मंदिरमें खास सभा हुई। उस समय वहांका गंभीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूना रवाना हुआ। साथमें पत्नी और मगनलालको लिया। बाकी सब लोग शांति-निकेतनमें रहे।

एंड्रूज बर्दवानतक मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या आपको प्रतीत होता है कि हिंदुस्तानमें सत्याग्रह करनेका समय आवेगा? यदि हां, तो कब? इसका कुछ खयाल होता है?"

मैंने इसका उत्तर दिया— "यह कहना मुश्किल है। अभी तो एक सालतक मैं कुछ करना ही नहीं चाहता। गोखलेने मुझसे वचन लिया है कि मैं एक सालतक भ्रमण करूं। किसी भी सार्वजनिक प्रश्नपर अपने विचार न बनाऊं, न प्रकट करूं। मैं अक्षरशः इस वचनका पालन करना चाहता हूं। इसके बाद भी मै तबतक कोई बात न कहूंगा, जबतक किसी प्रश्नपर कुछ कहनेकी आवश्यकता न होगी। इसलिए मैं नहीं समझता कि अगले पांच वर्षतक सत्याग्रह करनेका कोई अवसर आवेगा।"

यहां इतना कहना आवश्यक है कि 'हिंद स्वराज्य'में मैंने जो विचार प्रदर्शित किये हैं गोखले उनपर हंसा करते और कहते थे, 'एक वर्ष तुम हिंदुस्तानमें रहकर देखोगे तो तुम्हारे ये विचार अपने-आप ठिकाने लग जायंगे।'

५

तीसरे दर्जेकी फजीहत

बर्दवान पहुंचकर हम तीसरे दर्जेका टिकट लेना चाहते थे; पर टिकट लेनेमें बड़ी मुसीबत हुई। टिकट लेने पहुंचा तो जवाब मिला— "तीसरे दर्जेके मुसाफिरके लिए पहलेसे टिकट नहीं दिया जाता।" तब स्टेशन-मास्टरके पास गया। मुझे भला वहां कौन जाने देता? किसीने दया करके बताया कि स्टेशन-मास्टर वहां हैं। मैं पहुंचा। उनके पाससे भी वही उत्तर मिला। जब खिड़की खुली तब टिकट लेने गया; परंतु टिकट मिलना आसान नहीं था। हट्टे-कट्टे मुसाफिर मुझ-जैसोंको पीछे धकेलकर आगे घुस जाते। आखिर टिकट तो किसी तरह मिल गया।

गाड़ी आई। उसमें भी जो जबर्दस्त थे, वे घुस गये। उतरनेवालों और चढ़नेवालोंके सिर टकराने लगे और धक्का-मुक्की होने लगी। इसमें भला मैं कैसे शरीक हो सकता था? इसलिए हम दोनों एक जगहसे दूसरी जगह जाते। सब जगहसे यही जवाब मिलता— "यहां जगह नहीं है।" तब मैं गार्डके पास गया। उसने जवाब दिया— "जगह मिले तो बैठ जाओ, नहीं तो दूसरी गाड़ीसे जाना।" मैंने नरमीसे उत्तर दिया— "पर मुझे जरूरी काम है।" गार्डको यह सुननेका वक्त नहीं था। अब मैं सब तरहसे हार गया। मगनलालसे कहा— "जहां जगह मिल जाय, बैठ जाओ।" और मैं पत्नीको लेकर तीसरे दर्जेके टिकटसे ही ड्योढ़े दर्जेमें घुसा। गार्डने मुझे उसमें जाते हुए देख लिया था।

आसनसोल स्टेशनपर गार्ड ड्योढ़े दर्जेका किराया लेने आया। मैंने कहा— "आपका फर्ज था कि आप मुझे जगह बताते। वहां जगह न मिलनेसे मैं यहां बैठ गया। मुझे तीसरे दर्जेमें जगह दिलाइए तो मैं वहां जानेको तैयार हूं।"

गार्ड साहब बोले— "मुझसे तुम दलील न करो। मेरे पास जगह नहीं है, किराया न दोगे तो तुमको गाड़ीसे उतर जाना होगा।"

मुझे तो किसी तरह जल्दी पूना पहुंचना था। गार्डसे लड़नेकी मेरी हिम्मत नहीं थी। लाचार होकर मैंने किराया चुका दिया। उसने ठेठ पूनातक

ड्योढ़े दर्जेका किराया वसूल किया। मुझे यह अन्याय बहुत अखरा।

सुबह हम मुगलसराय आये। मगनलालको तीसरे दर्जेमें जगह मिल गई थी। वहां मैंने टिकट-कलेक्टरको सब हाल सुनाया और इस घटनाका प्रमाण पत्र उससे मांगा। उसने इन्कार कर दिया। मैंने रेलवेके बड़े अफसरको अधिक भाड़ा वापस मिलनेके लिए दरख्वास्त दी। उसका इस आशयका उत्तर मिला— "प्रमाण-पत्रके बिना अधिक भाड़ेका रुपया लौटानेका रिवाज हमारे यहां नहीं है, परंतु यह आपका मामला है, इसलिए आपको लौटा देते हैं। बर्दवानसे मुगलसराय-तकका अधिक किराया वापस नहीं दिया जा सकता।"

इसके बाद तीसरे दर्जेके सफरके इतने अनुभव हुए हैं कि उनकी एक पुस्तक बन सकती है; परंतु प्रसंगोपात्त उनका जिक्र करनेके उपरांत इन अध्यायोंमें उनका समावेश नहीं हो सकता। शरीर-प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण मेरी तीसरे दर्जेकी यात्रा बंद हो गई। यह बात मुझे सदा खटकती रहती है और खटकती रहेगी। तीसरे दर्जेके सफरमें कर्मचारियोंकी 'जो हुक्मी'की जिल्लत तो उठानी ही पड़ती है; परंतु तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी जहालत, गंदगी, स्वार्थ-भाव और अज्ञानका भी कम अनुभव नहीं होता। खेदकी बात तो यह है कि बहुत बार तो मुसाफिर जानते ही नहीं कि वे उद्दंडता करते हैं या गंदगी बढ़ाते हैं या स्वार्थ-सिद्धि चाहते हैं। वे जो कुछ करते हैं वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है। और इधर हम, जो सुधारक कहे जाते हैं, उनकी बिलकुल पर्वाह नहीं करते।

कल्याण जंक्शनपर हम किसी तरह थके-मांदे पहुंचे। नहानेकी तैयारी की। मगनलाल और मैं स्टेशनके नलसे पानी लेकर नहाये। पत्नीके लिए मैं कुछ तजवीज कर रहा था कि इतनेमें भारत-सेवक-समितिके भाई कौलने हमको पहचाना। वह भी पूना जा रहे थे। उन्होंने कहा— "इनको तो नहानेके लिए दूसरे दर्जेके कमरेमें ले जाना चाहिए। उनके इस सौजन्यसे लाभ उठाते हुए मुझे संकोच हुआ। मैं जानता था कि पत्नीको दूसरे दर्जेके कमरेसे लाभ उठानेका अधिकार न था; परंतु मैंने इस अनौचित्यकी ओर उस समय आंखें मूंद लीं। सत्यके पुजारीको सत्यका इतना उल्लंघन भी शोभा नहीं देता। पत्नीका आग्रह नहीं था कि वह उसमें जाकर नहावे; परंतु पतिके मोहरूपी सुवर्णपात्रने सत्यको ढांक लिया था।

६

मेरा प्रयत्न

पूना पहुंचकर उत्तर-क्रिया इत्यादिसे निवृत्त हो हम सब लोग इस बातपर विचार करने लगे कि समितिका काम कैसे चलाया जाय और मैं उसका सदस्य बनूं या नहीं। इस समय मुझपर बड़ा बोझ आ पड़ा था। गोखलेके जीतेजी मुझे समितिमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी। मैं तो सिर्फ गोखलेकी आज्ञा और इच्छाके अधीन रहना चाहता था। यह स्थिति मुझे भी पसंद थी; क्योंकि भारतवर्षके-जैसे तूफानी समुद्रमें कूदते हुए मुझे एक दक्ष कर्णधारकी आवश्यकता थी और गोखले-जैसे कर्णधारके आश्रयमें मैं अपनेको सुरक्षित समझता था।

अब मेरा मन कहने लगा कि मुझे समितिमें प्रविष्ट होनेके लिए जरूर प्रयत्न करना चाहिए। मैंने सोचा कि गोखलेकी आत्मा यही चाहती होगी। मैंने बिना संकोचके दृढ़ताके साथ प्रयत्न शुरू किया। इस समय समितिके सब सदस्य वहां मौजूद थे। मैंने उनको समझाने और मेरे संबंधमें जो भय उन्हें था उसको दूर करनेकी भरसक कोशिश की; पर मैंने देखा कि सदस्योंमें इस विषयपर मतभेद था। कुछ सदस्योंकी राय थी कि मुझे समितिमें ले लेना चाहिए और कुछ दृढ़तापूर्वक इसका विरोध करते थे; परंतु दोनोंके मनमें मेरे प्रति प्रेम-भाव की कमी न थी; किंतु हां, मेरे प्रति प्रेमकी अपेक्षा समितिके प्रति उनकी वफादारी शायद अधिक थी; मेरे प्रति प्रेमसे तो कम किसी हालतमें न थी।

इससे हमारी यह सारी बहस मीठी थी और केवल सिद्धांतपर ही थी। जो मित्र मेरा विरोध कर रहे थे उनका यह खयाल हुआ कि कई बातोंमें मेरे और उनके विचारोंमें जमीन-आसमानका अंतर है। इससे भी आगे चलकर उनका यह खयाल हुआ कि जिन ध्येयोंको सामने रखकर गोखलेने समितिकी रचना की थी, मेरे समितिमें आ जानेसे उन्हींके जोखिममें पड़ जानेकी संभावना थी और यह बात उन्हें स्वाभाविक तौरपर ही असह्य मालूम हुई। बहुत-कुछ चर्चा हो जानेके बाद हम अपने-अपने घर गये। सभ्योंने अंतिम निर्णय सभाकी दूसरी

बैठकतक स्थगित रक्खा ।

घर जाते हुए मैं बड़े विचारके भंवरमें पड़ गया । बहुमतके बलपर मेरा समितिमें दाखिल होना क्या उचित है ? क्या गोखलेके प्रति यह मेरी वफादारी होगी ? यदि बहुमत मेरे खिलाफ हो जाय तो क्या इससे समितिकी स्थितिको विषम बनानेका निमित्त न बनूंगा ? मुझे यह साफ दिखाई पड़ा कि जबतक समितिके सदस्योंमें मुझे सदस्य बनानेके विषयमें मत-भेद हो तबतक मुझे खुद ही उसमें दाखिल हो जानेका आग्रह छोड़ देना चाहिए और इस तरह विरोधी पक्षको नाजुक स्थितिमें पड़नेसे बचा लेना चाहिए । इसीमें मुझे समिति और गोखलेके प्रति अपनी वफादारी दिखाई दी । अंतरात्मामें यह निर्णय होते ही तुरंत मैंने श्रीशास्त्रीको पत्र लिखा कि आप मुझे सदस्य बनानेके विषयमें सभा न बलावें । विरोधी पक्षको मेरा यह निश्चय बहुत पसंद आया । वे धर्म-संकटसे बच गये । उनकी मेरे साथ स्नेह-गांठ अधिक मजबूत हो गई और इस तरह समितिमें दाखिल होनेकी मेरी दरख्वास्तको वापस लेकर मैं समितिका सच्चा सदस्य बना ।

अब अनुभवसे मैं देखता हूं कि मेरा बाकायदा समितिका सदस्य न होना ठीक ही हुआ और कुछ सदस्योंने मेरे सदस्य बननेका जो विरोध किया था, वह वास्तविक था । अनुभवने दिखला दिया है कि उनके और मेरे सिद्धांतोंमें भेद था; परंतु मत-भेद जान लेनेके बाद भी हम लोगोंकी आत्मामें कभी अंतर न पड़ा, न कभी मन-मुटाव ही हुआ । मत-भेद रहते हुए भी हम बंधु और मित्र बने हुए है । समितिका स्थान मेरे लिए यात्रा-स्थल हो गया है । लौकिक दृष्टिसे भले ही मैं उसका सदस्य न बना हूं, पर आध्यात्मिक दृष्टिसे तो हूं ही । लौकिक संबंधकी अपेक्षा आध्यात्मिक संबंध अधिक कीमती है । आध्यात्मिक संबंधसे हीन लौकिक संबंध प्राण-हीन शरीरके समान है ।

७

कुंभ

मुझे डाक्टर प्राणजीवनदास मेहतासे मिलने रंगून जाना था । रास्तेमें कलकत्तामें श्री भूपेंद्रनाथ बसुके निमंत्रणसे मैं उनके यहां ठहरा । यहां तो बंगे

बंगालके शिष्टाचारकी हद देखी। इन दिनों मैं सिर्फ फलाहार ही करता था। मेरे साथ मेरा लड़का रामदास भी था। भूपेंद्रबाबूके यहां जितने फल और मेवे कलकत्तेमें मिलते थे सब लाकर जुटाये गये थे। स्त्रियोंने रातों-रात जगकर बादाम, पिस्ता वगैराको भिगोकर उनके छिलके निकाले थे। तरह-तरहके फल भी जितना हो सकता था सुरुचि और चतुराईके साथ तैयार किये गये थे। मेरे साथियोंके लिए तरह-तरहके पकवान बनवाये गये थे। इस प्रेम और विवेकके आंतरिक भावको तो मैं समझा, परंतु यह बात मुझे असह्य मालूम हुई कि एक-दो मेहमानोंके लिए सारा घर दिन-भर काम में लगा रहे; किंतु इस संकटसे बचनेका मेरे पास कोई उपाय न था।

रंगून जाते हुए जहाजमें मैंने डेकपर यात्रा की थी। श्रीबसुके यहां यदि प्रेमकी मुसीबत थी तो जहाजमें प्रेमके अभावकी। यहां डेकके यात्रियोंके कष्टोंका बहुत बुरा अनुभव हुआ। नहानेकी जगहपर इतनी गंदगी थी कि खड़ा नहीं रहा जाता था। पाखाना तो नरक ही समझिए। मलमूत्रको छूकर या लांघकर ही पाखानेमें जा सकते थे। मेरे लिए वे कठिनाइयां बहुत भारी थीं। मैंने कप्तानसे इसकी शिकायत की; पर कौन सुनने लगा? इधर यात्रियों-ने खूब गंदगी कर-करके डेकको बिगाड़ रक्खा था। जहां बैठे होते वहीं थूक देते, वहीं तंबाकूकी पिचकारियां चला देते, वहीं खा-पीकर छिलके और कचरा डाल देते। बातचीतकी आवाज और शोर-गुलका तो कहना ही क्या? हर शख्स ज्यादा-से-ज्यादा जगह रोकने की कोशिश करता था, कोई किसीकी सुविधा-का जरा भी खयाल न करता था। खुद जितनी जगहपर कब्जा करते उससे ज्यादा जगह सामानसे रोक लेते। ये दो दिन मैंने राम-राम करके बिताये।

रंगून पहुंचनेपर मैंने एजेंटको इस दुर्दशाकी कथा लिख भेजी। लौटते वक्त भी मैं आया तो डेक पर ही, परंतु उस चिट्ठीके तथा डाक्टर मेहताके इंतजामके फल-स्वरूप उतने कष्ट न उठाने पड़े।

मेरे फलाहारकी झंझट यहां भी आवश्यकतासे अधिक की जाती थी। डाक्टर मेहतासे तो मेरा ऐसा संबंध है कि उनके घरको मैं अपना घर समझ सकता हूं। इससे मैंने खानेकी चीजोंकी संख्या तो कम कर दी थी, परंतु अपने लिए उसकी कोई मर्यादा नहीं बनाई थी। इससे तरह-तरहका मेवा वहां आता और मैं उसका

विरोध न करता,। उस समय मेरी हालत यह थी कि यदि तरह-तरहकी चीजें होती तो वे आंख और जीभको रुचतीं थीं। खानेके वक्तका कोई बंधन तो था ही नहीं। मैं खुद जल्दी खाना पसंद करता था, इसलिए बहुत देर नहीं होती थी; हालांकि रातके आठ-नौ तो सहज बज ही जाते ।

इस साल (१९१५) हरद्वारमें कुंभका मेला पड़ता था। उसमें जानेकी मेरी प्रबल इच्छा थी। फिर मुझे महात्मा मुंशीरामजीके दर्शन भी करने थे। कुंभके मेलेके अवसरपर गोखलेके सेवक-समाजने एक बड़ा स्वयं-सेवक दल भेजा था। उसकी व्यवस्थाका भार श्री हृदयनाथ कुंजरूको सौंपा गया था। स्वर्गीय डाक्टर देव भी उसमें थे। यह बात तय पाई कि उन्हें मदद देनेके लिए मैं भी अपनी टुकड़ीको ले जाऊं। इसलिए मगनलाल गांधी शांति-निकेतनवाली हमारी टुकड़ीको लेकर मुझसे पहले हरद्वार गये थे। मैं भी रंगूनसे लौटकर उनके साथ शामिल हो गया ।

कलकत्तेसे हरद्वार पहुंचते हुए रेलमें बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी। डिब्बों में कभी-कभी तो रोशनी तक भी न होती। सहारनपुरसे तो यात्रियोंको मवेशीकी तरह मालगाड़ीके डिब्बोंमें भर दिया था। खुले डिब्बे, ऊपरसे मध्याह्नका सूर्य तप रहा था, नीचे लोहेकी जमीन गरम हो रही थी। इस मुसीबतका क्या पूछना ? फिर भी भावुक हिंदू प्याससे गला सूखनेपर भी 'इस्लामी पानी' आता तो नहीं पीते। जब 'हिंदू-पानी' की आवाज आती तभी पानी पीते। यही भावुक हिंदू दवामें जब डाक्टर शराब देते है, मुसलमान या ईसाई पानी देते हैं, मांसका सत्व देते हैं, तब उसे पीनेमें संकोच नहीं करते। उसके संबंधमें तो पूछ-ताछ करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझते ।

मैंने यह बात शांति-निकेतनमें ही देख ली थी कि हिंदुस्तानमें भंगीका काम करना हमारा विशेष कार्य हो जायगा। स्वयं-सेवकोंके लिए वहां किसी धर्मशालामें तंबू ताने गए थे। पाखानेके लिए डाक्टर देवने गड्ढे खुदवाए थे; परंतु उनकी सफाईका इंतजाम तो वह उन्हीं थोड़ेसे मेहतरोंसे करा सकते थे, जो ऐसे समय वेतन पर मिल सकते थे। ऐसी दशामें मैंने यह प्रस्ताव किया कि गड्ढोंमें मलको समय-समय पर मिट्टीसे ढांकना तथा और तरहसे सफाई रखना, यह काम फिनिक्सके स्वयं-सेवकोंके जिम्मे किया जाय। डाक्टर देवने इसे खुशीसे

स्वीकार किया। इस सेवाको मांगकर लेनेवाला तो था मैं, परंतु उसे पूरा करनेका बोझा उटाने वाले थे मगनलाल गांधी।

मेरा काम वहां क्या था? डेरेमें बैठकर जो अनेक यात्री आते उन्हें 'दर्शन' देना और उनके साथ धर्म-चर्चा तथा दूसरी बातें करना। दर्शन देते-देते मैं घबरा उठा, उससे मुझे एक मिनट की भी फुरसत नहीं मिलती थी। मैं नहाने जाता नो वहां भी मुझे दर्शनाभिलाषी अकेला नहीं छोड़ते और फलाहारके समय तो एकांत मिल ही कैसे सकता था? तंबूमें कहीं भी एक पलके लिए अकेला न बैठ सकता। दक्षिण अफ्रीकामें जो-कुछ सेवा मुझसे हो सकी उसका इतना गहरा असर सारे भारतवर्षमें हुआ होगा, यह बात मैंने हरद्वारमें अनुभव की।

मैं तो मानो चक्कीके दो पाटोंमें पिसने लगा। जहां लोग पहचानते नहीं, वहां तीसरे दर्जेके यात्रीके रूपमें मुसीबत उठाता; जहां ठहर जाता वहां दर्शनार्थियोंके प्रेमसे घबरा जाता। दोमेंसे कौनसी स्थिति अधिक दयाजनक है, यह मेरे लिए कहना बहुत बार मुश्किल हुआ है। हां, इतना तो जानता हूं कि दर्शनार्थियोंके प्रदर्शनसे मुझे गुस्सा आया है और मन-ही-मन तो उससे अधिक बार संताप हुआ है। तीसरे दर्जेकी मुसीबतोंसे सिर्फ मुझे कष्ट ही उठाने पड़े हैं, गुस्सा मुझे शायद ही आया हो और कष्टसे तो मेरी उन्नति ही हुई है।

इस समय मेरे शरीरमे घूमने-फिरनेकी शक्ति अच्छी थी। इससे मैं इधर-उधर ठीक-ठीक घूम-फिर सका। उस समय मैं इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ था कि जिससे रास्ता चलना भी मुश्किल होता हो। इस भ्रमणमें मैंने लोगोंकी धर्म-भावनाकी अपेक्षा उनकी मूढ़ता, अधीरता, पाखंड और अव्यवस्थितता अधिक देखी। साधुओंके और जमातोंके तो दल टूट पड़े थे। ऐसा मालूम होता था मानो वे महज मालपुए और खीर खानेके लिए ही जनमे हों। यहां मैंने पांच पांववाली गाय देखी। उसे देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ; परंतु अनुभवी आदमियोंने तुरंत मेरा अज्ञान दूर कर दिया। यह पांच पैरोंवाली गाय तो दुष्ट और लोभी लोगोंका शिकार थी— बलिदान थी। जीते बछड़ेका पैर काटकर गायके कंधेका चमड़ा चीरकर उसमें चिपका दिया जाता था और इस दुहेरी घातक क्रियाके द्वारा भोले-भाले लोगोंको दिन-दहाड़े ठगनेका उपाय निकाला गया था। कौन हिंदू ऐसा है, जो इस पांच पांववाली गायके दर्शनके लिए उत्सुक

न हो ? इस पांच पांववाली गायके लिए वह जितना ही दान दे उतना ही कम समझा जाता था !

अब कुंभका दिन आया। मेरे लिए वह घड़ी धन्य थी; परंतु मैं तीर्थ-यात्राकी भावनासे हरद्वार नहीं गया था। पवित्रताकी खोजके लिए तीर्थक्षेत्र. में जानेका मोह मुझे कभी नहीं रहा। मेरा खयाल यह था कि सत्रह लाख आदमियों-में सभी पाखंडी नहीं हो सकते। यह कहा जाता था कि मेलेमें सत्रह लाख आदमी इकट्ठे हुए थे। मुझे इस विषयमें कुछ संदेह नहीं था कि इनमें असंख्य लोग पुण्य कमानेके लिए, अपनेको शुद्ध करनेके लिए, आये थे; परंतु इस प्रकारकी श्रद्धासे आत्माकी उन्नति होती होगी, यह कहना असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर है।

बिछौनेमें पड़ा-पड़ा मैं विचार-सागरमें डूब गया— 'चारों ओर फैले इस पाखंडमें वे पवित्र आत्माएं भी हैं। वे लोग ईश्वरके दरबारमें दंडके पात्र नहीं माने जा सकते। ऐसे समय हरद्वारमें आना ही यदि पाप हो तो फिर मुझे प्रकटरूपसे उसका विरोध करके कुंभके दिन तो हरद्वार अवश्य छोड़ ही देना चाहिए। यदि यहां आना और कुंभके दिन रहना पाप न हो तो मुझे कोई कठोर व्रत लेकर इस प्रचलित पापका प्रायश्चित्त करना चाहिए—आत्मशुद्धि करनी चाहिए।' मेरा जीवन व्रतोंपर रचा गया है, इसलिए कोई कठोर व्रत लेनेका निश्चय किया। इसी समय कलकत्ता और रंगूनमें मेरे निमित्त यजमानोंको जो अनावश्यक परिश्रम करना पड़ा उसका भी स्मरण हो आया। इस कारण मैंने भोजनकी वस्तुओंकी संख्या मर्यादित कर लेनेका और शामको अंधेरेके पहले भोजन कर लेनेका व्रत लेना निश्चित किया। मैंने सोचा कि यदि मैं अपने भोजनकी मर्यादा नहीं रक्खूंगा तो यजमानोंके लिए बहुत असुविधा-जनक होता रहूंगा और सेवा करनेके बजाय उनको अपनी सेवा करनेमें लगाता रहूंगा। इसलिए चौबीस घंटोंमें पांच चीजोंसे अधिक न खानेका और रात्रि-भोजन-त्यागका व्रत ले लिया। दोनोंकी कठिनाईका पूरा-पूरा विचार कर लिया था। इन व्रतोंमें एक भी अपवाद न रखनेका निश्चय किया। बीमारीमें दवाके रूपमें ज्यादा चीजें लेना या न लेना, दवाको भोजनकी वस्तुमें गिनना या न गिनना, इन सब बातोंका विचार कर लिया और निश्चय किया कि खानेकी कोई चीज पांचसे अधिक न लूंगा। इन दो व्रतोंको आज तेरह साल हो गये। इन्होंने मेरी खासी परीक्षा ली है; परंतु जहां एक

और इन्होंने परीक्षा ली है तहां उन्होंने मेरे लिए ढालका भी काम दिया है। मैं मानता हूं कि इन व्रतोंने मेरी आयु बढ़ा दी है; इनकी बदौलत, मेरी धारणा है कि, मैं बहुत बार बीमारियोंसे बच गया हूं।

८

लक्ष्मण-झूला

पहाड़-जैसे दीखनेवाले महात्मा मुंशीरामके दर्शन करने और उनके गुरुकुलको देखने जब मैं गया तब मुझे बहुत शांति मिली। हरद्वार के कोलाहल और गुरुकुलकी शांतिका भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्माजीने मुझपर भरपूर प्रेमकी दृष्टि की। ब्रह्मचारी लोग मेरे पाससे हटते ही नहीं थे। रामदेव-जीसे भी उसी समय मुलाकात हुई और उनकी कार्य-शक्तिको मैं तुरंत पहचान सका था। यद्यपि हमारी मत-भिन्नता हमें उसी समय दिखाई पड़ गई थी, फिर भी हमारे आपसमें स्नेह-गांठ बंध गई। गुरुकुलमें औद्योगिक शिक्षणका प्रवेश करनेकी आवश्यकताके संबंधमें रामदेवजी तथा दूसरे शिक्षकोंके साथमें मेरा ठीक-ठीक वार्तालाप भी हुआ। इससे जल्दीही गुरुकुलको छोड़ते हुए मुझे दुःख हुआ।

लक्ष्मण-झूलाकी तारीफ मैंने बहुत सुन रक्खी थी। ऋषिकेश गये बिना हरद्वार न छोड़नेकी सलाह मुझे बहुत-से लोगोंने दी। मैंने वहां पैदल जाना चाहा। एक मंजिल ऋषिकेशकी और दूसरी लक्ष्मण-झूलेकी की।

ऋषिकेशमें बहुतसे संन्यासी मिलनेके लिये आये थे। उनमेंसे एकको मेरे जीवन-क्रममें बहुत दिलचस्पी पैदा हुई। फिनिक्स-मंडली मेरे साथ थी ही। हम सबको देखकर उन्होंने बहुतेरे प्रश्न पूछे। हम लोगोंमें धर्म-चर्चा भी हुई। उन्होंने देख लिया कि मेरे अंदर तीव्र धर्मभाव है। मैं गंगा-स्नान करके आया था और मेरा शरीर खुला था। उन्होंने मेरे सिरपर न चोटी देखी और न बदनपर जनेऊ। इससे उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने कहा—

"आप हैं तो आस्तिक, परंतु शिखा-सूत्र नहीं रखते, इससे हम जैसोंको दुःख होता है। हिंदू-धर्मकी ये दो बाह्य संज्ञाएं हैं और प्रत्येक हिंदूको इन्हें धारण

करना चाहिए ।"

जब मेरी उमर कोई दस वर्षकी रही होगी तब पोरबंदरमें ब्राह्मणोंके जनेऊसे बंधी चाबियोंकी झंकार मैं सुना करता था और उसकी मुझे ईर्ष्या भी होती थी। मनमें यह भाव उठा करता कि मैं भी इसी तरह जनेऊमें चाबियां लटकाकर झंकार किया करूं तो अच्छा हो। काठियावाड़के वैश्य कुटुंबोंमें उस समय जनेऊका रिवाज नहीं था। हां, नये सिरेसे इस बातका प्रचार अलबत्ता हो रहा था कि द्विज-मात्रको जनेऊ अवश्य पहनना चाहिए। उसके फल-स्वरूप गांधी-कुटुंबके कितने ही लोग जनेऊ पहनने लगे थे। जिन ब्राह्मणने हम दो-तीन सगे संबंधियोंको राम-रक्षाका पाठ सिखाया था, उन्होंने हमें जनेऊ पहनाया। मुझे अपने पास चाबियां रखनेका कोई प्रयोजन नहीं था। तो भी मैंने दो-तीन चाबियां लटका लीं। जब वह जनेऊ टूट गया तब उसका मोह उतर गया था या नहीं, यह तो याद नहीं पड़ता, परंतु मैंने नया जनेऊ फिर नहीं पहना।

बड़ी उमरमें दूसरे लोगोंने फिर हिंदुस्तानमें तथा दक्षिण अफ्रीकामें जनेऊ पहनानेका प्रयत्न किया था, परंतु उनकी दलीलोंका असर मेरे दिलपर नहीं हुआ। शूद्र यदि जनेऊ नहीं पहन सकता तो फिर दूसरे लोगोंको क्यों पहनना चाहिए? जिस बाह्य चिह्नका रिवाज हमारे कुटुंबमें नहीं था उसे धारण करनेका एक भी सबल कारण मुझे नहीं दिखाई दिया। मुझे जनेऊसे अरुचि नहीं थी, परंतु उसे पहननेके कारणोंका अभाव मालूम होता था। हां, वैष्णव होनेके कारण मैं कंठी जरूर पहनता था। शिखा तो घरके बड़े-बूढ़े हम भाइयोंके सिरपर रखवाते थे, परंतु विलायतमें सिर खुला रखना पड़ता था। गोरे लोग देखकर हंसेंगे और हमें जंगली समझेंगे, इस शर्मसे शिखा कटा डाली थी। मेरे भतीजे छगनलाल गांधी, जो दक्षिण अफ्रीकामें मेरे साथ रहते थे, बड़े भावके साथ शिखा रख रहे थे; परंतु इस वहमसे कि उनकी शिखा वहां सार्वजनिक कामोंमें बाधा डालेगी, मैंने उनके दिलको दुखाकर भी छुड़ा दी थी। इस तरह शिखासे मुझे उस समय शर्म लगती थी।

इन स्वामीजीसे मैंने यह सब कथा सुनाकर कहा—

"जनेऊ तो मैं धारण नहीं करूंगा; क्योंकि असंख्य हिंदू जनेऊ नहीं पहनते हैं फिर भी वे हिंदू समझे जाते हैं, तो फिर मैं अपने लिए उसकी जरूरत

नहीं देखता। फिर जनेऊ धारणके मानी हैं—दूसरा जन्म लेना अर्थात् हम विचार-पूर्वक शुद्ध हों, ऊर्ध्वगामी हों। आज तो हिंदू-समाज और हिंदुस्तान दोनों गिरी दशामें हैं। इसलिए हमें जनेऊ पहननेका अधिकार ही कहां है? जब हिंदू-समाज अस्पृश्यताका दोष धो डालेगा, ऊंच-नीचका भेद भूल जायगा, दूसरी गहरी बुराइयों-को मिटा देगा, चारों तरफ फैले अधर्म और पाखंडको दूर कर देगा, तब उसे भले ही जनेऊ पहननेका अधिकार हो। इसलिए जनेऊ धारण करनेकी आपकी बात तो मुझे पट नहीं रही है। हां, शिखा-संबंधी आपकी बातपर मुझे अवश्य विचार करना पड़ेगा। शिखा तो मैं रखता था, परंतु शर्म और डरसे उसे कटा डाला। मैं समझता हूं कि वह तो मुझे फिर धारण कर लेनी चाहिए। अपने साथियोंके साथ इस बातका विचार कर लूंगा।"

स्वामीजीको जनेऊ-विषयक मेरी दलील न जंची। जो कारण मैंने जनेऊ न पहननेके पक्षमें पेश किये, वे उन्हें पहननेके पक्षमें दिखाई दिये। अस्तु। जनेऊके संबंधमें उस समय ऋषिकेशमें जो विचार मैंने प्रदर्शित किया था वह आज भी प्रायः वैसा ही कायम है। जबतक संसारमें भिन्न-भिन्न धर्मोंका अस्तित्व है, तबतक प्रत्येक धर्मके लिए बाह्य संज्ञाकी आवश्यकता भी शायद हो; परंतु जब वह बाह्य संज्ञा आडंबरका रूप धारण कर लेती है अथवा अपने धर्म को दूसरे धर्मसे पृथक् दिखलानेका साधन हो जाय, तब वह त्याज्य हो जाती है। आजकल मुझे जनेऊ हिंदू-धर्मको ऊंचा उठानेका साधन नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए मैं उसके संबंधमें उदासीन रहता हूं।

शिखाके त्यागकी बात जुदा है। यह शर्म और भयके कारण हुआ था; इसलिए अपने साथियोंके साथ विचार करके मैंने उसे धारण करनेका निश्चय किया।

पर अब हमको लक्ष्मण-झूलेकी ओर चलना चाहिए। ऋषिकेश और लक्ष्मण-झूलेके प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत पसंद आये। हमारे पूर्वजोंकी प्राकृतिक कलाको पहचाननेकी क्षमताके प्रति और कलाको धार्मिक स्वरूप देनेकी उनकी दूरंदेशीके प्रति मेरे मनमें बड़ा आदर उत्पन्न हुआ, परंतु दूसरी ओर मनुष्यकी कृतिको वहां देखकर चित्तको शांति न हुई। हरद्वारकी तरह ऋषिकेशमें भी लोग रास्तोंको और गंगाके सुंदर किनारोंको गंदा कर डालते थे। गंगाके पवित्र पानीको

बिगाड़ते हुए भी उन्हें कुछ संकोच न होता था। दिशा-जंगल जानेवाले आम जगह और रास्तोंपर ही बैठ जाते, यह देखकर मेरे चित्तको बड़ी चोट पहुंची।

लक्ष्मण-झूला जाते हुए रास्तेमें लोहेका एक झूलता हुआ पुल देखा। लोगोंसे मालूम हुआ कि पहले यह पुल रस्सीका और बहुत मजबूत था, उसे तोड़कर एक उदार-हृदय मारवाड़ी सज्जनने बहुत रुपये लगाकर यह लोहेका पुल बना दिया और उसकी कुंजी सौंप दी सरकारको ! रस्सीके पुलका तो मुझे कुछ खयाल नहीं हो सकता, परंतु यह लोहेका पुल तो वहांके प्राकृतिक सौंदर्यको कलुषित करता था और बहुत भद्दा मालूम होता था। फिर यात्रियोंके इस रास्तेकी कुंजी सरकारको सौंप दी गई, यह बात तो मेरी उस समयकी वफादारीको भी असह्य मालूम हुई।

वहांसे भी अधिक दुःखद दृश्य स्वर्गाश्रमका था। टीनके तबेले-जैसे कमरोंका नाम स्वर्गाश्रम रक्खा गया था। कहा गया था कि ये साधकोंके लिए बनाये गये हैं; परंतु उस समय शायद ही कोई साधक वहां रहता हो। वहांकी मुख्य इमारतमें जो लोग रहते थे उन्होंने भी मेरे दिलपर अच्छी छाप नहीं डाली।

जो हो; पर इसमें संदेह नहीं कि हरद्वारके अनुभव मेरे लिए अमूल्य साबित हुए। मैं कहां जाकर बसूं और क्या करूं, इसका निश्चय करनेमें हरद्वारके अनुभवोंने मुझे बहुत सहायता दी।

६

आश्रमकी स्थापना

कुंभकी यात्राके पहले मैं एक बार और हरद्वार आ चुका था। सत्याग्रह-आश्रमकी स्थापना २५ मई १९१५ को हुई। श्रद्धानंदजीकी यह राय थी कि मैं हरद्वारमें बसूं। कलकत्तेके कुछ मित्रोंकी सलाह थी कि वैद्यनाथ-धाममें डेरा डालूं। और कुछ मित्र इस बातपर जोर दे रहे थे कि राजकोटमें रहूं।

पर जब मैं अहमदाबादसे गुजरा तो बहुतेरे मित्रोंने कहा कि आप अहमदाबादको चुनिए। और आश्रमके खर्चका भार भी अपने जिम्मे उन्होंने ले लिया। मकान खोजनेका भी आश्वासन दिया।

अहमदाबादपर मेरी नजर ठहर गई थी। मैं मानता था कि गुजराती होनेके कारण मैं गुजराती भाषाके द्वारा देशकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूंगा। अहमदाबाद पहले हाथ-बुनाईका बड़ा भारी केंद्र था, इससे चरखेका काम यहां अच्छी तरह हो सकेगा; और गुजरातका प्रधान नगर होनेके कारण यहांके धनाढ्य लोग धन-द्वारा अधिक सहायता दे सकेंगे, यह भी खयाल था।

अहमदाबादके मित्रोंके साथ जब आश्रमके विषयमें बातचीत हुई तो अस्पृश्योंके प्रश्नकी भी चर्चा उनसे हुई थी। मैंने साफ तौरपर कहा था कि यदि कोई योग्य अंत्यज भाई आश्रममें प्रविष्ट होना चाहेंगे तो मैं उन्हें अवश्य आश्रममें लूंगा।

"आपकी शर्तोंका पालन कर सकने वाले अंत्यज ऐसे कहां रास्तेमें पड़े हुए हैं?" एक वैष्णव मित्रने ऐसा कहकर अपने मनको संतोष दे लिया और अंतको अहमदाबादमें बसनेका निश्चय हुआ।

अब हम मकानकी तलाश करने लगे। श्री जीवनलाल बैरिस्टरका मकान, जो कोचरबमें है, किरायेपर लेना तय पाया। वही मुझे अहमदाबादमें बसानेवालोंमें अग्रणी थे।

इसके बाद आश्रमका नाम रखनेका प्रश्न खड़ा हुआ। मित्रोंसे मैंने मशवरा किया। कितने ही नाम आये। सेवाश्रम, तपोवन इत्यादि नाम सुझाये गये। सेवाश्रम नाम हम लोगोंको पसंद आता था, परंतु उससे सेवाकी पद्धतिका परिचय नहीं होता था। तपोवन नाम तो भला स्वीकृत कैसे हो सकता था? क्योंकि यद्यपि तपश्चर्या हम लोगोंको प्रिय थी, फिर भी यह नाम हम लोगोंको अपने लिए भारी मालूम हुआ। हम लोगोंका उद्देश्य तो था सत्यकी पूजा, सत्यकी शोध करना, उसीका आग्रह रखना और दक्षिण अफ्रीकामें जिस पद्धतिका उपयोग हम लोगोंने किया था, उसीका परिचय भारतवासियोंको कराना, एवं हमें यह भी देखना था कि उसकी शक्ति और प्रभाव कहांतक व्यापक हो सकता है। इस-लिए मैंने और साथियोंने 'सत्याग्रहाश्रम' नाम पसंद किया। उसमें सेवा और सेवा-पद्धति दोनोंका भाव अपने-आप आ जाता था।

आश्रमके संचालनके लिए नियमावलीकी आवश्यकता थी, इसलिए नियमावली बनाकर उसपर जगह-जगहसे रायें मंगवाई गईं। बहुतेरी सम्मतियों-

में सर गुरुदास बनर्जीकी राय मुझे याद रह गई है। उन्हें नियमावली पसंद आई; परंतु उन्होंने सुझाया कि इन व्रतोंमें नम्रताके व्रतको भी स्थान मिलना चाहिए। उनके पत्र की ध्वनि यह थी कि हमारे युवकवर्गमें नम्रताकी कमी है। मैं भी जगह-जगह नम्रताके अभावको अनुभव कर रहा था; मगर व्रतमें स्थान देनेसे नम्रताके नम्रता न रह जानेका आभास होता था। नम्रताका पूरा अर्थ तो है शून्यता। शून्यता प्राप्त करनेके लिए दूसरे व्रत होते हैं। शून्यता मोक्षकी स्थिति है। मुमुक्षु या सेवकके प्रत्येक कार्य यदि नम्रता-निरभिमानतासे न हों तो वह मुमुक्षु नहीं, सेवक नहीं, वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

आश्रममें इस समय लगभग तेरह तामिल लोग थे। मेरे साथ दक्षिण अफ्रीकासे पांच तामिल बालक आये। वे तथा यहांके लगभग पच्चीस स्त्री-पुरुष मिलकर आश्रमका आरंभ हुआ था। सब एक भोजनशालामें भोजन करते थे और इस तरह रहनेका प्रयत्न करते थे, मानो सब एक ही कुटुंबके हों।

१०

कसौटीपर

आश्रमकी स्थापनाको अभी कुछ ही महीने हुए थे कि इतनेमें हमारी एक एसी कसौटी हो गई, जिसकी हमने आशा नहीं की थी। एक दिन मुझे भाई अमृतलाल ठक्करका पत्र मिला—'एक गरीब और दयानतदार अंत्यज कुटुंबकी इच्छा आपके आश्रममें आकर रहनेकी है। क्या आप उसे ले सकेंगे?'

चिट्ठी पढ़कर मैं चौंका तो; क्योंकि मैंने यह बिलकुल आशा न की थी कि ठक्कर बापा-जैसोंकी सिफारिश लेकर कोई अंत्यज कुटुंब इतनी जल्दी आ जायगा। मैंने साथियोंको यह चिट्ठी दिखाई। उन लोगोंने उसका स्वागत किया। मैंने अमृतलालभाईको चिट्ठी लिखी कि यदि वह कुटुंब आश्रमके नियमोंका पालन करने के लिए तैयार हो तो हम उसे लेनेके लिए तैयार हैं।

बस, दूधाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दुधमुंही लक्ष्मी आश्रममें आ गये। दूधाभाई बंबईमें शिक्षक थे। वह आश्रमके नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार थे। इसलिए वह आश्रममें ले लिये गये।

पर इससे सहायक मित्र-मंडलीमें बड़ी खलबली मची। जिस कुएंमें बंगलेके मालिकका भाग था उसमेंसे पानी भरनेमें दिक्कत आने लगी। चरस हांकनेवालेको भी यदि हमारे पानीके छींटे लग जाते तो उसे छूत लग जाती। उसने हमें गालियां देना शुरू किया। दूधाभाईको भी वह सताने लगा। मैंने सबसे कह रक्खा था कि गालियां सह लेना चाहिए और दृढ़तापूर्वक पानी भरते रहना चाहिए। हमको चुपचाप गालियां सुनते देखकर चरसवाला शर्मिंदा हुआ और उसने हमारा पिंड छोड़ दिया; परंतु इससे आर्थिक सहायता मिलनी बंद हो गई। जिन भाइयोंने पहलेसे उन अछूतोंके प्रवेशपर भी, जो आश्रमके नियमों का पालन करते हों, शंका खड़ी की थी उन्हें तो यह आशा ही नहीं थी कि आश्रममें कोई अंत्यज आ जायगा। इधर आर्थिक सहायता बंद हुई, उधर हम लोगोंके बहिष्कारकी अफवाह मेरे कानपर आने लगी। मैंने अपने साथियोंके साथ यह विचार कर रक्खा था कि यदि हमारा बहिष्कार हो जाय और हमें कहीं से सहायता न मिले तो भी हमें अहमदाबाद न छोड़ना चाहिए। हम अछूतोंके मुहल्लोंमें जाकर बस जायेंगे और जो-कुछ मिल जायगा उसपर अथवा मजदूरी करके गुजर कर लेंगे।

अंतको मगनलालने मुझे नोटिस दिया कि अगले महीने आश्रमखर्चके लिए हमारे पास रुपये न रहेंगे। मैंने धीरजके साथ जवाब दिया—"तो हम लोग अछूतोंके मुहल्लोंमें रहने लगेंगे।"

मुझपर यह संकट पहली ही बार नहीं आया था; परंतु हर बार अखीरमें जाकर उस सांवलियाने कहीं-न-कहींसे मदद भेज दी है।

मगनलालके इस नोटिसके थोड़े ही दिन बाद एक रोज सुबह किसी बालकने आकर खबर दी कि बाहर एक मोटर खड़ी है। एक सेठ आपको बुला रहे हैं। मैं मोटरके पास गया। सेठने मुझसे कहा—"मैं आश्रमको कुछ मदद देना चाहता हूं, आप लेंगे?" मैंने उत्तर दिया—"हां, आप दें तो मैं जरूर ले लूंगा। और इस समय तो मुझे जरूरत भी है।"

"मैं कल इसी समय यहां आऊंगा तो आप आश्रममें ही मिलेंगे न?" मैंने कहा—"हां।" और सेठ अपने घर गये। दूसरे दिन नियत समयपर मोटरका भोंपू बजा। बालकोंने मुझे खबर की। वह सेठ अंदर नहीं आये।

मैं ही उनसे मिलनेके लिए गया। मेरे हाथमें १३,०००) के नोट रखकर वह विदा हो गये। इस मददकी मैंने बिलकुल आशा न की थी। मदद देनेका यह तरीका भी नया ही देखा। उन्होंने आश्रममें इससे पहले कभी पैर न रक्खा था। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि मैं उनसे एक बार पहले भी मिला था। न तो वह आश्रमके अंदर आये, न कुछ पूछा-ताछा। बाहरसे ही रुपया देकर चलते बने। इस तरहका यह पहला अनुभव मुझे था। इस मददसे अछूतोंके मुहल्लेमें जानेका विचार स्थगित रहा; क्योंकि लगभग एक वर्षके खर्चका रुपया मुझे मिल गया था।

परंतु बाहरकी तरह आश्रमके अंदर भी खलबली मची। यद्यपि दक्षिण अफ्रीकामें अछूत वगैरा मेरे यहां आते रहते, और खाते थे, परंतु यहां अछूत कुटुंबका आना और आकर रहना पत्नीको तथा दूसरी स्त्रियोंको पसंद न हुआ। दानी-बहनके प्रति उनका तिरस्कार तो नहीं, पर उदासीनता मेरी सूक्ष्म आंखें और तीक्ष्ण कान, जो ऐसे विषयोंमें खासतौरपर सतर्क रहते हैं, देखते और सुनते थे। आर्थिक सहायताके अभावसे न तो मैं भयभीत हुआ, न चिंता-ग्रस्त ही, परंतु यह भीतरी क्षोभ कठिन था। दानीबहन मामूली स्त्री थी। दूधाभाईकी पढ़ाई भी मामूली थी; पर वह ज्यादा समझदार थे। उनका धीरज मुझे पसंद आया। कभी-कभी उन्हें गुस्सा आ जाता; परंतु आमतौर पर उनकी सहनशीलताकी अच्छी ही छाप मुझपर पड़ी है। मैं दूधाभाईको समझाता कि छोटे-छोटे अपमानोंको हमें पी जाना चाहिए। वह समझ जाते और दानीबहन को भी सहन करनेकी प्रेरणा करते।

इस कुटुंबको आश्रममें रखकर आश्रमने बहुत सबक सीखे हैं। और आरंभ-कालमें ही यह बात साफतौरसे स्पष्ट हो जानेसे कि आश्रममें अस्पृश्यताके लिए जगह नहीं है, आश्रमकी मर्यादा बंध गई और इस दिशामें उसका काम बहुत सरल हो गया। इतना होते हुए भी, आश्रमका खर्च बढ़ते जाते हुए भी, ज्यादातर सहायता उन्हीं हिंदुओंकी तरफसे मिलती आ रही है जो कट्टर माने जाते हैं यह यह बात स्पष्ट रूपसे शायद इसी बातको सूचित करती है कि अस्पृश्यताकी जड़ अच्छी तरह हिल गई है। इसके दूसरे प्रमाण तो बहुतेरे हैं परंतु जहां अछूतके साथ खानपानमें परहेज नहीं रक्खा जाता वहां भी वे हिंदू-भाई मदद करें, जो अपनेको सनातनी मानते हैं, तो यह प्रमाण न-कुछ नहीं समझा जा सकता।

इसी प्रश्नके संबंधमें एक और बात भी आश्रममें स्पष्ट हो गई। इस विषयमें जो-जो नाजुक सवाल पैदा हुए उनका भी हल मिला। कितनी ही अकल्पित असुविधाओंका स्वागत करना पड़ा। ये तथा और भी सत्यकी शोधके सिलसिलेमें हुए प्रयोगोंका वर्णन आवश्यक तो है; पर मैं उन्हें यहां छोड़ देता हूं। इस बातपर मुझे दुःख तो है; परंतु अब आगेके अध्यायोंमें यह दोष थोड़ा-बहुत रहता ही रहेगा—कुछ जरूरी बातें मुझे छोड़ देनी पड़ेंगी; क्योंकि उनमें योग देने वाले बहुतेरे पत्र अभी मौजूद हैं और उनकी इजाजतके बिना उनके नाम और उनसे संबंध रखने-वाली बातोंका वर्णन आजादीसे करना अनुचित मालूम होता है। सबकी स्वीकृति समय-समयपर मांगना अथवा उनसे संबंध रखनेवाली बातें उनको भेजकर सुधर-वाना एक असंभव बात है, फिर यह इस आत्मकथाकी मर्यादाके भी बाहर है। इसलिए अब आगेकी कथा यद्यपि मेरी दृष्टिसे सत्यके शोधकके लिए जानने योग्य है, फिर भी मुझे डर है कि वह अधूरी छपती रहेगी। इतना होते हुए भी ईश्वरकी इच्छा होगी तो असहयोगके युगतक पहुंचनेकी मेरी इच्छा व आशा है।

११

गिरमिट-प्रथा

अब इस नये बसे हुए आश्रमको छोड़ कर, जो कि अब भीतरी और बाहरी तूफानोंसे निकल चुका था, गिरमिट-प्रथा या कुली-प्रथापर थोड़ा-सा विचार करनेका समय आ गया है। गिरमिटिया उस कुली या मजूरको कहते हैं, जो पांच या उससे कम वर्षके लिए मजूरी करनेका लेखी इकरार करके भारतके बाहर चला जाता है। नेटालके ऐसे गिरमिटियों परसे तीन पौंडका वार्षिक कर १९१४में उठा दिया गया था; परंतु यह प्रथा अभी बंद नहीं हुई थी। १९१६ में भारतभूषण पंडित मालवीयजीने इस सवालको धारा-सभामें उठाया था ार लार्ड हार्डिंजने उनके प्रस्तावको स्वीकार करके यह घोषणा की थी यह प्रथ आते ही' उठा देनेका वचन मुझे सम्राट्की ओरसे मिला है। परंतु मेरा तो २ न ?" मत हुआ कि इस प्रथाको तत्काल बंद कर देनेका निर्णय हो जाना चाहिए मयपर स्तान अपनी लापरवाही से इस प्रथाको बहुत वर्षोंतक दरगुजर करता रहा;

पर अब मैंने यह देखा कि लोगोंमें इतनी जाग्रति आगई है कि अब यह बंद की जा सकती है, इसलिए मैं कितने ही नेताओंसे इस विषयमें मिला, कुछ अखबारोंमें इस संबंधमें लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथाका उच्छेद कर देनेके पक्षमें था। मेरे मनमें प्रश्न उठा कि क्या इसमें सत्याग्रह का कुछ उपयोग हो सकता है ? मुझे उसके उपयोगके विषयमें तो कुछ संदेह नहीं था; परंतु यह बात मुझे नहीं दिखाई पड़ती थी कि उपयोग किया कैसे जाय ।

इस बीच वाइसरायने 'समय आनेपर' इन शब्दोंका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया। उन्होंने प्रकट किया कि दूसरी व्यवस्था करनेमें जितना समय लगेगा, उतने समयमें यह प्रथा निर्मूल कर दी जायगी। इसपरसे फरवरी १९१७ में भारतभूषण मालवीयजीने गिरमिट-प्रथाको कतई उठा देनेका कानून पेश करनेकी इजाजत बड़ी धारा-सभामें मांगी, तो वायसरायने उसे नामंजूर कर दिया। तब इस मसलेको लेकर मैंने हिंदुस्तानमें भ्रमण शुरू कर दिया ।

भ्रमण शुरू करनेके पहले वाइसरायसे मिल लेना मैंने उचित समझा। उन्होंने तुरंत मुझे मिलनेका समय दिया। उस समय मि० मेफी, अब सर जान मेफी, उनके मंत्री थे। मि० मेफीके साथ मेरा ठीक संबंध बंध गया था। लार्ड चेम्सफोर्डके साथ इस विषयपर संतोषजनक बातचीत हुई। उन्होंने निश्चय-पूर्वक तो कुछ नहीं कहा— परंतु उनसे मदद मिलनेकी आशा जरूर मेरे मनमें बंधी ।

भ्रमणका आरंभ मैंने बंबईसे किया। बंबईमें सभा करनेका जिम्मा मि० जहांगीरजी पेटिटने लिया। इंपीरियल सिटीजनशिप असोसियेशनके नामपर सभा हुई। उसमें जो प्रस्ताव उपस्थित किये जानेवाले थे, उनका मसविदा बनानेके लिए एक समिति बनाई गई। उसमें डा० रीड, सर लल्लूभाई शामलदास, नटराजन इत्यादि थे। मि० पेटिट तो थे ही। प्रस्तावमें यह प्रार्थना की गई थी ... गिरमिट-प्रथा बंद कर दी जाय; पर सवाल यह था कि कब बंद की जाय ? ... संबंधमें तीन सूचनायें पेश हुई—(१) 'जितनी जल्दी हो सके', (२) ...स जुलाई', और (३) 'तुरंत'। 'इकत्तीस जुलाई' वाली सूचना मेरी थी। ...ो निश्चित तारीखकी जरूरत थी कि जिससे उस मियादतक यदि कुछ ...। तो इस बातकी सूझ पड़ सके कि आगे क्या किया जाय और क्या किया जा

सकता है। सर लल्लूभाईकी राय थी कि 'तुरंत' शब्द रक्खा जाय। उन्होंने कहा कि 'इकत्तीस जुलाई'से तो 'तुरंत' शब्दमें अधिक जल्दीका भाव आता है। इसपर मैंने यह समझानेकी कोशिश की कि लोग 'तुरंत' शब्दका तात्पर्य न समझ सकेंगे। लोगोंसे यदि कुछ काम लेना हो तो उनके सामने निश्चयात्मक शब्द रखना चाहिए। 'तुरंत' का अर्थ सब अपनी मर्जीके अनुसार कर सकते हैं। सरकार एक कर सकती है, लोग दूसरा कर सकते हैं। परंतु 'इकत्तीस जुलाई' का अर्थ सब एक ही करेंगे और उस तारीख तक यदि कोई फैसला न हो तो हम यह विचार कर सकते है कि अब हमें क्या कार्रवाई करनी चाहिए। यह दलील डा० रीडको तुरंत जंच गई। अंतको सर लल्लूभाईको भी 'इकत्तीस जुलाई' रुची और प्रस्तावमें वही तारीख रक्खी गई। सभामें यह प्रस्ताव रक्खा गया और सब जगह 'इकत्तीस जुलाई'की मर्यादा घोषित हुई।

बंबईसे श्रीमती जायजी पेटिटकी अथक मिहनतसे स्त्रियोंका एक प्रतिनिधि-मंडल वायसरायके पास गया। उसमें लेडी ताता, स्वर्गीय दिलशाह बेगम वगैरा थीं। सब बहनोंके नाम तो मुझे इस समय याद नहीं हैं; परंतु इस प्रतिनिधि-मंडलका असर बहुत अच्छा हुआ और वायसराय साहबने उसका आशा-वर्धक उत्तर दिया था। करांची, कलकत्ता वगैरा जगह भी मैं हो आया था। सब जगह अच्छी सभायें हुईं और जगह-जगह लोगोंमें खूब उत्साह था। जब मैंने इस कामको उठाया तब ऐसी सभायें होनेकी और इतनी संख्यामें लोगोंके आनेकी आशा मैंने नहीं की थी।

इस समय मैं अकेला ही सफर करता था, इससे अलौकिक अनुभव प्राप्त होता था। खुफिया पुलिस तो पीछे लगी ही रहती थी; पर इनके साथ झगड़नेकी मुझे कोई जरूरत नहीं थी। मेरे पास कुछ भी छिपी बात नहीं थी। इसलिए वे न मुझे सताते और न मैं उन्हें सताता था। सौभाग्यसे उस समय मुझपर 'महात्मा'की छाप नहीं लगी थी, हालांकि जहां लोग मुझे पहचान लेते वहां इस नामका घोष होने लगता था। एक दफा रेलमें जाते हुए बहुतसे स्टेशनोंपर खुफिया मेरा टिकट देखने आते और नंबर वगैरा लेते। मैं तो वे जो सवाल पूछते जवाब तुरंत दे देता। इससे साथी मुसाफिरोंने समझा कि मैं कोई सीधा-सादा साधु या फकीर हूं। जब दो-चार स्टेशनपर खुफिया आये तो वे मुसाफिर

बिगड़े और उस खुफियाको गाली देकर डांटने लगे—"इस बेचारे साधुको नाहक क्यों सताते हो ?" और मेरी तरफ मुखातिब होकर कहा—"इन बदमाशोंको टिकट मत बताओ।"

मैंने धीमेसे इन यात्रियोंसे कहा—"उनके टिकट देखनेसे मुझे कोई कष्ट नहीं होता, वे अपना फर्ज अदा करते हैं, इससे मुझे किसी तरहका दुःख नहीं है।"

उन मुसाफिरोंको यह बात जंची नहीं। वे मुझपर अधिक तरस खाने लगे और आपसमें बातें करने लगे कि देखो, निरपराध लोगोंको भी ये कैसे हैरान करते हैं !

इन खुफियोंसे तो मुझे कोई तकलीफ न मालूम हुई; परंतु लाहौरसे लेकर देहलीतक मुझे रेलवेकी भीड़ और तकलीफका बहुत ही कडुआ अनुभव हुआ। कराचीसे लाहौर होकर मुझे कलकत्ता जाना था। लाहौरमें गाड़ी बदलनी पड़ती थी। यहां गाड़ीमें मेरी कहीं दाल नहीं गलती थी। मुसाफिर जबरदस्ती घुस पड़ते थे। दरवाजा बंद होता तो खिड़कीमेंसे अंदर घुस जाते थे। इधर मुझे नियत तिथिको कलकत्ता पहुंचना जरूरी था। यदि यह ट्रेन छूट जाती तो मैं कलकत्ते समयपर नहीं पहुच सकता था। मैं जगह मिलनेकी आशा छोड़ रहा था। कोई मुझे अपने डब्बेमें नहीं लेता था। अखीरको मुझे जगह खोजता हुआ देखकर एक मजदूरने कहा—"मुझे बारह आने दो तो मैं जगह दिला दूं।" मैंने कहा—"जगह दिला दो तो मैं बारह आने जरूर दूंगा।" बेचारा मजदूर मुसाफिरोंके हाथ-पांव जोड़ने लगा; पर कोई मुझे जगह देनेके लिए तैयार नहीं होते थे। गाड़ी छूटनेकी तैयारी थी। इतनेमें एक डब्बेके कुछ मुसाफिर बोले—"यहां जगह नहीं है; लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो; खड़ा रहना होगा।" मजदूरने मुझसे पूछा—"क्योंजी ?" मैंने कहा—"हां, घुसा दो !" तब उसने मुझे उठाकर खिड़कीमेंसे अंदर फेंक दिया। मैं अंदर घुसा और मजदूरने बारह आने कमाये।

मेरी यह रात बड़ी मुश्किलोंसे बीती। दूसरे मुसाफिर तो किसी तरह ज्यों-त्यों करके बैठ गये; परंतु मैं ऊपरकी बैठककी जंजीर पकड़कर खड़ा ही रहा। बीच-बीचमें यात्री लोग मुझे डांटते भी जाते—"अरे, खड़ा क्यों है, बैठ क्यों नहीं जाता ?" मैंने उन्हें बहुतेरा समझाया कि बैठनेकी जगह नहीं है; परंतु उन्हें

मेरा खड़ा रहना भी बरदाश्त नहीं होता था, हालांकि वे खुद ऊपरकी बैठकमें आरामसे पैर ताने पड़े हुए थे ! पर मुझे बार-बार दिक करते थे। ज्यों-ज्यों वे मुझे दिक करते त्यों-त्यों मैं उन्हें शांतिसे जवाब देता। इससे वे कुछ शांत हुए। फिर मेरा नामठाम पूछने लगे। जब मुझे अपना नाम बताना पड़ा तब वे बड़े शर्मिंदा हुए। मुझसे माफी मांगने लगे और तुरंत अपने पास जगह कर दी। 'सबरका फल मीठा होता है'— यह कहावत मुझे याद आई। इस समय मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। जब बैठनेको जगहकी सचमुच जरूरत थी तब ईश्वरने उसकी सुविधा कर दी।

इस तरह धक्के खाता हुआ आखिर समयपर कलकत्ते पहुंच गया। कासिमबाजारके महाराजने अपने यहां ठहरनेका मुझे निमंत्रण दे रक्खा था। कलकत्तेकी सभाके सभापति भी वही थे। कराचीकी तरह कलकत्तेमें भी लोगोंका उत्साह उमड़ रहा था, कुछ अंग्रेज लोग भी आये थे।

इकत्तीस जुलाईके पहले कुली-प्रथा बंद होनेकी घोषणा प्रकाशित हुई। १८९४ में इस प्रथाका विरोध करनेके लिए पहली दरखास्त मैंने बनाई थी और यह आशा रक्खी थी कि किसी दिन यह 'अर्ध-गुलामी' जरूर रद हो जायगी। १८९४में शुरू हुए इस कार्यमें यद्यपि बहुतेरे लोगोंकी सहायता थी; परंतु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस बारके प्रयत्नके साथ शुद्ध सत्याग्रह भी सम्मिलित था।

इस घटनाका अधिक ब्यौरा और उसमें भाग लेनेवाले पात्रोंका परिचय दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके इतिहासमें पाठकोंको मिलेगा।

१२

नीलका दाग

चंपारन राजा जनककी भूमि है। चंपारनमें जैसे आमके बन हैं उसी तरह, १९१७में नीलके खेत थे। चंपारनके किसान अपनी ही जमीनके ३/२० हिस्से में नीलकी खेती जमीनके असली मालिकके लिए करनेपर कानूनन बाध्य थे। इसे वहां 'तीन कठिया' कहते थे। २० कट्ठेका वहां एक एकड़ था और उसमेंसे ३ कट्ठे नील बोना पड़ता था। इसीलिए उस प्रथाका नाम पड़ गया था

'तीन कठिया' ।

मैं यह कह देना चाहता हूं कि चंपारनमें जानेके पहले मैं उसका नाम-निशान नहीं जानता था। यह खयाल भी प्रायः नहींके बराबर ही था कि वहां नीलकी खेती होती है। नीलकी गोटियां देखी थीं; परंतु मुझे यह बिलकुल पता न था कि वे चंपारनमें बनती थीं और उनके लिए हजारों किसानोंको वहां दुःख उठाना पड़ता था।

राजकुमार शुक्ल नामके एक किसान चंपारनमें रहते थे। उनपर नीलकी खेतीके सिलसिलेमें बड़ी बुरी बीती थी। यह दुःख उन्हें खल रहा था और उसीके फलस्वरूप सबके लिए इस नीलके दागको धो डालनेका उत्साह उनमें पैदा हुआ था।

जब मैं कांग्रेसमें लखनऊ गया था, तब इस किसानने मेरा पल्ला पकड़ा। "वकीलबाबू आपको सब हाल बतायेंगे"--यह कहते हुए चंपारन चलनेका निमंत्रण मुझे देते जाते थे।

यह वकीलबाबू और कोई नहीं, मेरे चंपारनके प्रिय साथी, बिहारके सेवा-जीवनके प्राण, बृजकिशोरबाबू ही थे। उन्हें राजकुमार शुक्ल मेरे डेरेमें लाये। वह काले अलपकेका अचकन, पतलून वगैरा पहने हुए थे। मेरे दिलपर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने समझा कि इस भोले किसानको लूटने-वाले कोई वकील होंगे।

मैंने उनसे चंपारनकी थोड़ी-सी कथा सुनली और अपने रिवाजके मुताबिक जवाब दिया— "जबतक मैं खुद जाकर सब हाल न देख लूं तबतक मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप कांग्रेसमें इस विषयपर बोलें; किंतु मुझे तो अभी छोड़ ही दीजिए।" राजकुमार शुक्ल तो चाहते थे कि कांग्रेसकी मदद मिले। चंपारन-के विषयमें कांग्रेसमें बृजकिशोरबाबू बोले और सहानुभूतिका एक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्लको इससे खुशी हुई; परंतु इतने हीसे उन्हें संतोष न हुआ। वह तो खुद चंपारनके किसानोंके दुःख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा— "मैं अपने भ्रमणमें चंपारनको भी ले लूंगा, और एक-दो दिन वहांके लिए दे दूंगा।" उन्होंने कहा— "एक दिन काफी होगा, अपनी नजरोंसे देखिए तो सही।"

लखनऊसे मैं कानपुर गया था। वहां भी देखा तो राजकुमार शुक्ल मौजूद। "यहांसे चंपारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिए।" "अभी तो मुझे माफ कीजिए; पर मैं यह वचन देता हूं कि मैं आऊंगा जरूर।" यह कहकर वहां जानेके लिए मैं और भी बंध गया।

मैं आश्रम पहुंचा तो वहां भी राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे-पीछे मौजूद। "अब तो दिन मुकर्रर कर दीजिए।" मैंने कहा— "अच्छा, अमुक तारीखको कलकत्ते जाना है, वहां आकर मुझे ले जाना।" कहां जाना, क्या करना, क्या देखना, मुझे इसका कुछ पता न था। कलकत्तेमें भूपेनबाबूके यहां मेरे पहुंचनेके पहले ही राजकुमार शुक्लका पड़ाव पड़ चुका था। अब तो इस अपढ़-अनघड़ परंतु निश्चयी किसानने मुझे जीत लिया।

१९१७के आरंभमें कलकत्तेसे हम दोनों रवाना हुए। हम दोनों की एक-सी जोड़ी—दोनों किसान-से दीखते थे। राजकुमार शुक्ल और मैं—हम दोनों एक ही गाड़ीमें बैठे। सुबह पटना उतरे।

पटनेकी यह मेरी पहली यात्रा थी। वहां मेरी किसीसे इतनी पहचान नहीं थी कि कहीं ठहर सकूं।

मैंने मनमें सोचा था कि राजकुमार शुक्ल हैं तो अनघड़ किसान, परंतु यहां उनका कुछ-न-कुछ जरिया जरूर होगा। ट्रेनमें उनका मुझे अधिक हाल मालूम हुआ। पटनेमें जाकर उनकी कलई खुल गई। राजकुमार शुक्लका भाव तो निर्दोष था, परंतु जिन वकीलोंको उन्होंने मित्र माना था वे मित्र न थे; बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रितकी तरह थे। इस किसान मवक्किल और उन वकीलोंके बीच उतना ही अंतर था, जितना कि बरसातमें गंगाजीका पाट चौड़ा हो जाता है।

मुझे वह राजेंद्रबाबूके यहां ले गये। राजेंद्रबाबू पुरी या कहीं और गये थे। बंगलेपर एक-दो नौकर थे। खानेके लिए कुछ तो मेरे साथ था; परंतु मुझे खजूरकी जरूरत थी; सो बेचारे राजकुमार शुक्लने बाजारसे ला दी।

परंतु बिहारमें छुआ-छूतका बड़ा सख्त रिवाज था। मेरे डोलके पानीके छींटेसे नौकरको छूत लगती थी। नौकर बेचारा क्या जानता कि मैं किस जातिका था? अंदरके पाखानेका उपयोग करनेके लिए राजकुमारने कहा तो नौकरने

बाहरके पाखानेकी तरफ उंगली बताई। मेरे लिए इसमें असमंजसकी या रोषकी कोई बात न थी; क्योंकि ऐसे अनुभवोंसे मैं पक्का हो गया था। नौकर तो बेचारा अपने धर्मका पालन कर रहा था, और राजेंद्रबाबूके प्रति अपना फर्ज अदा करता था। इन मजेदार अनुभवोंसे राजकुमार शुक्लके प्रति जहां एक ओर मेरा मान बढ़ा, तहां उनके संबंधमें मेरा ज्ञान भी बढ़ा। अब पटनासे लगाम मैंने अपने हाथमें ले ली।

१३

बिहारकी सरलता

मौलाना मजहरुलहक और मैं एक साथ लंदनमें पढ़ते थे। उसके बाद हम बंबईमें १९१५की कांग्रेसमें मिले थे। उस साल वह मुसलिमलीगके सभापति थे। उन्होंने पुरानी पहचान निकालकर जब कभी मैं पटना आऊं तो उनके यहां ठहरनेका निमंत्रण दिया था। इस निमंत्रणके आधारपर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी और अपने कामका परिचय भी दिया। वह तुरंत अपनी मोटर लेकर आये और मुझे अपने यहां चलनेका इसरार करने लगे। इसके लिए मैंने उनको धन्यवाद दिया और कहा कि "मुझे अपने जाने के स्थानपर पहली ट्रेनसे रवाना कर दीजिए। रेलवे गाइडसे मुकामका मुझे कुछ पता नहीं लग सकता।" उन्होंने राजकुमार शुक्लके साथ बात की और कहा कि पहले मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन शामको मुजफ्फरपुरकी गाड़ी जाती थी। उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया। मुजफ्फरपुरमें उस समय आचार्य कृपलानी भी रहते थे। उन्हें मैं पहचानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महात्यागकी, उनके जीवनकी और उनके द्रव्यसे चलनेवाले आश्रमकी बात डॉक्टर चोइथरामके मुखसे सुनी थी। वह मुजफ्फरपुर कॉलेजमें प्रोफेसर थे; पर उस समय वहांसे मुक्त हो बैठे थे। मैंने उन्हें तार किया। ट्रेन मुजफ्फरपुर आधीरातको पहुंचती थी। वह अपने शिष्य-मंडलको लेकर स्टेशन आ पहुंचे थे; परंतु उनके घर-बार कुछ न था। वह अध्यापक मलकानीके यहां रहते थे; मुझे उनके यहां ले गये। मलकानी भी वहांके कॉलेजमें प्रोफेसर थे और उस जमानेमें सरकारी कॉलेजके प्रोफेसर

का मुझे अपने यहां ठहराना एक असाधारण बात थी ।

कृपलानीजीने बिहारकी और उसमें तिरहुत-विभागकी दीन दशा का वर्णन किया और मुझे अपने कामकी कठिनाईका अंदाज बताया । कृपलानीजी-ने बिहारियोंके साथ गाढ़ा संबंध कर लिया था । उन्होंने मेरे कामकी बात वहांके लोगोंसे कर रक्खी थी । सुबह होते ही कुछ वकील मेरे पास आये । उनमेंसे रामनवमीप्रसादजीका नाम मुझे याद रह गया है । उन्होंने अपने इस आग्रहके कारण मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा था—

"आप जिस कामको करने यहां आये हैं वह इस जगहसे नहीं हो सकता । आपको तो हम-जैसे लोगोंके यहां चलकर ठहरना चाहिए । गयाबाबू यहांके मशहूर वकील हैं । उनकी तरफसे मैं आपको उनके यहां ठहरनेका आग्रह करता हूं । हम सब सरकारसे तो जरूर डरते हैं; परंतु हमसे जितनी हो सकेगी आपकी मदद करेंगे । राजकुमार शुक्लकी बहुतेरी बातें सच हैं । हमें अफसोस है कि हमारे अगुआ आज यहां नहीं हैं । बाबू बृजकिशोरप्रसादको और राजेंद्रप्रसादको मैंने तार दिया है । दोनों यहां जल्दी आ जायंगे और आपको पूरी-पूरी वाकफियत और मदद दे सकेंगे । मिहरबानी करके आप गयाबाबूके यहां चलिए ।"

यह भाषण सुनकर मैं ललचाया; पर मुझे इस भयसे संकोच हुआ, मुझे ठहरानेसे कही गयाबाबूकी स्थिति विषम न हो जाय; परंतु गयाबाबूने इसके विषयमें मुझे निश्चिंत कर दिया ।

अब मैं गयाबाबूके यहां ठहरा । उन्होंने तथा उनके कुटुंबी-जनोंने मुझपर बड़े प्रेमकी वर्षा की ।

बृजकिशोरबाबू दरभंगासे और राजेंद्रबाबू पुरीसे यहां आये । यहां जो मैंने देखा तो वह लखनऊवाले बृजकिशोरप्रसाद नहीं थे । उनके अंदर बिहारीकी नम्रता, सादगी, भलमंसी और असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्षसे फूल उठा । बिहारी वकील-मंडलका उनके प्रति आदरभाव देखकर मुझे आनंद और आश्चर्य दोनों हुए ।

तबसे इस वकील-मंडलके और मेरे जन्म-भरके लिए स्नेह-गांठ बंध गई । बृजकिशोरबाबूने मुझे सब बातोंसे वाकिफ कर दिया । वह गरीब किसानों-की तरफसे मुकदमे लड़ते थे । ऐसे दो मुकदमे उस समय चल रहे थे । ऐसे

के द्वारा वह कुछ व्यक्तियोंको राहत दिलाते थे; पर कभी-कभी इसमें भी असफल हो जाते थे। इन भोले-भाले किसानोंसे वह फीस लिया करते थे। त्यागी होते हुए भी बृजकिशोरबाबू या राजेंद्रबाबू फीस लेनेमें संकोच न करते थे। "पेशेके काममें अगर फीस न लें तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगोंकी मदद भी नहीं कर सकते।" यह उनकी दलील थी। उनकी तथा बंगाल-बिहारके बैरिस्टरोंकी फीसके कल्पनातीत अंक सुनकर मैं तो चकित रह गया। "....को हमने 'ओपीनियन'के लिए दस हजार रुपये दिये।" हजारोंके सिवाय तो मैंने बात ही नहीं सुनी।

इस मित्र-मंडलने इस विषयमें मेरा मीठा उलाहना प्रेमके साथ सुना। उन्होंने उसका उलटा अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा— "इन मुकदमोंकी मिसलें देखनेके बाद मेरी तो यह राय होती है कि हम यह मुकदमेबाजी अब छोड़ दें। ऐसे मुकदमोंसे बहुत कम लाभ होता है। जहां प्रजा इतनी कुचली जाती है, जहां सब लोग इतने भयभीत रहते हैं, वहां अदालतोंके द्वारा बहुत कम राहत मिल सकती है। इसका सच्चा इलाज तो है लोगोंके दिलसे डरको निकाल देना। इसलिए अब जबतक यह 'तीन कठिया' प्रथा मिट नहीं जाती तबतक हम आरामसे नहीं बैठ सकते। मैं तो अभी दो दिनमें जितना देख सकूं, देखनेके लिए आया हूं; परंतु मैं देखता हूं कि इस काममें दो वर्ष भी लग सकते हैं; परंतु इतने समयकी भी जरूरत हो तो मैं देनेके लिए तैयार हूं। यह तो मुझे सूझ रहा है कि मुझे क्या करना चाहिए; परंतु आपकी मददकी जरूरत है।"

मैंने देखा कि बृजकिशोरबाबू निश्चित विचारके आदमी हैं। उन्होंने शांतिके साथ उत्तर दिया— "हमसे जो-कुछ बन सकेगी वह मदद हम जरूर करेंगे; परंतु हमें आप बतलाइए कि आप किस तरहकी मदद चाहते हैं।"

हम लोग रातभर बैठकर इस विषयपर विचार करते रहे। मैंने कहा— "मुझे आपकी वकालतकी सहायताकी जरूरत कम होगी। आप-जैसोंसे मैं लेखक और दुभाषियेके रूपमें सहायता चाहता हूं। संभव है, इस काममें जेल जानेकी भी नौबत आ जाय। यदि आप इस जोखिममें पड़ सकें तो मैं इसे पसंद करूंगा; परंतु यदि आप न पड़ना चाहें तो भी कोई बात नहीं। वकालत की

अनिश्चित समयके लिए बंद करके लेखकके रूपमें काम करना भी मेरी कुछ कम मांग नहीं है। यहांकी बोली समझनेमें मुझे बहुत दिक्कत पड़ती है। कागज-पत्र सब उर्दू या कैथीमें लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकता। उनके अनुवादकी मैं आपसे आशा रखता हूं। रुपये देकर यह काम कराना चाहें तो अपनी सामर्थ्य के बाहर है। यह सब सेवा-भावसे, बिना पैसेके, होना चाहिए।"

बृजकिशोरबाबू मेरी बातको समझ तो गये; परंतु उन्होंने मुझसे तथा अपने साथियोंसे जिरह शुरू की। मेरी बातोंका फलितार्थ उन्हें बताया। मुझसे पूछा— "आपके अंदाजमें कबतक वकीलोंको यह त्याग करना चाहिए, कितना करना चाहिए, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधिके लिए आते रहें तो काम चलेगा या नहीं ?" इत्यादि। वकीलोंसे उन्होंने पूछा कि आप लोग कितना-कितना त्याग कर सकेंगे ?

अंतमें उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया— "हम इतने लोग तो आप जो काम सौंपेंगे करनेके लिए तैयार रहेंगे। इनमेंसे जितनोंको आप जिस समय चाहेंगे आपके पास हाजिर रहेंगे। जेल जानेकी बात अलबत्ता हमारे लिए नई है; पर उसकी भी हिम्मत करनेकी हम कोशिश करेंगे।"

१४

अहिंसादेवीका साक्षात्कार

मुझे तो किसानोंकी हालतकी जांच करनी थी। यह देखना था कि नीलके मालिकोंकी जो शिकायत किसानोंको थी, उसमें कितनी सचाई है। इसमें हजारों किसानोंसे मिलनेकी जरूरत थी; परंतु इस तरह आमतौरपर उनसे मिलने-जुलनेके पहले, निलहे मालिकोंकी बात सुन लेने और कमिश्नरसे मिलनेकी आवश्यकता मुझे दिखाई दी। मैंने दोनोंको चिट्ठी लिखी।

मालिकोंके मंडलके मंत्रीसे मिला तो उन्होंने मुझे साफ कह दिया, "आप तो बाहरी आदमी हैं। आपको हमारे और किसानोंके झगड़ेमें न पड़ना चाहिए। फिर भी यदि आपको कुछ कहना हो तो लिखकर भेज दीजिएगा।" मैंने मंत्रीसे सौजन्यके साथ कहा— "मैं अपनेको बाहरी आदमी नहीं समझता और किसान

यदि चाहते हों तो उनकी स्थितिकी जांच करनेका मुझे पूरा अधिकार है।" कमिश्नर साहबसे मिला तो उन्होंने तो मुझे धमकानेसे ही शुरूआत की और आगे कोई कार्रवाई न करते हुए मुझे तिरहुत छोड़नेकी सलाह दी।

मैंने साथियोंसे ये सब बातें करके कहा कि संभव है, सरकार जांच करनेसे मुझे रोके और जेल-यात्राका समय शायद मेरे अंदाजसे पहले ही आजाय। यदि पकड़े जानेका ही मौका आवे तो मुझे मोतीहारी और हो सके तो बेतियामें गिरफ्तार होना चाहिए। इसलिए जितनी जल्दी हो सके मुझे वहां पहुंच जाना चाहिए।

चंपारन तिरहुत जिलेका एक भाग था और मोतीहारी उसका एक मुख्य शहर। बेतियाके ही आसपास राजकुमार शुक्लका मकान था। और उसके आसपास कोठियोंके किसान सबसे ज्यादा गरीब थे। उनकी हालत दिखानेका लोभ राजकुमार शुक्लको था और मुझे अब उन्हींको देखनेकी इच्छा थी, इसलिए साथियोंको लेकर मैं उसी दिन मोतीहारी जानेके लिए रवाना हुआ। मोतीहारीमें गोरखबाबूने आश्रय दिया और उनका घर खासी धर्मशाला बन गया। हम सब ज्यों-त्यों करके उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुंचे उसी दिन हमने सुना कि मोतीहारीसे पांचेक मील दूर एक किसान रहता था और उसपर बहुत अत्याचार हुआ था। निश्चय हुआ कि उसे देखनेके लिए धरणीधरप्रसाद वकीलको लेकर सुबह जाऊं। तदनुसार सुबह होते ही हम हाथीपर सवार होकर चल पड़े। चंपारनमें हाथी लगभग वही काम देता है जो गुजरातमें बैलगाड़ी देती है। हम आधे रस्ते पहुंचे होंगे कि पुलिस-सुपरिंटेंडेंट का सिपाही आ पहुंचा। और उसने मुझसे कहा— "सुपरिंटेंडेंट साहबने आपको सलाम भेजा है।" मैं उसका मतलब समझ गया। धरणीधरबाबूसे मैंने कहा, आप आगे चलिए, और मैं उस जासूसके साथ उस गाड़ीमें बैठा, जो वह किराये पर लाया था। उसने मुझे चंपारन छोड़ देनेका नोटिस दिया। घर लेजाकर उसपर मेरे दस्तखत मांगे। मैंने जवाब दिया कि "मैं चंपारन छोड़ना नहीं चाहता। आगे मुफस्सिलातमें जाकर जांच करनी है।" इस हुक्मका अनादर करनेके अपराधमें दूसरे ही दिन मुझे अदालतमें हाजिर होनेका समन मिला।

सारी रात जगकर मैंने जगह-जगह आवश्यक चिट्ठियां लिखीं और जो-जो आवश्यक बातें थीं वे ब्रजकिशोरबाबूको समझा दीं।

समनकी बात एक क्षणमें चारों ओर फैल गई और लोग कहते थे कि ऐसा दृश्य मोतीहारीमें पहले कभी नहीं देखा गया था। गोरखबाबूके घर और अदालतमें खचाखच भीड़ हो गई। खुशकिस्मतीसे मैंने अपना सारा काम रातको ही खतम कर लिया था, इससे उस भीड़का में इंतजाम कर सका। इस समय अपने साथियोंकी पूरी-पूरी कीमत देखनेका मुझे मौका मिला। वे लोगोंको नियमके अंदर रखनेमें जुट पड़े। अदालतमें मैं जहां जाता वहीं लोगोंकी भीड़ मेरे पीछे-पीछे आती। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिंटेंडेंट वगैरा के और मेरे दरमियान भी एक तरहका अच्छा संबंध हो गया। सरकारी नोटिस इत्यादिका अगर मैं बाकायदा विरोध करता तो कर सकता था; परंतु ऐसा करनेके बजाय मैंने उनके तमाम नोटिसोंको मंजूर कर लिया। फिर राज-कर्मचारियोंके साथ मेरे जाती ताल्लुकातमें जिस मिठासका मैंने अवलंबन किया उससे वे समझ गये कि मैं उनका विरोध नहीं करना चाहता। बल्कि उनके हुक्मका सविनय विरोध करना चाहता हूं। इससे वे एक प्रकारसे निश्चिंत हुए। मुझे दिक करनेके बजाय उन्होंने लोगोंको नियममें रखनेके काममें मेरी और मेरे साथियोंकी सहायता खुशीसे ली; पर साथ ही वे यह भी समझ गये कि आजसे हमारी सत्ता यहांसे उठ गई। लोग थोड़ी देरके लिए सजाका भय छोड़कर अपने नये मित्रके प्रेमकी सत्ताके अधीन हो गये।

यहां पाठक याद रक्खें कि चंपारनमें मुझे कोई पहचानता न था। किसान लोग बिलकुल अनपढ़ थे। चंपारन गंगाके उस पार, ठेठ हिमालयकी तराईमें नैपालके नजदीकका हिस्सा है। उसे नई दुनिया ही कहना चाहिए। यहां कांग्रेसका नाम-निशान भी नहीं था, न उसके कोई मेंबर ही थे। जिन लोगोंने कांग्रेसका नाम सुन रक्खा था वे उसका नाम लेते हुए और उसमें शरीक होते हुए डरते थे; पर आज वहां कांग्रेसके नामके बिना कांग्रेसने और कांग्रेसके सेवकोंने प्रवेश किया और कांग्रेसकी दुहाई घूम गई।

साथियोंके साथ कुछ सलाह करके मैंने यह निश्चय किया था कि कांग्रेसके नामपर कुछ भी काम यहां न किया जाय। हमको नामसे नहीं कामसे मतलब है। 'कथनीकी—कहनेकी—नहीं, करनीकी' जरूरत है। कांग्रेसका नाम यहां लोगोंको खलता है। इस प्रांतमें कांग्रेसका अर्थ है वकीलोंकी तू-तू, मैं-मैं,

कानूनकी गलियोंमें निकल भागने की कोशिश । कांग्रेसका अर्थ यहां है बम-गोले और कहना कुछ, करना कुछ । ऐसा खयाल कांग्रेसके बारेमें यहां सरकार और सरकारकी सरकार यानी निलहे मालिकोंके मनमें था; परंतु हमें यह साबित करना था कि कांग्रेस ऐसी नहीं, दूसरी ही वस्तु है । इसलिए हमने यह निश्चय किया था कि कहीं भी कांग्रेसका नाम न लिया जाय और लोगोंको कांग्रेसके भौतिक देहका भी परिचय न कराया जाय । हमने सोचा कि वे कांग्रेसके अक्षरको—नामको न जानते हुए उसकी आत्माको जानें और उसका अनुसरण करें तो बस है । यही वास्तविक बात है ।

इसलिए कांग्रेसकी तरफसे किसी छिपे या प्रकट दूतोंके द्वारा कोई जमीन तैयार नहीं कराई गई थी; कोई पेशबंदी नहीं की गई थी । राजकुमार शुक्लमें हजारों लोगोंमें प्रवेश करनेकी सामर्थ्य न थी, वहां लोगोंके अंदर किसीने भी आज तक कोई राजनैतिक काम नहीं किया था । चंपारनके सिवा बाहरकी दुनियाको वे जानते ही न थे । फिर भी उनका और मेरा मिलाप किसी पुराने मित्रके मिलाप-सा था । अतएव यह कहनेमें मुझे कोई अत्युक्ति नहीं मालूम होती, बल्कि यह अक्षरशः सत्य है कि मैंने वहां ईश्वरका, अहिंसाका और सत्यका, साक्षात्कार किया । जब साक्षात्कार-विषयक अपने इस अधिकारपर विचार करता हूं तो मुझे उसमें लोगोंके प्रति प्रेमके सिवा दूसरी कोई बात नहीं दिखाई पड़ती और यह प्रेम अथवा अहिंसाके प्रति मेरी अचल श्रद्धाके सिवा और कुछ नहीं है ।

चंपारनका यह दिन मेरे जीवनमें ऐसा था, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता । यह मेरे तथा किसानोंके लिए उत्सवका दिन था । मुझपर सरकारी कानूनके मुताबिक मुकदमा चलाया जानेवाला था; परंतु सच पूछा जाय तो मुकदमा सरकार-पर चल रहा था । कमिश्नरने जो जाल मेरे लिए फैलाया था उसमें उसने सरकारको ही फंसा मारा ।

१५

मुकदमा वापस

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट वगैरा चिंतित हो रहे थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ता था कि क्या करें। सरकारी वकील तारीख बढ़ानेकी कोशिश कर रहा था। मैं बीचमें पड़ा और मैंने अर्ज किया कि "तारीख बढ़ानेकी कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि मैं अपना यह अपराध कबूल करना चाहता हूं कि मैंने चंपारन छोड़नेकी नोटिसका अनादर किया है।" यह कहकर मैंने जो अपना छोटा-सा वक्तव्य तैयार किया था वह पढ़ सुनाया। वह इस प्रकार था—

"अदालतकी आज्ञा लेकर मैं संक्षेपमें यह बतलाना चाहता हूं कि जाब्ता फौजदारीकी दफा १४४की रूसे दिये नोटिस द्वारा मुझे जो आज्ञा दी गई है, उसकी स्पष्ट अवज्ञा मैंने क्यों की। मेरी समझमें यह अवज्ञाका नहीं बल्कि स्थानीय अधिकारियों और मेरे बीच मत-भेदका प्रश्न है। मैं इस प्रदेशमें जन-सेवा तथा देश-सेवा करनेके विचारसे आया हूं। यहां आकर उन रैयतोंकी सहायता करनेके लिए मुझसे बहुत आग्रह किया गया था, जिनके साथ कहा जाता है कि निलहे साहब अच्छा व्यवहार नहीं करते; इसीलिए मैं यहां आया हूं। पर जबतक मैं सब बातें अच्छी तरह जान न लेता, तबतक उन लोगोंकी कोई सहायता नहीं कर सकता था। इसलिए यदि हो सके तो अधिकारियों और निलहे साहबोंकी सहायतासे मैं सब बातें जाननेके लिए आया हूं। मैं किसी दूसरे उद्देश्यसे यहां नहीं आया हूं। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि मेरे यहां आनेसे किसी प्रकार शांति-भंग या प्राण-हानि हो सकती है। मैं कह सकता हूं कि मुझे ऐसी बातोंका बहुत अनुभव है। अधिकारियोंको जो कठिनाइयां होती हैं, उनको मैं समझता हूं; और मैं यह भी मानता हूं कि उन्हें जो सूचना मिलती है, वे केवल उसीके अनुसार काम कर सकते हैं। कानून माननेवाले व्यक्तिकी तरह मेरी प्रवृत्ति यही होनी चाहिए थी, और ऐसी प्रवृत्ति हुई भी कि मैं इस आज्ञा का पालन करूं; परंतु

ऐसा करना मुझे उन लोगोंके प्रति, जिनके कारण मैं यहां आया हूं, अपने कर्त्तव्यका घात करना मालूम हुआ। मैं समझता हूं कि मैं उन लोगोंके बीच रहकर ही उनकी भलाई कर सकता हूं। इस कारण मैं स्वेच्छासे इस स्थानसे नहीं जा सकता था। ऐसे धर्म-संकटकी दशामें म केवल यही कर सकता था कि अपनेको हटानेकी सारी जिम्मेदारी शासकोंपर छोड़ दूं। मैं भलीभांति जानता हूं कि भारतके सार्वजनिक जीवनमें मेरी जैसी प्रतिष्ठा रखनेवाले लोगोंको अपने किसी कार्यके द्वारा आदर्श उपस्थित करनेमें बहुत ही सचेत रहना चाहिए। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस अटपटी स्थिति में हम लोग हैं उसमें मुझ जैसी स्थितिके स्वाभिमानी व्यक्तिके पास दूसरा कोई अच्छा व सम्मानपूर्ण मार्ग नहीं है, सिवा इसके कि उस हुक्मका अनादर करे व उसके बदले जो सजा मिले उसे चुपचाप सह ले। मैंने जो बयान दिया है, वह इसलिए नहीं है कि जो दंड मुझे मिलनेवाला है, वह कम किया जाय; बल्कि इस बातको दिखलानेके लिए कि मैंने जो सरकारी आज्ञाकी अवज्ञा की है वह कानूनन स्थापित सरकारका अपमान करनेके इरादेसे नहीं; बल्कि इस कारणसे कि मैंने उससे भी उच्चतर आज्ञा—अपनी अन्तरात्माकी आज्ञा—का पालन करना उचित समझा है।"

अब मुकदमेकी सुनवाई मुल्तवी रखनेका तो कुछ कारण ही नहीं रह गया था; परंतु मजिस्ट्रेट या सरकारी वकील इस परिणामकी आशा नहीं रखते थे। अतएव सजाके लिए अदालतने फैसला मुल्तवी रक्खा। मैंने वाइसरायको तार द्वारा सब हालतकी सूचना दे दी थी, पटना भी तार दे दिया था। भारत-भूषण पंडित मालवीयजी वगैरा को भी तार द्वारा समाचार भेज दिया था। अब सजा सुननेके लिए अदालतमें जानेका समय आनेके पहले ही मुझे मजिस्ट्रेटका हुक्म मिला कि लाट साहबके हुक्मसे मुकदमा उठा लिया गया है और कलेक्टरकी चिट्ठी मिली कि आप जो कुछ जांच करना चाहें, शौकसे करें और उसमें जो कुछ मदद सरकारी कर्मचारियोंकी ओरसे लेना चाहें, लें। ऐसे तत्काल और शुभ परिणामकी आशा हममेंसे किसीने नहीं की थी।

मैं कलेक्टर मि० हेकॉकसे मिला। वह भला आदमी मालूम हुआ और

इंसाफ करनेके लिए तत्पर नजर आया। उसने कहा कि आप जो-कुछ कागज-पत्र या और कुछ देखना चाहें, देख सकते हैं। जब कभी मिलना चाहें, जरूर मिल सकते हैं।

दूसरी तरफ सारे भारतवर्षको सत्याग्रहका अथवा कानूनके सविनय भंगका पहला स्थानिक पदार्थ-पाठ मिला। अखबारोंमें इस प्रकरणकी खूब चर्चा चली और चंपारनको तथा मेरी जांचको अकल्पित विज्ञापन मिल गया।

मुझे अपनी जांचके लिए जहां एक ओर सरकारके निष्पक्ष रहनेकी जरूरत थी, तहां दूसरी ओर अखबारोंमें चर्चा होने की और उनके संवाद-दाताओंकी जरूरत नहीं थी। यही नहीं, बल्कि उनकी कड़ी टीका और जांचकी बड़ी-बड़ी रिपोर्टोंसे हानि होनेका भी भय था। इसलिए मैंने मुख्य-मुख्य अखबारोंके संपादकोंसे अनुरोध किया कि "आप अपने संवाद-दाताओंको भेजनेका खर्च न उठावें। जितनी बाते प्रकाशित करने योग्य होंगी, वह मैं आपको खुद ही भेजता रहूंगा और खबर भी देता रहूंगा।"

इधर चंपारनके निलहे मालिक खूब बिगड़े हुए थे, यह मैं जानता था; और यह भी मैं समझता था कि अधिकारी लोग भी मनमें खुश न रहते होंगे।

अखबारोंमें जो झूठी-सच्ची खबरें छपतीं उनसे वे और भी चिढ़ते। उनकी चिढ़का असर मुझपर तो क्या होता; परंतु बेचारे गरीब, डरपोक रैय्यतपर उनका गुस्सा उतरे बिना न रहता और ऐसा होनेसे जो वास्तविक स्थिति मैं जानना चाहता था उसमें विघ्न पड़ता। निलहोंकी तरफसे जहरीला आंदोलन शुरू हो गया था। उनकी तरफसे अखबारोंमें मेरे तथा मेरे साथियोंके विषयमें मनमानी झूठी बातें फैलाई जाती थीं; परंतु मेरी अत्यंत सावधानीके कारण, और छोटी-से-छोटी बातमें भी सत्यपर दृढ़ रहनेकी आदतके कारण, उनके सब तीर बेकार गये।

बृजकिशोरबाबूकी अनेक तरहसे निंदा करनेमें निलहोंने किसी बातकी कमी न रक्खी थी; परंतु वे ज्यों-ज्यों उनकी निंदा करते गये त्यों-त्यों बृजकिशोर-बाबूकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

ऐसी नाजुक हालतमें मैंने संवाददाताओंको वहां आनेके लिए बिलकुल उत्साहित नहीं किया। नेताओंको भी नहीं बुलाया। मालवीयजीने मुझे कहला

रक्खा था कि जब जरूरत हो तब मुझे बुला लेना; मैं आनेके लिए तैयार हूं; पर उन्हें भी कष्ट नहीं दिया और न आंदोलनको राजनैतिक रूप ही ग्रहण करने दिया। वहांके समाचारोंका विवरण मैं समय-समयपर मुख्य-मुख्य पत्रोंको भेजता रहता था। राजनैतिक कामोंमें भी जहां राजनीतिकी गुंजाइश न हो वहां राजनैतिक रूप दे-देनेसे "माया मिली न राम" वाली मसल होती और इस तरह विषयोंका स्थानांतर न करनेसे दोनों सुधरते हैं, यह मैंने बहुत बार अनुभव करके देखा था। शुद्ध लोक-सेवामें प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूपमें राजनीति समाई ही रहती है, यह बात चंपारनका आंदोलन सिद्ध कर रहा था।

१६

कार्य-पद्धति

चंपारनकी जांचका विवरण देना मानो चंपारनके किसानोंका इतिहास देना है। यह सारा इतिहास इन अध्यायोंमें नहीं दिया जा सकता। फिर चंपारनकी जांच क्या थी, अहिंसा और सत्यका एक बड़ा प्रयोग ही था। और जितनी बातोंका संबंध इस प्रयोगसे है वे जैसे-जैसे मुझे सूझती जाती है, प्रति सप्ताह देता जाता हूं।[1]

अब मूल विषयपर आता हूं। गोरखबाबूके यहां रहकर जांच की जाती तो गोरखबाबूको अपना घर ही खाली करना पड़ता। मोतीहारीमें लोग इतने निर्भय नहीं थे कि मांगते ही अपना मकान किरायेपर दे दें; परंतु चतुर बृजकिशोरबाबूने एक अच्छा चौगानवाला मकान किरायेपर ले लिया और हम लोग वहां चले गये। वहांका कामकाज चलानेके लिए धनकी आवश्यकता थी। सार्वजनिक कामके लिए लोगोंसे रुपया मांगनेकी प्रथा आजतक न थी। बृज-किशोरबाबूका यह मंडल मुख्यतः वकील-मंडल था। इसलिए जब कभी आ-वश्यकता होती तो वे या तो अपनी जेबसे रुपया देते या कुछ मित्रोंसे मांग लाते। उनका खयाल यह था कि जो लोग खुद रुपये-पैसेसे सुखी हैं वे सर्व-साधारणसे

---

[1] अधिक विवरण जाननेके लिए बाबू राजेंद्रप्रसाद-लिखित 'चम्पारनमें महात्मा गांधी' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिए। अनु०

धनकी भिक्षा कैसे मांग सकते हैं ? और मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चंपारनकी रैय्यतसे एक कौड़ी न लेना चाहिए । यदि ऐसा करते तो उसका उल्टा अर्थ होता । यह भी निश्चय था कि इस जांचके लिए भारतवर्षमें भी आम लोगोंसे चंदा न करना चाहिए । ऐसा करनेसे इस जांचको राष्ट्रीय और राजनैतिक स्वरूप प्राप्त हो जाता । बंबईसे मित्रोंने १५०००) सहायता भेजनेका तार दिया; पर उनकी सहायता मैंने सधन्यवाद अस्वीकार कर दी । यह सोचा था कि चंपारनके बाहरसे, परंतु बिहारके ही हैसियतदार और सुखी लोगोंसे ही बृजकिशोरबाबूका मंडल जितनी सहायता प्राप्त कर सके उतनी ले लूं और शेष रकम मैं डाक्टर प्राणजीवनसे मंगा लूं । डाक्टर मेहताने लिखा कि जितनी आवश्यकता हो मंगा लीजिएगा । इससे हम रुपये-पैसेके बारेमें निश्चिंत हो गए । गरीबीके साथ भरसक कम खर्च करके यह आंदोलन चलाना था । इसलिए बहुत रुपयोंकी आवश्यकता न थी । और दरहकीकत जरूरत पड़ी भी नहीं । मेरा खयाल है कि सब मिलाकर दो-तीन हजारसे ज्यादा खर्च न हुआ होगा । और मुझे याद है कि जितना रुपया इकट्ठा किया था उसमेंसे भी पांचसौ या हजार बच गया था ।

शुरूमें वहां हमारी रहन-सहन बड़ी विचित्र थी । और मेरे लिए तो वह रोज हंसी-मजाकका विषय हो गई थी । इस वकील-मंडलमें हरेकके पास एक नौकर रसोइया होता । हरेककी अलग रसोई बनती । रातके बारह बजे तक भी वे लोग खाना खाते । ये महाशय खर्च वगैरा तो सब अपना ही करते थे; फिर भी मेरे लिए यह रहन-सहन एक आफत थी । अपने इन साथियोंके पास मेरी स्नेह-गांठ ऐसी मजबूत हो गई थी कि हमारे दरमियान कभी गलत-फहमी न होने पाती थी । मेरे शब्द-बाणोंको वे प्रेमसे झेलते । अंतको यह तय पाया कि नौकरोंको छुट्टी दे दी जाय, सब एक-साथ खाना खावें और भोजनके नियमोंका पालन करें । उसमें सभी निरामिषाहारी न थे और तरह-तरहकी अलग रसोई बनानेका इंतजाम करनेसे खर्च बढ़ता था । इससे यही निश्चय किया गया कि निरामिष भोजन ही पकाया जाय और एक ही जगह सबकी रसोई बनाई जाय । भोजन भी सादा ही रखनेपर जोर दिया जाता था । इससे खर्च बहुत कम पड़ा, हम लोगोंके काम करनेकी सामर्थ्य बढ़ी, और समय भी बच गया ।

हमें अधिक शक्ति बचानेकी आवश्यकता भी थी; क्योंकि किसानोंके

झुंड-के-झुंड अपनी कहानी लिखानेके लिए आने लगे थे। एक-एक कहानी लिखनेवालेके साथ एक भीड़-सी रहती थी। इससे मकानका चौगान भर जाता था। मुझे दर्शनाभिलाषियोंसे बचानेके लिए साथी लोग बहुत प्रयत्न करते; परंतु वे निष्फल हो जाते। एक निश्चित समय पर दर्शन देनेके लिए मुझे बाहर लानेपर ही पिंड छूटता था। कहानी-लेखक हमेशा पांच-सात रहते थे। फिर भी शाम-तक सबके बयान पूरे न हो पाते थे। यों इतने सब लोगोंके बयानोंकी जरूरत नहीं थी; फिर भी उनके लिख लेनेसे लोगोंको संतोष हो जाता था और मुझे उनके मनोभावोंका पता लग जाता था।

कहानी-लेखकोंको कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। वे ये थे—"प्रत्येक किसानसे जिरह करनी चाहिए। जिरहमें जो गिर जाय उसका बयान न लिखा जाय। जिसकी बात शुरूसे ही कमजोर पाई जाय वह न लिखी जाय।" इन नियमोंके पालनसे यद्यपि कुछ समय अधिक जाता था फिर भी उससे सच्चे और साबित होने लायक बयान ही लिखे जाते थे।

जब ये बयान लिखे जाते तो खुफिया पुलिसके कोई-न-कोई कर्मचारी वहां मौजूद रहते। इन कर्मचारियोंको हम रोक सकते थे; परंतु हमने शुरूसे यह निश्चय किया था कि उन्हें न रोका जाय। यही नहीं बल्कि उनके प्रति सौजन्य रक्खा जाय और जो खबरें उन्हें दी जा सकती हों दी जायं। जो बयान लिये जाते उनको वे देखते और सुनते थे। इससे लाभ यह हुआ कि लोगोंमें अधिक निर्भयता आ गई। और बयान उनके सामने लिये जानेसे अत्युक्तिका भय कम रहता था। इस डरसे कि झूठ बोलेंगे तो पुलिसवाले फंसा देंगे, उन्हें सोच-समझकर बोलना पड़ता था।

मैं निलहे मालिकोंको चिढ़ाना नहीं चाहता था; बल्कि अपने सौजन्यसे उन्हें जीतनेका प्रयत्न करता था। इसलिए जिनके बारेमें विशेष शिकायतें होतीं, उन्हें मैं चिट्ठी लिखता और मिलनेकी कोशिश भी करता। उनके मंडलसे भी मैं मिला था और रैय्यतकी शिकायतें उनके सामने पेश की थीं और उनका कहना भी सुन लिया था। उनमेंसे कितने तो मेरा तिरस्कार करते थे, कितने ही उदासीन थे और बाज-बाज सौजन्य भी दिखाते थे।

१७

साथी

बृजकिशोरबाबू और राजेंद्रबाबूकी जोड़ी अद्वितीय थी। उन्होंने प्रेमसे मुझे ऐसा अपंग बना दिया था कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे न रख सकता था। उनके शिष्य कहिए, या साथी कहिए, शम्भूबाबू, अनुग्रहबाबू, धरणीबाबू और रामनवमीबाबू—ये वकील प्रायः निरंतर साथ-साथ ही रहते थे। विंध्याबाबू और जनकधारीबाबू भी समय-समयपर रहते थे। यह तो हुआ बिहारी-संघ। इनका मुख्य काम था लोगोंके बयान लिखना। इसमें अध्यापक कृपलानी भला बिना शामिल हुए कैसे रह सकते थे? सिंधी होते हुए भी वह बिहारीसे भी अधिक बिहारी हो गये थे। मैंने ऐसे थोड़े सेवकोंको देखा है जो जिस प्रांतमें जाते हैं वहींके लोगोंमें दूध-शक्करकी तरह घुल-मिल जाते हैं, और किसीको यह नहीं मालूम होने देते कि यह गैर प्रांतके हैं। कृपलानी इनमें एक हैं। उनके जिम्मे मुख्य काम था द्वारपाल का; दर्शन करनेवालोंसे मुझे बचा लेनेमें ही उन्होंने उस समय अपने जीवनकी सार्थकता मान ली थी। किसीको हंसी-दिल्लगीसे और किसी को अहिंसक धमकी देकर वह मेरे पास आनेसे रोकते थे। रातको अपनी अध्यापकी शुरू करते और तमाम साथियोंको हंसा मारते और यदि कोई डरपोक आदमी वहां पहुंच जाता तो उसका हौसला बढ़ाते।

मौलाना मजहरुलहकने मेरे सहायकके रूपमें अपना हक लिखवा रक्खा था और महीनेमें एक-दो बार आकर मुझसे मिल जाया करते। उस समयके उनके ठाट-बाट और शानमें तथा आजकी सादगीमें जमीन-आसमानका अंतर है। वह हम लोगोंमें आकर अपने हृदयको तो मिला जाते, परंतु अपने साहबी ठाट-बाटके कारण बाहरके लोगोंको वह हमसे भिन्न मालूम होते थे।

ज्यों-ज्यों मैं अनुभव प्राप्त करता गया त्यों-त्यों मुझे मालूम हुआ कि यदि चंपारनमें ठीक-ठीक काम करना हो तो गांवोंमें शिक्षाका प्रवेश होना चाहिए। वहां लोगोंका अज्ञान दयाजनक था। गांवमें लड़के-बच्चे इधर-उधर भटकते फिरते थे, या मां-बाप उन्हें दो-तीन पैसे रोजकी मजदूरीपर दिन-भर नीलके

खेतोंमें मजदूरी कराते । इस समय मर्दोंको दस-पैसेसे ज्यादा मजदूरी नहीं मिलती थी । स्त्रियोंको छः पैसा, और बच्चोंको तीन । जिस किसीको चार आना मजदूरी मिल जाती, वह भाग्यवान् समझा जाता था ।

अपने साथियोंके साथ विचार करके पहले तो छः गांवोंमें बच्चोंके लिए पाठशाला खोलनेका विचार हुआ । शर्त यह थी कि उन गांवोंके अगुआ मकान और शिक्षकके खानेका खर्च दें और दूसरे खर्चका इंतजाम हम लोग कर दें । यहांके गांवोंमें रुपये-पैसेकी बहुतायत नहीं थी; परंतु लोग अनाज वगैरा दे सकते थे, इसलिए वे अनाज देनेको तैयार हो गये ।

अब यह एक महाप्रश्न था कि शिक्षक कहांसे लावें ? बिहारमें थोड़ा वेतन लेनेवाले या कुछ न लेनेवाले अच्छे शिक्षकोंका मिलना कठिन था । मेरा खयाल यह था कि बच्चोंकी शिक्षाका भार मामूली शिक्षकको न देना चाहिए । शिक्षकको पुस्तक-ज्ञान चाहे कम हो; परंतु उसमें चरित्र-बल अवश्य होना चाहिए ।

इस कामके लिए मैंने आमतौरपर स्वयंसेवक मांगे । उसके जवाबमें गंगाधरराव देशपांडेने बाबासाहब सोमण और पुंडलीकको भेजा । बंबईसे अवंतिकाबाई गोखले आईं । दक्षिणसे आनंदीबाई आ गईं । मैंने छोटेलाल, सुरेंद्रनाथ तथा अपने लड़के देवदासको बुला लिया । इन्हीं दिनों महादेव देसाई और नरहरि परीख मुझसे मिले । महादेव देसाईकी पत्नी दुर्गाबहन तथा नरहरि परीखकी पत्नी मणिबहन भी आ पहुंचीं । कस्तूरबाईको भी मैंने बुला लिया था । शिक्षकों और शिक्षिकाओंका यह संघ काफी था । श्रीमती अवंतिकाबाई और आनंदीबाई तो पढ़ी-लिखी समझी जा सकती थीं; परंतु मणिबहन परीख और दुर्गाबहन देसाई थोड़ी-बहुत गुजराती जानती थीं; कस्तूरबाईको तो नहींके बराबर हिंदी का ज्ञान था । अब सवाल यह था कि ये बहनें बालकोंको हिंदी पढ़ावेंगी किस तरह ?

बहनोंको मैंने दलीलें देकर समझाया कि बालकोंको व्याकरण नहीं बल्कि रहन-सहन सिखाना है । पढ़ने-लिखनेकी अपेक्षा, उन्हें सफाईके नियम सिखाने की जरूरत है । हिंदी, गुजराती और मराठीमें कोई भारी भेद नहीं है, यह भी उन्हें बताया और समझाया कि शुरूमें तो सिर्फ गिनती और वर्णमाला सिखानी होगी । इसलिए दिक्कत न आयगी । इसका फल यह हुआ कि बहनोंकी पढ़ाईका काम

बहुत अच्छी तरह चल निकला और उनका आत्म-विश्वास बढ़ा। उन्हें अपने काममें रस भी आने लगा। अवंतिकाबाईकी पाठशाला आदर्श बन गई। उन्होंने अपनी पाठशालामें जीवन डाल दिया। वह इस कामको जानती भी खूब थीं। इन बहनोंकी मार्फत देहातके स्त्री-समाजमें भी हमारा प्रवेश हो गया था।

परंतु मुझे पढ़ाईतक ही न रुक जाना था। गांवोंमें गंदगी बेहद थी। रास्तों और गलियोंमें कूड़े और कंकरका ढेर, कुओंके पास कीचड़ और बदबू, आंगन इतने गंदे कि देखा न जाता था। बड़े-बूढ़ोंको सफाई सिखानेकी जरूरत थी। चंपारनके लोग बीमारियोंके शिकार दिखाई पड़ते थे। इसलिए जहांतक हो सके उनका सुधार करने और इस तरह लोगोंके जीवनके प्रत्येक विभागमें प्रवेश करनेकी इच्छा थी।

इस काममें डाक्टरकी सहायताकी जरूरत थी। इसलिए मैंने गोखलेकी समितिसे डाक्टर देवको भेजनेका अनुरोध किया। उनके साथ मेरा स्नेह तो पहले ही हो चुका था। छः महीनेके लिए उनकी सेवाका लाभ मिला। यह तय हुआ कि उनकी देख-रेखमें शिक्षक और शिक्षिका सुधारका काम करें।

इनके सबके साथ यह बात तय पाई थी कि इनमेंसे कोई भी निलहोंके शिकायतोंके झगड़े में न पड़ें। राजनैतिक बातोंको न छुएं। जो शिकायत लावें उनको सीधा मेरे पास भेज दें। कोई भी अपने क्षेत्र और कामको छोड़कर एक कदम इधर-उधर न हों। चंपारनके मेरे इन साथियोंका नियम-पालन अद्भुत था। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नहीं आता कि जब किसीने भी नियमों व हिदायतोंका उल्लंघन किया हो।

१८

ग्राम-प्रवेश

बहुत करके हर पाठशालामें एक पुरुष और एक स्त्रीकी योजना की थी। उन्हींकी मार्फत दवा और सुधारके काम करनेका निश्चय किया था। स्त्रियोंके द्वारा स्त्री-समाजमें प्रवेश करना था। दवाका काम बहुत आसान कर दिया था। अंडीका तेल, कुनैन और मरहम— इतनी चीजें हर पाठशालामें रक्खी गई थीं।

जीभ मैली दिखाई दे और कब्जकी शिकायत हो तो अंडीका तेल पिला देना, बुखारकी शिकायत हो तो अंडीका तेल पिलानेके बाद कुनैन पिला देना और फोड़े-फुंसी हों तो उन्हें धोकर मरहम लगा देना, बस इतना ही काम था। खानेकी दवा या पिलानेकी दवा किसीको घर ले जानेके लिए शायद ही दी जाती थी। कोई ऐसी बीमारी हो जो समझमें नहीं आई हो या जिसमें कुछ जोखिम हो, तो डा० देवको दिखा लिया जाता। डा० देव नियमित समयपर जगह-जगह जाते। इस सादी सुविधासे लोग ठीक-ठीक लाभ उठाते थे। आमतौरपर फैली हुई बीमारियोंकी संख्या कम ही होती है और उनके लिए बड़े विशारदोंकी जरूरत नहीं होती। यह बात अगर ध्यानम रक्खी जाय तो पूर्वोक्त योजना किसीको हास्यजनक न मालूम होगी। वहांके लोगोंको तो नहीं मालूम हुई।

परंतु सुधार-काम कठिन था। लोग गंदगी दूर करनेके लिए तैयार नहीं होते थे। अपने हाथसे मैला साफ करनेके लिए वे लोग भी तैयार न होते थे, जो रोज खेतपर मजदूरी करते थे; परंतु डा० देव झट निराश होनेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने खुद तथा स्वयं-सेवकोंने मिलकर एक गांवके रास्ते साफ किये, लोगोंके आंगनसे कूड़ा-करकट निकाला, कुएंके आसपासके गढ़े भरे, कीचड़ निकाली और गांवके लोगोंको प्रेमपूर्वक समझाते रहे कि इस कामके लिए स्वयं-सेवक दो। कहीं लोगोंने शरम खाकर काम करना शुरू भी किया और कहीं-कहीं तो लोगोंने मेरी मोटरके लिए रास्ता भी खुद ही ठीक कर दिया। इन मीठे अनुभवोंके साथ ही लोगोंकी लापरवाहीके कड़ुए अनुभव भी मिलते जाते थे। मुझे याद है कि यह सुधारकी बात सुनकर कितनी ही जगह लोगोंके मनमें अरुचि भी पैदा हुई थी।

इस ज़गह एक अनुभवका वर्णन करना अनुचित न होगा, हालांकि उसका जिक्र मैंने स्त्रियोंकी कितनी ही सभाओंमें किया है। भीतिहरवा नामक एक छोटा-सा गांव है। उसके पास उससे भी छोटा एक गांव है। वहां कितनी ही बहनोंके कपड़े बहुत मैले दिखाई दिये। मैंने कस्तूरबाईसे कहा कि इनको कपड़े धोने और बदलनेके लिए समझाओ। उसने उनसे बातचीत की तो एक बहन उसे अपने झोंपड़ेमें ले गई और बोली कि "देखो, यहां कोई संदूक या आलमारी नहीं कि जिसमें कोई कपड़े रक्खे हों। मेरे पास सिर्फ यह एक ही धोती है, जिसे मैं पहने हूं। अब मैं इसको किस तरह धोऊं? महात्माजीसे कहो कि हमें कपड़े

दिलावें तो मैं रोज नहाने और कपड़े धोने और बदलनेके लिए तैयार हूं।" ऐसे झोंपड़े हिंदुस्तानमें इने-गिने नहीं हैं। असंख्य झोंपड़े ऐसे मिलेंगे जिनमें साज-सामान, संदूक-पिटारा, कपड़े-लत्ते नहीं होते और असंख्य लोग उन्हीं कपड़ोंपर अपनी जिंदगी निकालते हैं जो वे पहने होते हैं।

एक दूसरा अनुभव भी लिखने लायक है। चंपारनमें बांस और घासकी कमी नहीं है। लोगोंने भी भीतिहरवामें पाठशालाका जो छप्पर बांस और घासका बनाया था, किसीने एक रातको उसे जला डाला। शक गया आस-पासके निलहे लोगोंके आदमियोंपर। दुबारा घास और बांसका मकान बनाना ठीक न मालूम हुआ। यह पाठशाला श्री सोमण और कस्तूरबाईके जिम्मे थी। श्री सोमणने ईंटका पक्का मकान बनानेका निश्चय किया और वह खुद उसके बनानेमें लग गये। दूसरोंपर भी उसका रंग चढ़ा और देखते-देखते ईंटोंका मकान खड़ा हो गया और फिर मकानके जलनेका डर न रहा।

इस तरह पाठशाला, स्वच्छता, सुधार और दवाके कामोंसे लोगोंमें स्वयंसेवकोंके प्रति विश्वास और आदर बढ़ा और उनके मनपर अच्छा असर हुआ।

परंतु मुझे दुःखके साथ कहना पड़ता है कि इस कामको कायम करनेकी मेरी मुराद बर न आई। जो स्वयं-सेवक मिले थे वे खास समय तकके लिए मिले थे। दूसरे नये स्वयंसेवक मिलनेमें कठिनाइयां पेश आईं और बिहारसे इस कामके लिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी चंपारनका काम खतम होनेके बाद दूसरा काम जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतना होते हुए भी छः मासके कामने इतनी जड़ जमा ली कि एक नहीं तो दूसरे रूपमें उसका असर आजतक कायम है।

१९

उज्ज्वल पक्ष

एक तरफ तो पिछले अध्यायमें वर्णन किये अनुसार समाज-सेवाके काम चल रहे थे और दूसरी ओर लोगोंके दुःखकी कथायें लिखते रहनेका काम दिन-

दिन बढ़ता जा रहा था। जब हजारों लोगोंकी कहानियां लिखी गईं तो भला इसका असर हुएं बिना कैसे रह सकता था ? मेरे मुकामपर लोगोंकी ज्यों-ज्यों आमदरफ्त बढ़ती गई त्यों-त्यों निलहे लोगोंका क्रोध भी बढ़ता चला। मेरी जांच बंद करानेकी कोशिशें उनकी ओरसे दिन-दिन अधिकाधिक होने लगीं। एक दिन मुझे बिहार सरकारका पत्र मिला, जिसका भावार्थ यह था, "आपकी जांचमें काफी दिन लग गये है और आपको अब अपना काम खतम करके बिहार छोड़ देना चाहिए।" पत्र यद्यपि सौजन्यसे युक्त था; परंतु उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा— "जांचमें तो अभी और दिन लगेंगे, और जांचके बाद भी जबतक लोगोंका दुःख दूर न होगा मेरा इरादा बिहार छोड़नेका नहीं है।"

मेरी जांच बंद करनेका एक ही अच्छा इलाज सरकारके पास था। लोगोंकी शिकायतोंको सच मानकर उन्हें दूर करना अथवा उनकी शिकायतोंपर ध्यान देकर अपनी तरफसे एक जांच-समिति नियुक्त कर देना। गवर्नर सर एडवर्ड गेटने मुझे बुलाया और कहा कि मैं जांच-समिति नियुक्त करनेके लिए तैयार हूं और उसका सदस्य बननेके लिए उन्होंने मुझे निमन्त्रण दिया। दूसरे सदस्योंके नाम देखकर और अपने साथियोंसे सलाह करके इस शर्तपर मैंने सदस्य होना स्वीकार किया कि मुझे अपने साथियोंके साथ सलाह-मशविरा करनेकी छुट्टी रहनी चाहिए और सरकारको समझ लेना चाहिए कि सदस्य बन जानेसे किसानोंका हिमायती रहनेका मेरा अधिकार नहीं जाता रहेगा, एवं जांच होनेके बाद यदि मुझे संतोष न हो तो किसानोंकी रहनुमाई करने की मेरी स्वतंत्रता जाती न रहे।

सर एडवर्ड गेटने इन शर्तोंको वाजिब समझकर मंजूर किया। स्वर्गीय सर फ्रेंक स्लाई उसके अध्यक्ष बनाये गये। जांच-समितिने किसानोंकी तमाम शिकायतोंको सच्चा बताया और यह सिफारिश की कि निलहे लोग अनुचित रीतिसे पाये रुपयोंका कुछ भाग वापस दें और 'तीन कठिया' का कायदा रद किया जाय।

इस रिपोर्टके सांगोपांग तैयार होनेमें और अंतको कानून पास करानेमें सर एडवर्ड गेटका बड़ा हाथ था। वह यदि मजबूत न रहे होते और पूरी-पूरी कुशलतासे काम न लिया होता तो जो रिपोर्ट एक मतसे लिखी गई, वह नहीं

लिखी जा सकती थी और अंतको जो कानून बना वह न बन पाता। निलहोंकी सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्ट हो जानेके बाद भी कितनोंने बिलका विरोध किया था, परंतु सर एडवर्ड गेट अंततक दृढ़ रहे और समितिकी सिफारिशोंका पूरा-पूरा पालन उन्होंने कराया।

इस तरह सौ वर्षका पुराना यह 'तीन कठिया' कानून रद हुआ और उसके साथ ही निलहोंका राज्य भी अस्त हो गया। रैयतने, जो दबी हुई थी, अपने बलको कुछ पहचाना और उसका यह वहम दूर होगया कि नीलका दाग धो धोये नहीं धुलता।

मेरी इच्छा थी कि चंपारनमें जो रचनात्मक कार्य आरंभ हुआ है उसे जारी रखकर लोगोंमें कुछ वर्षों तक काम किया जाय और अधिक पाठशालाएं खोलकर अधिक गांवोंमें प्रवेश किया जाय। क्षेत्र तो तैयार था; परंतु मेरे मनसूबे ईश्वरने बहुत बार पार नहीं पड़ने दिये हैं। मैंने सोचा था एक और दैवने मुझे दूसरे ही काममें ले घसीटा।

२०

मजदूरोंसे संबंध

अभी मैं चंपारनमें जांच-समितिका काम खतम कर ही रहा था कि इतनेमें खेड़ासे मोहनलाल पंड्या और शंकरलाल परीखका पत्र मिला कि खेड़ा जिलेमें फसल नष्ट हो गई है और उसका लगान माफ होना जरूरी है। आप आइए और वहां चलकर लोगोंको राह दिखाइए। वहां जाकर जबतक मैं खुद जांच न करलूं, तबतक कुछ सलाह देनेकी इच्छा मुझे न थी और न ऐसी सामर्थ्य और साहस ही था।

दूसरी ओर श्रीमती अनसूया बहनकी चिट्ठी उनके 'मजूर-संघ' के संबंधमें मिली। मजदूरोंका वेतन कम था। बहुत दिनोंसे उनकी मांग थी कि वेतन बढ़ाया जाय। इस संबंधमें उनका पथ-प्रदर्शन करनेका उत्साह मुझे था। यह काम यों तो छोटा-सा था; परंतु मैं उसे दूर बैठकर नहीं कर सकता था। इससे मैं तुरंत अहमदाबाद पहुंचा। मैंने सोचा तो यह था कि दोनों कामोंकी

जांच करके थोड़े ही समयमें चंपारन लौट आऊंगा और वहांके रचनात्मक कामको संभाल लूंगा ।

परंतु अहमदाबाद पहुंचनेके बाद ऐसे काम निकल आये कि मैं बहुत समय तक चंपारन न जा सका और जो पाठशालायें वहां चलती थीं वे एकके बाद एक टूट गईं । साथियोंने और मैंने जो कितने ही हवाई किले बांध रक्खे थे, वे कुछ समयके लिए टूट गये ।

चंपारनमें ग्राम-पाठशाला और ग्राम-सुधारके अलावा गोरक्षाका काम भी मैंने अपने हाथमें ले लिया था । अपने भ्रमणमें मैं यह बात देख चुका था कि गो-शाला और हिंदी-प्रचारके कामका ठेका मारवाड़ी भाइयोंने ले लिया है । बेतियामें एक मारवाड़ी सज्जनने अपनी धर्मशालामें मुझे आश्रय दिया था । बेतियाके मारवाड़ी सज्जनोंने मुझे उनकी गोशालाकी ओर आकृष्ट किया था । गोरक्षाके संबंधमें जो विचार मेरे आज हैं वही उस समय बन चुके थे । गोरक्षाका अर्थ है गोवंशकी वृद्धि, गोजातिका सुधार, बैलसे मर्यादित काम लेना, गोशालाको आदर्श दुग्धालय बनाना, इत्यादि । इस काममें मारवाड़ी भाइयोंने पूरी मदद देने का वचन दिया था; परंतु मैं चंपारनमें जमकर नहीं बैठ सका । इसलिए वह काम अधूरा ही रह गया । बेतियामें गोशाला तो आज भी चल रही है; परंतु वह आदर्श दुग्धालय नहीं बन सकी । चंपारनमें बैलोंसे आज भी ज्यादा काम लिया जाता है । हिंदू-नामधारी अब भी बैलोंको निर्दयतासे पीटते हैं और इस तरह अपने धर्मको डुबोते हैं । यह अफसोस मुझे हमेशा के लिए रह गया है । मैं जब-जब चंपारन जाता हूं तब-तब उन अधूरे रहे कामोंको स्मरण करके एक लंबी सांस छोड़ता हूं और उन्हें अधूरा छोड़ देनेके लिए मारवाड़ी भाइयों और बिहारियोंका मीठा उलाहना सुनता हूं ।

पाठशालाओंका काम तो एक नहीं दूसरी रीतिसे दूसरी जगह चल रहा है; परंतु गो-सेवाके कार्यक्रम की तो जड़ ही नहीं जमी थी; इसलिए उसे आवश्यक दिशामें गति नहीं मिल सकी ।

अहमदाबादमें खेड़ाके कामके लिए सलाह-मशवरा चल रहा था कि इतनेमें मजदूरोंका काम मैंने अपने हाथमें ले लिया ।

इसमें मेरी स्थिति बड़ी नाजुक थी । मजदूरोंका पक्ष मुझे मजबूत मालूम

हुआ। श्रीमती अनसूया बहनको अपने सगे भाईके साथ लड़नेका प्रसंग आगया था। मजूरों और मालिकोंके इस दारुण युद्धमें श्री अंबालाल साराभाईने मुख्य भाग लिया था। मिल-मालिकोंके साथ मेरा मीठा संबंध था। उनके साथ लड़ना मेरे लिए विषम काम था। मैंने उनसे आपसमें बातचीत करके अनुरोध किया कि पंच बनाकर मजदूरोंकी मांगका फैसला कर लीजिए; परंतु मालिकोंने अपने और मजदूरोंके बीचमें पंचकी मध्यस्थताके औचित्यको पसंद न किया।

तब मजदूरोंको मैंने हड़ताल कर देनेकी सलाह दी। यह सलाह देनेके पहले मैंने मजदूरों और उनके नेताओंसे काफी पहचान और बातचीत कर ली थी। उन्हें मैंने हड़तालकी नीचे लिखी शर्तें समझाईं—

(१) किसी हालतमें शांति भंग न करना।

(२) जो कामपर जाना चाहें उनके साथ किसी किस्मकी ज्यादती या जबरदस्ती न करना।

(३) मजदूर भिक्षान्न न खावें।

(४) हड़ताल चाहे जबतक करना पड़े, पर वे दृढ़ रहें और जब रुपया-पैसा न रहे तो दूसरी मजदूरी करके पेट पालें।

अगुआ लोग इन शर्तोंको समझ गये और उन्हें ये पसंद भी आईं। अब मजदूरोंने एक आम सभा की और उसमें प्रस्ताव किया कि जबतक हमारी मांग स्वीकार न की जाय अथवा उसपर विचार करनेके लिए पंच न मुकर्रर हों तबतक हम काम पर न जायेंगे।

इस हड़तालमें मेरा परिचय श्री वल्लभभाई पटेल और श्री शंकरलाल बैंकरसे बहुत अच्छी तरह हो गया। श्रीमती अनसूया बहनसे तो मेरा परिचय पहले ही खूब हो चुका था।

हड़तालियोंकी सभा रोज साबरमतीके किनारे एक पेड़के नीचे होने लगी। वे सैकड़ोंकी संख्यामें आते। मैं रोज उन्हें अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण कराता। शांति रखने और स्व-मानकी रक्षा करनेकी आवश्यकता उन्हें समझाता। वे अपना 'एक टेक'का झंडा लेकर रोज शहरमें जलूस निकालते और सभामें आते।

यह हड़ताल २१ दिन चली। इस बीच में समय-समयपर मालिकोंसे

बातचीत करता और उन्हें इंसाफ करनेके लिए समझाता। "हमें भी तो अपनी टेक रखनी है। हमारा और मजदूरोंका बाप-बेटोंका संबंध है। ....उसके बीचमें यदि कोई पड़ना चाहे तो इसे हम कैसे सहन कर सकते हैं? बाप-बेटोंमें पंचकी क्या जरूरत है?" यह जवाब मुझे मिलता।

२१

आश्रमकी झांकी

मजदूर-प्रकरणको आगे ले चलनेके पहले आश्रमकी एक झलक देख लेनेकी आवश्यकता है। चंपारनमें रहते हुए भी मैं आश्रमको भूल नहीं सकता था। कभी-कभी वहां आ भी जाता था।

कोचरब अहमदाबादके पास एक छोटा-सा गांव है। आश्रमका स्थान इसी गांवमें था। कोचरबमें प्लेग शुरू हुआ। बालकोंको मैं बस्तीके भीतर सुरक्षित नहीं रख सकता था। स्वच्छताके नियमोंका पालन चाहे लाख करें, मगर आस-पासकी गंदगीसे आश्रमको अछूता रखना असंभव था। कोचरबके लोगोंसे स्वच्छताके नियमोंका पालन करवानेकी अथवा ऐसे समयमें उनकी सेवा करनेकी शक्ति हममें न थी। हमारा आदर्श तो आश्रमको शहर या गांवसे दूर रखना था, हालांकि इतना दूर नहीं कि वहां जानेमें बहुत मुश्किल पड़े। आश्रम-को आश्रमके रूपमें सुशोभित होनेके पहले उसे अपनी जमीनपर खुली जगहमें स्थिर तो हो ही जाना था।

इस महामारीको मैंने कोचरब छोड़नेका नोटिस माना। श्री पुंजाभाई हीराचंद आश्रमके साथ बहुत निकट संबंध रखते और आश्रमकी छोटी-बड़ी सेवायें निरभिमान-भावसे करते थे। उन्हें अहमदाबादके काम-काजका बहुत अनुभव था। उन्होंने आश्रमके लायक आवश्यक जमीन तुरंत ही ढूंढ़ देनेका बीड़ा उठाया। कोचरबके उत्तर-दक्षिणका भाग मैं उनके साथ घूम गया। फिर मैंने उनसे कहा कि उत्तरकी ओर तीन-चार मील दूरपर अगर जमीनका टुकड़ा मिले तो खोजिए। अब जहांपर आश्रम है, वह जमीन उन्हींकी ढूंढी हुई है।

मेरे लिए वह खास प्रलोभन था कि वह जमीन जेलके निकट है। मैंने यह माना है कि सत्याग्रहाश्रम वासीके भाग्यमें जेल तो लिखा ही है, जेलका पड़ौस पसंद पड़ा। इतना तो मैं जानता था कि हमेशा जेलके लिए वैसा ही स्थान ढूंढ़ा जाता है, जिसके आस-पासकी जगह साफ-सुथरी हो।

कोई आठ दिनोंमें ही जमीनका सौदा हो गया। जमीनपर मकान एक भी न था। न कोई झाड़-पेड़ ही था। उसके लिए सबसे बड़ी सिफारिश तो यह थी कि वह एकांत और नदीके किनारे पर है। शुरूमें हमने तंबूमें रहनेका निश्चय किया। रसोईके लिए टीनका एक काम-चलाऊ छप्पर बना लिया और सोचा कि स्थायी मकान धीरे-धीरे बना लेंगे।

इस समय आश्रममें काफी आदमी थे। छोटे-बड़े कोई चालीस स्त्री-पुरुष थे। इतनी सुविधा थी कि सब एक ही रसोईमें खाते थे। योजनाकी कल्पना मेरी थी, उसे अमलमें लानेका भार उठानेवाले तो नियमानुसार स्व. मगनलाल ही थे।

स्थायी मकान बननेके पहले असुविधाका तो कोई पार ही न था। बरसात-का मौसम सिरपर था। सारा सामान चार मील दूर शहरसे लाना था। इस उजाड़ जमीनमें सांप वगैरा तो थे ही। ऐसे उजाड़ स्थानमें बालकोंको संभालनेकी जोखिम ऐसी-वैसी नहीं थी। सांप वगैराको मारते न थे; मगर उनके भयसे मुक्त तो हममेंसे कोई न था, आज भी नहीं है।

हिंसक जीवोंको न मारनेके नियमका यथाशक्ति पालन फिनिक्स, टॉलस्टाय-फार्म और साबरमती—तीनों जगहों में किया है। तीनों जगहोंमें उजाड़ जंगलमें रहना पड़ा है। तीनों जगहोंमें सांप वगैरा का उपद्रव खूब ही था; मगर तो भी अबतक एक भी जान हमें खोनी नहीं पड़ी है। इसमें मेरे-जैसा श्रद्धालु तो ईश्वरका हाथ, उसकी कृपा ही देखता है। ऐसी निरर्थक शंका कोई न करे कि ईश्वर पक्षपात नहीं करता, मनुष्यके रोजके काममें हाथ डालनेको वह बेकार नहीं बैठा है। अनुभवकी दूसरी भाषामें इस भावको रखना मैं नहीं जानता। ईश्वरकी कृतिको लौकिक भाषामें रखते हुए भी मैं जानता हूं कि उसका 'कार्य' अवर्णनीय है; किंतु अगर पामर मनुष्य उसका वर्णन करे तो उसके पास तो अपनी तोतली बोली ही होगी। आम तौर पर सांपको न मारते हुए भी यहांका

समाज जब पच्चीस वर्ष तक बचा रहा तो इसे संयोग या आकस्मिक घटना माननेके बदले ईश्वर-कृपा मानना वहम हो तो, यह वहम भी अपनाने लायक है ।

जिस समय मजदूरों की हड़ताल हुई उस समय आश्रमका पाया चुना जा रहा था । आश्रमकी प्रधान प्रवृत्ति बुनाई की थी । कताईकी तो मैं अभी खोज ही नहीं कर सका था । इसलिए निश्चय था कि पहले बुनाई-घर बनाया जाय । इस समय उसकी नींव डाली जा रही थी ।

२२

उपवास

मजदूरोंने पहले दो हफ्ते बड़ी हिम्मत दिखलाई । शांति भी खूब रक्खी रोजकी सभाओंमें भी वे बड़ी संख्यामें आते थे । मैं उन्हें रोज ही प्रतिज्ञाका स्मरण कराता था । वे रोज पुकार-पुकार कर कहते थे, "हम मर जायंगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे ।"

किंतु अंतमें वे ढीले पड़ने लगे । और जैसे कि निर्बल आदमी हिंसक होता है, वैसे ही, वे निर्बल पड़ते ही मिलमें जानेवाले मजदूरोंसे द्वेष करने लगे और मुझे डर लगा कि शायद कहीं उनपर ये बलात्कार न कर बैठें। रोजकी सभामें आदमियोंकी हाजिरी कम हुई । जो आते भी उनके चेहरोंपर उदासी छाई हुई थी । मुझे खबर मिली कि मजदूर डिगने लगे हैं । मैं तरद्दुदमें पड़ा । मैं सोचने लगा कि ऐसे समयमें मेरा क्या कर्त्तव्य हो सकता है । दक्षिण अफ्रीकाके मजदूरोंकी-हड़तालका अनुभव मुझे था, मगर यह अनुभव मेरे लिए नया था । जिस प्रतिज्ञा करानेमें मेरी प्रेरणा थी, जिसका साक्षी मैं रोज ही बनता था, वह प्रतिज्ञा कैसे टूटे ? यह विचार या तो अभिमान कहा जा सकता है, या मजदूरोंके और सत्यके प्रति प्रेम समझा जा सकता है ।

सवेरेका समय था । मैं सभामें था । मुझे कुछ पता नहीं था कि क्या करना है, मगर सभामें ही मेरे मुंहसे निकल गया— "अगर मजदूर फिरसे तैयार न हो जायं और जबतक कोई फैसला न हो जाय तबतक हड़ताल न निभा सकें, तो तबतक मैं उपवास करूंगा ।" वहां पर जो मजदूर थे, वे हैरतमें आगये ।

अनसूयाबहनकी आंखोंसे आंसू निकल पड़े। मजदूर बोल उठे— "आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आपको उपवास नहीं करने देंगे। हमें माफ कीजिए। हम अपनी टेकपर अड़े रहेंगे।"

मैंने कहा, "तुम्हारे उपवास करनेकी कोई जरूरत नहीं है। तुम अपनी प्रतिज्ञाका ही पालन करो तो बस है। हमारे पास द्रव्य नहीं है। मजदूरोंको भिक्षान्न खिलाकर हमें हड़ताल नहीं करनी है। तुम कहीं कुछ मजदूरी करके अपना पेट भरने लायक कमा लो तो, चाहे हड़ताल कितनी ही लंबी क्यों न हो, तुम निश्चिंत रह सकते हो। और मेरा उपवास तो कुछ-न-कुछ फैसलेके पहले छूटनेवाला नहीं है।"

वल्लभभाई मजदूरोंके लिए म्युनिसिपैलिटीमें काम ढूंढते थे; मगर वहांपर कुछ मिलने लायक नहीं था। आश्रमके बुनाई-घरमें बालू भरनी थी। मगनलालने सुझाया कि उसमें बहुतसे मजदूरोंको काम दिया जा सकता है। मजदूर काम करनेको तैयार हुए। अनसूया बहनने पहली टोकरी उठाई और नदीमेंसे बालूकी टोकरियां उठाकर लानेवाले मजदूरोंका ठठ लग गया। यह दृश्य देखने लायक था। मजदूरोंमें नया जोर आया; उन्हें पैसा चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थक जाते थे।

इस उपवासमें एक दोष था। मैं यह लिख चुका हूं कि मिल-मालिकोंके साथ मेरा मीठा संबंध था। इसलिए यह उपवास उन्हें स्पर्श किये बिना रह नहीं सकता था। मैं जानता था कि बतौर सत्याग्रहीके उनके विरुद्ध मैं उपवास नहीं कर सकता। उनके ऊपर जो-कुछ असर पड़े, वह मजदूरोंकी हड़तालका ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषके लिए न था; किंतु मजदूरोंके दोषके लिए था। मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि था, इसलिए इनके दोषसे दोषित होता था। मालिकोंसे तो मैं सिर्फ विनय ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना तो बलात्कार गिना जायगा। तो भी मैं जानता था कि मेरे उपवासका असर उनपर पड़े बिना नहीं रह सकता। पड़ा भी सही; किंतु मैं अपनेको रोक नहीं सकता था। मैंने ऐसा दोषमय उपवास करनेका अपना धर्म प्रत्यक्ष देखा।

मालिकोंको मैंने समझाया, "मेरे उपवाससे आपको अपना मार्ग जरा भी छोड़नेकी जरूरत नहीं है।" उन्होंने मुझे कडुए-मीठे ताने भी मारे। उन्हें

इसका अधिकार था ।

इस हड़तालके विरुद्ध अचल रहनेमें सेठ अंबालाल अग्रसर थे। उनकी दृढ़ता आश्चर्यजनक थी। उनकी स्पष्ट-हृदयता भी मुझे उतनी ही रुची। उनके खिलाफ लड़ना मुझे प्रिय लगा। इनके-जैसे अग्रसर जहां विरोधी-पक्षमें हों, उपवासके द्वारा उनपर पड़नेवाला बुरा असर मुझे खटका। फिर मेरे ऊपर उनकी पत्नी सरलादेवीका सगी बहनके समान स्नेह था। मेरे उपवाससे होनेवाली उनकी व्यग्रता मुझसे देखी नहीं जाती थी ।

मेरे पहले उपवासमें तो अनसूया बहन और दूसरे कई मित्र तथा कुछ मजदूर शामिल हुए। और अधिक उपवास न करनेकी जरूरत मैं उन्हें मुश्किलसे समझा सका। इस तरह चारों ओरका वातावरण प्रेममय बन गया। मिल-मालिक तो केवल दयाकी ही खातिर समझौता करनेके रास्ते ढूंढ़ने लगे। अनसूया बहनके यहां उनकी बातचीत होने लगी। श्री आनंदशंकर ध्रुव भी बीचमें पड़े। अंतमें वह पंच चुने गये और हड़ताल छूटी। मुझे तीन ही दिन उपवास करना पड़ा। मालिकोंने मजदूरोंको मिठाई बांटी। इक्कीसवें दिन समझौता हुआ। समझौतेका सम्मेलन हुआ। उसमें मिल-मालिक और उत्तर विभागके कमिश्नर आये थे। कमिश्नरने मजदूरोंको सलाह दी थी— "तुम्हें हमेशा मि. गांधी की बात माननी चाहिए।" इन्हीं कमिश्नर साहबके खिलाफ इस घटनाके कुछ दिनों बाद तुरंत ही मुझे लड़ना पड़ा था ! समय बदला, इसलिए वह भी बदल गए और खेड़ाके पाटीदारोंको मेरी सलाह न माननेके लिए कहने लगे ।

एक मजेदार मगर उतनी ही करुणाजनक घटनाका भी यहां उल्लेख करना उचित है। मालिकोंकी तैयार कराई मिठाई बहुत थी और सवाल यह हो पड़ा था कि हजारों मजदूरोंमें वह बांटी किस तरह जाय ? यह समझकर कि जिस पेड़के आश्रयमें मजदूरोंने प्रतिज्ञा की थी वहींपर बांटना उचित होगा, और दूसरी किसी जगह हजारों मजदूरोंको इकट्ठा करना भी असुविधाकी बात थी, उसके आसपासके खुले मैदानमें मिठाई बांटनेकी बात तय पाई थी। मैंने अपने भोलेपनमें मान लिया कि इक्कीस दिनों तक अनुशासनमें रहे मजदूर बिना किसी प्रयत्नके ही पंक्तिमें खड़े होकर मिठाई ले लेंगे और अधीर होकर मिठाई पर हमला नहीं कर बैठेंगे; किन्तु मैदानमें बांटनेके दो-तीन तरीके आजमाये

और निष्फल हुए। दो-तीन मिनट ठीक-ठीक चले और फिर बंधी-बंधाई पंक्ति टूट जाती। मजदूरोंके नेताओंने खूब प्रयत्न किया, मगर वे कुछ इंतजाम नहीं कर सके। अंतमें भीड़, शोरगुल और हमला ऐसा हुआ कि कितनी ही मिठाई कुचलकर बरबाद गई। मैदानमें बांटना बंद करना पड़ा और बची हुई मिठाई मुश्किल से सेठ अंबालालके मिर्जापुर वाले मकानमें पहुंचाई जा सकी। यह मिठाई दूसरे दिन बंगलेके मैदानमें ही बांटनी पड़ी।

इसमेंका हास्यरस स्पष्ट है। 'एक टेक' वाले पेड़के पास मिठाई बांटी न जा सकनेके कारणोंको ढूंढ़नेपर हमने देखा कि मिठाई बंटनेकी खबर पाकर अहमदाबादके भिखारी वहां आ पहुंचे थे और उन्होंने कतार तोड़कर मिठाई छीनने की कोशिशें कीं। यह करुण रस था। यह देश फाके-कशीसे ऐसा पीड़ित है कि भिखारियोंकी संख्या बढ़ती ही जाती है और वे खाने-पीनेकी चीजें प्राप्त करनेके लिए आम मर्यादाको तोड़ डालते हैं। धनिक लोग ऐसे भिखारियोंके लिए काम ढूंढ़ देनेके बदले उन्हें भीख दे-देकर पालते हैं।

२२

खेड़ामें सत्याग्रह

मजदूरोंकी हड़ताल पूरी होनेके बाद मुझे दम मारनेकी भी फुरसत न मिली और खेड़ा जिलेके सत्याग्रहका काम उठा लेना पड़ा। खेड़ा जिलेमें अकालके जैसी स्थिति होनेसे वहांके पाटीदार लगान माफ करवानेके लिए प्रयत्न कर रहे थे। इस संबंधमें श्री अमृतलाल ठक्करने जांच करके रिपोर्ट भेजी थी। मैंने कुछ भी पक्की सलाह देनेके पहले कमिश्नरसे भेंट की। श्री मोहनलाल पंड्या और श्री शंकरलाल परीख अथक परिश्रम कर रहे थे। स्व० गोकुलदास कहानदास परीख और श्री विट्ठलभाई पटेलके द्वारा वे धारासभामें हलचल करा रहे थे। सरकारके पास शिष्ट मंडल गये थे।

इस समय मैं गुजरात-सभाका अध्यक्ष था। सभाने कमिश्नर और गवर्नरको अर्जियां दीं, तार दिये, कमिश्नरके अपमान सहन किये; उनकी धमकियां पी गई। उस समय के अफसरोंका रोबदाब अब तो हास्यजनक लगता है। अफ-

सरोंका तबका बिलकुल हलका व्यवहार अब तो असंभव-सा जान पड़ता है ।

लोगोंकी मांग ऐसी साफ और मामूली थी कि उसके लिए लड़ाई लड़नेकी भी जरूरत नहीं होनी चाहिए। यह कानून था कि अगर फसल चार आने या उससे भी कम हो तो उस साल लगान माफ होना चाहिए; किंतु सरकारी अफसरोंका अनुमान चार आनेसे अधिकका था। लोगोंकी ओरसे इसके सबूत पेश किये गये कि फसल चार आनेसे कम हुई है। मगर सरकार मानने ही क्यों लगी ? लोगोंकी ओरसे पंच बनानेकी मांग हुई। सरकारको वह असह्य लगी। जितनी विनय की जा सकती थी उतनी कर लेनेके बाद, साथियोंके साथ सलाह करके, मैंने लोगोंको सत्याग्रह करनेकी सलाह दी।

साथियोंमें खेड़ा जिलेके सेवकोंके अलावा खास तौरपर श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन, श्री इंदुलाल कन्हैयालाल याज्ञिक, श्री महादेव देसाई वगैरा थे। वल्लभभाई अपनी बड़ी और दिनों-दिन बढ़ती हुई वकालतका त्याग करके आये थे। यह भी कहा जा सकता है कि उसके बाद वह फिर कभी जमकर वकालत कर ही नहीं सके।

हमने नड़ियाद-अनाथाश्रममें डेरा जमाया। अनाथाश्रममें ठहरनेमें कोई विशेषता नहीं थी; किंतु इसके समान कोई दूसरा खाली मकान नड़ियादमें नहीं था, जहां इतने अधिक आदमी रह सकें। अंतमें नीचे लिखी प्रतिज्ञापर हस्ताक्षर लिये गये—

"हम जानते हैं कि हमारे गांवमें फसल चार आनेसे भी कम हुई है। इसलिए हमने अगले सालतक कर वसूल करना मुल्तवी रखनेकी अर्जी सरकार को दी है; मगर फिर भी लगानकी वसूली बंद नहीं हुई है, इसलिए हम नीचे सही करनेवाले प्रतिज्ञा करते हैं कि इस सालका सरकारका पूरा या बकाया लगान अदा न करेंगे; किंतु उसे वसूल करनेके लिए सरकार जो-कुछ कानूनी कार्रवाई करे उसे करने देंगे और उससे होनेवाला कष्ट सहेंगे। यदि इससे हमारी जमीनें [illegible] होंगी तो वह भी होने देंगे; किंतु अपने हाथों लगान चुकाकर, झूठे बनकर, हम स्वाभिमान नहीं खोएंगे। अगर सरकार दूसरी किस्ततक बकाया लगान वसूल करना सभी जगह मुल्तवी कर दे तो हममें जो लोग समर्थ हैं वे पूरा या बकाया लगान चुकानेको तैयार हैं। हममें जो समर्थ हैं उनके लगान न देनेका कारण

यह है कि अगर खुशहाल लोग दे दें तो जो असमर्थ हैं वे घबराहटमें पड़कर अपनी चाहे जो वस्तु बेचकर या कर्ज करके लगान चुकावेंगे और दुःख भोगेंगे। हम मानते हैं कि ऐसी हालतमें गरीबोंका बचाव करना समर्थोंका धर्म है।"

इस लड़ाईके वर्णनके लिए मैं अधिक प्रकरण नहीं दे सकता। इसलिए कितने ही मीठे संस्मरण छोड़ देने पड़ेंगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाईका विशेष हाल जानना चाहें, उन्हें श्री शंकरलाल परीखका लिखा 'खेड़ाकी लड़ाईका सविस्तर और प्रामाणिक इतिहास' पढ़ जानेकी मेरी सलाह है।[1]

२४

'प्याज-चोर'

चंपारन हिंदुस्तानके एक ऐसे कोनेमें पड़ा था और वहांकी लड़ाईको अखबारोंसे इस तरह अलग रक्खा जा सका था कि वहां बाहरसे देखनेवाले नहीं आते थे। परंतु खेड़ाकी लड़ाईकी खबर अखबारोंमें छप चुकी थी। गुजरातियोंकी इस नई चीजमें खूब दिलचस्पी हो रही थी। वे धन लुटानेको तैयार थे। यह बात तुरंत ही उनकी समझमें नहीं आती थी कि सत्याग्रहकी लड़ाई धनसे नहीं चल सकती, उसे धनकी जरूरत कम-से-कम रहती है। मना करनेपर भी बंबई-के सेठोंने जरूरतसे अधिक धन दिया था और लड़ाईके अंतमें उसमेंसे कुछ रकम बची भी थी।

दूसरी ओर सत्याग्रही सेना को भी सादगीका नया पाठ सीखना बाकी था। यह तो नहीं कह सकते कि उन्होंने पूरा पाठ सीख लिया था; किंतु हां, अपने रहन-सहनमें उन्होंने बहुत कुछ-सुधार जरूर कर लिया था।

पाटीदारोंके लिए भी इस प्रकारकी लड़ाई नई ही थी। गांव-गांवमें घूमकर उसका रहस्य समझाना पड़ता था। यह समझाकर लोगोंका भय दूर करना मुख्य काम था कि सरकारी अफसर प्रजाके मालिक नहीं किंतु नौकर हैं, उसके पैसेसे तनख्वाह पाने वाले हैं और निर्भय बनते हुए भी उन्हें विनयके पालन

[1] यह पुस्तक गुजरातीमें है।—अनु०

करनेका ढंग बतलाना और गले उतारना लगभग अशक्य-सा ही लगता था। अफसरोंका डर छोड़नेके बाद उनके किये अपमानोंका बदला लेनेकी इच्छा किसे न होती ? मगर फिर भी सत्याग्रहीके लिए अविनयी होना तो दूधमें जहर पड़नेके समान है। पीछेसे मैंने यह और अधिक समझा कि पाटीदार अभी विनयका पूरा पाठ नहीं पढ़ सके थे। अनुभवसे देखता हूं कि विनय सत्याग्रहका सबसे कठिन अंश है। विनयका अर्थ यहांपर केवल मानके साथ वचन बोलना-भर ही नहीं है। विनय है विरोधीके प्रति भी मनमें आदर रखना, सरल भाव, उसके हितकी इच्छा और उसीके अनुसार बर्ताव रखना।

शुरूके दिनोंमें लोगोंमें खूब हिम्मत दिखाई पड़ती थी। शुरू-शुरूमें सरकारी कार्रवाइयां भी नर्म होती थीं; किंतु जैसे-जैसे लोगोंकी दृढ़ता बढ़ती हुई जान पड़ी, वैसे-वैसे सरकार भी अधिक उग्र उपाय करने लगी। जब्तीवालोंने लोगोंके ढोर बेच दिये. घरमेंसे मनचाहा माल उठा ले गये। चौथाई जुरमानेके नोटिस निकले। किसी-किसी गांवकी सारी फसल जब्त हो गई। अब लोग घबराये। कुछ लोगोंने लगान दे दिया। दूसरे यह चाहने लगे कि अगर सरकारी अफसर ही हमारा कुछ माल जब्त करके लगान अदा कर लें तो हम सस्ते ही छूटें। पर कितने ऐसे भी निकले, जो मरते दमतक टेकपर अड़े रहनेवाले थे।

इतने हीमें शंकरलाल परीखकी जमीनपर रहनेवाले उनके आदमीने उनका लगान भर दिया। इससे हाहाकार हो गया। शंकरलाल परीखने वह जमीन देशको अर्पण करके अपने आदमीकी भूलका प्रायश्चित्त किया। उनकी प्रतिष्ठा अक्षत रही। दूसरोंके लिए यह उदाहरण हुआ।

एक अनुचित रूपसे जब्त किये गये खेतमें प्याजकी फसल तैयार थी। मैंने डरे हुएं लोगोंको उत्साह देनेके लिए मोहनलाल पंड्याके नेतृत्वमें उस खेतकी फसल काट लेनेकी सलाह दी। मेरी दृष्टिमें उसमें कानूनका भंग नहीं होता था। मैंने समझाया, अगर होता भी हो तो भी जरासे लगानके लिए सारी खड़ी फसलकी जब्ती कानून-सम्मत होनेपर भी नीति-विरुद्ध है और सरासर लूट है तथा इस तरह की गई जब्तीका अनादर करना धर्म है। ऐसा करनेमें जेल जाने तथा सजा पानेकी जो जोखिम थी सो लोगोंको मैंने स्पष्ट रूपसे बतला दी थी। मोहनलाल पंड्याको तो यही चाहिए था। उन्हें यह रुचिकर नहीं लग रहा था कि सत्याग्रह-

से अविरोधी तौरपर किसीके जेल जानेके पहले ही खेड़ाकी लड़ाई खत्म हो जाय। उन्होंने इस खेतकी प्याज खोद लानेका बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियोंने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकड़े बिना भला कैसे रहती? मोहनलाल पंड्या और उनके साथी पकड़े गये। इससे लोगोंका उत्साह बढ़ा। लोग जहांपर जेल इत्यादि-से निर्भय बनते हैं वहां राजदंड लोगोंको दबानेके बदले उलटा बहादुरी देता है। अदालतमें लोगोंके झुंड मुकदमा देखनेको इकट्ठे होने लगे। पंड्याको तथा उनके साथियोंको बहुत थोड़े दिनोंकी कैद मिली। मैं मानता हूं कि अदालतका फैसला गलत था। प्याज उखाड़नेकी कार्रवाई चोरीकी कानूनी व्याख्यामें नहीं आती है; किंतु अपील करनेकी ओर किसीकी रुचि ही नहीं थी।

जेल जानेवालोंको पहुंचानेके लिए एक जलूस गया, और उस दिनसे मोहनलाल पंड्याने जो 'प्याज-चोर' की सम्मानित उपाधि लोगोंसे पाई उसका गौरव उन्हें आज तक प्राप्त है।

अब यह वर्णन करके कि इस लड़ाईका कैसा और किस तरह अंत आया, यह खेड़ा-प्रकरण पूरा करूंगा।

२५

खेड़ाकी लड़ाईका अंत

इस लड़ाईका अंत विचित्र रीतिसे हुआ। यह स्पष्ट था कि लोग थक गये थे। जो लोग आनपर अड़े थे, उन्हें अंततक ख्वार होने देनेमें संकोच होता था। मेरा झुकाव इस ओर था कि एक सत्याग्रहीको जो उचित मालूम हो सके, ऐसा कोई उपाय अगर इस युद्धको समाप्त करनेका मिल जाय तो वही करना चाहिए। सो ऐसा एक अकल्पित उपाय आप-ही-आप आ भी गया। नड़ियाद ताल्लुकेके मामलतदार (तहसीलदार) ने खबर भेजी कि अगर धनी पाटीदार लगान अदा कर दें तो गरीबोंका लगान मुल्तवी रहेगा। मैंने इस विषयमें तहरीरी हुक्म मांगा। यह मिल भी गया। मामलतदार तो अपने ही ताल्लुकेकी जिम्मेदारी ले सकता है। सारे जिलेकी ओरसे कलेक्टर ही कह सकता है। इसलिए मैंने

कलेक्टरसे पूछा। जवाब मिला कि ऐसा हुक्म तो कबका निकल चुका है। मुझे उसकी खबर न थी; किंतु अगर ऐसा हुक्म निकला हो तो लोगोंकी प्रतिज्ञा पूरी हुई समझनी चाहिए। प्रतिज्ञामें यही बात थी। इसलिए इस हुक्मसे हमने संतोष माना।

फिर भी इस अंतसे हममेंसे कोई खुश न हो सका; क्योंकि सत्याग्रहकी लड़ाईके पीछे जो मिठास होनी चाहिए सो इसमें नहीं थी। कलेक्टर समझता था मैंने मानो कुछ नया किया ही नहीं है। गरीब लोगोंको छूट देनेकी बात थी, मगर ये भी शायद ही बचे। यह कहनेका अधिकार कि गरीब कौन है, प्रजा नहीं आजमा सकी। मुझे इस बातका दुःख था कि प्रजामें यह शक्ति नहीं रह गई थी। इसलिए सत्याग्रहके अंतका उत्सव तो मनाया गया, मगर मुझे वह निस्तेज लगा।

सत्याग्रहका शुद्ध अंत वह समझा जा सकता है कि जब आरंभकी बनिस्बत अंतमें प्रजामें अधिक तेज और शक्ति दिखाई दे। किंतु ऐसा मुझे नहीं दिखाई दिया।

ऐसा होनेपर भी लड़ाईके जो अदृश्य परिणाम आये, उनका लाभ तो आज भी देखा जा सकता है और मिल भी रहा है। खेड़ाकी लड़ाईसे गुजरात के किसान-वर्गकी जाग्रतिका, उसके राजनैतिक शिक्षणका आरंभ हुआ।

विदुषी बसंतीदेवी (एनी बेसेंट) की 'होमरूल' की प्रतिभाशाली हलचलने उसको स्पर्श अवश्य किया था; किंतु किसानके जीवनमें शिक्षित-वर्गका, स्वयं-सेवकोंका, सच्चा प्रवेश हुआ तो इसी लड़ाईसे कहा जा सकता है। सेवक पाटीदारों-के जीवनमें ओत-प्रोत हो गये थे। स्वयं-सेवकोंको अपने क्षेत्रकी मर्यादा इस लड़ाईमें मालूम हुई, उनकी त्याग-शक्ति बढ़ी। वल्लभभाईने अपने-आपको इस लड़ाईमें पहचाना। अगर और कुछ नहीं तो एक यही परिणाम कुछ ऐसा-वैसा नहीं था। यह हम पिछले साल बाढ़-संकट निवारणके समय और इस साल बारडोलीमें देख चुके हैं। गुजरातके प्रजा-जीवनमें नया तेज आया, नया उत्साह भर गया। पाटीदारोंको अपनी शक्तिका भान हुआ, जो कभी नहीं मिटा। सबने समझा कि प्रजाकी मुक्तिका आधार खुद उसीके ऊपर है, उसीकी त्याग-शक्तिपर है। सत्याग्रहने खेड़ाके द्वारा गुजरातमें जड़ जमाई। इसलिए हालांकि लड़ाईके अंतसे मैं संतुष्ट न हो सका, मगर खेड़ाकी प्रजाको तो उत्साह ही मिला; क्योंकि

उसने देख लिया कि हमारी शक्तिके अनुपातसे हमें अधिक मिला है और आगेके लिए राजनैतिक कष्टोंके निवारणका एक मार्ग हमें मिल गया है, उनके उत्साहके लिए इतना ज्ञान काफी था।

किंतु खेड़ाकी प्रजा सत्याग्रहका स्वरूप पूरा नहीं समझ सकी थी, इसलिए उसे कैसे कड़ुए अनुभव हुए सो हम आगे चलकर देखेंगे।

२६

ऐक्यके प्रयत्न

जिस समय खेड़ाका आंदोलन जारी था, उसी समय यूरोपका महासमर भी चल रहा था। उसके सिलसिलेमें वाइसरायने दिल्लीमें नेताओंको बुलवाया था। मुझे भी उसमें हाजिर रहनेका आग्रह किया था। मैं यह पहले ही लिख चुका हूं कि लार्ड चेम्सफोर्डके साथ मेरा मैत्री-संबंध था।

मैंने आमंत्रण मंजूर किया और दिल्ली गया; किंतु इस सभामें शामिल होनेमें मुझे एक संकोच था। इसका मख्य कारण यह था कि उसमें अली भाइयों, लोकमान्य तथा दूसरे नेताओंको नहीं बुलाया गया था। उस समय अली भाई जेलमें थे। उनसे मैं एक-दो बार ही मिला था, सुना उनके बारेमें बहुत-कुछ था। उनके सेवाभाव और बहादुरीकी स्तुति सभी कोई किया करते थे। हकीम साहबके साथ भी मेरा परिचय नहीं हुआ था। स्व० आचार्य रुद्र और दीनबंधु एंड्रूजके मुंहसे उनकी बहुत प्रशंसा सुनी थी। कलकत्तावाले मुस्लिम-लीगके अधिवेशनमें श्वेब कुरेशी और बैरिस्टर ख्वाजासे मेरी मुलाकात हुई थी। डाक्टर अंसारी और डाक्टर अब्दुर्रहमानसे भी परिचय हो चुका था। भले मुसलमानोंकी सोहबत मैं ढूंढ़ता रहता था और उनमें जो पवित्र तथा देशभक्त समझे जाते थे, उनके संपर्कमें आकर उनकी भावनायें जाननेकी मुझे तीव्र इच्छा रहती थी। इसलिए मुझे वे अपने समाजमें जहां कहीं ले जाते, मैं बिना कोई खींच-तान कराये ही चला जाता था। यह तो मैं दक्षिण अफ्रीकामें ही समझ चुका था कि हिंदुस्तानके हिन्दू-मुसलमानोंमें सच्चा मित्राचार नहीं है। दोनोंके मनमुटावको मिटानेका एक भी मौका मैं यों ही जाने नहीं देता था। झूठी खुशामद

करने या स्वत्व गंवाकर किसीको खुश करना मैं जानता ही नहीं था; किंतु मैं वहींसे यह भी समझता आया था कि मेरी अहिंसाकी कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस ऐक्यके सिलसिलेमें ही होनेवाला है। अब भी मेरी यह राय कायम है। प्रतिक्षण मेरी कसौटी ईश्वर कर रहा है। मेरा प्रयोग आज भी जारी है।

इन विचारोंको साथ लेकर मैं बंबईके बंदरपर उतरा था। इसलिए इन भाइयोंका मिलाप मुझे अच्छा लगा। हमारा स्नेह बढ़ता था। हमारा परिचय होनेके बाद तुरंत ही सरकारने अलीभाइयोंको जीते-जी ही दफ़न कर दिया था। मौलाना मुहमदअलीको जब-जब इजाजत मिलती, वह मुझे बैतूल-जेलसे या छिंदवाड़ा जेलसे लंबे-लंबे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलने जानेकी प्रार्थना सरकारसे की मगर उसकी इजाजत न मिली।

अली भाइयोंके जेल जानेके बाद कलकत्ता मुस्लिम-लीगकी सभामें मुझे मुसलमान भाई ले गये थे। वहां मुझसे बोलनेके लिए कहा गया था। मैं बोला। अली भाइयोंको छुड़ानेका धर्म मुसलमानोंको समझाया।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ़-कॉलेजमें भी ले गये थे। वहां मैंने मुसलमानोंको देशके लिए फकीरी लेनेका न्योता दिया था।

अली भाइयोंको छुड़ानेके लिए मैंने सरकारके साथ पत्र-व्यवहार चलाया। इस सिलसिलेमें इन भाइयोंकी खिलाफत-संबंधी हलचलका अध्ययन किया। मुसलमानोंके साथ चर्चा की। मुझे लगा कि अगर मैं मुसलमानोंका सच्चा मित्र बनना चाहूं तो मुझे अली भाइयोंको छुड़ानेमें और खिलाफतका प्रश्न न्यायपूर्वक हल करनेमें पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफतका प्रश्न मेरे लिए सहल था। उसके स्वतंत्र गुण-दोष तो मुझे देखने भी नहीं थे। मुझे ऐसा लगा कि उस संबंधमें मुसलमानों की मांग नीति-विरुद्ध न हो तो मुझे उसमें मदद देनी चाहिए। धर्मके प्रश्नमें श्रद्धा सर्वोपरि होती है। सबकी श्रद्धा एक ही वस्तुके बारेमें एक ही सी हो तो फिर जगत्में एक ही धर्म हो सकता है। खिलाफत-संबंधी मांग मुझे नीति-विरुद्ध नहीं जान पड़ी। इतना ही नहीं, बल्कि यही मांग इंग्लैंडके प्रधानमंत्री लाइड जार्जने स्वीकार की थी, इसलिए मुझे तो उनसे अपने वचनका पालन कराने भरका ही प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दोंमें थे कि मर्यादित गुणदोषकी परीक्षा मुझे महज अपनी अन्तरात्माको प्रसन्न करनेकी

ही खातिर करनी थी ।

खिलाफतके प्रश्नमें मैंने मुसलमानोंका जो साथ दिया, उसके विषयमें मित्रों और टीकाकारोंने मुझे खूब खरी-खोटी सुनाई है। इस सबका विचार करनेपर भी मैंने जो राय कायम की, जो मदद दी या दिलाई, उसके लिए मुझे जरा भी पश्चात्ताप नहीं है। न उसमें कुछ सुधार ही करना है। आज भी ऐसा प्रश्न यदि उठ खड़ा हो तो, मुझे लगता है, मेरा आचरण उसी प्रकारका होगा।

इस तरहके विचारको लिये हुए मैं दिल्ली गया। मुसलमानोंकी इस शिकायतके बारे में मुझे वाइसरायसे चर्चा करनी ही थी। खिलाफतके प्रश्नने अभी अपना पूर्ण रूप नहीं धारण किया था ।

दिल्ली पहुंचते ही दीनबंधु एंड्रूजने एक नैतिक प्रश्न ला खड़ा किया। इस अरसेमें इटली और इंग्लैंडके बीच गुप्त-संधि-विषयक चर्चा अंग्रेजी अखबारोंमें आई। दीनबंधुने मुझसे उसके संबंधमें बात की और कहा, "अगर ऐसी गुप्त संधियां इंग्लैंडने किसी सरकारके साथ की हों तो फिर आप इस सभामें कैसे शामिल हो कर मदद दे सकते हैं ?" मैं इस संधिके बारेमें कुछ नहीं जानता था। दीनबंधुका शब्द मेरे लिए बस था। इस कारणको पेश करके मैंने लार्ड चेम्सफोर्डको लिखा कि मुझे सभामें आनेसे उज्र है। उन्होंने मुझे चर्चा करनेके लिए बुलाया। उनके साथ और फिर मि० मैफीके साथ मेरी लंबी चर्चा हुई। इसका अंत यह हुआ कि मैंने सभामें जाना स्वीकार कर लिया। संक्षेपमें वाइसरायकी दलील यह थी—"आप कुछ यह तो नहीं मानते कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल जो कुछ करे, वाईस-रायको उसकी खबर होनी चाहिए ? मैं यह दावा नहीं करता कि ब्रिटिश सरकार किसी दिन भूल करती ही नहीं। यह दावा मैं ही क्या, कोई नहीं करता, मगर आप यदि यह कबूल करें कि उसका अस्तित्व संसारके लिए लाभकारी है, उसके कारण इस देशको कुल मिलाकर लाभ ही पहुंचा है, तो या फिर आप यह नहीं कबूल करेंगे कि उसकी आपत्तिके समय उसे मदद पहुंचाना हरेक नागरिकका धर्म है। गुप्त-संधि के संबंधमें आपने अखबारोंमें जो देखा है, सो मैंने भी पढ़ा है। मैं आपको विश्वास दिला सकता हूं कि इससे अधिक कुछ भी नहीं जानता। यह भी तो आप जानते ही हैं कि अखबारोंमें कैसी गप्पें आती हैं। तो क्या आप अख-बारोंमें छपी एक निंदक बातसे ऐसे समयमें सल्तनतको छोड़ सकते हैं ? लड़ाई

खतम होनेके बाद आपको जितने नीतिके प्रश्न उठाने हों, आप उठा सकते हैं, और जितनी छानबीन करनी हो, कर सकते हैं ।"

यह दलील नई न थी; परंतु जिस अवसरपर जिस प्रकार वह रक्खी गई, उससे मुझे नई-सी जान पड़ी और मैंने सभामें जाना मंजूर कर लिया । यह निश्चित हुआ कि खिलाफतके बारेमें वाइसरायको पत्र लिखकर भेजूं ।

२७

रंगरूटोंकी भरती

सभामें मैं हाजिर हुआ । वाइसरायकी तीव्र इच्छा थी कि मैं सैन्य भरतीके प्रस्तावका समर्थन करूं । मैंने हिंदुस्तानीमें बोलनेकी प्रार्थना की। वाइसरायने यह स्वीकार कर ली; मगर साथ ही अंग्रेजीमें भी बोलनेका अनुरोध किया । मुझे भाषण तो देना था ही नहीं । मैं इतना ही बोला— "मुझे अपनी जिम्मेदारीका पूरा भान है और उस जिम्मेदारीको समझते हुए मैं इस प्रस्तावका समर्थन करता हूं ।" हिंदुस्तानीमें बोलनेके लिए मुझे बहुतोंने धन्यवाद दिया । वे कहते थे कि वाइसरायकी सभामें हिंदुस्तानी बोलनेका इस जमानेमें यह पहला ही दृष्टांत था । यह धन्यवाद और पहला ही दृष्टांत होनेकी खबर मुझे अखरी । मैं शरमाया । अपने ही देशमें देश-संबंधी कामकी सभामें, देशी भाषाका बहिष्कार या उसकी अवगणना होना कितने दुःखकी बात है ? और मुझ जैसा कोई शख्स यदि हिंदुस्तानीमें एक या दो वाक्य बोल ही दे तो उसे धन्यवाद किस बात का ? ऐसे प्रसंग हमें अपनी गिरी हुई दशाका भान कराते हैं । सभामें जो वाक्य मैंने कहे थे उनमें मेरे लिए तो बहुत वजन था; क्योंकि यह सभा या यह समर्थन ऐसे न थे, जिन्हें मैं भूल सकूं । अपनी एक जिम्मेदारी तो मुझे दिल्लीमें ही खत्म कर लेनी थी । वाइसरायको पत्र लिखनेका काम मुझे आसान नहीं लगा । सभामें जानेकी अपनी आनाकानी, उसके कारण, भविष्यकी आशाएं वगैराका खुलासा, अपने लिए सरकारके लिए, और प्रजाके लिए, करनेकी आवश्यकता मुझे जान पड़ती थी ।

मैंने वाइसरायको पत्र लिखा । उसमें लोकमान्य तिलक, अली भाई

आदि नेताओंकी गैरहाजिरीके बारेमें अपना खेद प्रकट किया, लोगोंकी राजनैतिक मांगों और लड़ाईमेंसे उत्पन्न मुसलमानोंकी मांगोंका उल्लेख किया। यह पत्र छापनेकी इजाजत मैंने वाइसरायसे मांगी, जो उन्होंने खुशीसे दे दी।

यह पत्र शिमला भेजना था, क्योंकि सभा खत्म होते ही वाइसराय शिमला चले गये थे। वहां डाकसे पत्र भेजनेमें ढील होती थी। मेरे मनमें पत्र महत्त्वपूर्ण था। समय बचानेकी जरूरत थी। चाहे जिसके हाथसे भेजनेकी इच्छा नहीं होती थी। मुझे ऐसा लगा कि अगर यह पत्र किसी पवित्र आदमीके हाथसे जाय तो बड़ा अच्छा है। दीनबंधु और सुशील रुद्रने रेवरेंड आयर्लैंड महाशयका नाम सुझाया। उन्होंने यह मंजूर किया कि पत्र पढ़नेपर अगर शुद्ध लगेगा तो ले जाऊंगा। पत्र खानगी तो था ही नहीं। उन्होंने पढ़ा, वह उन्हें पसंद आया और उसे ले जानेको राजी हो गये। मैंने दूसरे दर्जेका रेल-भाड़ा देनेकी व्यवस्था की; किंतु उन्होंने उसे लेनेसे इन्कार कर दिया और रातका सफर होनेपर भी इंटरका ही टिकट लिया। उनकी इस सादगी, सरलता, स्पष्टतापर मैं मोहित हो गया। इस प्रकार पवित्र हाथों भेजे गये पत्रका परिणाम मेरी दृष्टिसे अच्छा ही हुआ। उससे मेरा मार्ग साफ हो गया।

मेरी दूसरी जिम्मेदारी रंगरूट भरती करनेकी थी। मैं यह याचना खेड़ामें न करूं तो और कहां करता? अपने साथियोंको अगर पहले न्यौता न दूं तो और किसे दूं? खेड़ा पहुंचते ही वल्लभभाई वगैराके साथ सलाह की। कितनों हीके गले यह घूंट तुरत न उतरी। जिन्हें यह बात पसंद भी पड़ी, उन्हें कार्यकी सफलताके बारेमें संदेह हुआ। फिर जिस वर्गमेंसे यह भरती करनी थी, उसके मनमें इस सरकारके प्रति कुछ भी प्रेम न था। सरकारके अफसरोंके द्वारा हुए कड़ुए अनुभव अभी उनके दिमागमें ताजे ही थे।

तो भी कार्यारंभ करनेके पक्षमें सभी हो गये। कार्यका आरंभ करते ही मेरी आंखें खुल गईं। मेरा आशावाद भी कुछ ढीला पड़ा। खेड़ाकी लड़ाईमें लोग खुश हो कर मुफ्तमें गाड़ी देते थे, जहां एक स्वयंसेवककी जरूरत होती वहां तीन-चार मिल जाते थे। अब पैसा देनेपर भी गाड़ी दुर्लभ हो गई। किंतु इस तरह मैं कोई निराश होनेवाला जीव नहीं था। गाड़ीके बदले पैदल ही सफर करनेका निश्चय किया। रोज बीस मीलकी मंजिल तै करनी थी। जब गाड़ी

ही नहीं मिलती थी तो खाना कहांसे मिलता ? मांगना भी उचित नहीं जान पड़ता था। इसलिए यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयंसेवक अपने भोजनका सामान अपने झोलेमें लेकर ही बाहर निकले। मौसम गर्मीका था। इसलिए ओढ़नेका कुछ सामान साथ रखनेकी जरूरत नहीं थी।

जिस-जिस गांवमें हम जाते, वहां सभा करते। लोग आते तो मगर भरतीके लिए नाम मुश्किलसे एक या दो ही मिलते। 'आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार लेनेके लिए क्यों कहते हैं ? सरकारने हिंदुस्तानका कौनसा भला किया है जो आप उसे मदद देनेपर जोर देते हैं ?' इस तरहके अनेक सवाल हमारे सामने पेश किये जाते थे।

ऐसा होनेपर भी हमारे सतत कामका असर लोगोंपर होने लगा था। नाम भी यों ठीक संख्यामें लिखे जाने लगे और हम मानने लगे कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े तो दूसरीके लिए रास्ता साफ हो जायगा। कमिश्नरके साथ मैंने यह चर्चा शुरू कर दी थी कि जो रंगरूट भरती हो जायं उन्हें कहां रखना चाहिए, इत्यादि। दिल्लीके नमूनेपर कमिश्नर लोग जगह-जगह सभाएं करने लगे थे। वैसी सभा गुजरातमें भी हुई। उसमें मुझे और मेरे साथियोंको भी आनेका आमंत्रण था। यहां भी मैं गया था। किंतु अगर दिल्लीमें मेरा जाना कम शोभता जान पड़ा था तो यहां और भी कम लगा। 'जी-हां' 'जी-हां' के वातावरणमें मुझे चैन नहीं पड़ता था। यहां मैं जरा ज्यादा बोला था। मेरे बोलनेमें खुशामद जैसा तो था नहीं, बल्कि दो-एक कड़ुए वचन भी थे।

रंगरूटोंकी भरतीके संबंधमें मैंने पत्रिका छापी थी। उसमें भरती होनेके निमंत्रणमें एक दलील दी थी, जो कमिश्नरको खटकी थी। उसका सार यह था— "ब्रिटिश राज्यके अनेक अपकृत्योंमें सारी जनताको शस्त्र-रहित करनेके कानूनका इतिहास उसका सबसे काला काम माना जायगा। यदि यह कानून रद्द कराना हो और शस्त्र चलाना सीखना हो तो उसके लिए यह सुवर्ण योग है। राजकी इस आपत्तिके समयमें मध्यमवर्ग यदि स्वेच्छासे मदद करेगा तो इससे पारस्परिक अविश्वास दूर होगा और जो शस्त्र धारण करना चाहते हैं वे खुशीसे उन्हें रख सकेंगे।" इसको लक्ष्य करके कमिश्नरको कहना पड़ा था कि उनके और मेरे बीच मतभेद होते हुए भी सभामें मेरी हाजिरी उन्हें प्रिय थी। मुझे भी अपने

मतका समर्थन जहां तक हो सका, मीठे शब्दोंमें करना पड़ा था ।

पहले जिस पत्रका उल्लेख किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है—

"सभामें उपस्थित होनेके लिए मैं हिचकिचा रहा था, परंतु आपसे मुलाकात करनेके बाद मेरी हिचकिचाहट दूर हो गई है । और उसका एक कारण यह अवश्य है कि आपके प्रति मुझे बहुत आदर है । न आनेके कारणोंमें एक मजबूत कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, श्रीमती बेसेंट और अलीभाइयोंको निमंत्रण नहीं दिया गया था । इन्हें मैं जनताके बड़े ही शक्तिशाली नेता मानता हूं । मैं तो यह मानता हूं कि उनको निमंत्रण न भेजकर सरकारने बड़ी गंभीर भूल की है । मैं अब भी यह सुझाना चाहता हूं कि जब प्रांतीय सभाएं की जायं तब उन्हें अवश्य निमंत्रण भेजा जाय । मेरी नाकिस रायमें चाहे कैसा ही मतभेद क्यों न हो, कोई भी सल्तनत ऐसे प्रौढ़ नेताओंकी अवगणना नहीं कर सकती । इसी कारण मैं सभाकी कमेटियोंमें शामिल न हो सका और सभामें प्रस्तावका समर्थन करके संतुष्ट हो गया । सरकारने यदि मेरे सुझाव स्वीकृत कर लिये तो मैं तुरंत ही इस काममें लग जानेकी आशा रखता हूं ।

"जिस सल्तनतमें हम भविष्यमें संपूर्ण हिस्सेदार बननेकी आशा करते हैं, उसको आपत्तिकालमें पूरी मदद करना हमारा धर्म है । परंतु मुझे यह कहना चाहिए कि उसके साथ हमें यह आशा भी रही है कि इस मददके कारण हम अपने ध्येयतक जल्दी पहुंच सकेंगे । इसलिए लोगोंको यह माननेका अधिकार है कि जिन सुधारोंको देनेकी आशा आपने अपने भाषणमें दिखलाई है उनमें कांग्रेस और मुस्लिम लीगकी मुख्य-मुख्य मांगोंका भी समावेश होगा । अगर मुझसे बन पड़ता तो मैं ऐसे समयमें होमरूल वगैराका उच्चार तक न करता और साम्राज्यके ऐसे नाजुक समयपर तमाम शक्तिशाली भारतीयोंको उसकी रक्षामें चुपचाप कुरबान हो जानेके लिए कहता । इतना करनेसे ही हम साम्राज्य-के बड़े-बड़े और सम्माननीय हिस्सेदार बन जाते और रंग-भेद और देश-भेद दूर हो जाता ।

"परंतु शिक्षित वर्गने इससे कम कारगर रास्ता अख्तियार किया है। जन-समाजमें उसकी पहुंच बहुत है। मैं जबसे हिंदुस्तानमें आया हूं तभीसे जनसमाजके गाढ़ परिचयमें आता रहा हूं और मैं आपको यह कहना चाहता हूं कि उनमें होमरूल प्राप्त करनेका उत्साह पैदा हो गया है। बिना होमरूलके प्रजाको कभी संतोष न होगा। वे यह समझते हैं कि होमरूल प्राप्त करनके लिए जितना भी त्याग किया जा सके कम ही होगा। इसलिए यद्यपि साम्राज्यके लिए जितने भी स्वयं-सेवक दिये जा सकें देने चाहिएं, किंतु मैं आर्थिक मददके लिए यह नहीं कह सकता हूं। लोगोंकी हालतको जानकर मैं यह कह सकता हूं कि हिंदुस्तान अबतक जितनी मदद कर चुका है वह भी उसकी शक्तिसे अधिक है। परंतु मैं इतना अवश्य समझता हूं कि जिन्होंने सभामें प्रस्ताव-का समर्थन किया उन्होंने इस कार्यमें प्राणांत तक मदद करनेका निश्चय किया है। परंतु हमारी स्थिति मुश्किल है। हम कोई दूकानके हिस्सेदार नहीं। हमारी मददकी नींव भविष्यकी आशापर स्थित है; और वह आशा क्या है, यह यहां विशेषरूपसे कहना चाहिए। मैं कोई सौदा करना नहीं चाहता। फिर भी मुझे इतना तो यहां अवश्य कहना चाहिए कि यदि इसमें हमें निराश होना पड़ा तो साम्राज्यके बारेमें आज-तक हमारी जो धारणा है वह केवल भ्रम समझी जायगी।

आपने अंदरूनी झगड़े भूल जानेकी जो बात कही है उसका अर्थ यदि यह हो कि जुल्म और अधिकारियोंके अपकृत्य सहन करें तो यह असंभव है। संगठित जुल्मके सामने अपनी सारी शक्ति लगा देना मैं अपना धर्म समझता हूं। इसलिए आप अधिकारियोंको हिदायत दें कि वे किसी भी जीवकी अवहेलना न करें और पहले कभी जितना लोकमतका आदर नहीं किया उतना अब करें। चंपारनमें सदियोंके जुल्मका विरोधकर मैंने ब्रिटिश न्यायका सर्वश्रेष्ठ होना प्रमाणित कर दिया है। खेड़ाकी रैयतने यह देख लिया है कि जब उसमें सत्यके लिए कष्ट सहन करनेकी शक्ति है तब सच्ची शक्ति राज्य नहीं, बल्कि लोकमत है। और इसीलिए जिस सल्तनतको प्रजा शाप दे रही थी उसके प्रति अब

कटुता कुछ कम हो गई है और जिस राज्यसत्ताने सविनय कानूनभंग सहन कर लिया है वह लोकमतका सर्वथा अनादर नहीं करेगी, ऐसा उनको विश्वास हो गया है। इसलिए मैं यह मानता हूं कि चंपारन और खेड़ामें मैंने जो कार्य किया है वह लड़ाईके संबंधमें मेरी सेवा ही है। यदि आप मुझे इस प्रकारका कार्य बंद करनको कहेंगे तो मैं यही समझूंगा कि आप मुझे अपने श्वासको ही रोक देनेके लिए कहते हैं। यदि शस्त्र-बलके स्थानमें मुझे आत्मबल अर्थात् प्रेमबलको लोकप्रिय बनानेमें सफलता मिले तो मैं यह जानता हूं कि हिंदुस्तानपर सारे विश्वकी त्योरी चढ़ जाय तो भी वह उसका सामना कर सकेगा। इसलिए हर समय कष्ट सहन करनेकी इस सनातन रीतिको अपने जीवनमें उतारनेके लिए मैं अपनी आत्माको कसता रहूंगा और दूसरोंको भी इस नीतिको अंगीकार करनेके लिए कहता रहूंगा। और यदि मैं कोई और काम करता भी हूं तो वह इसी नीतिकी अद्वितीय उत्तमता सिद्ध करनेके लिए ही।

"अंतमें मैं आपसे विनती करता हूं कि आप मुसलमान राज्योंके बारेमें निश्चित विश्वास दिलानेकी प्रेरणा ब्रिटिश प्रधानमंडलको करें। आप जानते हैं कि इस विषयमें प्रत्येक मुसलमानको चिंता बनी रहती है। एक हिंदू होकर मैं उनकी इस चिंताके प्रति लापरवाह नहीं रह सकता हूं। उनका दुःख तो हमारा ही दुःख है। मुसलमानी राज्यके हकोंकी रक्षा करनेमें, उनके धर्मस्थानोंके विषयमें उनके भावोंका आदर करनेमें और हिंदुस्तानकी होमरूलकी मांग स्वीकार करनेमें साम्राज्यकी सलामती है। मैंने यह पत्र इसलिए लिखा है कि मैं अंग्रेजों-को चाहता हूं और अंग्रेजोंमें जैसी वफादारी है, वैसी ही मैं प्रत्येक भारतीयमें जाग्रत करना चाहता हूं।"

२८

मृत्यु-शैय्यापर

रंगरूटोंकी भरती करनेमें मेरा शरीर काफी थक गया। उन दिनों केले इत्यादि कुछ फल, भुनी हुई मूंगफलीको कूटकर उसमें गुड़ मिला उसे दो-तीन नींबूके पानीके साथ लिया करता था। बस, यही मेरा भोजन था। मैं यह जानता तो था कि अधिक मूंगफली अपथ्य करती है, फिर भी वह अधिक खानेमें आ गई। इससे जरा पेचिश हो गई। मुझे बार-बार आश्रम तो आना ही पड़ता था। मैंने इस पेचिशकी अधिक परवा नहीं की। रातको आश्रम पहुंचा। उन दिनों मैं दवा तो शायद ही कभी लेता था। मुझे विश्वास था कि एक बारका खाना बंद कर दूंगा तो तबियत ठीक हो जायगी। दूसरे दिन सुबह कुछ नहीं खाया। इससे दर्द तो लगभग मिट गया। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास और करना चाहिए, अथवा यदि कुछ खाना ही हो तो फलका रस जैसी कोई चीज लेनी चाहिए।

उस दिन कोई त्यौहार था। मुझे स्मरण है कि मैंने कस्तूरबाईसे कह दिया था कि दोपहरको भी मैं भोजन नहीं करूंगा। पर उसने मुझे ललचाया और मैं भी लालचमें आ गया। उस समय मैं किसी भी पशुका दूध नहीं पीता था। इसलिए घी और मट्ठा भी मेरे लिए त्याज्य ही था। अतः मेरे लिए तेलमें गेहूंका दलिया बनाया गया। वह और साबत मूग भी मेरे लिए खास तौरपर रक्खे हुए हैं, ऐसा मुझसे कहा गया। बस, स्वादने मुझे फंसा लिया। फिर भी इच्छा तो यही थी कि कस्तूरबाईकी बात रखनेके लिए थोड़ा-सा खा लूंगा। इससे स्वाद भी आ जायगा और शरीरकी रक्षा भी हो जायगी। पर शैतान तो मौकेकी ताकमें ही बैठा था। मैंने भोजन शुरू किया और थोड़ा खानेके बदले डटकर पेटभर खा लिया। जायका तो खूब रहा, पर साथ ही जमराजको निमंत्रण भी दे दिया। खाये एक घंटा भी न हुआ कि पेटमें जोरोंसे दर्द शुरू हुआ।

रातको नड़ियाद तो वापस जाना ही था। साबरमती स्टेशनतक पैदल गया। पर वह सवा मीलका रास्ता कटना मुश्किल हो गया। अहमदाबादके

स्टेशनपर वल्लभभाई आने वाले थे। वह आये और मेरी तकलीफको जान गये। पर मेरी व्याधि असह्य थी, यह न तो मैंने उन्हें जानने दिया और न दूसरे साथियोंसे ही कहा।

नड़ियाद पहुंचे। यहांसे अनाथाश्रम जाना था। सिर्फ आध मील-का फासला था। पर वह दस मील-सा मालूम हुआ। बड़ी मुश्किलसे वहां पहुंचा। पर मरोड़ा बढ़ता जाता था। पंद्रह-पंद्रह मिनटमें पाखाना जानेकी हाजत होने लगी। आखिर मैं हारा। अपनी असह्य वेदनाका हाल मित्रोंसे कहा और बिस्तर पकड़ा। अभीतक आश्रमकी मामूली टट्टियोंमें पाखानेके लिए जाता था। अब कमोड ऊपर मंगाया। लज्जा तो बहुत मालूम हो रही थी, पर लाचार था। फूलचंद बापूजी बिजलीकी तरह दौड़कर कमोड लाये। साथी चिंतातुर होकर मेरे आस-पास एकत्र हो गए। उन्होंने अपने प्रेमसे मुझे नहला दिया। पर मेरे दुःखको आप उठाकर तो बेचारे हलका कर नहीं सकते थे। इधर मेरी हठका कोई ठिकाना न था। डाक्टरको बुलानेसे मैंने इन्कार कर दिया—"दवा तो हर्गिज नहीं लूंगा। अपने कियेका फल भोगूंगा।" साथियोंने यह सब दुखी मुंहसे सह लिया। चौबीस घंटेके अंदर तीस-चालीस बार मैं टट्टी गया। खाना तो मैंने बंद कर ही दिया था। शुरूके दिनोंमें तो फलोंका रस भी नहीं लिया। रुचि ही न थी।

जिस शरीरको आजतक मैं पत्थरके जैसा मानता था, वह मिट्टी-सा हो गया। सारी शक्ति जाने कहां चली गई। डॉ० कानूगो आये। उन्होंने दवा लेनेके लिए मुझे बहुत समझाया। पर मैंने इन्कार कर दिया। इंजेक्शन देनेकी बात कही। मैंने इसपर भी इन्कार ही किया। इंजेक्शनके विषयमें मेरा उस समयका अज्ञान हास्यजनक था। मेरा यही खयाल था कि इंजेक्शन तो किसी प्रकार की लस— सीरम होगी। बादमें मुझे मालूम हुआ कि डॉक्टरने जो इंजेक्शन बताया था वह तो एक प्रकारका वनस्पति-तत्व था। पर जब यह ज्ञान हुआ तब तो अवसर बीत गया था। टट्टियां जारी थीं। बहुत परिश्रमके कारण बुखार और बेहोशी भी आ गई। मित्र और भी घबराये। अन्य डॉक्टर भी आये, जो बीमार ही उनकी न सुने तब उसके लिए वे क्या कर सकते थे?

सेठ अंबालाल और उनकी धर्मपत्नी नड़ियाद आईं। साथियोंसे सलाह-

मशविरा किया और बड़ी हिफाजतसे मुझे वे अपने मिरजापुरवाले बंगले पर ले गये। मैं यह तो जरूर कहूंगा कि इस बीमारीमें जो निर्मल निष्काम सेवा मुझे मिली उससे अधिक सेवा तो कोई नहीं प्राप्त कर सकता। मंद ज्वर आने लगा और शरीर भी क्षीण होता चला। मालूम हुआ कि बीमारी बहुत दिनतक चलेगी और शायद मैं बिस्तरसे भी न उठ सकूं। अंबालाल सेठके बंगलेमें प्रेमसे घिरा हुआ होनेपर भी मेरे चित्तमें अशांति पैदा हुई और मैंने उनसे मुझे आश्रममें पहुंचानेके लिए कहा। मेरा अत्यंत आग्रह देकर वह मुझे आश्रम ले आये।

आश्रममें मैं यह पीड़ा भोग रहा था कि इतनेमें वल्लभभाई यह खबर लाये कि जर्मनी पूरी तरह हार गया और कमिश्नरने कहलाया है कि अब रंगरूटोंकी भरती करनेकी जरूरत नहीं है। इसलिए रंगरूटोंकी भरती करनेकी चितासे मैं मुक्त हो गया और इससे मुझे शांति मिली।

अब पानीके उपचारोंपर शरीर टिका हुआ था। दर्द चला गया पर शरीर किसी तरह पनप नहीं रहा था। वैद्य और डाक्टर मित्र अनेक प्रकारकी सलाह देते थे। पर मैं किसी तरह दवा लेनेके लिए तैयार न हुआ।

दो-तीन मित्रोंने दूध लेनेमें कोई बाधा हो तो मांस का शोरवा लेनेकी सिफारिश की और अपने कथनकी पुष्टिमें आयुर्वेदसे इस आशयके प्रमाण बताये कि दवाके बतौर मांसादि चाहे जिस वस्तुका सेवन करनेमें कोई हानि नहीं। एक मिसने अंडे खानेकी सलाह दी। पर उनमेंसे किसीकी भी सलाहको मैं स्वीकार न कर सका। सबके लिए मेरा तो एक ही जवाब था।

खाद्याखाद्यका सवाल मेरे लिए महज शास्त्रोंके श्लोकोंपर निर्भर न था। उसका तो मेरे जीवनके साथ स्वतंत्र रीतिसे निर्माण हुआ था। हर कोई चीज खाकर हर किसी तरह जीनेका मुझे जरा भी लोभ न था। अपने पुत्रों, स्त्री और स्नेहियोंके लिए मैंने जिस धर्मपर अमल किया उसका त्याग मैं अपने लिए कैसे कर सकता था।

इस तरह इस बहुत लंबी बीमारीमें, जो कि गंभीरताके खयालसे मेरे जीवनमें मुझे पहले ही पहल हुई थी, मुझे धर्म-निरीक्षण करनेका तथा उसे कसौटीपर चढ़ानेका अलभ्य लाभ मिला। एक रात तो मैं जीवनसे बिल्कुल निराश हो गया था। मुझे मालूम हुआ कि अंतकाल आ पहुंचा। श्रीमती अनसूयाबहनको

समाचार भिजवाये। वह आई। वल्लभभाई आये। डा० कानूगोने नब्ज देख-कर कहा, "मुझे तो ऐसा एक भी चिह्न नहीं दिखाई देता, जो भयकर हो। नब्ज बिलकुल अच्छी है, केवल कमजोरीके कारण यह मानसिक अशांति आपको है।" पर मेरा दिल गवाही नहीं देता था। रात तो बीती। उस रात शायद ही मुझे नींद आई हो।

सवेरा हुआ। मृत्यु न आई। फिर भी मुझे जीनेकी आशा नहीं हो पाई थी। मैं तो यही समझ रहा था कि मृत्यु नजदीक आ पहुंची है। इसलिए जहां तक हो सका, अपने साथियोंसे गीता सुनने हीमें अपने समयका उपयोग मैं करने लगा। कुछ काम-काज करनेको शक्ति तो थी ही नहीं। पढ़नेकी शक्ति भी न रह गई थी। किसीसे बाततक करनेको जी न चाहता था। जरा-सी बातचीत करनेमें दिमाग थक जाता था। इससे जीनेमें कोई आनंद नहीं रहा था। महज जीनेके लिए जीना मुझे कभी पसंद नहीं था। बिना कुछ काम-काज किये साथियों से सेवा लेते हुए दिन-ब-दिन क्षीण होनेवाली देह को टिकाये रखना मुझे बड़ा कष्टकर प्रतीत होता था।

इस तरह मृत्युकी राह देख रहा था कि इतनेमें डा० तलवलकर एक विचित्र प्राणीको लेकर आए। वह महाराष्ट्रीय हैं। उनको हिंदुस्तान नहीं जानता। पर मेरे ही जैसे 'चक्रम' हैं, यह मैंने उन्हें देखते ही जान लिया। वह अपना इलाज मुझपर आजमानेके लिए आये थे। बंबईके ग्रेंड मेडिकल कॉलेजमें पढ़ते थे। पर उन्होंने द्वारकाकी छाप— उपाधि— प्राप्त न की थी। मुझे बादमें मालूम हुआ कि वह सज्जन ब्रह्मसमाजी हैं। उनका नाम है केलकर। बड़े स्वतंत्र मिजाजके आदमी हैं। बरफके उपचारके बड़े हिमायती हैं।

मेरी बीमारीकी बात सुनकर जब वह अपने बरफके उपचार मुझपर आजमानेके लिए आये, तबसे हमने उन्हें 'आइस डाक्टर'की उपाधि दे रक्खी है। अपनी रायके बारेमें वह बड़े आग्रही हैं। डिग्रीधारी डाक्टरोंकी अपेक्षा उन्होंने कई अच्छे अविष्कार किये हैं, ऐसा उन्हें विश्वास है। वह अपना यह विश्वास मुझमें उत्पन्न नहीं कर सके, यह उनके और मेरे दोनोंके लिए दुःखकी बात है। मैं उनके उपचारोंको एक हद तक तो मानता हूं। पर मेरा खयाल है कि उन्होंने कितने ही अनुमान बांधनेमें कुछ जल्दबाजी की है। उनके आविष्कार सच्चे

हों या गलत, मैंने तो उन्हें उनके उपचारोंका प्रयोग अपने शरीर पर करने दिया। बाह्य उपचारोंसे अच्छा होना मुझे पसंद था। फिर ये तो बरफ अर्थात् पानीके उपचार थे। उन्होंने मेरे सारे शरीरपर बरफ मलना शुरू किया। यद्यपि इसका फल मुझपर उतना नहीं हुआ, जितना कि वह मानते थे, तथापि जो मैं रोज मृत्युकी राह देखता पड़ा रहता था सो अब नहीं रहा। मुझे जीनेकी आशा बंधने लगी। कुछ उत्साह भी मालूम होने लगा। मनके उत्साहके साथ-साथ शरीरमें भी कुछ ताजगी मालूम होने लगी। खुराक भी थोड़ी बढ़ी। रोज पांच-दस मिनट टहलने लगा। "अगर आप अंडेका रस पियें तो आपके शरीरमें इससे भी अधिक शक्ति आ जावेगी, इसका मैं आपको विश्वास दिला सकता हूं। और अंडा तो दूधके ही समान निर्दोष वस्तु होती है। वह मांस तो हर्गिज नहीं कहा जा सकता। फिर यह भी नियम नहीं है कि प्रत्येक अंडेमें बच्चे पैदा होते ही हों। मैं साबित कर सकता हूं कि ऐसे निर्जीव अंडे सेये जाते हैं, जिनमेंसे बच्चे पैदा नहीं होते।" उन्होंने कहा। पर ऐसे निर्जीव अंडे लेनेको भी मैं तो राजी न हुआ। फिर भी मेरी गाड़ी कुछ आगे चली और मैं आस-पास के कामोंमें थोड़ी बहुत दिलचस्पी लेने लगा।

२६

रौलट-ऐक्ट और मेरा धर्म-संकट

माथेरान जानेसे शरीर जल्दी ही पुष्ट हो जायगा, ऐसी मित्रोंसे सलाह पाकर मैं माथेरान गया। परंतु वहांका पानी भारी था। इसलिए मुझ जैसे बीमारके लिए वहां रहना मुश्किल ही पड़ा। पेचिशके कारण गुदा-द्वार बहुत ही नाजुक पड़ गया था और वहां चमड़ी फट जानेसे मल त्यागके समय बड़ा दर्द होता था। इसलिए कुछ भी खाते हुए डर लगता था। अतः एक सप्ताहमें ही माथेरानसे लौट आया। अब मेरे स्वास्थ्यकी रखवालीका काम श्री शंकरलालने अपने हाथमें ले लिया। उन्होंने डा० दलालकी सलाह लेनेपर बहुत जोर दिया। डा० दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करनेकी शक्तिने मुझे मोह लिया।

उन्होंने कहा—

"जबतक आप दूध न लेंगे तबतक आपका शरीर नहीं पनपेगा। शरीरकी पुष्टिके लिए तो आपको दूध लेना चाहिए और लोहे व संखियेकी पिचकारी (इंजेक्शन) लेनी चाहिए। यदि आप इतना करें तो मैं आपका शरीर फिरसे पुष्ट करनेकी 'गैरंटी' लेता हूं।"

"आप पिचकारी भले ही दें, लेकिन मैं दूध नहीं लूंगा।" मैंने जवाब दिया।

"आपकी दूधकी प्रतिज्ञा क्या है?" डाक्टरने पूछा।

"गाय-भैंसके फूंका लगाकर दूध निकालनेकी क्रिया की जाती है। यह जाननेपर मुझे दूधके प्रति तिरस्कार हो आया, और यह तो मैं सदा मानता ही था कि वह मनुष्यकी खूराक नहीं है, इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।" मैंने कहा।

"तब तो बकरीका दूध लिया जा सकता है।" कस्तूरबाई, जो मेरी खाटके पास ही खड़ी थीं, बोल उठीं।

"बकरीका दूध लें तो मेरा काम चल जायगा।" डाक्टर दलाल बीचमें ही बोल उठे।

मैं झुका। सत्याग्रहकी लड़ाईके मोहने मुझमें जीवनका लोभ पैदा कर दिया था और मैंने प्रतिज्ञाके अक्षरोंके पालनसे संतोष मानकर उसकी आत्माका हनन किया। दूधकी प्रतिज्ञा लेते समय यद्यपि मेरी दृष्टिके सामने गाय-भैंसका ही विचार था, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्रके लिए समझी जानी चाहिए, और जबतक मैं पशुके दूध-मात्रको मनुष्यकी खूराकके लिए निषिद्ध मानता हूं तबतक मुझे उसे लेनेका अधिकार नहीं है। यह जानते हुए भी बकरीका दूध लेनेके लिए मैं तैयार हो गया। इस तरह सत्यके एक पुजारीने सत्याग्रहकी लड़ाईकेलिए जीवित रहनेकी इच्छा रखकर अपने सत्यको धब्बा लगाया।

मेरे इस कार्यकी वेदना अबतक नहीं मिटी है और बकरीका दूध छोड़नेकी धुन अब भी लगी ही रहती है। बकरीका दूध पीते वक्त रोज मैं कष्ट अनुभव करता हूं। परंतु सेवा करनेका महासूक्ष्म मोह जो मेरे पीछे लगा है, मुझे छोड़ नहीं रहा है। अहिंसा की दृष्टिसे खूराकके अपने प्रयोग मुझे बड़े प्रिय हैं। उनमें मुझे आनंद आता है और यही मेरा विनोद भी है। परंतु बकरीका दूध मुझे इस

दृष्टिके कारण नहीं अखरता। वह तो मुझे सत्यकी दृष्टिसे अखरता है। अहिंसा-को जितना मैं जान सका हूं उसके बनिस्बत मैं सत्यको अधिक जानता हूं, ऐसा मेरा खयाल है। और यदि मैं सत्यको छोड़ दूं तो अहिंसाकी बड़ी उलझनें मैं कभी भी न सुलझा सकूंगा, ऐसा मेरा अनुभव है। सत्यके पालनका अर्थ है लिये गए व्रतोंके शरीर और आत्माकी रक्षा, शब्दार्थ और भावार्थका पालन। यहांपर मैंने आत्माका—भावार्थका नाश किया है। यह मुझे सदा ही अखरता रहता है। यह जानने पर भी व्रतके संबंधमें मेरा क्या धर्म है, मैं यह नहीं जान सका अथवा यों कहिए कि मुझमें उसके पालन करनेकी हिम्मत नहीं है। दोनों एक ही बात है, क्योंकि शंकाके मूलमें श्रद्धाका अभाव होता है। ईश्वर, मुझे श्रद्धा दे।

बकरीका दूध शुरू करनेके थोड़े दिन बाद डा० दलालने गुदा-द्वारमें ऑपरेशन किया और वह बहुत कामयाब साबित हुआ।

अभी यों मैं बीमारीसे उठनेकी आशा बांध ही रहा था और अखबार पढ़ना शुरू किया था कि इतनेमें ही रौलट-कमिटीकी रिपोर्ट मेरे हाथ लगी। उस-में जो सिफारिशें की हुई थीं उन्हें देखकर मैं चौंक उठा। भाई उमर और शंकरलाल-ने कहा कि इसके लिए तो कुछ जरूर करना चाहिए। एकाध महीनेमें मैं अहम-दाबाद गया। वल्लभभाई मेरे स्वास्थ्यके हाल-चाल पूछने करीब-करीब रोज आते थे। मैंने इस बारेमें उनसे बातचीत की और यह सूचित भी किया कि कुछ करना चाहिए। उन्होंने पूछा— "क्या किया जा सकता है?" जवाबमें मैंने कहा— "अगर कमिटीकी सिफारिशोंके अनुसार कानून बन ही जाय, और यदि इसके लिए प्रतिज्ञा लेनेवाले थोड़ेसे भी मनुष्य मिल जायं तो हमें सत्याग्रह करना चाहिए। अगर मैं रोग-शैय्यापर न रहा तो मैं अकेला भी लड़ पड़ूं और यह आशा रक्खूं कि पीछेसे और लोग भी मिल रहेंगे। पर मेरी इस लाचार हालतमें अकेले लड़नेकी मुझमें बिलकुल ही शक्ति नहीं है।"

इस बातचीतके फलस्वरूप ऐसे लोगोंकी एक छोटी-सी सभा करनेका निश्चय हुआ, जो मेरे संपर्कमें ठीक-ठीक आये थे। रौलट-कमिटीको मिली गवाहियोंपर से मुझे यह तो स्पष्ट मालूम हो गया था कि उसने जैसी सिफारिश की है वैसे कानूनकी कोई जरूरत नहीं है, और मेरे नजदीक यह बात भी उतनी ही स्पष्ट थी कि ऐसे कानूनको कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र स्वीकार नहीं कर सकता।

सभा हुई। उसमें शायद ही कोई बीस मनुष्योंको निमंत्रण दिया गया होगा। मुझे जहांतक स्मरण है, उसमें वल्लभभाईके सिवा श्रीमती सरोजिनी नायडू, मि० हार्निमेन, स्व० उमर सुबानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनसूया बहन इत्यादि थे।

प्रतिज्ञापत्र तैयार किया गया और मुझे ऐसा स्मरण है कि जितने लोग वहां मौजूद थे सभीने उसपर दस्तखत किये थे। इस समय मैं कोई अखबार नहीं निकालता था। हां, समय-समयपर अखबारोंमें लिखता जरूर था। वैसे ही इस समय भी मैंने लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकरने अच्छी हलचल शुरू कर दी। उनकी काम करनेकी और संगठन करनेकी शक्तिका उस समय मुझे अच्छा अनुभव हुआ।

मुझे यह असंभव प्रतीत हुआ कि उस समय कोई भी मौजूदा संस्था सत्याग्रह जैसे शस्त्रको उठा ले, इसलिए सत्याग्रह-सभाकी स्थापना की गई। उसमें मुख्यतः बंबईसे नाम मिले और उसका केंद्र भी बंबईमें ही रक्खा गया। प्रतिज्ञा-पत्रपर दस्तखत होने लगे और जैसा कि खेड़ाकी लड़ाईमें हुआ था इसमें भी पत्रिकायें निकाली गईं और जगह-जगह सभायें की गईं।

इस सभाका अध्यक्ष मैं बना था। मैंने देखा कि शिक्षित-वर्गसे मेरी पटरी अधिक न बैठ सकेगी। सभामें गुजराती भाषा ही इस्तेमाल करनेका मेरा आग्रह और मेरी दूसरी कार्य-पद्धतिको देखकर वे चक्करमें पड़ गये। मगर मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि बहुतेरोंने मेरी कार्य-पद्धतिको निभा लेनेकी उदारता दिखाई। परंतु आरंभ ही में मैंने यह देख लिया कि यह सभा दीर्घकाल तक नहीं चल सकेगी। फिर सत्य और अहिंसापर जो मैं जोर देता था वह भी कुछ लोगोंको अप्रिय हो पड़ा था। फिर भी शुरूआतमें तो यह नया काम बड़े जोरोंसे चल निकला।

३०

वह अद्भुत दृश्य

एक ओर रौलट-कमिटीके विरुद्ध आंदोलन बढ़ता चला और दूसरी ओर सरकार उसकी सिफारिशोंपर अमल करनेके लिए कमर कसती गई। रौलट-बिल प्रकाशित हुआ। मैं धारा-सभाकी बैठकमें सिर्फ एक ही बार गया हूं। सो भी रौलट-बिलकी चर्चा सुनने। शास्त्रीजीने बहुत ही धुंआधार भाषण किया और सरकारको चेतावनी दी। जब शास्त्रीजीकी वाग्धारा चल रही थी, उस समय वाइसराय उनकी ओर ताक रहे थे। मुझे तो ऐसा लगा कि शास्त्रीजीके भाषणका असर उनके मनपर पड़ा होगा। शास्त्रीजी पूरे-पूरे भावावेशमें आ गये थे।

किंतु सोये हुएको जगाया जा सकता है। जागता हुआ सोनेका ढोंग करे तो उसके कानमें ढोल बजानेसे भी क्या होगा। धारा-सभामें बिलोंकी चर्चा करनेका प्रहसन तो करना ही चाहिए। सरकारने वह प्रहसन खेला। किंतु जो काम उसे करना था उसका निश्चय तो हो ही चुका था। इसलिए शास्त्रीजीकी चेतावनी बेकार साबित हुई।

और इसमें मुझ जैसे की तूतीकी आवाज तो सुनता ही कौन ? मैंने वाइसरायसे मिलकर खूब विनय की, खानगी पत्र लिखे, खुली चिट्ठियां लिखीं, उनमें मैंने यह साफ-साफ बतलाया था कि सत्याग्रहके सिवाय मेरे पास दूसरा रास्ता नहीं है। किंतु सब बेकार गया।

अभी बिल गजटमें प्रकाशित नहीं हुआ था। मेरा शरीर था तो निर्बल, किंतु मैंने लंबे सफरका खतरा मोल लिया। अभी ऊंची आवाजसे बोलनेकी शक्ति नहीं आई थी। खड़े होकर बोलनेकी शक्ति जो तबसे गई सो अबतक नहीं आई है। खड़े होकर बोलते ही थोड़ी देरमें सारा शरीर कांपने लगता और छाती और पेटमें घबराहट मालूम होने लगती है। किंतु मुझे ऐसा लगा कि मद्रासससे आये हुए निमंत्रणको अवश्य स्वीकार करना चाहिए। दक्षिण प्रांत उस समय मुझे घरके ही समान लगते थे। दक्षिण अफ्रीकाके संबंधके कारण

मैं मानता आया हूं कि तामिल-तेलगू आदि दक्षिण प्रांतके लोगोंपर मेरा कुछ हक है, और अबतक ऐसा नहीं लगा है कि मैंने यह विचार करनेमें जरा भी भूल की है। आमंत्रण स्वर्गीय श्री कस्तूरीरंगा ऐयंगरकी ओरसे आया था। मद्रास जाते ही मुझे जान पड़ा कि इस आमंत्रणके पीछे श्री राजगोपालाचार्य थे। श्री राजगोपालाचार्यके साथ मेरा यह पहला परिचय माना जा सकता है। पहली ही बार हम दोनोंने एक दूसरेको यहां देखा।

सार्वजनिक काममें ज्यादा भाग लेनेके इरादेसे और श्री कस्तूरीरंगा ऐयंगर आदि मित्रोंकी मांगसे वह सेलम छोड़कर मद्रास वकालत करने वाले थे। मुझे उन्हींके साथ ठहरानेकी व्यवस्था की गई थी। मुझे दो-एक दिन बाद मालूम हुआ कि मैं उन्हींके घर ठहराया गया हूं। वह बंगला श्री कस्तूरीरंगा ऐयंगरका होनेके कारण मैंने यही मान लिया था कि मैं उन्हींका अतिथि हूं। महादेव देसाईने मेरी यह भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य दूर-ही-दूर रहते थे। किंतु महादेवने उनसे भलीभांति परिचय कर लिया था। महादेवने मुझे चेताया, "आपको श्री राजगोपालाचार्यसे परिचय कर लेना चाहिए।"

मैंने परिचय किया। उनके साथ रोज ही लड़ाईके संगठनकी सलाह किया करता था। सभाओंके अलावा मुझे और कुछ सूझता ही नहीं था। रौलट-बिल अगर कानून बन जाय तो उसका सविनय भंग कैसे हो? सविनय भंगका अवसर तो तभी मिल सकता था, जब सरकार देती। दूसरे किन कानूनोंका सविनय भंग हो सकता है? उसकी मर्यादा क्या निश्चित हो? ऐसी ही चर्चाएं होती थीं।

श्री कस्तूरीरंगा ऐयंगरने नेताओंकी एक छोटी-सी सभा की। उसमें भी खूब चर्चा हुई। उसमें श्री विजयराघवाचार्य खूब हाथ बंटाते थे। उन्होंने यह सुझाया कि तफसीलसे हिदायतें लिखकर मुझे सत्याग्रहका एक शास्त्र लिख डालना चाहिए। पर मैंने कहा कि यह काम मेरी शक्तिके बाहर है।

यों सलाह-मशवरा हो रहा था इसी बीच खबर आई कि बिल कानून बनकर गजटमें प्रकाशित हो गया है। जिस दिन यह खबर मिली, उस रातको मैं विचार करता हुआ सो गया। भोरमें बड़े सवेरे उठ खड़ा हुआ। अभी अर्धनिद्रा होगी कि मुझे स्वप्नमें एक विचार सूझा। सवेरे ही मैंने श्री राजगोपालाचार्यको

बुलाया और बात की—

"मुझे रातको स्वप्नमें विचार आया कि इस कानूनके जवाबमें हमें सारे देशसे हड़ताल करनेके लिए कहना चाहिए। सत्याग्रह आत्मशुद्धिकी लड़ाई है। यह धार्मिक लड़ाई है। धर्म-कार्यको शुद्धिसे शुरू करना ठीक लगता है। एक दिन सभी लोग उपवास करें और कामधंधा बंद रक्खें। मुसलमान भाई रोजाके अलावा और उपवास नहीं रखते; इसलिए चौबीस घंटेका उपवास रखनेकी सलाह देनी चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इसमें सभी प्रांत शामिल होंगे या नहीं। बंबई, मद्रास, बिहार और सिंधकी आशा तो मुझे अवश्य है। पर इतनी जगहोंमें भी अगर ठीक हड़ताल हो जाय तो हमें संतोष मान लेना चाहिए।"

यह तजवीज श्री राजगोपालाचार्यको बहुत पसंद आई। फिर तुरंत ही दूसरे मित्रोंके सामने भी रक्खी। सबने इसका स्वागत किया। मैंने एक छोटा-सा नोटिस तैयार कर लिया। पहले सन् १९१९के मार्चकी ३० तारीख रक्खी गई थी, किंतु बादमें ६ अप्रैल कर दी गई। लोगोंको खबर बहुत थोड़े दिन पहले दी गई थी। कार्य तुरंत करनेकी आवश्यकता समझी गई थी। अतः तैयारीके लिए लंबी मियाद देनेकी गुंजाइश ही नहीं थी।

पर कौन जाने कैसे सारा संगठन हो गया! सारे हिंदुस्तानमें— शहरोंमें और गांवोंमें—हड़ताल हुई। यह दृश्य भव्य था!

३१

वह सप्ताह !—१

दक्षिणमें थोड़ा भ्रमण करके बहुत करके मैं चौथी अप्रैलको बंबई पहुंचा। श्री शंकरलाल बैंकरका ऐसा तार था कि छठी तारीखका कार्यक्रम पूरा करनेके लिए मुझे बंबईमें मौजूद रहना चाहिए।

किंतु उससे पहले दिल्लीमें तो ३० मार्चको ही हड़ताल मनाई जा चुकी थी उन दिनों दिल्लीमें स्व० स्वामी श्रद्धानंदजी तथा स्व० हकीम अजमलखां साहबकी

ग्रान चलती थी। छठी तारीख तक हड़तालकी मुद्दत बढ़ा दी जाने की खबर दिल्लीमें देरसे पहुंची थी। दिल्लीमें उस दिन जैसी हड़ताल हुई, वैसी पहले कभी न हुई थी। हिंदू ग्रौर मुसलमान दोनों एक दिल होने लगे। श्रद्धानंदजी को जुमा मस्जिदमें निमंत्रण दिया गया था ग्रौर वहां उन्हें भाषण करने दिया गया था। ये सब बातें सरकारी ग्रफसर सहन नहीं कर सकते थे। जलूस स्टेशनकी ग्रोर चला जा रहा था कि पुलिसने रोका ग्रौर गोली चलाई। कितने ही ग्रादमी जख्मी हुए, ग्रौर कुछ खून हुए। दिल्लीमें दमन-नीति शुरू हुई। श्रद्धानंदजीने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार किया कि बंबईमें छठी तारीख मना कर मैं तुरंत दिल्ली रवाना होऊंगा।

जैसा दिल्लीमें हुग्रा, वैसा ही लाहौरमें ग्रौर ग्रमृतसरमें भी हुग्रा था। ग्रमृतसरसे डा० सत्यपाल ग्रौर किचलूके तार मुझे जरूरीमें वहां बुला रहे थे। उस समय इन दोनों भाइयोंको जरा भी नहीं पहचानता था। दिल्लीसे होकर जानेके निश्चयकी ख़बर मैंने उन्हें दी थी।

छठीको बंबईमें सुबह हजारों ग्रादमी चौपाटीमें स्नान करने गये ग्रौर वहांसे ठाकुरद्वार जानेके लिए जलूस निकला। उसमें स्त्रियां ग्रौर बच्चे भी थे। मुसलमान भी ग्रच्छी तादादमें शामिल हुए थे। इस जलूसमेंसे हमें मुसलमान भाई एक मस्जिदमें ले गये। वहां श्रीमती सरोजिनी देवीसे तथा मुझसे भाषण कराये। यहां श्री विट्ठलदास जेराजाणीने स्वदेशीकी तथा हिंदु-मुसलमान-ऐक्यकी प्रतिज्ञा लिवानेके लिए सुझाया। मैंने ऐसी उतावलीमें प्रतिज्ञा लिवाने से इन्कार कर दिया। जितना हो रहा था उतनेसे ही संतोष माननेकी सलाह दी। प्रतिज्ञा लेनेके बाद नहीं टूट सकती। हमें ग्रभी स्वदेशीका ग्रर्थ भी समझना चाहिए। हिंदू-मुसलमान-ऐक्यकी जिम्मेदारी का खयाल रखना चाहिए वगैरा कहा ग्रौर सुझाया कि जिन्हें प्रतिज्ञा लेनेकी इच्छा हो, वे कल सवेरे भले ही चौपाटी-के मैदानमें ग्रा जायं।

बंबईकी हड़ताल सोलहों ग्राना संपूर्ण थी।

यहां कानूनके सविनय भंगकी तैयारी कर रक्खी थी। भंग हो सकने लायक दो-तीन वस्तुएं थीं। ये कानून ऐसे थे, जो रद्द होने लायक थे ग्रौर इनको सब लोग सहज ही भंग कर सकते थे। इनमेंसे एकको ही चुननेका निश्चय हुग्रा

था। नमकपर लगनेवाला कर बहुत ही अखरता था। उसे उठवानेके लिए बहुत प्रयत्न हो रहे थे। इसलिए मैंने यह सुझाया था कि सभी कोई अपने घरमें बिना परवानेके नमक बनावें। दूसरा कानूनभंग सरकारकी, जब्त की हुई पुस्तकें छपाने व बेचनेके संबंधमें था। ऐसी दो पुस्तकें खुद मेरी ही थीं—'हिंद स्वराज्य' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तकोंको छपाना और बेचना सबसे सरल सविनय-भंग जान पड़ा। इसलिए इन्हें छपाया और सांझका उपवास छूटनेपर और चौपाटीकी विराट सभा विसर्जन होनेके बाद इन्हें बेचनेका प्रबंध हुआ।

सांझको बहुतसे स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचने निकल पड़े। एक मोटरमें मैं और दूसरीमें श्रीमती सरोजिनी नायडू निकली थीं। जितनी प्रतियां छपाई थीं उतनी बिक गईं। इनकी जो कीमत आती वह लड़ाईके खर्चमें ही काम आनेवाली थी। प्रत्येक प्रतिकी कीमत चार आना रक्खी गई थी; किंतु मेरे या सरोजिनीदेवीके हाथमें शायद ही किसीने चार आने रक्खे हों। अपनी जेबमें जो कुछ मिल जाय, सभी देकर पुस्तक लेनेवाले बहुत आदमी पैदा हो गये। कोई दस रुपयेका तो कोई पांच रुपयेका नोट भी देते थे। मुझे याद है कि एक प्रतिके लिए तो ५०) का भी एक नोट मिला था। लोगोंको समझाया गया कि पुस्तक लेनेवालोंके लिए भी जेल जानेका खतरा है; किंतु थोड़ी देरके लिए लोगोंने जेलका भय छोड़ दिया था।

सातवीं तारीखको मालूम हुआ कि जो किताब बेचनेकी मनाही सरकारने की थी, सरकारकी दृष्टिसे वे बिकी हुई नहीं मानी जा सकतीं। जो बिकीं, वे तो उसकी दूसरी आवृत्ति मानी जायगी, जब्त किताबोंमें वे नहीं ली जायंगी। इसलिए इस नई आवृत्तिको छापने, बेचने और खरीदनेमें कोई गुनाह नहीं माना जायगा। लोग यह खबर सुनकर निराश हुए।

इस दिन सवेरे चौपाटीपर लोगोंको स्वदेशी-व्रत तथा हिंदू-मुस्लिम-ऐक्यके के लिए इकट्ठा होना था। विट्ठलदासको यह पहला अनुभव हुआ कि उजला रंग होनेसे ही सब-कुछ दूध नहीं हो जाता। लोग बहुत ही कम इकट्ठे हुए थे। इनमें दोचार बहनोंका नाम मुझे याद हो आता है। पुरुष भी थोड़े ही थे। मैंने व्रतका मजमून गढ़ रक्खा था। उनका अर्थ उपस्थित लोगोंको खूब समझाकर उन्हें व्रत लेने दिया। थोड़े लोगोंकी मौजूदगीसे मुझे आश्चर्य न

हुआ, न दुःख ही हुआ; किंतु तभीसे जोशीले काम और धीमे रचनात्मक कामके भेदका और पहलेके प्रति लोगोंके पक्षपात तथा दूसरेके प्रति अरुचिका अनुभव मैं बराबर करता आया हूं।

किंतु इस विषयके लिए एक अलग ही प्रकरण देना ठीक रहेगा।

सातकी रातको मैं दिल्ली और अमृतसरके लिए रवाना हुआ। आठको मथुरा पहुंचते ही कुछ भनक मिली कि शायद मुझे पकड़ लें। मथुराके बाद एक स्टेशनपर गाड़ी खड़ी थी। वहींपर मुझे आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने मुझे यह विश्वस्त खबर दी कि "आपको जरूर पकड़ेंगे और मेरी सेवाकी जरूरत हो तो मैं हाजिर हूं।" मैंने उपकार माना और कहा कि जरूरत पड़नेपर आपसे सेवा लेना नहीं भूलूंगा।

पलवल स्टेशन आनेके पहले ही पुलिस-अफसरने मेरे हाथमें एक हुक्म लाकर रक्खा। "तुम्हारे पंजाबमें प्रवेश करनेसे अशांति बढ़नेका भय है, इस-लिए तुम्हें हुक्म दिया जाता है कि पंजाबकी सीमामें दाखिल मत होओ।" हुक्मका आशय यह था। पुलिसने हुक्म देकर मुझे उतर जानेके लिए कहा। मैंने उतरनेसे इन्कार किया और कहा— "मैं अशांति बढ़ाने नहीं, किंतु आमंत्रण मिलनेसे अशांति घटानेके लिए जाना चाहता हूं। इसलिए मुझे खेद है कि मैं इस हुक्मको नहीं मान सकता।"

पलवल आया। महादेव देसाई मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर श्रद्धानंदजीको खबर देने और लोगोंको शांतिका संदेश देनेके लिए कहा। हुक्मका अनादर करनेसे जो सजा हो, उसे सहनेका मैंने निश्चय किया है तथा सजा होनेपर भी शांत रहनेमें ही हमारी जीत है, यह समझानेके लिए कहा।

पलवल स्टेशनपर मुझे उतारकर पुलिसके हवाले किया गया। दिल्लीसे आनेवाली किसी ट्रेनके तीसरे दर्जेके डिब्बेमें मुझे बैठाया। साथमें पुलिसकी पार्टी बैठी। मथुरा पहुंचनेपर मुझे पुलिस-बैरकमें ले गये। यह कोई भी अफसर नहीं बता सका कि मेरा क्या होगा और मुझे कहां ले जाना है। सवेरे ४ बजे मुझे उठाया और बंबई ले जानेवाली एक मालगाड़ीमें ले गये। दोपहरको सवाई माधोपुरमें उतार दिया। वहां बंबईकी मेल ट्रेनमें लाहौरसे इंसपेक्टर बोरिंग आये मैं उनके हवाले किया गया। अब मुझे पहले दर्जेमें बैठाया गया। साथमें साहब

बैठे। अबतक मैं मामूली कैदी था। अबसे 'जेंटिलमैन' कैदी गिना जाने लगा। साहबने सर॰ माइकेल ओडवायरके बखान शुरू किये। उन्होंने मुझसे कहा कि हमें तो आपके खिलाफ कोई शिकायत नहीं है; किंतु आपके पंजाबमें जानेसे अशांतिका पूरा भय है।" और इसलिए मुझसे अपने आप ही लौट जानेका और पंजाबकी सरहद पार न करनेका अनुरोध किया। मैंने उन्हें कह दिया कि मुझसे इस हुक्मका पालन नहीं हो सकेगा और मैं स्वेच्छासे लौट जानेको तैयार नहीं हूं। इसलिए साहबने लाचारीसे कानूनको काममें लानेकी बात कही। मैंने पूछा—"पर यह भी कुछ कहोगे कि आखिर मेरा करना क्या चाहते हो ?" उसने जवाब दिया—"मुझे कुछ मालूम नहीं है। मुझे कोई दूसरा हुक्म मिलेगा। अभी तो मैं आपको बंबई ले जाता हूं।"

सूरत आया। वहांपर किसी दूसरे अफसरने मेरा जिम्मा लिया उसने रास्तेमें मुझे कहा, "आप स्वतंत्र हैं, किंतु आपके लिए मैं बंबईमें मरीनलाइन्स स्टेशनपर गाड़ी खड़ी कराऊंगा। कोलाबापर ज्यादा भीड़ होनेकी संभावना है।" मैंने कहा—"जैसी आपकी मरजी हो।" वह खुश हुआ और मुझे धन्यवाद दिया। मरीनलाइंसमें उतरा। वहां किसी परिचित सज्जनकी घोड़ागाड़ी देखी। वह मुझे रेवाशंकर जौहरीके घर पर छोड़ गई। रेवाशंकरभाईने मुझे खबर दी—"आपके पकड़े जानेकी खबर सुनकर लोग उत्तेजित हो गये हैं। पायधुनीके पास हुल्लड़का भय है। वहां पुलिस और मजिस्ट्रेट पहुंच गये हैं।"

मेरे घरपर पहुंचते ही उमर सुबानी और अनसूया बहन मोटर लेकर आये और मुझसे पायधुनी चलनेकी बात कही—"लोग अधीर हो गये हैं और उत्तेजित हो रहे हैं। हम किसीके किये वे शांत नहीं रह सकते। आपको देख लेनेपर ही शांत होंगे।"

मैं मोटरमें बैठ गया। पायधुनी पहुंचते ही रास्ते में बहुत बड़ी भीड़ दीखी। मुझे देखकर लोग हर्षोन्मत्त हो गये। अब खासा जलूस बन गया। 'वंदे मातरम्', 'अल्लाहो अकबर'की आवाजसे आसमान फटने लगा। पायधुनीपर मैंने घुड़सवार देखे। ऊपरसे ईंटोंकी वर्षा होती थी। मैं लोगोंसे शांत होनेके लिए हाथ जोड़कर प्रार्थना करता था। किंतु ऐसा जान पड़ा कि हम भी इस ईंटोंकी वर्षासे न बच सकेंगे।

अब्दुल रहमान गलीमेंसे क्रॉफर्ड मार्केटकी ओर जाते हुए जलूसको रोकनेके लिए घुड़सवारोंकी टुकड़ी सामने आ खड़ी हुई। जलूसको फोर्टकी ओर जानेसे रोकनेके लिए वे महाप्रयत्न कर रहे थे। लोग समाते न थे। लोगोंने पुलिसकी लाइनको चीरकर आगे बढ़ना शुरू किया। हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़े। इसपर घुड़सवारोंकी टुकड़ीके अफसरने भीड़को तितर-बितर करनेका हुक्म दिया और इस टुकड़ीने भाले तानकर एकदम घोड़े छोड़ दिये। मुझे भय था कि इनमेंसे कोई भाला हममेंसे भी किसीका काम तमाम कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं; किंतु इस भयके लिए कोई आधार नहीं था। बगलसे होकर सभी भाले रेलगाड़ीकी चालसे बढ़े चले जाते थे। लोगोंके झुंड टूट गये। भगदड़ मच गई। कई कुचल गये, कई घायल हुए। घुड़सवारोंको निकलनेके लिए रास्ता न था। लोगोंके इधर-उधर हटनेको जगह न थी। वे अगर पीछे भी फिरना चाहें तो उधर भी हजारोंकी जबरदस्त भीड़ थी। सारा दृश्य भयंकर लगा। घुड़सवार और लोग दोनों ही उन्मत्त जैसे मालूम हुए। घुड़सवार न तो कुछ देखते और न देख ही सकते थे। वे तो आंखें मूंदकर सरपट घोड़े दौड़ा रहे थे। जितने क्षण इस हजारोंके झुंडको चीरनेमें लगे, उतनेतक तो मैंने देखा कि वे अंधाधुंध हो रहे थे।

लोगोंको यों बिखेरकर आगे जानेसे रोक दिया। हमारी मोटरको आगे जाने दिया। मैंने कमिश्नरके दफ्तरके आगे मोटर रुकवाई और मैं उनके पास पुलिसके व्यवहारके लिए शिकायत करने उतरा।

३२

वह सप्ताह!—२

मैं कमिश्नर ग्रिफिथ साहबके दफ्तरमें गया। उनकी सीढ़ीके पास जाते ही मैंने देखा कि हथियारबंद सोल्जर तैयार बैठे थे, मानो किसी लड़ाईपर जानेके लिए ही तैयार हो रहे हों! बरामदेमें भी हलचल मच रही थी। मैं खबर भेजकर दफ्तरमें घुसा तो कमिश्नरके पास मि० बोरिंगको बैठे हुए देखा।

कमिश्नरसे मैंने जो कुछ देखा था उसका वर्णन किया। उसने संक्षेपमें जवाब दिया:— "जलूसको हम फोर्टकी ओर जाने देना नहीं चाहते थे। वहां जलूस जाता तो उपद्रव हुए बिना नहीं रह सकता था। और मैंने देखा कि लोग केवल कहनेसे ही लौट जानेवाले नहीं थे। इसलिए भीड़में धंसे बिना और चारा ही नहीं था।"

मैंने कहा— "मगर उसका परिणाम तो आप जानते थे ? लोग घोड़ोंके नीचे जरूर ही कुचल गये हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि घुड़सवारोंकी टुकड़ीको भेजनेकी जरूरत ही न थी।"

साहबने जवाब दिया—"इसका पता आपको नहीं चल सकता। हम पुलिसवालोंको आपसे कहीं अधिक इसका पता रहता है कि लोगोंके ऊपर आपकी सीखका कैसा असर पड़ा है। हम अगर पहलेसे ही कड़ी कार्रवाई न करें तो अधिक नुकसान होता है। मैं आपसे कहता हूं कि लोग तो आपके भी प्रभावमें रहनेवाले नहीं हैं। कानूनके भंगकी बात वे चट समझ लेते हैं, मगर शांतिकी बात समझना उनकी शक्तिके बाहर है। आपका हेतु अच्छा है, मगर लोग आपका हेतु नहीं समझते; वे तो अपने ही स्वभावके अनुसार काम करेंगे।"

मैंने कहा— "यही तो आपके और मेरे बीच मतभेद है। लोग स्वभावसे ही लड़ाके नहीं हैं। किंतु शांतिप्रिय हैं।"

अब बहस होने लगी।

अंतमें साहब बोले— "खैर अगर आपको यह विश्वास हो जाय कि लोगोंने आपकी शिक्षाको नहीं समझा, तो आप क्या करेंगे ?"

मैंने जवाब दिया—"अगर मुझे यह विश्वास हो जाय तो इस लड़ाईको मैं स्थगित कर दूंगा।"

"स्थगित करनेके क्या मानी ? आपने तो मि० बोरिंगसे कहा है कि मैं छूटते ही तुरंत पंजाब लौटना चाहता हूं।"

"हां, मेरा इरादा तो दूसरी ही ट्रेन से लौटनेका था; किंतु यह तो आज नहीं हो सकता।"

"आप धीरज रक्खेंगे तो आपको और अधिक बातें मालूम होंगी। क्या आपको कुछ पता है कि अभी अहमदाबादमें क्या चल रहा है ? अमृतसरमें

क्या हुआ है ? लोग तो सभी जगह पागल-से हो गये हैं। मुझे भी अभी तो पूरी खबरें नहीं मिली हैं। कितनी ही जगह तार भी टूटे हैं। मैं तो आपसे कहता हूं कि इस सारे उपद्रवकी जिम्मेदारी आपके सिर है।"

मैं बोला—"मेरी जिम्मेदारी जहां होगी, वहां उसे मैं अपने सिर ओढ़े बिना नहीं रहूंगा। अहमदाबादमें लोग अगर कुछ भी करें तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसरके बारेमें मैं कुछ नहीं जानता। वहां तो मैं कभी गया भी नहीं हूं। वहां मुझे तो कोई जानता भी नहीं है; किंतु मैं इतना जानता हूं कि पंजाब सरकारने यदि मुझे वहां जानेसे रोका न होता तो मैं शांति बनाये रखनेमें बहुत हाथ बंटा सकता था। मुझे रोककर सरकारने लोगोंको भड़का दिया है।"

इस तरह हमारी बातें चलीं। हमारे मतमें मेल मिलनेकी संभावना नहीं थी।

चौपाटीपर सभा करने और लोगोंको शांति पालन करनेके लिए समझानेका अपना इरादा जाहिर करके मैंने उनसे छुट्टी ली।

चौपाटी पर सभा हुई। मैंने लोगोंको शांतिके बारेमें और सत्याग्रहकी मर्यादाके बारेमें समझाया और कहा—"सत्याग्रह सच्चेका खेल है। लोग अगर शांतिका पालन न करें तो मुझसे सत्याग्रहकी लड़ाई कभी पार न लगेगी।"

अहमदाबादसे श्री अनसूयाबहनको भी खबर मिल चुकी थी कि वहां हुल्लड़ हो गया है। किसीने अफवाह उड़ा दी थी कि वह भी पकड़ी गई हैं। इससे मजदूर पागल-से बन गये। उन्होंने हड़ताल की और हुल्लड़ भी किया। एक सिपाहीका खून भी हो गया था।

मैं अहमदाबाद गया। नड़ियादके पास रेलकी पटरी उखाड़ डालनेका भी प्रयत्न हुआ था। वीरमगाममें एक सरकारी नौकरका खून हो गया था। जब मैं अहमदाबाद पहुंचा, तो उस समय वहां मार्शल-लॉ जारी था। लोग भयभीत हो रहे थे। लोगोंने जैसा किया वैसा भरा और उसका ब्याज भी पाया।

कमिश्नर मि० प्रैटके पास मुझे ले जानेके लिए स्टेशनपर आदमी खड़ा था। मैं उनके पास गया। वह खूब गुस्सेमें थे। मैंने उन्हें शांतिसे उत्तर दिया। जो खून हुआ था, उसके लिए अपना खेद प्रकट किया। मार्शल-लॉकी अनावश्यकता भी बतलाई और जिसमें शांति फिरसे स्थापित हो वैसे उपाय, जो करने उचित

हों, करनेकी अपनी तैयारी बतलाई। मैंने सार्वजनिक सभा करनेकी इजाजत मांगी व सभा आश्रमके मैदानमें करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की। यह बात उन्हें पसंद आई। मुझे याद है कि इसके अनुसार १३ मईको रविवारके दिन सभा हुई थी। मार्शल-लॉ भी उसी दिन या उसके दूसरे दिन रद्द हो गया था। इस सभामें मैंने लोगोंको उनकी गलतियां बतानेका प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्त के रूपमें तीन दिनका उपवास किया और लोगोंको एक दिनका उपवास करनेकी सलाह दी। जो खून वगैरामें शामिल हुए हों, उन्हें अपना गुनाह कबूल कर लेनेकी सलाह दी।

अपना धर्म मैंने स्पष्ट देखा। जिन मजदूरों वगैराके बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी, और जिनसे मैं भलेकी ही आशा रखता था, उनका हुल्लड़में शामिल होना मुझे असह्य लगा और मैंने अपने आपको उनके दोषमें हिस्सेदार माना।

जिस तरह लोगोंको अपना गुनाह कबूल कर लेनेकी सलाह दी, उसी प्रकार सरकारको भी उनका गुनाह माफ करनेके लिए सुझाया। मेरी बात दोनोंमेंसे किसीने नहीं सुनी। न लोगोंने अपना गुनाह कबूल किया और न सरकार ने उन्हें माफ ही किया।

स्व० सर रमणभाई वगैरा, अहमदाबादके नागरिक, मेरे पास आये और सत्याग्रह मुल्तवी रखनेका मुझसे अनुरोध किया। मुझे तो इसकी जरूरत भी न रही थी। जबतक लोग शांतिका पाठ न सीख लें, तबतक सत्याग्रहको मुल्तवी रखनेका निश्चय मैंने कर ही लिया था। इससे वे प्रसन्न हुए।

कितने ही मित्र नाराज भी हुए। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अगर मैं सर्वत्र शांतिकी आशा रक्खूं और यही सत्याग्रहकी शर्त हो, तो फिर बड़े पैमानेपर सत्याग्रह कभी चल ही न सकेगा। मैंने इससे अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगोंमें हमने काम किया हो, जिनके द्वारा सत्याग्रह चलानेकी हमने आशा रक्खी हो, वे अगर शांतिका पालन न करें तो सत्याग्रह जरूर ही नहीं चल सकता। मेरी दलील यह थी कि इतनी मर्यादित शांतिका पालन करनेकी शक्ति सत्याग्रही नेताओंको पैदा करनी चाहिए। इन विचारोंको मैं आज भी नहीं बदल सका हूं।

३३

'हिमालय-जैसी भूल'

अहमदाबादकी सभाके बाद मैं तुरंत नड़ियाद गया। 'हिमालय-जैसी भूल'के नामसे जो शब्द-प्रयोग प्रचलित हो गया है, उसका प्रयोग मैंने पहले-पहल नड़ियादमें किया था। अहमदाबादमें ही मुझे अपनी भूल जान पड़ने लगी थी; किंतु नड़ियादमें वहांकी स्थितिका विचार करते हुए खेड़ा जिलेके बहुतसे आदमियोंके गिरफ्तार होनेकी बात सुनते हुए, जिस सभामें मैं इन घटनाओं-पर भाषण कर रहा था, वहींपर मुझे एकाएक खयाल हुआ कि खेड़ा जिलेके तथा ऐसे ही दूसरे लोगोंको सविनय भंग करनेके लिए निमंत्रण देनेमें मैंने उतावली करनेकी भूल की थी, और वह भूल मुझे हिमालय-जैसी बड़ी जान पड़ी।

मैंने इसे कबूल किया, इसलिए मेरी खूब ही हंसी हुई। तो भी मुझे यह कबूल करनेके लिए पश्चात्ताप नहीं हुआ है। मैंने यह हमेशा माना है कि जब हम दूसरेके गज-बराबर दोषको रज-समान देखें और अपने राई-जैसे जान पड़नेवाले दोषको पर्वत जैसा देखना सीखेंगे तभी हम अपने और दूसरेके दोषोंका ठीक-ठीक हिसाब लगा सकेंगे। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बननेके इच्छुक-को तो इस सामान्य नियमका पालन बहुत ही सूक्ष्मतासे करना चाहिए।

अब हम यह देखें कि वह हिमालय-जैसी दिखाई पड़नेवाली भूल थी क्या? कानूनका सविनय भंग उन्हीं लोगोंसे हो सकता है, जिन्होंने कानूनको विनय-पूर्वक स्वेच्छासे मान लिया हो—उसका पालन किया हो। बहुतांशमें हम कानूनके भंगसे होनेवाली सजाके डरसे उसका पालन करते हैं। इसके अलावा यह बात विशेषकर उन कानूनोंपर लागू पड़ती है, जिनमें नीति-अनीतिका सवाल नहीं होता। कानून हो, या न हो, सज्जन माने जानेवाले लोग एकाएक चोरी नहीं करेंगे; मगर तो भी रातको बाइसिकलकी बत्ती जलानेके नियममेंसे छटक जानेमें भले आदमीको भी क्षोभ नहीं होगा। और ऐसे नियम पालनेकी कोई सलाह भी दे, तो भले लोग भी उसका पालन करनेको झट तैयार नहीं होंगे। किंतु जब कि यह कानून बन जाता है, उसका भंग करनेसे जुर्मानेका भय रहता है,

तब जुर्माना देनेसे बचनेके लिए ही रातको वह बत्ती जलावेगा। नियमके ऐसे पालनको स्वेच्छासे किया गया पालन नहीं कह सकते ।

किंतु सत्याग्रही तो समाजके कानूनोंका पालन समझ-बूझकर, स्वेच्छासे और धर्म समझकर करेगा। इस प्रकार जिसने समाजके नियमोंका जान-बूझ कर पालन किया है, उसीमें समाजके नियम, नीति-अनीतिका भेद समझनेकी शक्ति आती है, और उसे मर्यादित अवस्थाओंमें खास-खास नियमोंके भंग करनेका अधिकार प्राप्त होता है। ऐसा अधिकार प्राप्त करनेसे पहले ही सविनय भंगके लिए न्यौता देनेकी भूल मुझको हिमालय जैसी लगी और खेड़ा जिलेमें प्रवेश करते ही मुझे वहांकी लड़ाई याद हो आई। मैंने समझ लिया कि मैं रास्ता चूक गया। मुझे ऐसा लगा कि इसके पहले कि लोग सविनय भंग करनेके लायक बने, उन्हें उसका रहस्य खूब समझ लेना चाहिए। जो रोज ही अपने मनसे कानूनको तोड़ते हों, जो छिपाकर अनेकों बार कानूनका भंग करते हों, वे भला एकाएक कैसे सविनयभंगको पहचान सकते हैं ? उसकी मर्यादाका पालन कैसे कर सकते हैं ?

यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि इस आदर्शतक हजारों-लाखों आदमी नहीं पहुंच सकते, किंतु बात अगर ऐसी हो तो सविनय भंग करानेके पहले ऐसे शुद्ध स्वयंसेवकोंका दल पैदा होना चाहिए जो लोगोंको इसका ज्ञान करावें और प्रतिक्षण उन्हें रास्ता बतलाते रहें और ऐसे दलको सविनयभंग और उसकी मर्यादाकी पूरी-पूरी समझ होनी चाहिए ।

ऐसे विचारोंको लेकर मैं बंबई पहुंचा और सत्याग्रह-सभाके द्वारा मैंने सत्याग्रही स्वयंसेवकोंका एक दल खड़ा किया। उनके जरिये लोगोंको सविनय-भंगकी तालीम देना शुरू की और सत्याग्रहका रहस्य बतलानेवाली पत्रिकायें निकालीं ।

यह काम चला तो सही, मगर मैंने देखा कि इसमें मैं लोगोंकी बहुत दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका। कभी काफी स्वयंसेवक न हुए। यह नहीं कहा जा सकता कि जो भरती हुए उन सभीने नियमित तालीम भी पूरी कर ली हो। भरतीमें नाम लिखानेवाले भी, जैसे-जैसे दिन जाने लगे, दृढ़ होनेके बदले खिसकने लगे। मैंने समझ लिया कि सविनयभंगकी गाड़ीके जिस चालसे चलनेकी मैं आशा रखता था, वह उससे कहीं धीमी चलेगी ।

३४

'नवजीवन' और 'यंग इंडिया'

एक ओर यह धीमी किंतु शांति-रक्षक हलचल चल रही थी तो उधर दूसरी ओर सरकारकी दमन-नीति बड़े वेगसे चल रही थी। पंजाबमें उसका असर प्रत्यक्ष देखा गया। वहां फौजी-कानून यानी जो-हुक्मी शुरू हुई। नेताओंको पकड़ा। खास अदालतें अदालतें न रहीं, किंतु एक सूबाका हुक्म बजानेवाली संस्था बन गईं। उन्होंने बिला सबूत ही सजायें ठोंक दीं। फौजी सिपाहियोंने निर्दोष लोगों को कीड़ोंकी तरह पेटके बल रेंगाया। इसके आगे तो मेरे सामने जलियांवाला बागके कत्लेआमकी कोई बिसात ही न थी। हालांकि जनताका तथा दुनियाका ध्यान उस कत्लने ही खींचा था।

पंजाबमें चाहे जिस तरह हो, मगर प्रवेश करनेका दबाव मुझपर डाला गया। मैंने वाइसरायको पत्र लिखे, तार किये; किंतु इजाजत न मिली। इजाजतके बिना चला जाऊं तो अंदर तो जा ही नहीं सकता था। हां, सविनय-भंग करनेका संतोष अलबत्ता मिल जाता। अब यह प्रश्न मेरे सामने आ खड़ा हुआ कि इस धर्म-संकटमें मुझे क्या करना चाहिए? मुझे लगा कि अगर में मनाही हुक्मका अनादर करके प्रवेश करूं तो यह सविनय अनादर नहीं समझा जायगा। शांतिकी जिस प्रतीतिकी मैं इच्छा करता था, वह मुझे अबतक नहीं हो रही थी। पंजाबकी नादिरशाहीने लोगोंकी अशांतिवृत्तिको बढ़ा दिया था। मुझे ऐसा लगा कि ऐसे समयमें मेरा कानून-भंग आगमें घी डालनेके समान होगा। और मैंने सहसा पंजाबमें प्रवेश करनेकी सूचना नहीं मानी। यह निर्णय मेरे लिए एक कडुई घूंट थी। रोज पंजाबसे अन्यायकी खबरें आतीं और रोज मुझे उन्हें सुनना, और दांत पीसकर बैठ रहना पड़ता था।

इतनेमें प्रजाको सोता छोड़कर सरकार मि० हार्निमैनको चुरा ले गई। मि० हार्निमैनने 'बंबई क्रानिकल'को एक प्रचंड-शक्ति बना दिया था। इस चोरीमें जो गंदगी थी उसकी बदबू मुझे अबतक आया करती है। मैं जानता हूं कि मि० हार्निमैन अंधाधुंधी नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह कमिटी की सलाहके बिना ही

पंजाब-सरकारके हुक्मको तोड़ा था सो उन्हें पसंद नहीं था। मैंने सविनय-भंगको जो मुल्तवी किया, उससे वह पूरे सहमत थे। मेरे सत्याग्रह मुल्तवी रखनेका इरादा प्रकट करनेके पहले ही पत्र-द्वारा उन्होंने मुझे मुल्तवी रखनेकी सलाह दी थी और वह पत्र बंबई और अहमदाबादके फासलेके कारण, मेरा इरादा जाहिर कर चुकनेके बाद, मुझे मिला था। इसलिए उनके देश-निकालेपर मुझे जितना आश्चर्य हुआ, उतना ही दुःख भी हुआ।

इस घटनाके कारण 'क्रानिकल'के व्यवस्थापकोंने उसे चलानेका बोझा मुझपर डाला। मि० बरेलवी तो थे ही, इसलिए मुझे बहुत-कुछ करनेकी जरूरत नहीं थी; किंतु तो भी मेरे स्वभावानुसार यह जिम्मेदारी मेरे लिए बहुत हो गई थी।

किंतु मुझे यह जिम्मेदारी बहुत दिन नहीं उठानी पड़ी। सरकारकी मिहरबानीसे 'क्रानिकल' बंद हो गया।

जो 'क्रानिकल'के संचालक थे वे ही 'यंग इंडिया'की व्यवस्थाकी भी देखभाल करते थे—यानी उमर सुबानी और शंकरलाल बैंकर। इन दोनों भाइयोंने 'यंग इंडिया'की जिम्मेदारी लेनेका सुझाव किया और 'यंग इंडिया' तथा 'क्रानिकल'की घटी थोड़ी कम करनेके लिए हफ्तेमें एक बारके बदले दो बार प्रकाशित करना उन्हें और मुझे ठीक लगा। मुझे सत्याग्रहका रहस्य लोगोंको समझानेका उत्साह था। पंजाबके बारेमें मैं और कुछ नहीं तो उचित टीका जरूर कर सकता था और यह सरकारको भी पता था कि उसके पीछे सत्याग्रह-की शक्ति मौजूद है। इसलिए मैंने इन मित्रोंका सुझाव मंजूर कर लिया। किंतु अंग्रेजीके जरिये भला सत्याग्रहकी तालीम कैसे दी जा सकती है? मेरे कार्यका मुख्य क्षेत्र गुजरात था। भाई इंदुलाल याज्ञिक उस समय इसी टोलीमें थे। उनके हाथमें मासिक 'नवजीवन' था। उसका खर्च भी यही मित्र उठाते थे। यह पत्र भाई इंदुलाल और उन मित्रोंने मुझे सौंप दिया और भाई इंदुलालने उसमें काम करनेका भार भी अपने सिर लिया। इस मासिक को साप्ताहिक बनाया।

इस बीच 'क्रानिकल' पुनर्जीवित हुआ। इसलिए 'यंग इंडिया' फिर साप्ताहिक हो गया और मेरे सुझावपर उसे अहमदाबाद ले गये। दो अखबार अलग-अलग शहरोंमें चलें तो खर्च अधिक होता और मेरी असुविधा अधिक बढ़ती। 'नवजीवन' तो अहमदाबादसे ही निकलता था। यह अनुभव तो मुझे 'इंडियन

ओपीनियन'से ही होगया था कि ऐसे अखबारोंके लिए निजका छापाखाना जरूर चाहिए। फिर उस समय अखबारोंके संबंधमें कानून-कायदे भी ऐसे थे कि मैं जो विचार करना चाहूं उन्हें व्यापारकी दृष्टिसे चलनेवाले छापाखाने छापते हुए सकुचाते थे। स्वतंत्र छापाखाना खोलनेका यह भी एक प्रबल कारण था। और हालत यह थी कि यह अहमदाबादमें ही आसानीसे हो सकता था। इसलिए 'यंग इंडिया'को अहमदाबाद ले गये।

इन अखबारोंके द्वारा मैंने सत्याग्रहकी तालीम लोगोंको यथाशक्ति देना शुरू की। दोनों अखबारोंकी खपत पहले बहुत कम थी, बढ़ते-बढ़ते ४०,००० के आसपास जा पहुंची थी। 'नवजीवन'की बिक्री एकदम बढ़ी, जबकि 'यंग-इंडिया'की धीरे-धीरे। मेरे जेल जानेके बाद उनकी बिक्रीमें घटी आई और आज दोनोंकी बिक्री आठ हजारसे नीचे चली गई है।

इन अखबारोंमें विज्ञापन न छापनेका मेरा आग्रह शुरूसे ही था। मेरी धारणा है कि इससे कुछ भी हानि नहीं हुई है और अखबारोंकी विचार-स्वतंत्रता बनाये रखनेमें इस प्रथाने बहुत मदद की है।

इन अखबारोंके द्वारा मैं मनमें शांति प्राप्त कर सका। क्योंकि यद्यपि मैं तुरंत सविनय-भंग न कर सका, मगर तो भी अपने विचार आजादीके साथ जनताके सामने रख सका। जो मेरा मुंह जोह रहे थे, उन्हें आश्वासन दे सका और मुझे लगता है कि दोनों पत्रोंने उस कठिन प्रसंगपर जनताकी ठीक-ठीक सेवा की और फौज कानूनके जुल्मको हलका करनेमें अच्छा काम किया।

३५

पंजाबमें

पंजाबमें जो कुछ हुआ, उसके लिए सर माइकेल ओड्वायरने मुझे गुनहगार ठहराया था। इधर वहांके कई नौजवान फौजी कानूनके लिए भी मुझे गुनहगार ठहरानेमें हिचकते न थे। क्रोधके आवेशमें वे यह दलील देते थे कि यदि मैंने सविनय कानून-भंग मुल्तवी न किया होता तो जलियांवाला बागमें कभी

यह कत्ल न हुआ होता और न फौजी कानून ही जारी हो पाता। कुछ लोगोंने तो धमकियां भी दीं कि यदि अब आपने पंजाबमें पैर रक्खा तो आपका खून कर डाला जायगा।

पर मैं तो मान रहा था कि मैंने जो-कुछ किया है वह इतना उचित और ठीक था कि उसमें समझदार आदमियोंको गलतफहमी होनेकी संभावना ही न थी। मैं पंजाब जानेके लिए अधीर हो रहा था। इससे पहले मैंने पंजाब देखा नहीं था; पर अपनी आंखों जो-कुछ देख सकूं, देखनेकी तीव्र इच्छा थी और मुझे बुलानेवाले डा० सत्यपाल, किचलू, रामभजदत्त चौधरी आदिसे मिलनेकी अभिलाषा भी हो रही थी। वे थे तो जेलमें, पर मुझे पूरा विश्वास था कि उन्हें सरकार अधिक दिनों तक जेलमें नहीं रख सकेगी। जब-जब मैं बंबई जाता, तब-तब कितने ही पंजाबी भाई मिलने आ जाते थे। उन्हें मैं प्रोत्साहन देता और वे प्रसन्न होकर उसे ले जाते। उस समय मेरा आत्म-विश्वास बहुत था।

पर मेरे पंजाब जानेका दिन दूर-ही-दूर होता जाता था। वाइसराय भी यह कहकर उसे दूर ढकेलते जाते थे कि अभी समय नहीं है।

इसी बीच हंटर-कमिटी आई। वह फौजी कानूनके दौरेमें पंजाबके अधिकारियों द्वारा किये कृत्योंकी जांच करनेके लिए नियुक्त हुई थी। दीनबंधु एंड्रूज वहां पहुंच गये थे। उनकी चिट्ठियोंमें वहांका हृदयद्रावक वर्णन होता था। उनके पत्रोंसे यह ध्वनि निकलती थी कि अखबारोंमें जो कुछ बातें प्रकाशित हो चुकी हैं उनसे भी अधिक जुल्म फौजी कानूनका था। वह भी पंजाब आनेका आग्रह कर रहे थे। दूसरी ओर मालवीयजीके भी तार आ रहे थे कि आपको पंजाब अवश्य पहुंच जाना चाहिए। तब मैंने फिर वाइसरायको तार दिया। उनका जवाब आया कि फलां तारीखको आप जा सकते हैं। अब तारीख ठीक-ठीक याद नहीं पड़ती, पर बहुत करके वह १७ अक्तूबर थी।

लाहौर पहुंचनेपर मैंने जो दृश्य देखा वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्टेशनपर मुझे लिवानेके लिए ऐसी भीड़ इकट्ठी हुई थी, मानो किसी बहुत दिनके बिछड़े प्रिय-जनसे मिलनेके लिए उसके सगे-संबंधी आये हों। लोग हर्षसे पागल हो रहे थे। पंडित रामभजदत्त चौधरीके यहां मैं ठहराया गया था। श्रीमती सरलादेवी चौधरानी से मेरा पहलेका परिचय था। मेरे आतिथ्यका भार उनपर

आ पड़ा था। 'आतिथ्यका भार' शब्दका प्रयोग मैं जान-बूझ कर कर रहा हूं; क्योंकि आजकी तरह तब भी मैं जहां ठहरता, वह घर एक धर्मशाला ही हो जाता था।

पंजाबमें मैंने देखा कि वहांके पंजाबी नेताओंके जेलमें होनेके कारण पंडित मालवीयजी, पंडित मोतीलालजी और स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजीने मुख्य नेताओंका स्थान ग्रहण कर लिया था। मालवीयजी और श्रद्धानंदजीके संपर्कमें तो मैं अच्छी तरह आ चुका था; पर पंडित मोतीलालजीके निकट संपर्कमें तो मैं लाहौरमें ही आया। इन तथा दूसरे स्थानिक नेताओंने, जिन्हें जेलमें जानेका गौरव प्राप्त नहीं हुआ था, तुरंत मुझ अपना बना लिया। कहीं मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं कोई अजनबी हूं।

हम सब लोगोंने एकमत होकर हंटर-कमिटीके सामने गवाही न देनेका निश्चय किया। इसके कारण उसी समय प्रकट कर दिये थे। अतएव यहां इनका उल्लेख छोड़ देता हूं। वे कारण सीधे थे और आज भी मेरा यही मत है कि कमिटीका, हमने जो बहिष्कार किया वह उचित ही था।

पर यदि हंटर-कमिटीका बहिष्कार किया जाय तो फिर लोगोंकी तरफसे अर्थात् कांग्रेसकी ओरसे कोई जांच-कमिटी नियुक्त होनी चाहिए, इस निश्चयपर हम लोग पहुंचे। पंडित मोतीलाल नेहरू, स्व० चित्तरंजन दास, श्री अब्बास तैयबजी, श्री जयकर और मैं इतनोंको पंडित मालवीयजीने उसका सदस्य बनाया। हम जांचके लिए अलग-अलग स्थानोंमें बंट गये। इस कमिटीकी व्यवस्थाका बोझ सहज ही मुझपर आ पड़ा था और मेरे हिस्सेमें अधिक-से-अधिक गांवोंकी जांचका काम आजानेके कारण मुझे पंजाबको और पंजाबके देहातको देखनेका अलभ्य लाभ मिला।

इस जांचके दिनोंमें पंजाबकी स्त्रियां तो मुझे ऐसी मालूम हुईं, मानो मैं उन्हें युगोंसे पहचानता होऊं। मैं जहां जाता वहां झुंड-की-झुंड स्त्रियां आ जातीं और अपने कते सूतका ढेर मेरे सामने कर देतीं। इस जांचके साथ ही मैं अनायास इस बातको भी देख सका कि पंजाब खादीका एक महान् क्षेत्र हो सकता है।

ज्यों-ज्यों मैं लोगोंपर हुए जुल्मोंकी जांच अधिकाधिक गहराईसे करने लगा त्यों-त्यों मेरे अनमानसे परे सरकारी अराजकता, हाकिमोंकी नादिरशाही

श्रौर उनकी मनमानी अंधाधुंधीकी बातें सुन-सुनकर आश्चर्य और दुःख हुआ करता। वह पंजाब कि जहांसे सरकारको ज्यादा-से-ज्यादा सैनिक मिलते हैं, वहां लोग क्यों इतना बड़ा जुल्म सहन कर सके। इस बातसे मुझे बड़ा विस्मय हुआ और आज भी होता है।

इस कमिटीकी रिपोर्ट तैयार करनेका काम मेरे सुपुर्द किया गया था। जो यह जानना चाहते हैं कि पंजाबमें कैसे-कैसे अत्याचार हुए, उन्हें यह रिपोर्ट अवश्य पढ़नी चाहिए। इस रिपोर्टके बारेमें मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि इसमें जान-बूझकर कहीं भी अत्युक्तिसे काम नहीं लिया गया है। जितनी बातें लिखी गई हैं, सबके लिए रिपोर्टमें प्रमाण मौजूद हैं। रिपोर्टमें जो प्रमाण पेश किये गये हैं उनसे बहुत अधिक प्रमाण कमिटीके पास थे। ऐसी एक भी बात रिपोर्टमें दर्ज नहीं की है, जिसके बारेमें थोड़ा भी शक था। इस प्रकार बिलकुल सत्यको ही सामने रखकर लिखी गई रिपोर्टमें पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज्य अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए किस हदतक जा सकता है और कैसे अमानुषिक कार्य कर सकता है। जहांतक मुझे पता है इस रिपोर्टकी एक भी बात आजतक असत्य नहीं साबित हुई है।

३६

खिलाफतके बदलेमें गोरक्षा ?

पंजाबके हत्याकांडको फिलहाल हम यहीं छोड़ दें। कांग्रेसकी ओरसे पंजाबकी डायरशाहीकी जांच हो रही थी कि इतनेमें ही एक सार्वजनिक निमंत्रण मेरे हाथमें आ पहुंचा। उसमें स्वर्गीय हकीम साहब और भाई आसफअलीके नाम थे। यह भी लिखा था कि श्रद्धानंदजी भी सभामें आनेवाले हैं। मुझे तो खयाल पड़ता है कि वह उपसभापति थे। देहलीमें खिलाफतके तथा संधि-उत्सवमें भाग लेने न लेनेके संबंधमें विचार करनेके लिए हिंदू-मुसलमानोंकी संयुक्तसभा होनेवाली थी और उसमें आनेके लिए यह निमंत्रण मिला था। मुझे याद आता है कि यह सभा नवंबरमें हुई थी।

इस निमंत्रण-पत्रमें यह भी लिखा गया था कि इसमें खिलाफतके प्रश्नकी चर्चा की जायगी और साथ ही गो-रक्षाके विषयपर भी विचार किया जायगा, एवं यह सुझाया गया था कि गो-रक्षाको साधनेका यह बड़ा अच्छा अवसर है। मुझे यह वाक्य खटका। इस निमंत्रण-पत्रके उत्तरमें मैंने लिखा था कि आनेका यत्न करूंगा और साथ ही यह भी सूचित किया था कि खिलाफत और गोरक्षाको एक साथ मिलाकर उन्हें परस्पर बदलेका सवाल न बनाना चाहिए— हरेक-के महत्त्वका निर्णय उनके गुणदोषको देखकर करना चाहिए

सभामें मैं गया। उपस्थिति अच्छी थी। फिर भी ऐसा दृश्य नहीं था कि हजारों लोग पीछेसे धक्का-मुक्की करते हों। इस सभामें श्रद्धानंदजी उपस्थित थे। उनके साथ इस विषयपर मैंने बातचीत कर ली। उन्हें मेरी दलील पसंद आई और उन्होंने कहा कि आप इसे सभामें पेश करें। हकीम साहबके साथ भी मशवरा कर लिया था। मेरा कहना यह था कि दोनों प्रश्नोंका विचार उनके गुण-दोषके अनुसार अलग-अलग होना चाहिए। यदि खिलाफतके प्रश्नमें तथ्य हो, उसमें सरकारकी ओरसे अन्याय होता हो, तो हिंदुओंको मुसल-मानोंका साथ देना चाहिए, और इसके साथ गो-रक्षाको नहीं मिला सकते। और यदि हिंदू ऐसी कोई शर्त रक्खें तो वह जेबा नहीं देगी। मुसलमान खिलाफतमें मदद लेनेके लिए, उसके एवजमें, गोवध बंद करें तो इसमें उनकी शोभा नहीं; एक तो पड़ौसी, फिर एक ही भूमिके रहनेवाले होनेके कारण हिंदुओंके मनोभावोंका आदर करनेके लिए यदि वे स्वतंत्ररूपसे गोवध बंद करें तो यह उनके लिए शोभाकी बात होगी। यह उनका कर्तव्य है; पर यह प्रश्न स्वतंत्र है। यदि वास्तवमें यह उनका कर्तव्य है, और इसे वे अपना कर्तव्य समझें भी, तो फिर हिंदू खिलाफतमें मदद करें या न करें, पर मुसलमानोंको गोवध बंद कर देना उचित है। इस तरह दोनों प्रश्नोंपर स्वतंत्र रीतिसे विचार होना चाहिए और इस कारण सभामें तो सिर्फ खिलाफतके विषयपर ही विचार होना उचित है। यह मेरी दलील थी। सभाको वह पसंद आई। गो-रक्षाके सवालपर सभामें चर्चा न हुई। परंतु मौ० अब्दुल बारी साहबने कहा— हिंदू लोग चाहे खिलाफतमें मदद करें या न करें, हम चूंकि एक ही मुल्कके हैं, मुसलमानोंको हिंदुओंके जजबातके खातिर गोकुशी बंद कर देनी चाहिए। और एक बार तो ऐसा ही प्रतीत हुआ, मानो मुसल-

मान सचमुच ही गो-वध बंद कर देंगे ।

कई लोगोंने तो यह भी सुझाया कि पंजाबके सवालको भी खिलाफतके साथ मिला देना चाहिए । मैंने इसका विरोध किया । मेरी दलील यह थी—पंजाबका मसला स्थानिक है, पंजाब कष्टोंके कारण हम सरकारके संधि-उत्सव-से अलग नहीं रह सकते । इसलिए पंजाबके मामलेको खिलाफतके साथ जोड़ देनेसे हम नादानीके इल्जामके पात्र बन जायंगे । मेरी यह राय सबको पसंद आई ।

इस सभामें मौलाना हसरत मोहानी भी थे । उनसे जान-पहचान तो हो ही गई थी । पर वह कैसे लड़वैया हैं, इस बातका अनुभव मैंने यहीं किया । मेरे उनके दरमियान यहींसे मत-भेद शुरू हुआ और वह अनेक बातोंमें अंततक कायम रहा ।

अनेक प्रस्तावोंमें एक यह भी था कि हिंदू-मुसलमान सब स्वदेशी-व्रतका पालन करें और उसके लिए विदेशी कपड़ेका बहिष्कार किया जाय । खादीका पुनर्जन्म अभी नहीं हो सका था । हसरत साहबको यह प्रस्ताव मंजूर नहीं हो सकता था । वह तो चाहते थे कि यदि अंग्रेजी सल्तनत खिलाफतके बारेमें इंसाफ न करे तो उसका मजा उसे चखाया जाय, अतएव उन्होंने तमाम ब्रिटिश मालका यथासंभव बहिष्कार सुझाया । मैंने समस्त ब्रिटिश मालके बहिष्कारकी अशक्यता और अनौचित्यके संबंधमें अपनी दलीलें पेश कीं, जो कि अब तो प्रसिद्ध हो चुकी हैं । अपनी अहिंसा-वृत्तिका प्रतिपादन मैंने किया । मैंने देखा कि सभापर मेरी बातोंका गहरा असर हुआ । हसरत मोहानीकी दलीलें सुनते हुए लोग इतना हर्षनाद करते थे कि मुझे प्रतीत हुआ कि यहां मेरी तूतीकी आवाज कौन सुनेगा ? पर यह समझकर कि मुझे अपने धर्मसे न चूकना चाहिए, अपनी बात छिपा न रखनी चाहिए, मैं बोलनेके लिए उठा । लोगोंने मेरे भाषणको खूब ध्यानसे सुना । सभा-मंचपर तो मेरा पूरा-पूरा समर्थन किया गया और मेरे समर्थनमें एकके बाद एक भाषण होने लगे । अग्रणी लोग जान गये कि ब्रिटिश मालके बहिष्कारके प्रस्तावसे मतलब तो कुछ भी नहीं सधेगा, उलटे हंसी होकर रह जायगी । सारी सभामें शायद ही कोई ऐसा आदमी दिखाई पड़ता था, जिसके बदनपर कोई-न-कोई ब्रिटिश वस्तु न थी । सभामें उपस्थित रहनेवाले लोग भी जिस बातको करनेमें असमर्थ थे उसका प्रस्ताव करनेसे लाभके

बदले हानि ही होगी— इस बातको बहुतेरे लोग समझ गये ।

'हमें तो आपके विदेशी वस्त्रके बहिष्कारसे संतोष हो ही नहीं सकता । किस दिन हम अपने लिए सारा कपड़ा यहां बना सकेंगे, और कब विदेशी वस्त्रका बहिष्कार होगा ? हम तो कोई ऐसी चीज चाहते हैं, जिससे ब्रिटिश लोगोंपर तुरंत असर हो । आपके बहिष्कारसे हमारा झगड़ा नहीं; पर हमें तो कोई तेज और तुरंत असर करनेवाली चीज बताइए ।' इस आशयका भाषण मौलानाने किया । इस भाषणको मैं सुन रहा था । मेरे मनमें विचार उठा कि विदेशी वस्त्रके बहिष्कारके साथ ही कोई और नवीन बात पेश करनी चाहिए । उस समय मुझे यह तो स्पष्ट मालूम होता था कि विदेशी वस्त्रका बहिष्कार तुरंत नहीं हो सकता । सोलहों आना खादी उत्पन्न करनेकी शक्ति यदि हम चाहें तो हमारे अंदर है, यह बात जो मैं आगे चल कर देख पाया सो उस समय न देख पाया था । अकेली मिलें वक्तपर दगा देंगी, यह मैं तब भी जानता था । जिस समय मौलाना साहबने अपना भाषण पूरा किया, उस समय मैं जवाब देनेके लिए तैयार हो रहा था ।

मुझे उस नई चीजके लिए उर्दू-हिंदी शब्द न सूझा । मुसलमानोंकी ऐसी खास सभामें युक्ति-युक्त भाषण करनेका यह मुझे पहला ही अनुभव था । कलकत्तेमें मुस्लिम-लीगकी सभामें मैं कुछ बोला था; पर वह तो कुछ ही मिनटके लिए और सो भी वहां हृदयस्पर्शी भाषण करना था । यहां तो मुझे ऐसे समाजको समझाना था, जो मुझसे विपरीत मत रखता था; पर अब मेरी झेंप मिट गई थी । देहलीके मुसलमानोंके सामने सकील उर्दूमें लच्छेदार भाषण नहीं करना था बल्कि अपना मत टूटी-फूटी हिंदीमें समझाना था । यह काम मैं अच्छी तरह कर सका । हिंदी-उर्दू ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, इसका यह सभा प्रत्यक्ष प्रमाण थी । यदि मैंने अंग्रेजीमें वक्तृता दी होती तो मेरी गाड़ी आगे नहीं चल सकती थी । और मोलाना साहबने जो पुकार की उसका समय न आया होता और यदि आता तो मुझे उसका उत्तर न मिलता ।

उर्दू अथवा गुजराती शब्द न सूझ पड़ा, इससे मुझे शर्म मालूम हुई; पर उत्तर तो दिया ही । मुझे 'नॉन-कोऑपरेशन' शब्द हाथ लगा । जब मौलाना साहब भाषण कर रहे थे तब मेरे मनमें यह भाव उठ रहा था कि हम खुद कई

बातोंमें जिस सरकारका साथ दे रहे हैं उसीके विरोधकी जो ये सब बातें करते हैं, सो व्यर्थ है। तलवारके द्वारा प्रतिकार नहीं करना है, तो फिर उसका साथ न देना ही उसका प्रतिकार करना है, यह मुझे सूझा और मेरे मुखसे पहली बार 'नॉन-कोऑपरेशन' शब्दका उच्चार उस सभामें हुआ। अपने भाषणमें मैंने उसके समर्थनमें अपनी दलीलें पेश कीं। इस समय मुझे इस बातका खयाल न था कि इस शब्दमें क्या भाव आ जाते हैं। इस कारण मैं उनकी तफसीलमें नहीं गया। मुझे इतना ही कहा याद पड़ता है—

"मुसलमान भाइयोंने एक और भी मार्केका फैसला किया है। खुदा न खास्ता अगर सुलहकी शर्तें उसके खिलाफ गईं तो सरकारकी सहायता करना बंद कर देंगे। मैं समझता हूं, लोगोंका यह हक है। सरकारी खिताबोंको रखने या सरकारी नौकरी करनेके लिए हम बंधे हुए नहीं हैं। जबकि खिलाफतके जैसे मजहबी मामलेमें हमें नुकसान पहुंचता हो तो हम उसकी मदद कैसे करेंगे? इसलिए अगर खिलाफतका फैसला हमारे खिलाफ जाय तो सरकारको मदद न देनेका हमें हक है।"

पर उसके बाद तो कई महीनेतक इस बातका प्रचार नहीं हुआ। महीनों-तक यह शब्द इस सभामें ही छिपा पड़ा रहा। एक महीनेके बाद जब अमृतसरमें कांग्रेस हुई तब मैंने उसमें असहयोग संबंधी प्रस्तावका समर्थन किया था। क्योंकि उस समय मैंने यही आशा रक्खी थी कि हिंदू-मुसलमानोंको असहयोगका अवसर नहीं आयेगा।

३७

अमृतसर-कांग्रेस

फौजी कानूनके अनुसार सैकड़ों निर्दोष पंजाबियोंको नाममात्रकी अदालतों-ने नाममात्रके लिए सबूत लेकर कम या अधिक मियादके लिए जेलखानोंमें ठूंस दिया था; परंतु पंजाब सरकार उन्हें जेलमें रख न सकी; क्योंकि इस घोर अन्यायके खिलाफ देशमें चारों ओर इतनी बुलंद आवाज उठी कि सरकार इन कैदियोंको अधिक

समयतक जेल में नहीं रख सकती थी। अतः कांग्रेसके अधिवेशनके पहले ही बहुतेरे कैदी छूट गये थे। लाला हरकिशनलाल इत्यादि सब नेता रिहा कर दिये गये थे और कांग्रेसका अधिवेशन हो ही रहा था कि अली-भाई भी छूटकर आ पहुंचे। इससे लोगोंके हर्षकी सीमा न रही। पंडित मोतीलाल नेहरू जो अपनी वकालत बंद करके पंजाबमें डेरा डाले बैठे थे, कांग्रेसके अध्यक्ष थे। स्वामी श्रद्धानंदजी स्वागत-समितिके सभापति थे।

अबतक कांग्रेसमें मेरा काम इतना ही रहता था—हिंदीमें एक छोटा-सा भाषण करके हिंदीकी वकालत करना और प्रवासी भारतवासियोंका पक्ष उपस्थित कर देना। अमृतसरमें मुझे यह पता न था कि इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा; परंतु अपने विषयमें मुझे जैसा पहले अनुभव हुआ है उसीके अनुसार यहां भी एकाएक मुझपर एक जिम्मेदारी आ पड़ी।

सम्राट्की नवीन सुधारोंके संबंधमें घोषणा प्रकाशित हो चुकी थी। वह मेरे नजदीक पूर्ण संतोषजनक नहीं थी। औरोंको तो बिलकुल ही पसंद नहीं आई। सुधारोंमें भी खामी थी; परंतु उस समय मेरा यही खयाल हुआ कि हम उनको स्वीकार कर सकते हैं। सम्राट्के घोषणापत्रमें मुझे लार्ड सिंहका हाथ दिखाई दिया था। उसकी भाषामें, उस समय, मेरी आंखें आशाकी किरणें देख रही थीं; हालांकि अनुभवी लोकमान्य, चित्तरंजन दास इत्यादि योद्धा सिर हिला रहे थे। भारत-भूषण मालवीयजी मध्यस्थ थे।

मेरा डेरा उन्होंने अपने ही कमरे में रक्खा था। उनकी सादगीकी झलक मुझे काशीमें विश्व-विद्यालयके शिलारोपणके समय हुई थी; परंतु इस समय तो उन्होंने मुझे अपने ही कमरेमें स्थान दिया था। इसलिए मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे आनंदके साथ आश्चर्य हुआ था। उनका कमरा मानो गरीबकी धर्मशाला थी। उसमें कहीं भी रास्ता नहीं छूटा था, जहां-तहां लोग डेरा डाले हुए थे। न उसमें एकांत की गुंजाइश थी, न फैलाव की। जो चाहता वहां आ जाता और उनका मनमाना समय ले जाता। इस दरबेके एक कोनेमें मेरा दरबार अर्थात् खटिया लगी हुई थी।

पर यह अध्याय मुझे मालवीयजीके रहन-सहनके वर्णनमें खर्च नहीं करना है। इसलिए अपन विषयपर आ जाता हूं।

इस स्थितिमें मालवीयजीके साथ रोज संवाद हुआ करता था और वह मुझे सब पक्षोंकी बातें उसी तरह प्रेमपूर्वक समझाते, जैसा कि बड़ा भाई छोटेको समझाता है। मुझे यह जान पड़ा कि सुधार-संबंधी प्रस्तावमें मुझे भाग लेना चाहिए। पंजाब हत्याकांड संबंधी कांग्रेसकी रिपोर्टकी जिम्मेदारीमें मेरा हाथ था ही। पंजाबके संबंधमें सरकारसे काम भी लेना था। खिलाफत-का मामला था ही। यह भी मेरी धारणा थी कि मांटेगू हिंदुस्तानके साथ दगा नहीं होने देंगे। कैदियोंके और उसमें भी अली-भाइयोंके छुटकारेको मैंने शुभ चिह्न माना था। इसलिए मैंने सोचा कि सुधारोंको स्वीकार करनेका प्रस्ताव होना चाहिए। किंतु चित्तरंजन दासकी मजबूत राय थी कि सुधारोंको बिलकुल असंतोषजनक और अधूरा मान उनको रद कर देना चाहिए। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे; परंतु देशबंधु जिस प्रस्तावको पसंद करें उसके पक्षमें अपनी शक्ति लगानेका निश्चय उन्होंने किया था।

ऐसे भुक्तभोगी सर्वमान्य लोकनायकोंसे मेरा मतभेद मुझे असह्य हो रहा था। दूसरी ओर मेरा अन्तर्नाद स्पष्ट था। मैंने कांग्रेसके अधिवेशन-मेंसे भाग जानेका प्रयत्न किया। पंडित मोतीलालजी नेहरू और मालवीयजीको मैंने सुझाया कि मुझे अधिवेशनमें गैरहाजिर रहने देनेसे सब काम सध जायंगे और मैं महान् नेताओंके इस मतभेदसे भी बच जाऊंगा।

पर यह बात इन दोनों बुजुर्गों को न पटी। लाला हरकिशनलालके कानपर बात आते ही उन्होंने कहा—"यह कभी नहीं हो सकता। पंजाबियोंको इससे बड़ी चोट पहुंचेगी।" लोकमान्य और देशबंधुके साथ मशवरा किया। श्री जिनासे भी मिला। किसी तरह कोई रास्ता नहीं निकला। मैंने अपनी वेदना मालवीयजीके सामने रक्खी।

"समझौतेके आसार मुझे नहीं दिखाई देते; यदि मुझे अपना प्रस्ताव पेश करना ही पड़े तो अंतको मत तो लेने ही पड़ेंगे। मत लिये जानेकी सुविधा यहां मुझे दिखाई नहीं देती। आजतक भरी सभामें हम लोग हाथ ही ऊंचे उठवाते आये हैं। दर्शकों और सदस्योंका भेद हाथ ऊंचा करते समय नहीं रहता। ऐसी विशाल सभामें मत गिननेकी सुविधा हमारे यहां नहीं होती, इसलिए यदि मैं अपने प्रस्तावके संबंधमें मत लिवाना चाहूं भी तो उसका प्रबंध नहीं।" मैंने कहा।

लाला हरकिशनलालने इसकी संतोषजनक सुविधा कर देनेका बीड़ा उठाया। उन्होंने कहा कि जिस दिन मत लेना हो उस दिन दर्शकोंको न आने देंगे, सिर्फ प्रतिनिधि ही आवेंगे और मत गिना देनेका जिम्मा मेरा; पर आप कांग्रेसकी बैठकमें गैरहाजिर नहीं रह सकते।

अंतको मैं हारा। मैंने अपना प्रस्ताव बनाया और बड़े संकोचके साथ उसे पेश करना स्वीकार किया। श्री जिना और मालवीयजी समर्थन करनेवाले थे। भाषण हुए। मैं देख सकता था कि यद्यपि हमारे मतभेदमें कहीं कटुता न थी, भाषणमें भी दलीलोंके सिवा और कुछ न था, फिर भी सभा इतने मतभेदको सहन नहीं कर सकती थी, और उसे दुःख हो रहा था। सभा एकमत चाहती थी।

उधर भाषण हो रहे थे, पर इधर भेद मिटानेके प्रयत्न चल रहे थे। आपसमें चिट्ठियां जा-आ रही थीं। मालवीयजी तो हर तरहसे समझौता करनेके लिए मिहनत कर रहे थे। इतनेमें जयरामदासने अपना सुझाव मेरे हाथमें रक्खा और बड़े मधुर शब्दोंमें मत देनेके संकटसे प्रतिनिधियोंको बचा लेनेका अनुरोध मुझसे किया। मुझे वह पसंद आ गया। मालवीयजीकी नजर तो चारों ओर आशाकी खोजमें फिर रही थी। मैंने कहा कि यह संशोधन दोनोंको स्वीकार हो सकता है। लोकमान्यको बताया, उन्होंने कहा, दासको पसंद हो तो मुझे आपत्ति नहीं। देशबंधु पिघल गये। उन्होंने विपिनचंद्र पालकी ओर देखा। मालवीयजीको अब पूरी आशा बंध गई और उन्होंने चिट्ठी हाथसे छीन ली। देशबंधुके मुंहसे 'हां' शब्द अभी पूरा निकला ही नहीं था कि वह बोल उठे—"सज्जनों, आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि समझौता हो गया है।" फिर तो क्या पूछना था? तालियोंकी हर्षध्वनिसे सारा मंडप गूंज उठा और लोगोंके चेहरोंपर जहां गंभीरता थी वहां खुशी चमक उठी।

यह प्रस्ताव क्या था, उसकी चर्चा करनेकी यहां जरूरत नहीं, क्योंकि यह प्रस्ताव कैसे हुआ, यही बताना मेरे इन प्रयोगोंका विषय है।

समझौतेने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

३८

कांग्रेसमें प्रवेश

कांग्रेसमें यह जो मुझे भाग लेना पड़ा, इसे मै कांग्रेसमे
मानता। उसके पहलेकी कांग्रेसकी बैठकोंमें गया सो तो केवल वफादारीकी निशानीके तौरपर। एक छोटे-से-छोटे सिपाहीके सिवा वहां मेरा दूसरा काम कुछ होगा, ऐसा आभास मुझे दूसरी पिछली सभाओंके संबंधमें नहीं हुआ और न ऐसी इच्छा ही हुई।

किंतु अमृतसरके अनुभवने बताया कि मेरी एक शक्तिका उपयोग कांग्रेसके लिए है। पंजाब-समितिके मेरे कामसे लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबंधु इत्यादि खुश हुए थे, यह मैंने देख लिया था। इस कारण उन्होंने मुझे अपनी बैठकोंमें और सलाह-मशवरेमें बुलाया। इतना तो मैंने देखा कि था विषय-समितिका सच्चा काम ऐसी बैठकोंमें होता था और ऐसे मशवरोंमें खासकर वे लोग होते, जिनपर नेताओंका खास विश्वास या आधार होता; पर दूसरे लोग भी किसी-न-किसी बहाने घुस जाया करते।

आगामी वर्ष किये जानेवाले दो कामोंमें मेरी दिलचस्पी थी; क्योंकि उनमें मेरा चंचुपात हो गया था।

एक था जलियांवालाबागके कत्लका स्मारक। इसके लिए कांग्रेसने बड़ी शानके साथ प्रस्ताव पास किया था। उसके लिए कोई पांच लाख रुपयेकी रकम एकत्र करनी थी। उसके ट्रस्टियोंमें मेरा भी नाम था। देशके सार्वजनिक कार्योंके लिए भिक्षा मांगनेका भारी सामर्थ्य जिन लोगोंमें है, उनमें मालवीयजीका नंबर पहला था और है। मै जानता था कि मेरा दर्जा उनसे बहुत घटकर न होगा। अपनी इस शक्तिका आभास मुझे दक्षिण अफ्रीकामें मिला था। राजा-महाराजाओंपर जादू फेरकर लाखों रुपये पानेका सामर्थ्य मुझमें न था, न आज भी है। इस बातमें मालवीयजीके साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मैंने किसीको नहीं देखा; पर जलियांवालाबागके काममें उन लोगोंसे द्रव्य नहीं लिया जा सकता, यह मैं जानता था। अतएव इस स्मारकके लिए धन जुटानेका मुख्य भार मुझपर

पड़ेगा, यह बात मैं ट्रस्टीका पद स्वीकार करते समय समझ गया था। और हुआ भी ऐसा ही। इस स्मारकके लिए बंबईके उदार नागरिकोंने पेट-भरके द्रव्य दिया और आज भी लोगोंके पास उसके लिए जितना चाहिए, रुपया है; परंतु इस हिंदू, मुसलमान और सिक्खके मिश्रित खूनसे पवित्र हुई भूमिपर किस तरहका स्मारक बनाया जाय, अर्थात् आये हुए धनका उपयोग किस तरह किया जाय, यह विकट प्रश्न हो गया है; क्योंकि तीनोंके बीच अथवा दोके बीच दोस्तीके बदले आज दुश्मनीका भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति मसवदे तैयार करने की थी, जिसका उपयोग कांग्रेसके लिए हो सकता था। बहुत दिनोंके अनुभवसे कहां, कैसे और कितने कम शब्दोंमें अविनय-रहित भाषा लिखना मैं सीख गया हूं— यह बात नेता लोग समझ गये थे। उस समय कांग्रेसका जो विधान था, वह गोखलेकी दी हुई पूंजी थी। उन्होंने कितने ही नियम बना रखे थे, जिनके आधारपर कांग्रेसका काम चलता था। वे नियम किस प्रकार बने, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हींके मुखसे सुना था, पर अब सब यह मानते थे कि केवल उन्हीं नियमोंके बलपर काम नहीं चल सकता। विधान बनानेकी चर्चा भी प्रतिवर्ष चला करती। कांग्रेसके पास ऐसी व्यवस्था ही नहीं थी कि जिससे सारे वर्ष-भर उसका काम चलता रहे अथवा भविष्यके विषयमें कोई विचार करे। यों मंत्री उसके तीन रहते; पर कार्य-वाहक मंत्री तो एक ही होता। अब यह एक मंत्री दफ्तरका काम करता या भविष्यका विचार करता, या भूतकालमें ली हुई जिम्मेदारियां चालू वर्षमें अदा करता? इसलिए यह प्रश्न इस वर्ष सबकी दृष्टिमें अधिक आवश्यक हो गया। कांग्रेसमें तो हजारोंकी भीड़ होती है, वहां प्रजाका कार्य कैसे चलता? प्रतिनिधियोंकी संख्याकी हद नहीं थी। हर किसी प्रान्तसे जितने चाहें प्रतिनिधि आ सकते थे। हर कोई प्रतिनिधि हो सकता था। इसलिए इसका कुछ प्रबंध होनेकी आवश्यकता सबको मालूम हुई। विधानकी रचना करनेका भार मैंने अपने सिरपर लिया। किंतु मेरी एक शर्त थी। जनता पर मैं दो नेताओंका अधिकार देख रहा था। इसलिए मैंने उनके प्रतिनिधिकी मांग अपने साथ की। मैं जानता था कि नेता लोग खुद शांतिके साथ बैठकर विधानकी रचना नहीं करते थे। अतएव लोकमान्य तथा देशबंधुके पाससे उनके दो विश्वासपात्र नाम मैंने मांगे। इनके अतिरिक्त

दूसरा कोई संगठन-समितिमें न होना चाहिए, यह मैंने सुझाया। यह सूचना स्वीकृत हुई। लोकमान्यने श्री केलकरका और देशबंधुने श्री आई० बी० सेनका नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी साथ मिलकर न बैठी। फिर भी हमने अपना कार्य चला लिया। इस विधानके संबंधमें मुझे कुछ अभिमान है। मैं मानता हूं कि इसके अनुसार काम लिया जा सके तो आज हमारा बेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब कभी हो; परंतु मैं मानता हूं कि इस जवाबदेही को लेनेके बाद ही मैंने कांग्रेसमें सचमुच प्रवेश किया।

३६

खादीका जन्म

मुझे याद नहीं कि सन् १९०८ तक मैंने चरखा अथवा करघा देखा हो। फिर भी मैंने 'हिंद-स्वराज्य'में यह माना है कि चरखे द्वारा भारतकी गरीबी मिटेगी। और जिस मार्गसे देशकी भुखमरी मिटेगी उसीसे स्वराज्य भी मिलेगा। यह तो एक ऐसी बात है कि जिसे सब कोई समझ सकते हैं। जब मैं सन् १९१५ में दक्षिण अफ्रिकासे भारत आया, उस समय भी मैंने चरखाके दर्शन नहीं किये थे। आश्रम खोलनेपर एक करघा ला रक्खा। करघा ला रखनेमें भी मुझे बड़ी कठिनाई हुई। हम सब उसके प्रयोगसे अपरिचित थे, अतः करघा प्राप्त कर लेने भरसे वह चल तो नहीं सकता था। हममें या तो कलम चलानेवाले इकट्ठे हुए थे, या व्यापार करना जाननेवाले थे; कारीगर कोई भी नहीं था। इसलिए करघा मिल जानेपर भी बुनाईका काम सिखानेवाले की जरूरत थी। काठियावाड़ और पालनपुरसे करघा मिला और एक सिखानेवाला भी आगया। पर उसने अपना सारा हुनर नहीं बताया; लेकिन मगनलाल गांधी ऐसे नहीं थे कि हाथमें लिये हुए कामको झट छोड़ दें। उनके हाथमें कारीगरी तो थी ही, अतः उन्होंने बुनाईका काम पूरी तरह जान लिया और फिर एक-के-बाद-एक नये बुनकर आश्रम-में तैयार हो गये।

हमें तो अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे। इसलिए अबसे मिलके

कपड़े पहनने बंद किये, आश्रमवासियोंने हाथके करघेपर देशी मिलके सूतसे बुना हुआ कपड़ा पहननेका निर्णय किया। इससे हमने बहुत कुछ सीखा। भारतके जुलाहोंके जीवनका, उनकी आमदनीका, सूत प्राप्त करनेमें होनेवाली उनकी कठिनाइयोंका, वे उसमें किस तरह धोखा खाते थे और दिन-दिन किस तरह कर्जदार हो रहे थे, आदि बातोंका हमें पता चला। ऐसी परिस्थिति तो थी नहीं कि शीघ्र ही हम अपने कपड़े आप बुन सकें। अतः बाहरके बुननेवालोंसे हमें अपनी जरूरतके मुताबिक कपड़ा बुनवा लेना था; क्योंकि देशी मिलके सूतसे हाथ-बुना कपड़ा जुलाहोंके पाससे या व्यापारियोंसे शीघ्र ही नहीं मिलता था। जुलाहे अच्छा कपड़ा तो सबका-सब विलायती सूतका ही बुनते थे। इसका कारण यह है कि हमारी मिलें महीन सूत नहीं कातती थीं। आज भी महीन सूत वे कम ही कातती हैं। बहुत महीन तो वह कात ही नहीं सकतीं। बड़े प्रयत्नके बाद कुछेक जुलाहे हाथ लगे, जिन्होंने देशी सूतका कपड़ा बुन देनेकी मिहरबानी की। इन जुलाहोंको आश्रमकी तरफसे यह वचन देना पड़ा था कि उनका बुना हुआ देशी सूतका कपड़ा खरीद लिया जायगा। इस तरह खास तौरपर बुनाया कपड़ा हमने पहना और मित्रोंमें उसका प्रचार किया। हम सूत कातनेवाली मिलोंके बिना तनख्वाहके एजेंट बन गये। मिलोंके परिचयमें आनेसे उनके काम-काजका, उनकी लाचारीका हाल हमें मालूम हुआ। हमने देखा कि मिलोंका ध्येय खुद कातकर खुद बुन लेना था। वे हाथ-करघेकी इच्छा-पूर्वक सहायक नहीं थीं; बल्कि अनिच्छापूर्वक थीं।

यह सब देखकर हम हाथसे कातनेके लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जबतक हाथसे न कातेंगे तबतक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। हमें यह प्रतीति नहीं हुई कि मिलोंके एजेंट बनकर हम देश-सेवा करते हैं।

लेकिन न तो चरखा था, न कोई चरखा चलानेवाला ही था। कुकड़ियां भरनेके चरखे तो हमारे पास थे; लेकिन यह खयाल तो था ही नहीं कि उनपर सूत कत सकता है। एक बार कालीदास वकील एक महिलाको ढूंढ लाये। उन्होंने कहा कि यह कातकर बतलायेंगी। उसके पास नये कामोंको सीख लेनेमें प्रवीण एक आश्रमवासी भेजे गये; लेकिन हुनर हाथ न आया।

समय बीतने लगा। मैं अधीर हो उठा था। आश्रममें आनेवाले उन

लोगोंको, जो इस संबंधमें कुछ बातें कह सकते, मैं पूछता; लेकिन कातनेका इजारा तो स्त्रियोंका ही था। अतः कातनेवाली स्त्री तो कहीं किसी स्त्रीको ही मिल सकती थी।

सन् १९१७की भड़ौंचकी शिक्षा-परिषद्में गुजराती भाई मुझे घसीट ले गये। वहां महासाहसी विधवा बहन गंगाबाई हाथ लगीं। वह बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी; लेकिन उनमें साहस और समझ शिक्षित बहनोंमें साधारणतः जितनी होती है, उससे अधिक थी। उन्होंने अपने जीवनमेंसे छुआछूतकी जड़ खोद डाली थी और वह निडर होकर अंत्यजोंसे मिलती तथा उनकी सेवा करती थीं। उनके पास रुपया-पैसा था; लेकिन उनकी अपनी आवश्यकता बहुत थोड़ी थी। उनका शरीर सुगठित था और चाहे जहां अकेले जानेमें वह तनिक भी संकोच नहीं करती थीं। वह तो घोड़ेकी सवारीके लिए भी तैयार रहतीं। इस बहनसे मैंने गोधराकी परिषद्में विशेष परिचय बढ़ाया। मैंने अपनी व्यथा उन्हें कह सुनाई और जिस तरह दमयंती नलकी तलाश में घूम रही थी उसी तरह चरखेकी खोजमें घूमनेकी बात स्वीकार करके उन्होंने मेरा बोझ हलका कर दिया।

४०

मिल गया

गुजरातमें खूब घूम चुकनेके बाद गायकवाड़ी राज्यके बीजापुर गांवमें गंगाबहनको चरखा मिला। वहां बहुतसे कुटुंबोंके पास चरखा था, जिसे उन्होंने टांडपर चढ़ाकर रख छोड़ा था; लेकिन अगर कोई उनका कता-सूत ले ले और उन्हें पूनियां बराबर दी जायं तो वे कातनेके लिए तैयार थे। गंगाबहनने मुझे खबर दी और मेरे हर्षका पार न रहा। पूनी पहुंचानेका काम कठिन जान पड़ा। स्वर्गीय भाई उमर सुबानीसे बातचीत करनेपर उन्होंने अपनी मिलसे पूनियां पहुंचानेकी जिम्मेदारी अपने सिर ली। मैंने ये गंगाबहनके पास भेजीं। इसपर तो सूत इतनी तेजीसे तैयार होने लगा कि मैं थक गया।

भाई उमर सुबानीकी उदारता विशाल होते हुए भी आखिर उसकी

सीमा थी। पूनियां खरीदकर लेनेमें मुझे संकोच हुआ। और मिलकी पूनिय लेकर कातनेमें मुझे बहुत दोष प्रतीत हुआ। अगर मिलकी पूनियां लेते हैं त फिर सूत लेनेमें क्या बुराई है ? हमारे पुरखाओंके पास मिलकी पूनियां कहां थीं? किस तरह पूनियां तैयार करते होंगे ? मैंने गंगाबहनको सुझाया कि वह बनानेवाले को ढूंढें। उन्होंने यह काम अपने सिर लिया। एक पिंजारेको ढूंढ निक उसे हर महीने ३५) या इससे भी अधिक वेतनपर नियुक्त किया। उसने बालक पूनी बनाना सिखलाया। मैंने रुईकी भीख मांगी। भाई यशवंतप्रसाद देशा रुईकी गांठें पहुंचानेका काम अपने जिम्मे लिया। अब गंगाबहनने काम एक बढ़ा दिया। उन्होंने बुनकरोंको आबाद किया और कते हुए सूतको बुनवा शुरू किया। अब तो बीजापुरकी खादी मशहूर हो गई।

दूसरी ओर अब आश्रममें भी चरखा दाखिल करनेमें देर न लगी। मग लाल गांधीने अपनी शोधक शक्तिसे चरखेमें सुधार किये और चरखे तथा तक आश्रममें तैयार हुए। आश्रमकी खादीके पहले थानपर फी गज १~) ख आया। मैंने मित्रोंके पास मोटी, कच्चे सूतकी खादीके एक गज टुकड़ेके १~) वसूल किये, जो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

बंबईमें मैं रोग शैय्यापर पड़ा हुआ था; लेकिन सबसे पूछा करता। वहां दो कातनेवाली बहनें मिलीं। उन्हें एक सेर सूतपर एक रुपया दिया। मैं अभी-तक खादीशास्त्रमें अंधे जैसा था। मुझे तो हाथ-कता सूत चाहिए था और कातने-वाली स्त्रियां चाहिए थीं। गंगाबहन जो दर देती थीं उससे तुलना करते हुए मुझे मालूम हुआ कि मैं ठगा जा रहा हूं। वे बहन कम लेनेको तैयार न थीं, इसलिए उन्हें छोड़ देना पड़ा; लेकिन उनका उपयोग तो था ही। उन्होंने श्री अवंतिकाबाई, रमाबाई कामदार, श्री शंकरलाल बैंकर की माताजी और श्री वसुमती बहनको कातना सिखाया और मेरे कमरेमें चरखा गूंज उठा। अगर मैं यह कहूं कि इस यंत्रने मुझे रोगीसे निरोगी बनानेमें मदद पहुंचाई, तो अत्युक्ति न होगी। यह सच है कि यह स्थिति मानसिक है। लेकिन मनुष्यको रोगी या नीरोग बनानेमें मनका हिस्सा कौन कम है ? मैंने भी चरखेको हाथ लगाया; लेकिन इस समय मैं इससे आगे नहीं बढ़ सका था।

पब सवाल यह उठा कि यहां हाथकी पूनियां कहांसे मिलें ? श्री रेवाशंकर

जौहरीके बंगलेके पाससे तांतकी आवाज करता हुआ एक धुनिया रोज निकला करता था। मैंने उसे बुलाया। वह गद्दे-गद्दियोंकी रुई धुनता था। उसने पूनियां तैयार करके देना मंजूर किया; लेकिन भाव ऊंचा मांगा और मैंने दिया। इस तरह तैयार सूत मैंने वैष्णवोंको ठाकुरजीकी मालाके लिए पैसे लेकर बेचा। भाई शिवजीने बंबईमें चरखाशाला खोली। इस प्रयोगमें रुपये ठीक-ठीक खर्च हुए। श्रद्धालु देशभक्तोंने रुपये दिये और मैंने उन्हें खर्च किया। मेरी नम्र सम्मतिमें यह खर्च व्यर्थ नहीं गया। उससे बहुत कुछ सीखनेको मिला; साथ ही मर्यादाकी माप मिली।

अब मैं एकदम खादीमय होनेके लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देसी मिलके कपड़ेकी थी। बीजापुरमें और आश्रममें जो खादी बनती थी वह बहुत मोटी और तीस इंचके अर्जकी होती थी। मैंने गंगाबहनको चेताया कि अगर वह पैंतालीस इंच अर्जकी खादीकी धोती एक महीनेके भीतर न दे सकेंगी तो मुझे मोटी खादीका पंचा पहनकर काम चलाना पड़ेगा। गंगाबहन घबराईं, उन्हें यह मीयाद कम मालूम हुई; लेकिन हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने एक महीनेके भीतर ही मुझे पचास इंच अर्जका धोती-जोड़ा ला दिया और मेरी दरिद्रता दूर कर दी।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठीगांवसे अंत्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहनको आश्रममें लाये और उनके द्वारा लंबे अर्जकी खादी बुनवाई। खादीके प्रचारमें इस दंपतीका हिस्सा ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने गुजरातमें और गुजरातके बाहर हाथ-कते सूतको बुननेकी कला दूसरोंको सिखाई है। यह निरक्षर लेकिन संस्कृत बहन जब करघा चलाने बैठती हैं तो उसमें इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि इधर-उधर देखनेकी या किसीके साथ बात करनेकी भी फुरसत अपने लिए नहीं रहने देतीं।

४१

एक संवाद

जिस समय स्वदेशीके नामपर यह प्रवृत्ति शुरू हुई उस समय मिल-मालिकोंकी ओरसे मेरी खूब टीका होने लगी। भाई उमर सुबानी स्वयं होशियार और सावधान मिल-मालिक थे, इसलिए वह अपने ज्ञानसे तो मुझे फायदा पहुंचाते ही थे; लेकिन साथ ही वह दूसरोंके मत भी मुझे सुनाते थे। उनमेंके एक मिल-मालिककी दलीलका असर भाई उमर सुबानीपर भी पड़ा और उन्होंने मुझे उनके पास ले चलनेकी बात कही। मैंने उनकी इस बातका स्वागत किया और हम उन मिल-मालिकके पास गये। वह कहने लगे—

"यह तो आप जानते हैं न कि आपका स्वदेशी आंदोलन कोई पहला आंदोलन नहीं है ?"

मैंने जवाब दिया— "जी हां।"

"आप यह भी जानते हैं कि बंग-भंगके दिनोंमें स्वदेशी-आंदोलनने खूब जोर पकड़ा था ? इस आंदोलनसे हमारी मिलोंने खूब लाभ उठाया था और कपड़ेकी कीमत बढ़ा दी थी; जो काम नहीं करना चाहिए, वह भी किया था।"

"मैंने यह सब सुना है, और सुनकर दुःखी हुआ हूं।"

"मैं आपके दुःखको समझता हूं; लेकिन उसका कोई कारण नहीं है। हम परोपकारके लिए अपना व्यापार नहीं करते हैं। हमें तो नफा कमाना है। अपने मिलके भागीदारों (शेयर होल्डरों)को जवाब देना है। कीमतका आधार तो किसी चीजकी मांग है। इस नियमके खिलाफ कोई क्या कह सकता है ? बंगालियोंको यह अवश्य ही जान लेना चाहिए था कि उनके आंदोलनसे स्वदेशी कपड़ेकी कीमत जरूर ही बढ़ेगी।"

"वे तो बेचारे मेरे समान शीघ्र ही विश्वास कर लेनेवाले ठहरे, इसलिए उन्होंने यह मान लिया था कि मिल-मालिक एकदम स्वार्थी नहीं बन जायंगे; दगा तो कभी देंगे ही नहीं, और न कभी स्वदेशीके नामपर विदेशी वस्त्र ही बेचेंगे।"

"मुझे यह मालूम था कि आप ऐसा मानते हैं इसीलिए मैंने आपको

सावधान कर देनेका विचार किया और यहांतक आनेका कष्ट दिया, जिससे भोले-भाले बंगालियोंकी भांति आप भी भूलमें न रह जायं ।"

यह कहकर सेठने अपने एक गुमाश्तेको अपने नमूने लानेके लिए इशारा किया। नमूने रद्दी सूतसे बने हुए कंबलके थे। उन्हें लेकर उन्होंने कहा—

"देखिए, यह नया माल हमने तैयार किया है । इसकी बाजारमें अच्छी खपत है; रद्दीसे बना है, इस कारण सस्ता तो पड़ता ही है । इस मालको हम ठेठ उत्तरतक पहुंचाते हैं। हमारे एजेंट चारों ओर फैले हुए हैं। इससे आप यह तो समझ सकते हैं कि हमें आपके सरीखे एजेंटोंकी जरूरत नहीं रहती। सच बात तो यह है कि जहां आप-जैसे लोगोंकी आवाज तक नहीं पहुंचती, वहां हमारे एजेंट और हमारा माल पहुंच जाता है। हां, आपको तो यह भी जान लेना चाहिए कि भारतको जितने मालकी जरूरत रहती है उतना तो हम बनाते भी नहीं। इसलिए स्वदेशीका सवाल तो, खासकर उत्पत्तिका सवाल है। जब हम आवश्यक परिमाणमें कपड़ा तैयार कर सकेंगे और जब उसकी किस्ममें सुधार कर सकेंगे, तब परदेशी कपड़ा अपने-आप आना बंद हो जायगा। इसलिए मेरी तो यह सलाह है कि आप जिस ढंगसे स्वदेशी आंदोलनका काम कर रहे हैं, उस ढंगसे मत कीजिए और नई मिलें खड़ी करनेकी तरफ अपना ध्यान लगाइए। हमारे यहां स्वदेशी मालको खपानेका आंदोलन आवश्यक नहीं है, आवश्यकता तो स्वदेशी माल उत्पन्न करनेकी है ।"

"अगर मैं यह काम करता होऊं तो आप मुझे आशीर्वाद देंगे न ?" मैंने कहा ।

"यह कैसे ? अगर आप मिल खड़ी करनेकी कोशिश करते हों तो आप धन्यवादके पात्र हैं ।"

"यह तो मैं नहीं करता हूं। हां चरखेके उद्धार-कार्यमें अवश्य लगा हुआ हूं ।"

"यह कौनसा काम है ?"

मैंने चरखेकी बात सुनाई और कहा—

"मैं आपके विचारोंसे सहमत होता जा रहा हूं। मुझे मिलोंकी एजेंसी नहीं लेनी चाहिए। उससे तो लाभके बदले हानि ही है । मिलोंका माल

तो चल ही रहा था। स्वर्गीय मौलाना अब्दुल बारी वगैरा उलेमाओंके साथ इस विषयमें खूब बहस हुई। इस बारेमें खास तौरपर तरह-तरहसे विचार होते रहे कि मुसलमान शांति और अहिंसाका किस हद तक पालन कर सकते हैं और आखिर यह फैसला हुआ कि एक हदतक बतौर एक नीतिके उसका पालन करनेमें कोई हर्ज नहीं और यह भी तय हुआ कि जो एक बार अहिंसाकी प्रतिज्ञा ले ले, वह सचाईसे उसका पालन करनेके लिए बंधा है। आखिर असहयोगका प्रस्ताव खिलाफत कान्फ्रेंसमें पेश किया गया और लंबी बहसके बाद वह पास हुआ। मुझे याद है कि एक बार उसके लिए इलाहाबादमें सारी रात सभा होती रही। शुरू-शुरूमें स्व० हकीम साहबको शांतिपूर्ण असहयोगकी शक्यताके संबंधमें शंका थी; लेकिन उनकी शंका दूर हो जाने पर वह उसमें शामिल हो गये और उनकी मदद बहुत कीमती साबित हुई।

इसके बाद गुजरातमें राजनैतिक परिषद्की बैठक हुई। इस परिषद्में मैंने असहयोगका प्रस्ताव रक्खा। परिषद्में प्रस्तावका विरोध करनेवालेकी पहली दलील यह थी कि जबतक कांग्रेस असहयोगका प्रस्ताव पास नहीं करती है तबतक प्रांतीय परिषदोंको उसके पास करनेका अधिकार नहीं। मैंने जवाबमें कहा कि प्रांतीय-परिषदें पीछे पैर नहीं हटा सकतीं; लेकिन आगे कदम बढ़ानेका अधिकार तो तमाम अधीन संस्थाओंको है; यही नहीं, बल्कि अगर उनमें हिम्मत हो तो ऐसा करना उनका धर्म भी है; इससे तो प्रधान संस्थाका गौरव बढ़ता है। इसके बाद प्रस्तावके गुणदोषोंपर भी अच्छी और मीठी बहस हुई। फिर मत लिये गए और बड़े बहुमतसे असहयोगका प्रस्ताव भी पास हो गया। इस प्रस्तावके पास होनेमें अब्बास तैयबजी और वल्लभभाईका बहुत बड़ा हिस्सा था। अब्बास साहब अध्यक्ष थे और उनका झुकाव असहयोगके प्रस्तावकी ओर ही था।

महासमितिने इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए कांग्रेसकी एक खास बैठक १९२०के सितंबर महीनेमें बुलानेका निश्चय किया। बहुत बड़े पैमानेपर तैयारियां हुईं। लाला लाजपतराय अध्यक्ष चुने गये। बंबईसे खिलाफत और कांग्रेस स्पेशलें छूटीं। कलकत्तेमें सदस्यों और दर्शकोंका बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ।

मौलाना शौकतअलीके कहनेपर मैंने असहयोगके प्रस्तावका मसविदा

रेलमें तैयार किया। इस समयतक मेरे मसविदोंमें शांतिमय शब्द प्रायः नहीं आता था। मैं अपने भाषणोंमें उसका उपयोग करता था। लेकिन, जहां अकेले मुसलमान भाइयोंकी सभा होती वहां शांतिमय शब्दसे मैं जो-कुछ समझाना चाहता, समझा नहीं सकता था; इसलिए मैंने मौलाना अबुलकलाम आजादसे इसके लिए दूसरे शब्द पूछे। उन्होंने 'बाअमन' शब्द बतलाया और असहयोग-के लिए 'तर्क मवालात' शब्द सुझाया।

इस तरह जब गुजरातीमें, हिंदीमें, हिंदुस्तानीमें असहयोगकी भाषा मेरे दिमागमें तैयार हो रही थी उसी समय, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूं, कांग्रेस-के लिए एक प्रस्ताव तैयार करनेका काम मेरे जिम्मे आया। उस प्रस्तावमें 'शांतिमय' शब्द नहीं आ पाया था। प्रस्ताव तैयार कर चुकनेपर ट्रेनमें ही मैंने उसे मौलाना शौकतअलीके हवाले कर दिया था। रातमें मुझे खयाल आया कि खास शब्द 'शांतिमय' तो प्रस्तावके मसविदेमेंसे छूट गया है। मैंने महादेवको उसी समय जल्दीसे भेजा और कहलवाया कि छापनेके पहले उसमें 'शांतिमय' शब्द भी जोड़ दिया जाय। मुझे याद आ रहा है कि इस शब्दके जुड़नेके पहले ही प्रस्ताव छप चुका था। उसी रातको विषय-समितिकी बैठक थी, इसलिए बादमें मुझे मसविदे में 'शांतिमय' शब्द जोड़ना पड़ा। साथ ही मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने पहलेसे ही प्रस्ताव तैयार न कर लिया होता तो बड़ी कठिनाई होती।

तिसपर भी मेरी हालत तो दयाजनक ही थी। मुझे इस बातका पता भी नहीं था कि कौन तो मेरे प्रस्तावको पसंद करेंगे और कौन उसके विरोधमें बोलेंगे। मुझे इस बातका भी बिलकुल पता न था कि लालाजीका झुकाव किस तरफ है। कलकत्तेमें पुराने अनुभवी योद्धागण एकत्र हुए थे। विदुषी एनी बेसेंट, पंडित मालवीयजी, विजयराघवाचार्य, पंडित मोतीलालजी, देशबंधु वगैरा नेता उनमें मख्य थे।

मेरे प्रस्तावमें खिलाफत और पंजाबके अन्यायोंको लेकर ही असहयोग करनेकी बात कही गई थी। श्री विजयराघवाचार्यको इतनेसे संतोष न हुआ। उनका कहना था, "अगर असहयोग करना है तो फिर किसी खास अन्यायको लेकर ही क्यों किया जाय? स्वराज्यका अभाव तो बड़े-से-बड़ा अन्याय है, इसे लेकर

ही असहयोग किया जाना चाहिए।" मोतीलालजी भी यह जोड़ना चाहते थे। मैंने तुरंत ही यह सुझाव मंजूर कर लिया और प्रस्तावमें स्वराज्यकी मांग भी जोड़ दी। लंबी, गंभीर और कुछ तेज बहसके बाद असहयोगका प्रस्ताव पास हो गया।

सबसे पहले मोतीलालजी आंदोलनमें शामिल हुए। उस समय मेरे साथ उनकी जो मीठी बहस हुई थी, वह मुझे अबतक याद है। कहीं थोड़े शब्दोंको बदल देनेकी बात उन्होंने कही थी और मैंने वह मंजूर कर ली थी। देशबंधुको राजी कर लेनेका बीड़ा उन्होंने उठाया था। देशबंधुका दिल असहयोगकी तरफ था, लेकिन उनकी बुद्धि उनसे कह रही थी कि जनता असहयोगके भारको सह नहीं सकेगी। देशबंधु और लालाजी पूरे असहयोगी तो नागपुरमें बने थे। इस विशेष अधिवेशनके अवसरपर मुझे लोकमान्यकी अनुपस्थिति बहुत ज्यादा खटकी थी। आज भी मेरा यह मत है कि अगर वह जिंदा रहते तो अवश्य ही कलकत्तेके प्रसंगका स्वागत करते। लेकिन अगर यह नहीं होता और वह उसका विरोध करते, तो भी मुझे वह अच्छा लगता और मैं उससे बहुत-कुछ शिक्षा ग्रहण करता। मेरा उनके साथ हमेशा मतभेद रहा करता। लेकिन यह मतभेद मधुर होता था। उन्होंने मुझे सदा यह मानने दिया था कि हमारे बीच निकटका संबंध है। ये पंक्तियां लिखते हुए उनके अवसानका चित्र मेरी आंखोंके सामने घूम रहा है। आधी रातके समय मेरे साथी पटवर्धनने टेलीफोन द्वारा मुझे उनकी मृत्युकी खबर दी थी। उसी समय मैंने अपने साथियोंसे कहा था—"मेरी बड़ी ढाल मुझसे छिन गई!" इस समय असहयोगका आंदोलन पूरे जोर-पर था। मुझे उनसे आश्वासन और प्रेरणा पानेकी आशा थी। आखिर जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमान हुआ था तब उनका क्या रुख होता सो तो दैव ही जाने; लेकिन इतना मुझे मालूम है कि देशके इतिहासकी इस नाजुक घड़ीमें उनका न होना सबको खटकता था।

४३

नागपुरमें

कांग्रेसके विशेष अधिवेशनमें असहयोगका जो प्रस्ताव पास हुआ था नागपुर वाले वार्षिक अधिवेशनमें उसे कायम रखना था। कलकत्तेकी तरह नागपुरमें भी असंख्य आदमी इकट्ठे हुए थे। अभी प्रतिनिधियोंकी संख्याका निश्चय नहीं हो पाया था, तिसपर भी, जहांतक मुझे याद है, उस समय चौदह हजार प्रतिनिधि आये थे। लालाजीके आग्रहसे स्कूलों-संबंधी प्रस्तावमें थोड़ा परिवर्तन करना मैंने मंजूर कर लिया था। देशबंधुने भी थोड़ा फेर-बदल करवाया था और आखिर अहिंसात्मक असहयोगका प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे पास हुआ था।

इसी बैठकमें कांग्रेसके विधानका प्रस्ताव भी पास करवाना था। विधानका मसविदा तो मैंने विशेष अधिवेशनमें ही रख दिया था, इसलिए वह प्रकाशित हो चुका था और उसपर काफी बहस भी हो चुकी थी। श्री विजयाराघवाचार्य इस अधिवेशनके सभापति थे। विधानमें विषय समितिने एक ही महत्त्वका परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियोंकी संख्या पंद्रह-सौ रक्खी थी, उसके बदले विषय-समितिने उसे छः हजार नियत किया। मेरे विचारमें यह कार्रवाई बिना विचारे की गई थी। इतने वर्षोंके अनुभवके बाद भी मेरा तो यही मत है। बहुतसे प्रतिनिधियोंसे अधिक अच्छा काम होता है, अथवा प्रजातंत्रका अच्छी तरह निर्वाह होता है, इस कल्पना को मैं एकदम भ्रमपूर्ण मानता हूं। अगर पंद्रह-सौ प्रतिनिधि मनके उदार, प्रजाके स्वत्वकी रक्षा करनेवाले और प्रामाणिक हों, तो वे छः हजार जैसे-तैसे चुने गये प्रतिनिधियोंकी अपेक्षा प्रजातंत्रकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकते हैं। प्रजातंत्रको निबाहनेके लिए जनतामें स्वतंत्रताकी, स्वाभिमानकी और ऐक्यकी भावना तथा अच्छे और सच्चे प्रतिनिधियोंको चुननेका आग्रह होना चाहिए। लेकिन संख्याके मोहमें फंसी हुई विषय-समितिको तो छः हजारसे भी ज्यादा प्रतिनिधियोंकी जरूरत थी। इसलिए छः हजार तो समझौतेके तौरपर कायम रहे।

कांग्रेसमें स्वराज्यके ध्येयपर भी बहस हुई थी। विधानके एक नियममें

साम्राज्यमें रहकर अथवा उससे बाहर होकर, जैसी स्थिति हो, स्वराज्य प्राप्त करनेकी बात कही गई थी। कांग्रेसमें एक दल ऐसा भी था, जो साम्राज्यमें रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। इस पक्षका समर्थन पंडित मालवीय-जी और श्री जिनाने किया था, परंतु उन्हें अधिक मत नहीं मिल सके। विधानमें तो यही बात कही गई थी कि शांति और सत्य-रूप साधनोंके द्वारा ही स्वराज्य प्राप्त किया जाय। लेकिन इस शर्तका भी विरोध किया गया था। कांग्रेसने विरोधको नामंजूर किया और सारा विधान सुंदर बहसके बाद पास हो गया। मेरे विचारमें अगर लोगोंने इस विधानपर प्रामाणिकतापूर्वक और उत्साहसे अमल किया होता तो उससे जनता को बड़ी शिक्षा मिलती और यह भी संभव था कि उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो जाता। लेकिन यहां इस विषयकी अधिक चर्चा करना अप्रासंगिक है।

इसी सभामें हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य, अछूतोद्धार और खादीके संबंधमें भी प्रस्ताव पास हुए थे। तभीसे अस्पृश्यताके कलंकको दूर करनेका भार कांग्रेसके हिंदू सदस्योंने अपने जिम्मे लिया है और खादीके द्वारा कांग्रेसने अपना संबंध भारतके अस्थिपंजर गरीब लोगोंके साथ जोड़ा है। खिलाफतके सवालको लेकर असहयोग करना और उसके द्वारा हिंदू मुस्लिम-एकता साधनेकी कोशिश करना भी कांग्रेसका एक बड़ा काम था।

४४

पूर्णाहुति

अब इन अध्यायोंको बंद करनेका समय आ पहुंचा है; इससे आगेका मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है कि जनता उसके विषयमें कुछ भी न जानती हो, सो बात नहीं। और सन् १९२१के सालसे तो मैं कांग्रेस नेताओं-के साथ इतना हिल-मिलकर रहा हूं कि कोई बात ऐसी नहीं है, जिसका यथार्थ वर्णन मैं उनका जिक्र किये बिना कर सकूं। ये संबंध अभी ताजे ही हैं। श्रद्धानंदजी, देशबंधु, लालाजी और हकीम साहब आज हमारे बीच नहीं हैं, फिर भी सौभाग्यसे

दूसरे बहुतसे नेता अभी मौजूद हैं। कांग्रेसके महापरिवर्तनके बादका इतिहास तो अभी तैयार ही हो रहा है। मेरे मुख्य प्रयोग कांग्रेसके द्वारा ही हुए हैं, इसलिए उन प्रयोगोंका वर्णन करते समय नेताओंका उल्लेख करना अनिवार्य है। औचित्यकी दृष्टि से भी इन बातोंका वर्णन मुझे अभी नहीं करना चाहिए। और जो प्रयोग अभी हो रहे हैं, उनके संबंधमें मेरे निर्णय निश्चयात्मक नहीं कहे जा सकते। इसलिए भी इन अध्यायोंको फिलहाल बंद कर देना ही मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। अगर यह कहूं कि मेरी लेखनी ही आगे बढ़नेसे इन्कार करती है, तो भी अत्युक्ति न होगी।

पाठकोंसे बिदा मांगते हुए मुझे दुःख होता है। मेरी दृष्टिमें मेरे प्रयोग बहुत कीमती हैं। मुझे पता नहीं, मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूं या नहीं। मैंने अपनी ओरसे तो ठीक-ठीक वर्णन करनेमें कुछ उठा नहीं रक्खा है। मैंने सत्यको जिस रूपमें देखा है और जिस राहसे देखा है, उसे उसी रूपमें, उसी राहसे बतानेकी हमेशा कोशिश की है। और साथ ही पाठकोंके सम्मुख उन वर्णनोंको रखकर मैंने अपने चित्तमें शांतिका अनुभव किया है; क्योंकि मुझे उनसे आशा रही है कि उनके पढ़नेसे पाठकोंके हृदयमें सत्य और अहिंसाके प्रति अधिक श्रद्धा उत्पन्न होगी।

सत्यसे भिन्न किसी परमेश्वरके अस्तित्वका मुझे अनुभव नहीं। अगर पाठकोंको इन अध्यायोंके पन्ने-पन्नेमें यह प्रतीति न हुई हो, कि सत्यमय बननेके लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है तो मैं अपने इस प्रयत्नको व्यर्थ समझूंगा प्रयत्न भले ही व्यर्थ हों, लेकिन यह वचन व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी अभी कच्ची है, अपूर्ण है। इसलिए मेरी सत्यकी झांकी उस सत्यरूपी सूर्यके तेजकी एक किरण-मात्र के दर्शनके समान है, जिसके तेजका अंदाज हजारों साधारण सूर्योंको इकट्ठा करनेपर भी नहीं हो सकता। अतः अबतकके मेरे प्रयोगोंके आधारपर इतना तो मैं अवश्य कह सकता हूं कि इस सत्यका संपूर्ण दर्शन संपूर्ण अहिंसाके अभावमें अशक्य है।

ऐसे व्यापक सत्यनारायणके प्रत्यक्ष दर्शनके लिए प्राणी-मात्रके प्रति आत्मवत् (अपने समान) प्रेमकी बड़ी भारी जरूरत है। इस सत्यको पानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य जीवनके एक भी क्षेत्रसे बाहर नहीं रह सकता। यही

कारण है कि मेरी सत्य-पूजा मुझे राजनैतिक क्षेत्रमें घसीट ले गई। जो यह कहते हैं कि राजनीतिसे धर्मका कोई संबंध नहीं है, मैं निःसंकोच होकर कहता हूं कि वे धर्म को नहीं जानते और मेरा विश्वास है कि यह बात कहकर मैं किसी तरह विनयकी सीमाको लांघ नहीं रहा हूं।

बिना आत्मशुद्धिके प्राणीमात्रके साथ एकताका अनुभव नहीं किया जा सकता। और आत्मशुद्धिके अभावमें अहिंसा-धर्मका पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है। अशुद्धात्मा परमात्माके दर्शन करनेमें असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन-पथके सारे क्षेत्रोंमें शुद्धिकी जरूरत रहती है। इस तरहकी शुद्धि हमारा साध्य है; क्योंकि व्यक्ति और समष्टिमें इतना निकटका संबंध है कि एककी शुद्धि अनेककी शुद्धिके बराबर हो जाती है। और व्यक्तिगत कोशिश करनेकी ताकत तो सत्य-नारायणने सब किसीको जन्म हीसे दे दी है।

लेकिन मैं तो पल-पलपर इस बातका अनुभव करता हूं कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्ध होनेका मतलब तो मनसे, वचनसे, और कायासे निर्विकार होना, राग-द्वेष आदिसे रहित होना है। इस निर्विकार स्थितितक पहुंचनेके लिए प्रतिपल प्रयत्न करनेपर भी मैं उस तक नहीं पहुंच सका हूं। इस कारण लोगोंकी प्रशंसा मुझे भुला नहीं सकती, उलटे बहुधा मुझे बुरी लगती है। मैं तो मनके विकारोंका जीतना, सारे संसारको शस्त्र-युद्ध करके जीतनेसे भी कठिन समझता हूं। भारतमें आनेके बाद भी मैंने अपनेमें छिपे हुए विकारोंको देखा है, देखकर शर्मिंदा हुआ हूं; लेकिन हिम्मत नहीं हारा हूं। सत्यके प्रयोगोंको करते हुए मैंने सुखका अनुभव किया है, आज भी उसका अनुभव कर रहा हूं। लेकिन मैं जानता हूं कि अभी मुझे बीहड़ रास्ता तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना पड़ेगा। जबतक मनुष्य खुद होकर अपने आपको सबसे छोटा नहीं मानता है तबतक मुक्ति उससे दूर रहती है। अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है, उसकी हद है। और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि इस तरहकी नम्रताके बिना मुक्ति कभी नहीं मिल सकती। इसलिए अभी तो ऐसी नम्रता पानेकी प्रार्थना करते हुए और उसमें संसारसे सहायताकी याचना करते हुए मैं इन अध्यायोंको समाप्त करता हूं।